कबीर: एक विवेचन

[कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गवेषणात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० सरनामसिंह शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

मूल्य : साढ़े बारह रुपये (१२.५०)

प्रथम संस्करण : जून, १९६०

मुद्रक : भारत मुद्रणालय, शाहदरा-दिल्ली

नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्राक्कथन

कबीर मध्यकाल के क्रान्ति-पुरुष थे जिन्होंने अपने जीवन में तो उत्क्रान्ति की ही, साथ ही समाज में भी एक हलचल पैदा कर दी थी। उन्होंने अन्तर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोल कर समाज और भाव-लोक को जो प्रेरणा दी उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न साहित्य ही। कबीर का जीवन विलक्षण जीवन था और उनकी समग्र विलक्षणताएँ एक महापुरुष के जीवन की विलक्षणताएँ थीं। एक ओर वे निरक्षर भट्टाचार्य थे जिन्होने मसि और कागज को छुआ तक नहीं था और दूसरी ओर वे ज्ञान, अनुभूति और प्रेम के अगाध भंडार थे। उन्होने जुलाहा कुल में उत्पन्न होकर बड़े-बड़े पडितों और काजियों की जिस निर्भीकता से खबर ली उसकी कल्पनामात्र अधमों के उद्धार की प्रेरणा बन सकती है। इतनी बलिष्ट रुढ़ियों पर किस साहस और शक्ति से उन्होंने प्रहार किया था, यह देखते ही बनता है। कबीर का काम एक ऐसे चतुर एवं कुशल सर्जन का काम था जिसके सामने समाज के हृदय के आपरेशन का प्रश्न था। उस आपरेशन के लिए कबीर ने पूरी तैयारी की थी।

एक दलित परिवार में उत्पन्न होकर भी उन्होंने इतने बड़े समाज का अध्ययन किया, उसकी दुर्बलताओं पर इतनी सूक्ष्मता से दृक्पात किया और सुधार की इतनी रेखाएँ खींचकर उन्होंने जो कल्पित चित्र तैयार किया उस पर किसी भी आदर्श समाज को गर्व हो सकता है। उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी अनुभूतियों को दूसरों के कल्याण के लिए इतनी ईमानदारी से प्रेषित करते थे कि स्वयं प्रेषण में निमग्न हो जाते थे। इसी ईमानदारी में उनका संत-स्वभाव निहित है।

यों तो उनसे पहले भी बहुत से संत हो चुके थे किन्तु किसी को सन्तमत के प्रवर्तन का श्रेय नहीं मिला। विद्वानों का कहना है कि रामानन्द को यह श्रेय दिया जा सकता है किन्तु मै समझता हूँ कि 'संतत्व' के विशेष कृपापात्र कबीर ही थे और उन्हीं को संतमत के प्रवर्तन का श्रेय मिलना चाहिये। संतमत के साथ कबीर का निर्गुण मत भी जुड़ा हुआ है जो धार्मिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उत्क्रान्ति के रूप में दृष्टव्य है।

संतमत और निर्गुणमत, ये दो ऐसे शब्द हैं जो संत कवियों की विचार-धारा की ओर संकेत करते हैं। संत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। कुछ विद्वान इस शब्द को 'शान्त' शब्द से व्युत्पन्न मानते हैं और कुछ इसको 'सत्' शब्द का बहुवचन रूप (सन्तः) मानते हैं जो अब एक वचन में प्रयुक्त होने लगा है। दोनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग 'सन्त कवियों के लिए उपयुक्त है, किन्तु सत्य की ओर संकेत करने के अतिरिक्त 'सत्' शब्द से साधुता का बोध भी होता हैं इस प्रकार सन्त शब्द प्रभूत संकेत ग्रहण करके असाधु के विरोध में साधु का पर्यायवाची बन गया है। धार्मिक जीवन के क्षेत्र में तो यह शब्द सूरदास, तुलसीदास जैसे सगुण भक्तों को भी जो किसी भिन्न विचारधारा से संबंधित हैं, आत्मसात् कर लेता हैं।

'निर्गुण-मत' भी कोई सु-नाम नहीं है। कट्टरता को छोड़ देने पर ये सन्त न तो परमात्मा के सगुण रूप का ही तिरस्कार करते हैं और न निर्गुण रूप को ही अन्तिम मान बैठते हैं क्योंकि तत्व दोनों से परे है और उसकी प्राप्ति दोनों से ऊपर होने पर ही हो सकती है। जबकि इस मत के पीछे के सन्तों में इन रूपों से ऊपर जाने की प्रवृत्ति कुछ अधिक होकर कठोर हो जाती है तो इस नाम की अयुक्तता स्पष्ट हो जाती है। फिर भी परंपरागत प्रयोग की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण इस शब्द का प्रयोग हो ही रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर आदि सन्तों ने भी इस शब्द को स्वीकार कर लिया था।

यहां यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर आदि संतों को निर्गुणी हम केवल इसलिए कहते हैं कि उन्होंने सगुण भक्ति के स्थूल रूप (यथा मूर्तियों और अवतारों की पूजा) को मान्यता नहीं दी।

ध्यान रखने की बात तो यह है कि 'सन्तमत' निरंजन और सूफीमत से भिन्न है, यद्यपि ये दोनों मत संतमत से कुछ-कुछ मिलते-जुलते हैं। तात्विक दृष्टि से निरंजन मत हिन्दू मत है और सूफी मत इस्लामी। ये संत-मत से केवल उस सीमा तक भिन्न हैं जहां तक कि ये अपने-अपने मूल धर्मों के साथ शान्ति एवं सन्तोष से युक्त प्रतीत होते हैं, यद्यपि ये भी निस्सन्देह यही चाहते हैं कि अनेक जातियों और वर्गों के होते हुए भी लोक विश्व-भ्रातृत्व के साथ अपने सह-अस्तित्व को सिद्ध करे। निरंजनी लोग हिन्दू-विश्वदेव की पूजा को समादृत करते हैं, यद्यपि वे अनेक देव-देवियों और

अवतारों को निरंजन ब्रह्म की अपेक्षाकृत लघु अभिव्यक्ति मानकर उनको पूजने की आवश्यकता नहीं मानते, फिर भी वे परंपरागत सामाजिक नियमों का विरोध नहीं करना चाहते।

सूफी लोग भी अपने अनेक नबियों और रसूलों का समादर करते हैं। यद्यपि उन्होंने रामानुज से कुछ-कुछ मिलते-जुलते अनिस्लामी वेदान्त से ही अपने मत का पूर्ण कलेवर तैयार किया है। फिर भी इस्लाम के प्रति उनका प्रेम और आदर है। सूफियों की दार्शनिक धारा विशिष्टाद्वैतिक ढंग की है और निरंजनियों की दर्शन-प्रणाली कबीर की सी है। निरंजन मत नाथ पंथ की ही एक विकसित शाखा है। इसमें योग वेदान्त से पूर्णतः प्रभावित है। अतएव यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि निरंजन मत की स्थिति नाथ पंथ और कबीर पंथ के मध्य में है। दार्शनिक क्षेत्र में कबीर की विचार-धारा से उसका बहुत साम्य है और रामानन्द के साथ भी वह उसी स्थिति में रखा जा सकता है। विशेष अन्तर तो उस समय व्यक्त होता है जबकि कबीर के अनुयायी और धर्मदासी तथा राधास्वामी जैसे अन्य लोग निरंजन का कालपुरुष के रूप में निरूपण करते हैं।

जो हो, संतमत और निर्गुण मत दोनों के संबंध से गत पच्चीस-तीस वर्षों में कबीर की 'बानियों' का अध्ययन होता आ रहा है। कबीर की बाणी किसी एक प्रान्त या अंचल के आदर की वस्तु नहीं रही है। उसका अध्ययन पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में, सब ओर हुआ है। मध्यकालीन सन्तों में कबीर का विशेष स्थान होने के कारण विद्वानों ने उनका अध्ययन विशेषता से किया है। यों तो समस्त सन्त-साहित्य का अध्ययन हमें सन्तों की शिक्षाओं एवं सांस्कृतिक रूचि एवं प्रवृत्ति का ज्ञान कराता है, किन्तु कबीर का अध्ययन इस दृष्टि से बड़े महत्व का है। उनकी वाणी में सांस्कृतिक परंपरा का एक ऐसा विकास दृष्टिगोचर होता है जिसमें अभारतीय संस्कृतिक का इतना मधुर पुट है कि उसकी अभारतीयता प्रतीत नहीं होती। कुछ लोगों का तो अबतक यह विश्वास रहा है कि कबीर अशिक्षित थे और इसके कारण उनके दार्शनिक विचार निराधार, अपरिपक्व एवं असंबद्ध थे, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। कबीर-पंथ का अपना मौलिक एवं दृढ़ धरातल है और उसमें एक दार्शनिक भूमिका है जिसमें मौलिकता के पुट ने प्राचीनता को मार्जित एवं व्यवस्थित करने की चेष्टा की है। संतों को दार्शनिक कहना भी समीचीन न होगा क्योंकि

वे तो भक्त भी थे । भक्त भी ऊँचे दर्जे के और कबीर की भक्ति ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें ज्ञान और योग का मधुर मिलन हुआ है । जहाँ-जहाँ भक्ति और ज्ञान का मधुर मिलन देखना हो, वहाँ-वहाँ उनकी रहस्य-साधना भी देखने योग्य है । यों तो योग ने भी रहस्य की भूमिका पर अपना रूप संभाला है किन्तु उसमें वह माधुर्य नहीं आ पाया जो उनकी अद्वैतिक रहस्योक्तियों में आया है ।

कबीर ने जो धर्म स्वीकार किया है वह सरल, सहज और व्यापक है । उन्होंने परंपरागत धर्म की विकृत रूढ़ियों को उच्छिन्न करके वास्तविक धर्म की तात्त्विक प्रकृति को व्यक्त किया है जिसे हम उनकी वाणी में इस प्रकार देख सकते हैं—"स्वामी के प्रति सत्याचरण करो और दूसरों के प्रति सदाचार"—**सांई सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ । भावै लाम्बे केस कस, भावैं धुरड़ि मुंड़ाइ ।।"** इसी वास्तविकता की प्रकृति के कारण कबीर ने धर्मों के दंभों और पाखडों का विरोध किया था जिसकी गवेषणा मौलिक आध्यात्मिक अर्थ में की गई थी इसी के आधार पर तुकाराम ने कबीर की गणना उन चार महापुरुषों में की थी जो अनुगमनीय हैं । **'चौथा भी तरि धरि सोइ रे'** —अन्य तीन नामदेव, ज्ञानदेव, और एकनाथ हैं ।

कबीर की कीर्ति-पताका को धर्म-लोक में फहराती हुई देखकर पीपा और रैदास विस्मय से पुकार उठे—"कबीर नवखंड और त्रिलोक में प्रसिद्ध हैं—**नांव नवखण्ड परिसिध कबीरा ।**" कुछ लोग भ्रमवश वास्तविकता की प्रकृति का स्पर्श तक न करते हुए कबीर को इस्लाम का गुप्त प्रचारक मात्र कहते हैं, यह बड़े खेद की बात है । वे कबीर के आध्यात्मिक विचारों में वह सार, न जाने क्यों नहीं देखते जिसपर भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी हुई है । भारतीय विचारधारा में जो कुछ वरिष्ट है, कबीर पंथ उस सबका तो सुमिश्रक है ही, साथ ही उसमें उन अभारतीय विचारों का भी समावेश कर लिया गया है जो भारतीय विचारों के अनुकूल रहे हैं ।

उसने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत के सभी अध्यात्म-मार्गों का सार-ग्रहण कर लिया है । भारत में समय-समय पर होने वाले विभिन्न आन्दोलनों से आध्यात्मिक संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ उपलाभ हुआ वह कबीर के उदय से पूर्व ही निर्गुण विचारधारा में सनिविष्ट हो गया था । अजपा जाप के साथ योगाभ्यास, तांत्रिक शरीर-विज्ञान, प्राणायाम-संबंधी

अनेक प्रक्रियाएँ शंकर का अद्वैतवाद, अनुग्रह का सिद्धान्त, अनासक्तिमय प्रेम की तीव्रता (जिसकी अभिव्यति तंत्रों में मिलती है)—इन सबका एकत्र सार-संग्रह कबीर की वाणी में हुआ है।

बड़े विस्मय की बात तो यह है कि ऐकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में प्रारंभ होने वाली दो विभिन्न आध्यात्मिक धाराएँ अठारह शताब्दियों तक पृथक-पृथक विकसित होती हुई अन्त में क्रमशः वैष्णव धर्म और नाथपंथ के रूप में आकर निर्गुण मत में एक हो गयीं। इस एकता का विशेष श्रेय कबीर को हैं। कबीर की निर्गुण वाणी में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो मिलने से पूर्व भिन्न-भिन्न रूप में विकसित होनेवाली उक्त दोनों धाराओं का स्मरण दिलाते हैं। हरि, नारायण, नारदी भक्ति, आदि शब्द ऐकान्तिक धर्म से प्रवाहित होनेवाली धारा की ओर संकेत करते हैं और शून्य विज्ञान निर्वाण आदि शब्द बौद्ध धर्म से विकसित धारा की सूचना देते हैं। पहली धारा से आनेवाले शब्दों के अर्थ में इतना भारी परिवर्तन नहीं हुआ जितनी दूसरी धारा के शब्दों के अर्थ में हुआ। शून्य और विज्ञान का संबंध बौद्ध-दर्शन के नियत मतों से रहा है। नागार्जुन का शून्य शून्य-मंडल में सुरक्षित है और वही गोरखनाथ के योग-दर्शन में होकर निर्गुण मत में ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ व्यक्त करने लगा है। कबीर की वाणी में शून्य ब्रह्म-बोधक भी है। कबीर ने सत्य का शून्य रूप में भी वर्णन किया है। शून्य एक है, स्थिति भी है और स्थान भी, स्वयं आधार भी है और निराधार भी।

सत्य को शून्य कहने से नागार्जून का अभिप्राय यह था कि वह सत् और असत्, दोनों से परे है; किन्तु शंकराचार्य का अनुकरण करते हुए, जिन्होंने नागार्जुन के तर्कों का अपने अद्वैतवाद के प्रतिपादन के लिए बड़े कौशल से उपयोग किया। कबीर ने सत्य को सत्यस्वरूप ही स्वीकार किया। कबीर के कुछ आधुनिक अनुयायी 'शून्य' को समाधि की वह अवस्था माना हैं जो इन्द्रियानुभूति से परे है। इसी प्रकार आसंग का विज्ञान शांकर अद्वैतवाद में होकर विवर्त का अर्थ देने लगा है। कबीर की वाणी में निर्वाण ने भी अपना अर्थ बदल दिया है। जबकि बौद्ध साहित्य में उसका मौलिक अर्थ 'नाश' या 'अन्त' था, कबीर ने उसका प्रयोग 'मुक्ति' के अर्थ में किया है।

कबीर-पंथ वैष्णव-आन्दोलन से संबंधित है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु नाथों के योग-मत से भी उसका कुछ संबंध है, यह भी संदिग्ध

नहीं है। योग कबीर का लक्ष्य नहीं है। उन्होंने योग को साधन के रूप में स्वीकार किया है और साधन-रूप में भी उन्होंने योग की केवल वे बातें स्वीकार की हैं जो मन को एकस्थ करने में अपना विशेष महत्व रखती हैं। कबीर-पंथियों ने गोरखनाथ और अन्य योगियों के प्रति विरोध की भावना व्यक्त की थी। इससे विद्वानों को यह भ्रम हो गया था कि उन दोनों मतों का आपस में कोई संबंध नहीं है। विरोध की भावना दादू के समय तक रही आयी थी किन्तु दादू पंथ की स्थापना के पश्चात् उसका दम घुट गया।

कबीर का अध्ययन महात्मा रामानन्द के मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि कबीर की विचारधारा के निर्माण में महात्मा रामानन्द का बड़ा योग रहा है। वैष्णव धर्म और नाथ धर्म का मिलन सबसे पहले रामानन्द के व्यक्तित्व में हुआ। इतना ही नहीं वरन् यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि रामानन्द ने निर्गुण मत के किसी एक पक्ष को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसे विकास का वह पूर्ण रूप दिया जो कबीर के हाथों आया।

कबीर के हाथों में निर्गुण विचारधारा को कुछ योग इस्लामिक स्रोत से भी मिला, किन्तु कबीर-पंथ के लिए उसका मूल्य अधिकांशतः निषेधात्मक ही है। इस्लाम से जो सबसे बड़ी चीज कबीर को मिली वह आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में मिली। इससे उन्होंने हिन्दुओं के अन्ध-विश्वासों और खोखले रीति-रिवाजों की कलई खोलकर रख दी। मूर्ति-पूजा और अवतार पूजा के विरोध में उठने वाले स्वर में भी इस्लाम की ही प्रेरणा थी। सामाजिक विषमता में सन्निहित अन्याय के प्रति भी लोगों की आंखें खोलने में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इस्लाम का हाथ अवश्य रहा किन्तु कबीर की आलोचन-दृष्टि ने इस्लाम की दुर्बलताओं को भी अछूता न छोड़ा। कबीर ने सूफीमत से बहुत कुछ लिया किन्तु विचार नहीं, अभिव्यक्ति की शैली। और यह स्वीकार करना भी अनुचित न होगा कि कबीर को सूफीमत से जो सबसे बड़ी चीज मिली वह थी दाम्पत्य प्रेम से संबंधित विरह तीव्रता। उससे संबंधित 'प्रतीकवाद' भी कबीर को सूफियों से ही प्राप्त हुआ किन्तु यह समझ बैठना अनुचित होगा कि कबीर-पंथ में प्रतिपन्न प्रेम सूफीमत की देन है। इसे तो रामानन्द के बारह शिष्यों ने, जिनमें एक कबीर भी थे, अपने गुरु से ही प्राप्त किया था।

भक्ति प्रायः नवधा मानी गयी है किन्तु उस ऐकान्तिक धर्म में जो रामानन्द को मिला, 'प्रेम भक्ति' सर्वोत्तम मानी गई थी। इसलिए उसे 'दशधा' भक्ति के नाम से अभिहित किया गया। ऐकान्तिक धर्म के प्रवर्तक माने जाने वाले नारद के 'भक्ति-सूत्र' में भक्ति की व्याख्या के अन्तर्गत उसे 'सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा' कहा गया है। इसी 'प्रेमा भक्ति' को रामानन्द ने अपने शिष्यों को दिया और कबीर उसी में निमग्न हो गये। स्वयं कबीर ने 'नारदी भक्ति में निमग्न होकर भवसागर से तरने का' उपदेश इन शब्दों में दिया है।—

"भगति नारदि मगन शरीरा ।
इहि बिधि भवतिरि कहै कबीरा ॥"

कबीर के सुरति-निरति शब्द अपनी बनावट में अधिक पुराने नहीं लगते। सुरति शब्द को सिद्धों से तथा निरति को केवल नाथों से संबधित कर सकते हैं किन्तु वे जिन अर्थों को व्यक्त करते हैं वे योग में सिद्ध हो सकते हैं। यदि उनमें कुछ नवीनता है भी तो यह किसी अभारतीय विचारधारा से आयी हुई नहीं है, वह कबीर की मौलिक उद्भावना है। कबीर के सुरति और निरति को योग की 'सम्प्रज्ञात' तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि में नहीं खोज सकते। हाँ, उनका रूप कुछ-कुछ उनसे भी मिलता है। किन्तु उनमें कबीर का सा प्रेम तत्व कहाँ है ?

कबीर का मूल्य आँकते समय प्रायः उनका विचारक सामने आ खड़ा होता है, किन्तु उनका प्रेमी अधिक बलिष्ठ है। कबीर के 'विचारक' में भी उनका 'प्रेमी' आधार रूप में संनिविष्ट है। 'विचारक' कबीर समाज और धर्म दोनों पर विवेकपूर्ण दृष्टि से देखते हैं और एक सत्य की खोज करते हैं। प्रेमी कबीर उसी सत्य को प्रिय के रूप में देख कर अपने प्रेम को उसी के चरणों में समर्पित कर देते हैं। विचारक कबीर असत्य का उच्छेदन करता है और प्रेमी समाज को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है। कबीर वाणी में ये दोनों चित्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े है। विचारक का एक चित्र इन शब्दों में देख सकते हैं :—

"एकै पवन एक ही पांणी, करी रसोई न्यारी जानीं ।
माटी सू माटी ले पोती, लागीं कहौ कहां धू छोती ॥

धरती लोपि पवित्तर कीन्हीं, छोति उपाय लोक बिच दीन्हीं ।
याका हमसूं कहौ बिचारा, क्यूं भव तिरिहौ इहि आचारा ।।"

मध्यकालीन विचारकों में कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है । कबीर न तो ऐसे विचारकों में से हैं जो नवीनता पर प्राचीनता को थोपते हैं और न ऐसे ही विचारकों में से हैं जो प्राचीन और नवीन का सामंजस्य करते हुए प्राचीन के खंडन और नवीन के मंडन में दबी जबान से काम लेते हों । कबीर एक तीसरे ही प्रकार के विचारक थे जिनके सामने रूढियों, आडंबरों और पाखंडों का कोई महत्त्व नही था । उनके विचारों में मानव-धर्म और मानव-कल्याण की प्रतिष्ठा थी । उनके विचारों की स्वतंत्रता पर बुद्ध और महावीर की कितनी छाया थी यह कहना तो कठिन है, किन्तु उनके विचारों में बहुत साम्य था, यह कहना अनुचित न होगा ।

कबीर स्वतंत्र विचारक होते हुए भी उच्छृंखल नहीं कहे जा सकते । उन्होंने तो वास्तव में देश के विशृंखल वातावरण को मर्यादित एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया । कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपने समय में धर्म की जो दुर्दशा एवं अधोगति देखी थी उससे वे सतर्क और जागरुक हो गये थे । इसी जागरुकता ने उन्हें सार-संग्रह की प्रेरणा दी । साथ ही उच्छृंखलता के वातावरण में भड़क उठने वाली असात्विकता और मूर्खता के विरुद्ध क्रान्तिकारी उद्घोष किया और धर्मान्धता के निवारण के लिए बौद्धिक ज्योति को चमकाया जिसमें किसी जाति या वर्ग के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं था, अपितु उसका लाभ मानवमात्र उठा सकता था ।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर विचारक और प्रेमी थे । उनका विचारक जिस प्रकार दार्शनिक और सुधारक था उसी प्रकार उनका 'प्रेमी' भी 'सुधारक' और 'भक्त' था । कबीर का 'भक्त' किसी संप्रदाय या वर्ग का समर्थक नहीं था । वह अपने आराध्य के समान उदार एवं दयालु था और उसी के समान निष्पक्ष एवं तटस्थ था । इससे कुछ लोगों ने उन्हें गलत समझ लिया है । उनका दार्शनिक दृष्टिकोण देश-काल की सीमाओं से आगे की चीज़ है । यह बात उनके समकालीन किसी अन्य विचारक में नहीं मिलती सूफी विचारकों में अवश्य ही कुछ चिन्तन-स्वतंत्रता की झलक दिखायी देती है किन्तु उनकी वाणी में कबीर का सा ओज़ और वैसी प्रखरता नहीं मिल सकती ।

मध्ययुगीन विचारकों में कबीर का विशेष स्थान है। उनके स्वतंत्र चिन्तन में निष्पक्षता, प्रखरता, संयम और शालीनता के साथ-साथ तर्क और प्रभाव-शक्ति भी है। भारतीय विचारधारा को कबीर की वाणी एक वरदान के रूप में प्राप्त हुई। भारतीय जनता पर उसका अमित आभार है। जनता में अपने सहज धर्म द्वारा स्वतंत्र चिंतन की भावना को जागृत कर देना कबीर का ही काम था। स्वतंत्र चिन्तन के साथ धर्म के प्रति आकर्षण पैदा करना कोई सरल काम नहीं है और इस दिशा में कबीर का प्रत्येक कदम दृढ़ एवं स्तुत्य था। वर्ग और सम्प्रदाय के बन्धनों को तोड़कर मानव को स्वतंत्र वातावरण में श्वास लेने के लिए प्रेरणा देकर उन्होंने मानों बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करने का प्रयत्न किया। कबीर का सुधार भी बुद्ध के सुधार की भाँति अनुभव की गोद में पला था किन्तु आस्तिक्य भाव का जो बल कबीर के सुधार को प्राप्त हुआ वह बुद्ध के सुधार को प्राप्त नहीं हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने भारत में जिस समाज-धर्म के ढाँचे को खड़ा किया उससे जनता को अमोघ बल मिला, उसके नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति सजग हो उठी और सभी में अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतंत्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

कबीर ने अपने समय की संघर्षमूलक प्रवृत्तियों को शान्त करने का प्रयत्न तो किया ही साथ ही रूढ़िवादियों को प्रकाश देकर समन्वय और शान्ति का मार्ग सुझाया। यों तो विश्व में मानव-कल्याण के लिए अनेक महापुरुषों ने अपने-अपने ढंग के प्रयत्न किये। महात्मा बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, गाँधी आदि उनके उदाहरण हैं किन्तु कबीर का प्रयास उसके व्यक्तित्व और कवित्व, दोनों का सम्मिलित प्रयास है। कबीर की वाणी में चाहे महान् धार्मिक ग्रन्थ की प्रतिष्ठा न हो किन्तु एक महान् रचना के सारे सूत्र उसमें विद्यमान हैं। उसकी विशेषता यह है कि उसमें मानव-हित का मूल स्रोत विद्यमान है।

साहित्य के किसी रूढ़िवादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्यांकन करना साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उनके हृदय की प्रेरणा और मस्तिष्क की धारा है। इन दोनों की सहज अभिव्यंजना कबीर की भाषा की विशेषता है। उसमें न तो शब्दों की जटिलता है, न अलंकारों का घटाटोप और न छन्दों की उछल-कूद।

कबीर की वाणी को बड़ी सावधानी से परखने की आवश्यकता है अन्यथा अनर्थ होने की संभावना है। उसका रूप प्रबन्ध-काव्य का रूप नहीं है अतएव भावों और विचारों का संश्लेष दूर तक हमारे सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं करता। कबीर विचारक भी हैं और भावुक भी। जहाँ वे विचारक हैं, वहाँ उनका भावुक आकर भी उससे मिल नहीं सका है और जहाँ वे भावुक है वहाँ ऐसा लगता है कि कबीर के विचारों और भावों में कोई सामंजस्य नहीं है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है, कुछ विशेष स्थल ही इस प्रकार के हैं।

कबीर की वाणी ने भाषा के क्षेत्र में बड़ी भारी उत्क्रान्ति की और उस काम को पूरा किया जिसको बुद्ध और उनके अनुयायी न कर सके। बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जनता की भाषा को अपनाया था। उनके अनुयायियों ने भी किसी सीमा तक इस व्रत का पालन किया किन्तु उस व्रत में संकीर्णता थी क्योंकि बुद्ध और उनके अनुयायियों ने किसी एक भाषा को अपनाया था किन्तु जो भाषा कबीर और उनके अनुयायियों से हमको मिली है वह एक ऐसी खिचड़ी है जिसमें देश के अनेक भू-खंडों की वाणी का समावेश है। इसी कारण कबीर-ग्रन्थावली की भाषा में राजस्थानी, गुजराती, व्रज, पूर्वी आदि की शब्दावली और रूप-राशि का समावेश दिखायी देता है। एक जनतंत्रीय भाषा का क्या रूप होना चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर कबीर-वाणी में मिल सकता है।

कबीर जनता के कवि थे। उनकी वाणी साधारण शब्दों में प्रकट हुई थी। उसमें प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ था इसीलिए जनता ने उसे अपनाया और साधारण लोगों में उसका उसी प्रकार समादर हुआ जिस प्रकार शिष्ट समाज में रामचरित-मानस का। कबीर के पदों को किसी ने तानपूरे पर गाया और किसी ने साँरगी पर सुनाया। किसी ने भक्ति के पद सुने और किसी ने विरक्ति के।

कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि कबीर की वाणी में क्षेत्र-विस्तार नहीं है। यही आरोप सूर के काव्य पर भी लगाया जाता है किन्तु सूर के संबंध में उनके उपमानों का सहारा लेकर इस आरोप का परिवारण कर दिया जाता है। कबीर ने चाहे उपमानों के क्षेत्र में कोई प्रयत्न भले ही न किया हो, किन्तु उनके उपमान बड़े सजीव एवं उनके दैनिक जीवन में मिलने वाले हैं। उनसे भी कबीर के क्षेत्र का विस्तार तो बढ़ता ही है। साथ ही कबीर

ने अपने वर्ण्य को काफी फैलाया भी है। धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता, व्यवहार आदि सभी विषयों पर कबीर की वाणी का स्फुरण हुआ है। कबीर का विरहोपचार बड़ा मार्मिक है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो संघर्ष कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय है। उसमें श्रृगांर है और वह भी समग्र रागात्मक वृत्तियों को झंकृत कर देने वाला, किन्तु वासना से एकदम विनिर्मुक्त। उसमें श्रृगांर का आनन्द आता है किन्तु पाठक उसमें बह नहीं जाता। यही कबीर का विद्यापति और जयदेव से अन्तर है। कबीर के श्रृगांर की कुछ लहरों का चित्र देखिये—

"साईं बिन दर्द करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहि निदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियां पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय॥"

यदि साहित्य चिन्तन, अनुभूति, कल्पना और अभिव्यंजना का एक अटूट मंदिर है तो कबीर का साहित्य इस सुन्दरता और अटूटता से वंचित नहीं है। यह ठीक है कि कबीर न तो सर्वत्र कवि हैं और न सर्वत्र विचारक या सुधारक ही किन्तु जहाँ वे प्रेमी दिखाई पड़ते हैं वहाँ कवि भी हैं।

कबीर का जीवन एक मजदूर का जीवन था किन्तु उन्होंने अपने इस जीवन को अपनी उन्नति में बाधक नहीं समझा। वरन् अपनी आध्यात्मिक अभिव्यंजना में उन्होंने अपने जीवन का पूर्ण उपयोग किया और अपने रोम-रोम से संबंधित वाणी को जिस प्रचार कार्य में लगाया, उसका प्रभाव स्पष्ट है। कबीर का जीवन छोटों-बड़ों के लिए आज तो एक बहुत बड़ी प्रेरणा है। इसलिए आज जबकि एक मानव-धर्म की आवश्यकता है कबीर की वाणी का और भी अधिक उपयोग है। उसमें पलायनवाद का स्वर खोजना अनुचित है किन्तु दर्प और हीनता का समझौता उनकी वैराग्योक्तियों में अवश्य मिलता है। कहते हैं कि कवि अमर होता है क्योंकि उसकी वाणी युग-युग के लिए सन्देश देती है। कबीर भी अमर हैं क्योंकि उनकी वाणी भी आज हमें सन्देश दे रही है। वह हमें धर्म और समाज की एकता सिखला रही है और नीति का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

राजस्थान कालेज, जयपुर —सरनामसिंह
२२ जून, १९६०

विषय-सूची

: १ :

अध्ययन की सामग्री

किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें दो बातों का विशेष ध्यान रखना होता है—एक तो यह कि वह क्या कहता है और दूसरी यह कि उसके विषय में दूसरे लोगों का क्या मत है और उसका क्या आधार है ? किसी प्राचीन राजा आदि के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण की शोध उस समय की लिखित सामग्री से हो सकती है, किन्तु किसी कवि को हम उसकी रचना में भी खोज सकते हैं। वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कवि को प्रायः हम उसकी रचना में ही पाते हैं। कवि अपनी रचना में रहता है। वही उसका जीवन और वही समकालीन जीवन का सजीव चित्र है। हाँ, रचनाओं में कवि की खोज करते समय उनकी प्रामाणिकता के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता रहती है, क्योंकि महापुरुषों के नाम पर अनेक सस्ती रचनाएँ जबानों और दुकानों पर चढ़ जाती हैं जिन से सत्य की खोज भ्रम की भूल-भुलैयों में पड़ कर बहक जाती है।

जहाँ तक रचनाओं का सम्बन्ध है, शायद कबीर ने तो अपने हाथ से कभी लिखा नहीं था क्योंकि वे पढ़े लिखे नहीं थे। यों तो महात्मा रामानन्द के शिष्यों के सम्बन्ध में साधारणतः यह प्रसिद्ध है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु कबीर के सम्बन्ध में तो यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि 'मसि कागद छूआ नही' कबीर के सभी पाठकों की जिह्वा पर आरूढ़ है। जब वे यह कहते हैं कि 'विदिया न पढउँ बाद नहीं जानहुँ' तो इससे न केवल यही ध्वनित होता है कि वे वाद-विवाद के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे, वरन् यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने किसी पाठशाला या मकतब में अध्ययन नहीं किया था। इन दोनों उक्तियों से यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि लिखना-पढ़ना न जानने के कारण कबीर की 'बानियों' को उनके शिष्य ही लिखते रहे होंगे।

कबीर पंथ के प्रचार और प्रसार का इतिहास देख कर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीर के पश्चात् उनकी 'बानियों' की अनेक प्रतिलिपियाँ हुई होंगी, किन्तु उनमें से प्रामाणिक वे ही मानी जा सकती हैं जो उनके

समय या उसके कुछ ही बाद की हों। अधिक बाद की प्रतिलिपियों में परिवर्तनों की बहुत संभावना है।

कबीर की 'बानियाँ' अनेक ग्रन्थों में बिखरी मिलती हैं। उनमें से कुछ संग्रह ऐसे भी मिलते हैं जिनमें केवल कबीर की बानियों का ही संकलन है। 'कबीर-ग्रन्थावली' ऐसा ही संग्रह है। इसका संकलन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया था। वे लिखते हैं, "उनके इस संकलन का आधार संवत् १५६१ की लिखी हस्तलिखित प्रति है। यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मलूकदास ने काशी में लिखी थी। यह पता नहीं लगा कि ये खेमचन्द और मलूकदास कौन थे। क्या ये मलूकदास कबीरदासजी के वही शिष्य तो नहीं थे जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे और जिनकी प्रसिद्ध खिचड़ी का वहाँ अब तक भोग लगता है तथा जिनके विषय में कबीरदास जी ने स्वयं कहा है 'मेरा गुरू बनारसी चेला समँदर तीर'? यदि ये वेही मलूकदास हैं तो इस प्रति का महत्त्व बहुत अधिक है। यदि ये वह न भी हों, तो भी इस प्रति का मूल्य कम नही है। इसमें सन्देह नहीं कि संवत् १५६१ तक की सभी 'कबीर-बानियाँ' इसमें संगृहीत हैं। एक दूसरी प्रति संवत् १८८१ की लिखी हुई मिलती है। इसमें पहली प्रति की अपेक्षा केवल १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं। दोनों के प्रतिलिपि-काल में ३२० वर्ष का अन्तर है, किन्तु दोनों में पाठ-भेद बहुत कम है।"

कबीर-ग्रन्थावली का मूलाधार पहली प्रति होते हुए भी इसमें 'ग्रन्थ-साहब' के वे सब पद और दोहे भी सम्मिलित कर लिए गये हैं जो पहली प्रति में नहीं थे, किन्तु जो बानियाँ मूल अंश में आ गई थीं, उनको छोड़ कर शेष सब परिशिष्ट में दे दी गई हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि 'ग्रन्थ-साहब' का संकलन पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव ने सं० १६६१ में अर्थात् पहली प्रति के सौ वर्ष पीछे किया था जिसमें अनेक भक्तों की वाणी का समावेश किया गया है। ग्रन्थ-साहब की प्रामाणिकता ने कबीर-ग्रन्थावली के इस अंश की प्रामाणिकता को बहुत पक्का कर दिया है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी इस संग्रह की भाषा अधिक प्रामाणिक दीख पड़ती है। यह १६वीं और १७वीं शताब्दी के रूप के बिल्कुल अनुरूप है। इस भाषा और कबीर के नाम पर बिकने वाले ग्रन्थों के पदों आदि की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस कारण ग्रन्थावली में संकलित 'बानियों' को कबीर-कृत मानने में आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

'कबीर-बानियों' के सम्बन्ध में दूसरा प्रामाणिक संकलन डा० रामकुमार वर्मा का 'सन्त कबीर' है। उसका संग्रह भी 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर ही किया गया है। डा० त्रिगुणायत ने 'संत कबीर' को 'कबीर-ग्रन्थावली' से अधिक प्रामाणिक माना है। कबीर ग्रन्थावली की जो बानियाँ 'ग्रन्थ-साहब' में आई हुई बानियों से मिलती हैं उनकी प्रामाणिकता तो डा० त्रिगुणायत के मत से ही सिद्ध है, किन्तु जिन बानियों का संग्रह सं० १५६१ वाली प्रति के आधार पर किया गया है उनकी प्रामाणिकता भी प्राचीनता एवं भाषा-विज्ञान के हाथों में सुरक्षित है।

सं० १५६१ वाली प्रति के प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ 'ग्रन्थावली' में प्रकाशित कर दिये गये हैं। अन्तिम पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति को देखने से यह भ्रम हो सकता है कि मूल लिपि प्रामाणिक नही है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेद ने अपने 'कबीर' और डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'संत कबीर' में इसी भ्रम को पाठकों के सामने रखा है। मेरी समझ में अन्तिम पंक्ति के कारण रचना की प्रामाणिकता का खंडन नहीं किया जा सकता। यह बहुत संभव है कि लिपि-कर्ता ही अन्तिम पंक्ति लिखना भूल गया हो और थोड़े दिन बाद उसके किसी शिष्य ने उसमें उसका लिपि-काल लिख दिया हो। डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही है कि उक्त प्रतिलिपि को बाद की प्रतिलिपि मान लेने से भी उसकी अप्रामाणिकता की पर्याप्त सिद्धि नहीं होती। भारतीय शिष्य-परंपरा में गुरु-वाणी की मौलिकता कितनी पावन और अपरिवर्तनीय हैं, 'ग्रन्थ-साहब' आदि अनेक धर्म-ग्रन्थ इसका प्रमाण हैं। इस दृष्टि से भी उक्त प्रति में कबीर की बानियों के अप्रामाणिक होने का प्रश्न नहीं उठता।

उक्त दो संग्रहों के अतिरिक्त कबीर की बानियों का एक तीसरा संग्रह महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कबीर-वचनावली' के नाम से प्रकाशित करवाया था। विद्वानों में इस संग्रह की बड़ी प्रतिष्ठा है। संग्रहकर्ता ने मुख-बंध में स्वीकार किया है कि इस संग्रह का संकलन कबीर-बीजक, चौरासी अंग की साखी तथा वेलवेडियर प्रेस की पुस्तकों के आधार पर हुआ है।

'बीजक' कबीर-पंथ की सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। कबीर के अनेक आलोचकों ने इसी ग्रन्थ को अपने अध्ययन का आधार बनाया था। कबीर-बीजक के अनेक संस्करण हो चुके हैं जिनमें पाठान्तर और मत-भेद के कारण प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंशों की गुत्थी को सुलझाना कठिन है।

'विश्वभारती पत्रिका' [१] में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बीजक के अनेक अंशों को न्यूनाधिक प्रामाणिक कह कर संदेह को अधिक प्रखर कर दिया है। बीजक से सम्बन्धित जग्गीदास-भग्गीदास, भगवानदास आदि की कथाएँ बीजक की प्रामाणिकता पर सन्देह का आघात करती हैं। ऐसी कथाओं से यही ध्वनित होता है कि बीजक अपने मूलरूप में अप्राप्य है।

'सन्त बानी संग्रह' सीरीज़ प्रकाशित करके वेलवेडियर प्रेस ने हिन्दी-साहित्य की बड़ी भारी सेवा की है, किन्तु उक्त संग्रहों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं हैं। कबीर-बानी-संग्रह के सम्बन्ध में भी संदेह के कारण प्रस्तुत हैं। संग्रह की आधार-भूत प्रतियों और उनके लिपि-काल के अभाव में उसको प्रामाणिक मानना उचित नहीं है। इन 'बानियों' की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्धि के आग्रह ने बानियों की मौलिकता भ्रष्ट करदी है। यह भी असम्भव नही है कि बानियों के संग्रहकर्ताओं के राधास्वामी सम्प्रदाय से संबंधित होने से इनमें धार्मिक और साम्प्रदायिक आग्रह भी प्रथित रहा हो।

इनके अतिरिक्त कबीर के नाम से अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हो गई हैं। जिस प्रकार किसी दोहे के साथ 'तुलसी' लगाकर उसे प्रामाणिक बनाने का आग्रह दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार 'कबिरा' और 'कबीर' के संयोग से अनेक अप्रामाणिक दोहों को 'कबीर की साखियों' में प्रतिष्ठित किया गया है। विलसन ने केवल आठ ग्रन्थों को कबीरकृत माना है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कबीर के नाम पर ७५ ग्रन्थों की सूची दी हुई है। रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' में कबीर के नाम पर ७१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कबीर सागर में, जिसका प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस से हुआ है, ४० ग्रन्थों की चर्चा की गई है, 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहस' में डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के नाम से प्राप्त ६१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। काशीनागरी-प्रचारिणी पत्रिकाओं ने अपने उर को विशाल करके कबीर के ग्रन्थों की संख्या १३० तक पहुँचा दी है। कबीर की लोक-प्रचलित बानियों के कुछ संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें आचार्य क्षितिमोहन सेन कृत संग्रह प्रसिद्ध है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर का अध्ययन करने के लिए उनके ग्रन्फ ही पर्याप्त नहीं हैं, वरन् वह सब सामग्री भी बड़े काम की है

---

[१] वि० भा० प०, वैषाख आषाढ २००४, पृ० १००–११५.

जो अनेक इतिहासकारों और आलोचकों ने समय-समय पर प्रस्तुत की है। यह सामग्री हिन्दी, फारसी, उर्दू और अँग्रेजी भाषा में बिखरी पड़ी है। इतिहास में धार्मिक इतिहास भी सम्मिलित करना होगा क्योंकि मध्यकालीन धर्म-क्षेत्र में कबीर का योग-दान भुलाया नहीं जा सकता। सन्त-इतिहास की सूची में कबीर का नाम प्रथम श्रेणी में आता है। धर्म के इतिहास में कबीर अपने पंथ के प्रवर्तक के रूप में ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। धर्म-परम्परा की एक कड़ी के रूप में कबीर का निरूपण करने वाले अनेक ग्रन्थ देखने में आते हैं, किन्तु सब उल्लेखनीय नहीं हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—१. वैष्णविज़म, शैविज़म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—डा० भंडारकर, २. आउट-लाइन्स आफ रिलीजस लिट्रेचर आफ़ इंडिया—फर्कुहर, ३. मेडिवल मिस्टीसिज़म—आचार्य क्षितिमोहन सेन, ४. रिलीजस सेक्ट्स आफ़ हिन्दूज़—विल्सन, ५. सिख रिलीजन—मैकलिफ़, ६. बुद्धिज़्म एण्ड हिन्दूइज़्म—इलियट, ७. इण्डियन थीइज़्म—मैकनिकल, ८. वैष्णव रिफार्मर्स आफ इण्डिया—राजगोपालचारी, ९. इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर—डा० ताराचन्द, और १०. रामानन्द टु रामतीर्थ—नटेसन कम्पनी। इनमें से कबीर-सम्बन्धी अध्ययन के लिए पहले, तीसरे, चौथे और नवें ग्रन्थ का अधिक मूल्य है। शेष में साधारण विवेचना देकर ही सन्तोष प्राप्त किया गया है।

पहला ग्रन्थ संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० भण्डारकर का लिखा हुआ हैं। इसमें वैष्णव धर्म के साथ-साथ भारत के अन्य धर्मों के उदय और विकास पर भी काफ़ी प्रकाश डाला गया है। यहीं रामानन्द के साथ कबीर अपने धार्मिक आलोक से आमंडलित दीख पड़ते हैं। विद्वान लेखक ने सृष्टि की उत्पत्ति एवं अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना में कबीर के अनेक उद्धरणों का बड़ी योग्यता से उपयोग किया है। दूसरा ग्रन्थ भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन का लिखा हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्र की भूमिका से इसमें 'सोने में सुगन्ध' का योग हो गया है। आचार्य सेन ने कबीर और उनके गुरु रामानन्द को स्वतन्त्र चिन्तक सन्तों की परम्परा में बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है। इस ग्रन्थ के दो अंश, भूमिका और परिशिष्ट, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। परिशिष्ट में बाउल सम्प्रदाय तथा कबीर पर उसके प्रभाव की सुन्दर विवेचना मिलती है। तीसरा ग्रन्थ विल्सन का लिखा हुआ है। इसमें हिन्दुओं के अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की शोधपूर्ण विवेचना है। यद्यपि कबीर की विवेचना की

दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक महत्त्व नहीं रखता, किन्तु कबीर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न करके मनीषियों के लिए एक प्रश्न प्रस्तुत कर देता है जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा मूल्य है। अध्ययन की सामग्री की दृष्टि से 'इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' नामक ग्रन्थ बड़े काम का है। इसके यशस्वी लेखक डा० ताराचन्द ने प्रारम्भ में सूफी मत की प्रौढ़ आलोचना देकर फिर कबीर पर इस्लाम और सूफीमत का प्रभाव दिखलाया है। चिन्तन-गंभीरता की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है।

ईसा की बीसवीं शताब्दी के पूर्व कबीर पर स्वतन्त्र रूप से कोई ग्रन्थ नहीं निकला था। कबीर के अध्ययन का श्री गणेश 'कबीर मंसूर' से मानना चाहिये जिसका प्रकाशन बम्बई से सन् १६०२–३ में हुआ। पन्द्रह सौ पृष्ठों की यह एक विशाल रचना है। पन्थ-संबंधी अनेक कहानियों और सिद्धान्तों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। इसका साहित्यिक मूल्य चाहे अधिक न हो, किन्तु कबीर पर सबसे पहली पुस्तक होने से इसका मूल्य अतुलनीय है।

'कबीर ज्ञान' नाम का दूसरा ग्रन्थ सन् १६०४ में प्रकाशित हुआ। इसका रचयिता कोई सुखदेव प्रसाद नामक हिन्दू ईसाई था। धार्मिक संकीर्णता के कारण यह ग्रन्थ सत्य का उद्घाटन न कर सका। सन् १६०५ में 'कबीर साहब का जीवन-चरित्र' और सन् १६०६ में 'कबीर कसौटी' का प्रकाशन हुआ। पहली रचना 'सरस्वतीविलास प्रेस', नरसिंहपुर से प्रकाशित हुई। इस का दृष्टिकोण धार्मिक होने से, अधिक साहित्यिक महत्त्व नही है। दूसरी रचना पद्य में है। इसका प्रकाशन श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से हुआ था। इसमें वैज्ञानिक विवेचना का अभाव है। इसके रचयिता कोई कबीर पंथी सज्जन बाबू लहनासिंह थे। इसके अनन्तर 'कबीर चरित्र बोध' नामक ग्रंथ के अतिरिक्त सन् १६१६ तक कोई और ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया। यह ग्रंथ बम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ से प्रकाशित हुआ था। आलोचना के स्तर पर यह रचना भी नहीं आ पाई।

इसके उपरान्त सन् १६१६ में 'कबीर वचनावली' की भूमिका से कबीर के अध्ययन का आलोचनात्मक आधार प्रस्तुत हुआ। इसमें 'हरिऔध' ने साहित्यिक आलोचना के साथ-साथ सैद्धान्तिक आलोचना देकर कबीर के अध्ययन के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सन् १६२८ में बाबू श्यामसुन्दर-

दास ने 'कबीर ग्रन्थावली' का संकलन करके उसकी भूमिका से कबीर-संबंधी अध्ययन के सदन की सज्जा की। आलोचना के विकास के इतिहास में 'कबीर ग्रंथावली' की भूमिका का कुछ कम सम्मान नहीं है, फिर भी कबीर के सिद्धान्तों की समुचित विवेचना का अभाव इसमें खटकता ही है। सन् १९३१ में 'कबीर का रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ अपने ढंग का अकेला है। इसमें विषय की विशद व्याख्या और विवेचना की गई है। इसके पश्चात् 'कबीर का रहस्यवाद' के लेखक, डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के सम्बन्ध में दो सग्रह प्रकाशित किए एक 'कबीर पदावली' के नाम से और दूसरा 'सन्त कबीर' के नाम से। पहले ग्रंथ में कबीर के चुने हुए पदों को संगृहीत करके उसे संक्षिप्त पांडित्यपूर्ण भूमिका से सुशोभित किया गया है। 'सन्त कबीर' में लेखक ने कबीर की प्रामाणिक वाणियों को 'ग्रंथ साहब' से संकलित करके टीकासहित प्रस्तुत किया है। भूमिका इस ग्रंथ की भी सुन्दर है। कबीर के जीवन पर इसमें काफी प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४१ में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' ने प्रकाशित होकर शोध के छात्र को प्रचुर सामग्री प्रदान की। सामाजिक और धार्मिक गवेषणा ने कबीर के सिद्धान्तों को समझने में बड़ी सहायता दी। गवेषणा और पाण्डित्य की दृष्टि से यह कृति अब तक प्रकाशित ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

इधर गत ५-६ वर्ष के भीतर कबीर पर कुछ और पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जिनमें से डा० त्रिगुणायत कृत 'कबीर की विचारधारा' सर्वोत्तम है। विद्वान् लेखक ने श्रम और अध्यवसाय से अपने प्रबन्ध को शोध के छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया है। सैद्धांतिक मत-भेद होते हुए भी मैं लेखक के 'चिन्तन' की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। डा० रामरतन भटनागर के 'कबीर : एक अध्ययन' और महावीरसिंह गहलौत के 'कबीर' ने भी कबीर के अध्ययन को प्रोत्साहित किया है।

उक्त हिन्दी ग्रंथों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी में भी कबीर पर कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'प्रोफेट्स आफ इंडिया'—मन्मथनाथ गुप्त, 'कबीर एण्ड कबीर-पंथ'—जी. जी. एच. वेस्कट, 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स'—रेवेरेण्ड एफ. ई., 'निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री'—डा० बड़थ्वाल, 'कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी'—डा० मोहनसिंह, और 'कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेन्ट'—

डा० मोहनसिंह, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'हंड्रेड पोएम्स आफ कबीर'-कवीन्द्र रवीन्द (भूमिका लेखिका—ईवीलिन अंडरहिल), भी अपना साहित्यिक मूल्य रखता है।

कुछ पत्र-पत्रिकाओं में भी कबीर-सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते रहे हैं। चन्द्रबली पाण्डेय ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १४ पृ० ५३६) में 'कबीर साहब का जीवन वृत' नामक लेख प्रकाशित करके साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। कल्याण के योगांक में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'कबीर का योग वर्णन' लेख लिख कर कबीर के योग-सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कल्याण के वेदान्तांक में 'कबीर और वेदान्तवाद' लेख ने कबीर के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का समर्थ प्रयत्न किया है। 'कबीर का अलंकारिक दृष्टिकोण' नामक लेख में डा० ओ३म प्रकाश ने कबीर की काव्य-कला पर अपना मत प्रकट किया है। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'हिन्दुस्तानी' भाग २, अ० २, पृ० २०७ पर 'कबीर जी का समय' लेख लिख कर कबीर के समय पर ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। 'कबीर साहब का साधना-पथ' (ले० उदयशंकर शास्त्री), 'जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा' (विचार-विमर्ष सम्मेलन, प्रयाग) और कबीर' (एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स) नामक लेखों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कबीर को पाठकों के सामने रख कर कबीर-सम्बन्धी अध्ययन को आगे बढ़ाया है।

कबीर-संबंधी आलोचनात्मक ग्रन्थ उर्दू में भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें से 'सम्प्रदाय'—प्रोफेसर वी. वी. राय (मिशन प्रेस लुधियाना, सन् १६०६), 'कबीर और उनकी तालीम'—शिवव्रत लाल (सन् १६१२), 'कबीर साहब'-श्री जुत्सी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १६३०), और 'कबीर पंथ'—शिवव्रत लाल (मिशन प्रेम, इलाहबाद) बड़े महत्त्व के हैं। अन्तिम ग्रंथ में कबीर-पंथ का शास्त्रीय एवं वास्तविक स्वरूप निरूपित करने की चेष्टा की गई है। प्रारम्भिक प्रयत्नों में ग्रन्थ के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस प्रकार कबीर के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री होते हुए भी चिन्तन की व्यापकता के क्षेत्र में उसकी पूर्णता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कबीर के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई नया तथ्य प्रकट न हो सके, किन्तु चिन्तन के गर्भ में नए अनुमानों और नए दृष्टि-कोणों के लिए सदैव अवकाश रहता है। प्रस्तुत लेखक के प्रयत्नों में भी नया दृष्टिकोण प्रकट हो सकता है।

: २ :

जीवन

किसी कवि या लेखक के जीवन-वृत्त के लिखने में अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य, दोनों ही को आधार बनाया जाता है। कबीर की रचनाओं में एक पंक्ति के सिवा कहीं भी उनके जीवन-काल का संकेत नहीं मिलता—'गुरु परसादी जैदेव नामा, भगति के प्रेम इन्हहि है जाना।' इस पंक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुये थे। समय की दृष्टि से इन दोनों में जयदेव पहले आते हैं। कहा जाता है कि जयदेव राजा लक्ष्मणसेन से की सभा (सन् ११७०) को सुशोभित करते थे। गीतगोविन्द इन्हीं की रचना है। यहाँ तक माना जाता है कि 'गीतगोविन्द', 'विज्ञान गीता' या 'प्रबोध चन्द्रोदय' की तरह सांकेतिक रचना है। इसमें 'ज्ञान-कृष्ण' की ओर संकेत किया गया है। 'राधा' जीव-मुक्ति को संकेत करती है। कृष्ण और राधा—ज्ञान और मुक्ति—परस्पर सम्बन्धित प्रेमी और प्रिया हैं। यह रूपक मान लेने में जयदेव की भक्ति का रूप-चित्र ही बदल जाता है।[1] ऐसी भक्ति कबीर के मत के प्रतिकूल नहीं है।

जन्म-तिथि और समय

नामदेव का समय सन् १२७० के आस-पास माना जाता है। ये सतारा जिले मे नरसीबमनी स्थान पर एक छीपा वंश में पैदा हुए थे। इनका परिवार शिव-भक्त था। कहा जाता है कि बड़े होकर ये कुमार्ग-गामी हो गये और बटमारी तथा राहजनी करने लगे, किन्तु पैत्रिक भक्ति-भावना शीघ्र ही उमड़ आई और वे 'विठोबा' के भक्त हो गये। उन्होंने हिन्दी और मराठी दोनों में कविता की हैं।

बीजकगत[2] एक पद में कबीर ने रामानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। कबीर-ग्रन्थावली में कबीर का संकेत एक ऐसे साधु गुरु के प्रति है

---

[1] मैकलिफ—सिक्ख, *Vol. VI*, पृ० १०

[2] रामानन्द रामरस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके॥

—बीजक, पद ७७

जिसने आत्मानुभव को रोकने वाले पाखण्ड और अज्ञान के द्वार का भञ्जन कर दिया था। 'दबिस्ताँ' के लेखक ने भी कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। नाभाजी और ओरछा के हरिराम व्यास का भी यही मत है। यह सम्बन्ध कबीर के समय पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

अगस्त्य संहिता के बाद के परिशिष्ट 'भविष्योत्तर खण्ड' के अनुसार रामानन्द का जन्म सन् १२९९ ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु सन् १४१० में हुई थी। डा० भण्डारकर और डा० ग्रियर्सन ने रामानन्द की जन्म-तिथि सम्वत् १३५६ मानी है जो अगस्त्य संहिता के अनुरूप है। डा० फर्कुहर और की साहब ने रामानन्द का समय सन् १४०० से १४७० तक निश्चित किया है।

डा० फर्कुहर और की साहब के मत से रामानन्द की आयु ७० वर्ष की ठहरती है जो भक्तमाल की "बहुत काल वपु धारि कै"—उक्ति के अनुरूप नहीं है। सम्वत् १३५६ को रामानन्द की जन्म-तिथि स्वीकार कर लेने पर सन्त पीपा को, जिनका समय सम्वत् १४८२ निश्चित किया जाता है, उनका शिष्य मानने में अड़चन पड़ती है। सं० १३५६ को रामानन्द की जन्म-तिथि मान लेने से पीपा के जीवन-काल में ही रामानन्द की आयु १२६ वर्ष की हो जाती है। यदि शिष्य होने के समय पीपा को २० वर्ष का भी मान लें तो रामानन्द की आयु १४० वर्ष हो जाती है जो प्रत्यक्षत: असंभव दिखाई पड़ती है। अतएव सं० १३५६ को भी रामानन्द की जन्म-तिथि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भक्तमाल के टीकाकार हरिवरन ने रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानन्द को पाँचवाँ माना है। डा० त्रिगुणायत चार पीढ़ियों के लिए ३०० वर्ष का समय मानते हैं। इस दृष्टि से रामानन्द का समय सं० १३७५ के आस-पास आता है क्योंकि विद्वानों ने रामानुज का समय सं० १०७३ के समीप निश्चित किया है। अपने अनुमान को थोड़ी ढील देकर डा० त्रिगुणायत ने रामानन्द की जन्म-तिथि सं० १३८५ मानी है और उनकी निधन-तिथि लगभग सं० १५०० निश्चित की है। 'प्रसंग-पारिजात' नामक ग्रन्थ में उनकी निधन-तिथि सं० १५०५ दी हुई है। यदि यही तिथियाँ सत्य मानलें तो रामानन्द की आयु १२० वर्ष की होती है जो जनश्रुति से समर्थित है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जन्म-तिथि जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार सं० १४५६ वि० मानी है, किन्तु यह तिथि डा० बड़थ्वाल को मान्य नहीं है। वे कबीर की जन्म-तिथि सं० १४०७ और सं० १४४७ के बीच अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि नामदेव की कहानियाँ कबीर के समय में बहुत प्रचलित हो गई थीं और नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ में होने से कबीर का जन्म

सं० १४०७ के पश्चात् ही ठहरता है। डा० बड़थ्वाल रामानन्द की निधन-तिथि सं० १४६७ के लगभग मानकर कबीर की आयु उस समय कम से कम १८-२० वर्ष मानते हैं। इस प्रकार वे सं० १४०७ और सं० १४४७ के बीच में कबीर की जन्म-तिथि का अनुमान लगाते हैं। उनका कहना है कि कबीर का जन्म सन् १३७० ई० अर्थात् सं० १४२४ वि० के आस-पास हुआ होगा। डा० त्रिगुणायत ने कबीर की जन्म-तिति सम्वत् १४५५ मानी है जो 'कबीर चरित-बोध' में दी हुई तिथि के अनुरूप है। यह तिथि पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा मानी हुई तिथि से लगभग मिल जाती है। जो हो यही तिथि लोकप्रसिद्ध है। किसी गवेषणात्मक निर्णय के अभाव में 'प्रसिद्धि' को स्वीकार न करना अनुमान के शासन को स्वीकृति देना है।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में जो दोहे प्रचलित हैं वे ये हैं :—

(१) **संवत पन्द्र सौ औ पाँच मो, मगहर कियो गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पौन में पौन॥

(२) **संवत पन्द्र सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।**
माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन॥

(३) **संवत पन्द्रह सौ उनहत्तरा हाई।**
सतगुर चले उठ हंसा ज्याई॥

—(धर्मदास : द्वादस पंथ)

(४) **पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीनो गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पवन में पौन॥

—(भक्तमाल की टीका)

उक्त चारों दोहों से कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में चार तिथियाँ मिलती हैं :— (क) सं० १५०५, (ख) सं० १५७५, (ग) सं० १५६९ और (घ) सं० १५४९। इनमें से किसी तिथि के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं हैं। अनन्तदास की परिचई के अनुसार कबीर ने १२० वर्ष की आयु प्राप्त की थी। सं० १४५५ (कबीर की जन्म–तिथि) में १२० वर्ष जोड़ देने पर उनकी निधन–तिथि सं० १५७५ आ जाती है। इससे कबीर को सिकन्दर लोदी, रामानन्द तथा गुरु नानक का समकालीन मानने में कोई अड़चन नहीं आती। ब्रिग्स के अनुसार सिकन्दर से कबीर की भेंट सं० १५५३ में, जबकि वे ९८ वर्ष के होंगे, हुई थी। मि० वेस्काट का मत है कि गुरुनानक २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से मिले थे। गुरु नानक की जन्म तिथि सं० १५२६ मानी जाती है। इससे स्पष्ट है कि नानक से कबीर की भेंट सं० १५५३ में हुई थी।

डा० बड़थ्वाल का कहना है कि सं० १५७५ को कबीर की निधन-तिथि मानने में उनको विशेष आपत्ति नहीं है, किन्तु यह तिथि प्रमाणों से पुष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के संबंध में राजदण्ड का आविष्कार ही कबीर को सिकन्दर लोदी (सन् १४८६–१५१७ ई०) से जोड़ने का कारण बना है। शायद यह प्रह्लाद और कबीर की तुलना को पूरा करने की दृष्टि से किया गया गया हो। वे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के इस मत से सहमत हैं कि सिकन्दर लोदी के समय तक कबीर अपनी खंडन-पद्धति को लेकर नहीं पहुँचे होंगे।

किन्तु डा० बड़थ्वाल के इस विचार को भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है कि कबीर की मृत्यु सं० १५०५ (सन् १४४८) में हुई थी। वे डा० फ्युहरर के इस मत से प्रभावित हुए दीख पड़ते हैं कि 'नवाब बिजली खाँ' पठान ने सं० १५०७ में कबीर की कब्र पर एक स्मारक[1] बनवाया जिसकी मरम्मत सं० १६२४ में नवाब फिदाईखाँ ने कराई। डा० फ्युहरर के बयान को प्रामाणिक तो स्वयं डा० बड़थ्वाल भी नहीं मानते, फिर उसके आधार पर मानी हुई कबीर की मृत्यु-तिथि को प्रमाणित कैसे माना जा सकता है?

उक्त स्मारक के सम्बन्ध में डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही दीख पड़ता है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त रहा होगा। उसने कबीर के जीवन-काल में कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चल कर फिदाई खाँ ने उनकी मृत्यु के उपरान्त उस को रोजे का रूप दे दिया होगा। डा० रामकुमार वर्मा का भी यही अनुमान है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त था। उसने मगहर में उनकी जन्म तिथि के उपलक्ष में रोजा बनवाया था।

'भक्त-सुधा-विन्दु-स्वाद' नामक ग्रन्थ में कबीर की निधन-तिथि अगहन सुदी एकादशी, सं० १५५२ मिलती है। प्रमाण का अभाव होने से यह कहना अनुचित न होगा कि यह तिथि अनुमान-प्रसूत हो सकती है।

अस्तु, लोक-प्रसिद्धि को प्रमाणों पर कस कर इसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि कबीर का जन्म संवत् १४५५ और निधन संवत् १५७५ में हुआ था।

---

[1] यह तिथि 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के आधार पर दी गई है। सर्वे का तिथि-निर्देश अनुमानमूलक ही प्रतीत होता है।

'स्थान' शब्द तीन ओर संकेत करता है—जन्म, निवास एवं मृत्यु। कबीर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित है—एक तो यह कि वे मगहर में उत्पन्न हुए थे, दूसरा यह कि उनका जन्म-स्थान काशी था और तीसरा यह कि वे आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव में उत्पन्न हुए थे। श्री सीताराम चतुर्वेदी और स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दरदास कुछ अन्तःसाक्ष्यों के कारण कबीर का जन्म-स्थान काशी मानते हैं, किन्तु डा. रामकुमार वर्मा इस मत के विरोधी हैं। वे कबीर का जन्म-स्थान मगहर मानते हैं। उनका कहना है कि काशी कबीर का जन्म-स्थान नहीं है। वहाँ तो वे बाद में आकर रहने लगे थे।

स्थान

अन्तःसाक्ष्य के रूप में कबीर-बानी की अनेक पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, किन्तु कई पंक्तियों में एक-दूसरी का विरोध-सा दिखाई देता है जिससे समस्या के हल के स्थान पर उलझन कुछ बढ़ जाती है। उदाहरण के रूप में 'काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताए', को ही लिया जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने काशी में जन्म लिया था। इसमें सन्देह के लिए शायद ही कोई अवसर हो, किन्तु, 'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई'—इस पंक्ति से कबीर की पहली पंक्ति का आशय खंडित हो जाता है।

यहाँ 'दरसन' शब्द भी विद्वानों के विवाद का कारण बन गया है। मगहर को कबीर का जन्म-स्थान मानने वाले इस शब्द का अर्थ 'जन्म लेना' मानते हैं और दूसरे पक्षवाले इसका अर्थ सामान्यतया 'ईश्वर-दर्शन' बतलाते हैं। जो लोग मगहर को कबीर का जन्म-स्थान नहीं मानते उनका कहना है कि संभवतः कबीर पर्यटन करते हुए कभी मगहर गये होंगे और वहाँ उन्हें या तो किसी सिद्ध पुरुष के या भगवान् के दर्शन हुए होंगे अथवा वहाँ उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी।

डा. त्रिगुणायत की धारणा है कि कबीर महगर में ही उत्पन्न हुए थे। इसकी पुष्टि में उनके तर्क ये हैं—

१. मगहर में मुसलमानों की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों में से किसी के घर उत्पन्न हुए हों।

२. कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में कई बार मगहर की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने उसे

सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है।

३. कबीरदासजी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा। यह मानव-स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है।

४. कबीरदासजी ने स्पष्ट लिखा है कि सबसे पहले उन्होंने मगहर को देखा था। उसके बाद वे काशी में बस गये थे। इस उक्ति में खींच-तान कर दूसरा अर्थ लगाना हठधर्मी भर होगी।

५. कबीरदास जी ने लिखा है कि 'तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपन बुझाई–' इस पंक्ति से स्पष्ट है कि अपनी जन्मभूमि में पहुँचकर इस प्रकार की शांति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है।

६. एक बात और है। 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' में लिखा है कि बिजलीखाँ ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर संवत् १५०७ में रोजा बनवाया था। सिकन्दर लोदी और कबीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि उस समय कबीर जीवित थे। मेरा अनुमान है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त था। उसने कबीर के जीवन-काल में कबीर के जन्म-स्थान में कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चलकर फिदाई खाँ ने उनकी मृत्यु के उपरान्त उसी को रोजे का रूप दे दिया होगा।

इन तर्कों से श्री त्रिगुणायत यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि कबीर का जन्म-स्थान मगहर, काशी का समीपवर्ती मगहर, था।

यहाँ मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि जिन लोगों का यह मत है कि कबीर का जन्म उस मगहर में नहीं हुआ था जो गोरखपुर से पन्द्रह मील दूर बस्ती जिले में है, वे डा. त्रिगुणायत से बहुत दूर नहीं हैं और डा. त्रिगुणायत का 'मगहर' काशी से बहुत दूर नहीं है।

कबीर-पंथियों के अनुसार "सत्य पुरुष का तेज काशी के 'लहर तालाब' में उतरा था अथवा उक्त तालाब में पुरइन के पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरू जुलाहे की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था।" इससे तो यही सिद्ध होता है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था, परन्तु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट

गजेटियर' के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर में न होकर आजमगढ जिले के 'बेलहरा' गाँव में हुआ था। कहते हैं कि वहाँ बेलहरा नाम का एक तालाब है। पहले उसका नाम लहर तालाब था। कबीरदास जी का जन्म इसी तालाब पर हुआ बतलाया जाता है। श्री त्रिगुणायत ने इसको कबीरदास का जन्म-स्थान मानने में आपत्ति की है क्योंकि खोज करने पर उनको आजमगढ़ जिले के उक्त गाँव में कबीर से सम्बन्धित न तो कोई स्मारक ही मिला और न वहाँ कबीर पंथी ही मिले, अतएव गजेटियर के लेखक का मत उनको केवल अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। संभवतः अनुमान का कारण 'लहरताला' और 'बेलहरा' शब्दों का साम्यमात्र रहा हो।

मैं डा. त्रिगुणायत के मत से इस सीमा तक तो सहमत हो सकता हूँ कि कबीर का जन्म काशी के आस-पास ही कहीं हुआ था, किन्तु उनका जन्म-स्थान काशी के समीप का कोई 'मगहर' बताते हुए उन्होंने जो तर्क दिये हैं उनसे मैं सहमत नहीं हूँ क्योंकि वे निर्बल हैं जिनकी विवेचना आगे की जाती है।

श्री त्रिगुणायत का पहला तर्क यह है कि 'मगहर में मुसलमानों की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों के घर उत्पन्न हुए हों।' यह ठीक है कि मगहर में जुलाहों की संख्या अधिक है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि १. उक्त स्थान का 'मगहर' नाम कबीर का समकालीन है; २. वहाँ कबीर के जन्म से पहले से ही जुलाहे रह रहे हैं; ३. कबीर का जन्म किसी जुलाहे के ही घर में हुआ था; और ४. वह इसी स्थान का जुलाहा था? हो सकता है कि यह मगहर कोई नई बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग यहाँ आ बसे हों और उन्होंने अपने स्थान को महत्त्व देने के लिए कबीर से सम्बन्धित 'मगहर' के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।

डा. त्रिगुणायत का दूसरा तर्क यह है कि 'कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में मगहर की कई बार चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने उसे सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है।' यहाँ यह मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि यह मगहर जिसका कबीरदास ने बार-बार नाम लिया है, काशी के समीप का ही मगहर है और यह भी कोई पुष्ट तर्क नहीं है कि मनुष्य जन्म-स्थान के प्रति ही अधिक

श्रद्धा-भावना रखता है। यदि ऐसा हो तो अनेक लोग अपने जन्म-स्थान को छोड़कर श्रद्धावश काशी, मथुरा, द्वारिका आदि तीर्थ-स्थानों में न जायें। कई वृद्धों की श्रद्धा-भावना इन तीर्थों के प्रति इतनी उद्दाम हो जाती है कि वे इनके आकर्षण का संवरण न करके अपने जन्म-स्थान के मोह को भी तोड़कर इनमें जा बसते हैं। मैं समझता हूँ कबीरदास ने अपनी रचनाओं में मगहर की चर्चा इसलिए नहीं की कि वह उनका जन्म-स्थान था, वरन् इसलिए कि वे मगहर पर थोपे हुए निर्मूल कलंक को अन्ध-विश्वास के सिर मढ़ना चाहते थे। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर द्वारा की गई मगहर की चर्चा में श्रद्धा-भावना की सन्नद्धता न होकर रूढ़ि एवं अन्ध विश्वास की उन्मूलनकारिणी प्रवृत्ति की सतर्कतामात्र है।

श्री त्रिगुणायत का तीसरा तर्क है कि 'कबीरदास जी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा। यह मानव स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है।' डा. त्रिगुणायत का तर्क यहाँ तक तो मान्यता प्राप्त करता है कि कबीरदास जी अपने अन्त-काल के समीप मगहर चले गये थे, किन्तु उस मगहर में जिसके सम्बन्ध में यह अन्ध-विश्वास अब तक छाया हुआ है कि वहाँ मरने से नरक मिलता है। कबीर-जैसे निर्मोह जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं है कि वे अपने अन्त-काल में भी जन्म-स्थान के ममत्व का संवरण न कर सके और यह कहना भी अनुचित है कि कबीरदास जी मानव-स्वभाव के अनुकूल ही मृत्यु-काल के समीप अपने जन्म-स्थान मगहर को चले गये थे। अतएव यह कहना ही उचित दीख पड़ता है कि वे सत्य के अनुसन्धान से प्राप्त अपने निजी विश्वास के अनुकूल ही मगहर गये थे। वे इस अन्ध-विश्वास का खण्डन करना चाहते थे कि मगहर में मरने वाले को गधे की योनि या नरक की प्राप्ति होती है।

अपने चौथे तर्क में डा. त्रिगुणायत ने इस पंक्ति का आश्रय लिया है—'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई', किन्तु अनेक प्रतिलिपियों में यह पंक्ति भी तो मिलती है—'पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई।' अतः इस समस्या के हल के निमित्त हठधर्मी नहीं चल सकती, दोनों पंक्तियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है।

अपने पाँचवें तर्क में डा. त्रिगुणायत ने 'तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपन बुझाई', इस पंक्ति का अर्थ अपनी ओर खींचते हुए कहा है कि

अपनी जन्म-भूमि में पहुँच कर इस प्रकार की शान्ति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है। मैं समझता हूँ इस प्रकार का निष्कर्ष निराधार है। इस पंक्ति से स्पष्टतः यह अर्थ निकलता है—'हे परमात्मा, मैं तेरे भरोसे पर ही मगहर में आ बसा हूँ और इस विश्वास से मेरे शरीर की तपन बुझ गई है।' इस पंक्ति से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह मगहर वह स्थान था जहाँ बसने में लोग घबराते थे।

डा. त्रिगुणायत के छठे तर्क ने सब तर्कों को काट कर अपनी प्रतिष्ठा रखी है। इसमें 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' का सहारा लेकर यह कहा गया है कि बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर बिजली खाँ ने सम्वत् १५०७ वि० में कबीर के प्रति अपनी भक्ति के कारण एक स्मारक बनवाया था। उसी को कबीर की मृत्यु के बाद फिदाई खाँ ने रोजे का रूप दे दिया होगा। डा. साहब का अनुमान है कि यह स्मारक कबीर के जन्म-स्थान में ही बनवाया गया होगा। उनके मत से कबीर का जन्म-स्थान है काशी का समीपवर्ती मगहर। फिर यहाँ उस स्मारक का प्रश्न ही नहीं उठता जो बस्ती जिले में आमी नदी के तट पर बनाया गया था। मैं समझता हूँ कि बस्ती जिले में बना हुआ उक्त स्मारक काशी के समीपवर्ती मगहर में नहीं लाया जा सकता और न काशी के समीप के मगहर को बस्ती जिले में आमी के तट पर ही ले जाया जा सकता है। अतएव यह छठा तर्क भ्रममात्र है।

इस विवेचन से साफ हो जाता है कि कबीरदास का जन्म मगहर में नहीं हुआ था। फिर भी यदि डा. त्रिगुणायत का 'मगहर' (जो काशी के समीप है) वही मगहर है जो रूढ़-मान्यता के लांछन से लांछित है और जहाँ 'लहर तालाब' भी है, तो मुझे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि कबीर यहीं पैदा हुए थे। इसके अतिरिक्त न तो कोई अन्य मगहर ही कबीरदास का जन्म-स्थान था और न 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' का 'बेलहरा' ही। यदि डा. त्रिगुणायत का 'मगहर' काशी से अदूर है तो जिस प्रकार मैं उसे मगहर कह सकता हूँ, उसी प्रकार वे भी उसे काशी कह सकते हैं। उसे काशी कहने में आपत्ति का कोई कारण नहीं दिखाई देता, किन्तु कबीर की रचनाओं में काशी के साथ-साथ मगहर की बात भी चलती है, इसलिए अवश्य ही मगहर कोई काशी से दूरस्थ बस्ती है।

इस दशा में मगहर का काशी के 'लहर तालाब' से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। जब तक काशी से दूरस्थ मगहर के पक्ष में कोई प्रौढ़ प्रमाण न मिले

वह कबीर का जन्म-स्थान नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अटकलबाजियों के बल पर काशी को कबीर के जन्म-स्थान होने की मान्यता से वंचित नहीं किया जा सकता। नीचे की पंक्तियाँ काशी और मगहर की स्थूल भिन्नता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं:—

१. पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई।
या
पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई।
२. जैसा मगहर तैसी कासी, हम एकै करि जानी।
३. जस कासी तस मगहर, ऊसर हिरदै राम सति होई।
४. बहुत बरस तप कीआ कासी, मरनु भइया मगहर को बासी।
५. सगल जनमु सिवपुरी गँवाइया, मरती बार मगहर उठि धाइया।
६. का कासी का मगहर, ऊसर हृदय राम बस मोरा।
७. तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।
८. कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताये।

इन पंक्तियों को पढ़कर यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि मगहर और काशी दो भिन्न बस्तियाँ नहीं हैं। चौथी, पाँचवीं, सातवीं और आठवीं पंक्ति से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का केवल अन्तकालीन सम्बन्ध ही मगहर से था, वस्तुतः वे काशी के निवासी थे और उनका प्रारंभिक सम्बन्ध काशी से बहुत समय तक रहा था।

कबीर 'बानी' के अतिरिक्त काशी के पक्ष में जनश्रुति और कबीर-पंथ के ग्रन्थ भी हैं। कोई कबीर-पंथी कबीर को 'मगहर' का नहीं मानता है। अनन्तदास और धर्मदास की रचनाओं में कबीर की प्रतिष्ठा काशीवासी के रूप में ही हुई है, किन्तु यह बात भी अमान्य नहीं है कि कबीरदास ने काफी पर्यटन किया था। उनकी 'बानी' में स्थान-स्थान के जो शब्द मिलते हैं उनसे अनेक तथ्य प्रकाश में आते हैं—

---

१. बा. प. २१०; २. सं. बा. र. ३; ३. बा. प. ४०२; ४. सं. क. ग. १५; ५. सं. क. ग. १५; ६. बी. श. १०३; ७. बा. प. २५० तथा ८. सं. क. आ. २६।

१. यह कि कबीर ने पर्यटन बहुत किया था, २. यह कि देश के अनेक भागों के लोग उनके सम्पर्क में आते थे, और ३. यह कि कबीर की भाषा ने देश-भर के शब्द पचा लिये थे या यह कि देश-भर में कबीर की जैसी कोई सामान्य भाषा भी प्रचलित थी। जो हो यह सम्भव है कि अपने पर्यटन-काल में कबीर अन्यत्र भी रहे हों। यदि 'पहले दरसन मगहर पायो'--को ही प्रामाणिक मान लिया जाए तो यह मानना अनर्थ न होगा कि अपने ज्ञानोदय से पूर्व भी कबीर कुछ समय मगहर में रहे थे।

इस समग्र विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर काशी या उसके समीपस्थ किसी स्थान में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने काशी में निवास किया और निधन-काल के समीप वे मगहर चले गये।

जाति

कबीर की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उनकी जाति किसी विद्वान् ने ब्राह्मण बतलाई है, किसी ने जुलाहा और किसी ने उनको 'जुगी', जोगी या योगी जाति का बतलाया है। सभी विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष में 'कबीर-बानियो' से सहायता ली है। कबीर ने अपने को कोरी भी कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर ने अपने लिए जुलाहा शब्द का बार-बार प्रयोग करके अपने आलोचकों को मानों अपनी जाति बतला दी है, किन्तु कोरी शब्द का प्रयोग भी कबीर-बानियों में कई जगह मिलता है जिससे समस्या पैदा हो जाती है। एक स्थान पर 'पिता हमारो बड़ गोसांई[1]'—कहकर कबीर ने जाति-विषयक समस्या को और भी जटिल कर दिया है। कबीर की बानियों में उनकी जाति की ओर संकेत करने वाली जो अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं और जिन पर अनेक विद्वानों के मत आधारित है, नीचे उद्धृत की जाती हैं तथा उनके अतिरिक्त अन्य महात्माओं ने अपनी-अपनी बानियों में उनकी जाति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको भी संक्षिप्त मूल में प्रस्तुत किया जाता है :—

१. जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि-हरषि गुण रमै कबीर।
२. मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।
३. तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।[2]

---

[1] संत कबीर, आ. ३

[2] संत कबीर, आ. २६

४. तू ब्रह्म मैं कासी का जुलाहा, मोहि तोहि बराबरि कैसीकै बनहि ।

—संत कबीर, रागु ५

५. पूरब जनम हम ब्राह्मन होते, ओछे करम तपहीनां ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना ॥

६. जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरों उदासी ।

७. जोलाहे घर अपना चीना, घट ही राम पिछाना ।

ऊपर की पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे कबीर के जुलाहा होने का परिचय मिलता है । नीचे ऐसी पंक्तियाँ उद्‌धृत की जाती हैं जो कबीर के कोरी होने की सूचना देती हैं:—

१. कहत कबीर कारगह तोरी, सूतहि सूत मिलाए कोरी ।

२. परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मोरी ।
हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

कबीर ने जुलाहा, कोरी और 'बहुगुसाई' शब्दों के प्रयोग से जहाँ एक समस्या पैदा करदी है, वहाँ 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार' (संत कबीर सं. २) कहकर वे हमें एक बड़े संदेह से निकाल लेते हैं । वे हमें यह निश्चय करा देते है. कि उनकी जाति उस समय उपहास्य वस्तु थी । समाज में उसका बड़ा निम्न स्थान था ।

कबीर बानियों के सिवा दूसरे सन्तों की बानियों में भी कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो कबीर की जाति का परिचय देती हैं । उनमें से कुछ उपयुक्त उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

१. जाकै ईदि बकरीदि, कुल गऊ रे बध करहि, मानिअहि सेख सहीद पीरा ।
जाकै बाप बैसी करी, पूत ऐसी करी, तिहूँ रे लोक परसिध कबीरा ॥

—[रैदास बानी]

२. कासी बसै जुलाहा एक, हरिभगतनि की पकरी टेक ।

—[अनन्तदास—कबीरसाहब की परिचई में]

३. जुलाहा अभै उतपन्न्यो साध कबीर ।

—[रज्जव—महामुनि सर्वगी साध महिमा–१३]

एक-दो स्थानों पर कबीर की बानियों में ऐसी उक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं जो यह प्रकट करती हैं कि कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान और न जोगी ही । एक उद्धरण देखिये—

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घर-घर रह्यौ समाई॥

इन उक्तियों के अतिरिक्त विद्वानों ने किंवदन्ती से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया है। कबीर ने अपनी उक्तियों में अपने लिए जुलाहा और कोरी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ये दोनों शब्द व्यावसायिक समता के अतिरिक्त किसी जातीय एकता की ओर संकेत नहीं करते। दोनों जातियाँ भिन्न हैं। जुलाहे मुसलमान होते हैं और कोरी हिन्दू।

कबीर की जाति के सम्बन्ध में उठ खड़े हुए अनेक मतों में पहला डा. श्यामसुन्दरदास का मत है। कबीर ग्रन्थावली की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—"कबीरदास के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं होती क्योंकि उन सबका आधार जनसाधारण और विशेषकर कबीर-पंथियों में प्रचलित दन्त-कथाएँ हैं। कहते हैं कि काशी में एक सात्विक रहते थे जो स्वामी रामानन्द के बड़े भक्त थे। उनकी एक विधवा कन्या थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण देवता ने जब चौंककर पुत्री का वैधव्य निवेदन किया तब स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता, परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप जब इस ब्राह्मण-कन्या का पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसने उसे लहर तालाब के किनारे डाल दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पति के कोई पुत्र न था। बालक का रूप पुत्र के लिए लालायित दम्पत्ति के हृदयों पर चुभ गया और वे इसी बालक का भरण-पोषण कर पुत्रवान् हुए। आगे चलकर यही बालक परम भगवद्भक्त कबीर हुआ।"

इस किंवदन्ती के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए डा. श्यामसुन्दरदास आगे लिखते हैं—"कबीर का विधवा ब्राह्मण-कन्या का पुत्र होना असम्भव नहीं, किन्तु स्वामी रामानन्दजी के आशीर्वाद की बात ब्राह्मण-कन्या का कलंक मिटाने के उद्देश्य से ही पीछे से जोड़ी गई जान पड़ती है, जैसे कि अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्बन्ध में जोड़ी गई हैं। मुसलमान घर में पालित होने पर भी कबीर का हिन्दू विचारों में सराबोर होना उनके शरीर में प्रवाहित होने वाले ब्राह्मण अथवा कम से कम हिन्दू-रक्त की ओर संकेत करता है।"

डा. श्यामसुन्दरदास यह तो स्पष्टतः मानते हैं कि कबीर का पालन-पोषण मुसलमान (जुलाहा) घर में हुआ था; किन्तु वे ब्राह्मण-पुत्र थे, इसकी केवल सम्भावना व्यक्त करते हैं, फिर भी वे यह मानते हैं कि कबीर जाति से हिन्दू थे। डा. साहब का मत अधिकांशतः किंवदन्ती पर आधारित है। उन्होंने 'कोरी', 'गोसाईं' आदि शब्दों की, जो कबीर ने अपने लिए प्रयुक्त किये हैं, बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।

डा. बड़थ्वाल को डा. श्यामसुन्दरदास का मत स्वीकार नहीं है। उन्होंने प्रमाणों के अभाव में जनश्रुति को अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है, "कबीर जुलाहा वंश में उत्पन्न हुए थे। कबीर के पूर्वजों ने शायद कुछ समय पहले ही अपने उस धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, जिसमें गोरखनाथ की बड़ी मान्यता थी। कबीर वंश के लोग, यद्यपि बाहर से मुसलमान थे, किन्तु इनके अन्तर का परिवर्तन अभी तक नहीं हुआ था। इससे कबीर के उच्च हिन्दू-विचार एवं योग-प्रवृत्ति का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।"[1]

डा. बड़थ्वाल के मत ने डा. श्यामसुन्दरदास के मत से कुछ अधिक प्रगति दिखलाई है। इस मत के अनुसार कबीर द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों—'जुलाहा' (मुसलमान) एवं 'जोगी' पर स्पष्टतः एवं तीसरे 'कोरी' शब्द पर संकेततः प्रकाश पड़ता है। उनके मत को विश्लेषण के साथ अपने शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. कबीर का जन्म मुसलमान जुलाहा कुल में हुआ था।
२. मुसलमान होने से पहले उनके कुल के लोग किसी ऐसी सामान्य जाति के थे जिसमें गोरख-पन्थ की मान्यता थी।
३. इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी उनके वंश वालों का मानसिक सम्बन्ध परम्परागत संस्कारों से नहीं छूटा था।

तीसरा मत डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने कोरी, जुलाहा, और जोगी या योगी इन तीनों शब्दों को लेकर उनकी विशद व्याख्या की है जिसमें शोध और पांडित्य का प्राधान्य है। 'कोरी' शब्द को लेकर वे लिखते हैं—"कबीरदास ने बुनाई के रूपकों और उलटबाँसियों में कई जगह 'जुलाहा' के स्थान पर कोरी नाम लिया है। आजकल कोरियों में से बहुतों ने कबीर-पंथ

---

[1] डा. बड़थ्वाल—निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री, पृष्ठ २५०-२५१

स्वीकार कर लिया है, किन्तु बहुत से हिन्दू-विचारों के कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमें उच्च श्रेणी के हिन्दुओं की आचार-निष्ठा के अनुकरण की प्रवृत्ति जोरों पर पाई जाती है। उत्तर भारत के वयनजीवियों में कोरी मुख्य हैं।"[१]

"जुलाहा शब्द की व्याख्या करते हुए डा. साहब लिखते हैं कि बेन्स जुलाहों को कोरियों की समशील (Corresponding) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पण्डितों ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं वहाँ वे कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था, पर साधारण जनता में वे तब भी कोरी नाम से परिचित थे।"[२]

दोनों जातियों में समशीलता स्वीकार करते हुए भी डा. हजारीप्रसाद यह नहीं मानते कि कोरियों का ही मुसलमानी संस्करण जुलाहा है। "अब तक इस अनुमान का पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाँप-जोख। इसलिए कोरियों और जुलाहों को एक श्रेणी की दो जातियाँ मान लेने का कोई प्रमाण नहीं है।"[३]

'कबीर' में एक अन्य स्थान पर 'जुलाहा' जाति की विवेचना में डा. हजारीप्रसाद जी पुनः लिखते हैं—"कबीरदास की वाणियों से जान पड़ता है कि मुसलमान होने के बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व संस्कारों से एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊँची हो सकी थी। ....कबीरदास ने जुलाहों की जाति को कमीनी जाति कहा है [४]और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जनसाधारण में उपहास और मजाक की पात्र थी। साधारणतः मूर्खता सम्बन्धी कहानियों का एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्ष में जुलाहों से भी बना है।

---

[१] डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

[२] डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

[३] ,, ,, ,,

[४] सरग लोक में क्या दुख पड़िया तुम आई कलिमाहीं।
जानि जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजो नाहीं॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटंबर अगर चंदन घसि लीना।
आइ हमारे कहा करोगी हम तो जाति कमीना॥

"ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई-पंडित के 'शून्य-पुराण' से जान पड़ता है कि एक प्रकार के तांत्रिक बौद्ध उन दिनों मुसलमानों को धर्म-ठाकुर का अवतार समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्म का उद्धार होगा। शायद उन्होंने हिन्दू-विरोधी सभी मतों को बौद्ध ही मान लिया था। जो हो, इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ-मतालम्बी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रसंग में मुझे श्री रायकृष्णदासजी से यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारस के अलईपुरा के जुलाहे अपने को 'गिरस्त' (गृहस्थ) कहते हैं। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जुलाहा जाति भी रही होगी। बंगाल की युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा-वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमताव-लम्बी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।

जोगियों या योगियों के संबंध में डा. हजारीप्रसाद का मत है, "साधक योगी गृहस्थ जाति के योगी से भिन्न हैं। गृहस्थ योगी एक प्रकार से आश्रमभ्रष्ट योगी हैं। उनकी सन्तति न तो किसी आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत आती है और न वर्ण-व्यवस्था के। यह जाति एक जमाने में आश्रमभ्रष्ट होने के कारण वर्णा-श्रम व्यवस्था के बाहर पड़ी थी। उत्तर भारत की गोसाई, वैरागी, अतीत, साधु, जोगी और फकीर जातियाँ तथा दक्षिण भारत की आण्डी, दासरी और पानि-सवन जातियाँ भ्रष्ट योगियों के ही अनेक संस्करण हैं। इन जातियों में से अधिकांश अब भी भेष धारण करती हैं, भिक्षा पर निर्वाह करती हैं और अनेकानेक सामाजिक कृत्यों में गृहस्थ-धर्म की विधि के बदले संन्यासियों में विहित विधि का अनुष्ठान करती हैं। बहुतों का मृतक-संस्कार दाह द्वारा नहीं होता और संन्यासियों की भाँति समाधि दी जाती है। डा. हजारीप्रसाद का निजी अनुभव है कि बंगाल में योगियों को कहीं तो समाधि दी जाती है, कहीं-कहीं उनका अग्नि संस्कार भी किया जाता है। कहीं-कहीं यह भी प्रथा है कि योगियों के शव का पहले अग्नि-संस्कार करते हैं, फिर समाधि भी देते हैं।"

"कबीरदास के विषय में भी प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़

दिया।" डा. साहब का मत है कि "यदि यह कोरी किंवदन्ती नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी-जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का संबंध नाथ-पंथ से है। जान पड़ता है कि कबीर के वंश में भी ये नाथ-पंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे।" डा. हजारीप्रसाद ने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं:—

१. कबीरदास ने अपने को जोलाहा तो कई बार कहा है, किन्तु मुसलमान एक बार भी नहीं कहा है।
२. उनकी 'न हिन्दू न मुसलमान' वाली उक्ति उन्हीं वर्णाश्रमभ्रष्ट जुगी जाति के व्यक्तियों की ओर संकेत करती है।
३. कबीरदास ने अपनी एक उक्ति में स्वीकार किया है कि हिन्दू, मुसलमान, और योगी अलग-अलग होते हैं।[1]
४. कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधों को हिन्दुओं ने जलाया और आधों को मुसलमानों ने गाड़ दिया। त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति उन्हें समाधि भी दी गई थी और अग्नि-संस्कार भी किया गया था।[2]

डा. रामकुमार वर्मा डा. हजारीप्रसाद से बहुत कुछ सहमत होते हुए लिखते हैं—"कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कारों से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथपंथ का पर्याप्त प्रभाव था।"[3]

डा. रामकुमार वर्मा के इस मत से कबीर द्वारा प्रयुक्त 'गोसाईं' शब्द पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, किन्तु डा. त्रिगुणायत का मत इस शब्द से अपना समझौता नहीं करता। डा. त्रिगुणायत कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही मानते हैं, इसलिए कि संत कवियों से लेकर आजकल तक के अधिकांश विद्वान् उन्हें जुलाहा ही मानते हैं।[4] सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही माना है। उनका कहना है कि कबीरदास के समकालीन समझे जाने वाले सन्त रैदास एवं धन्ना

---

[1] क० ग्रं, पृष्ठ २००; [2] कबीर—डा. हजारीप्रसाद—पृष्ठ ५–११
[3] सन्त-कबीर—पृष्ठ ६१
[4] डा. त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ ३६

ने भी उन्हें जुलाहा माना है। इनके अतिरिक्त गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जब, तुकाराम आदि महात्माओं तथा अनेक इतिहासकारों ने भी कबीर की जाति जुलाहा मानी है।

इस प्रकार कबीर की जाति के संबंध में हमारे सामने प्रमुखतया चार मत आते हैं:—१. डा. श्यामसुन्दरदास का मत, २. डा. बड़थ्वाल का मत, ३. डा. हजारीप्रसाद का मत जिससे डा. रामकुमार वर्मा भी अधिकांशतः सहमत प्रतीत होते हैं, और ४. डा. त्रिगुणायत का मत जिसको श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी समर्थन प्राप्त है। इनमें से डा. श्यायसुन्दरदास का मत कोरी किंवदन्ती पर आश्रित है। अतएव प्रमाणों के अभाव में वह स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरा मत डा. बड़थ्वाल का है जिसके निष्कर्ष में अधिक तर्कसंगत प्रयास है। डा. बड़थ्वाल के इस मत से तो डा. त्रिगुणायत, डा. रामकुमार वर्मा और श्री परशुराम चतुर्वेदी भी सहमत हैं कि कबीर जुलाहा (मुसलमान) जाति में उत्पन्न हुए थे, किन्तु डा. हजारीप्रसाद ने कबीर की जाति के संबंध में भाषाविद की भाँति बड़े कौशल से काम लिया है। उन्होंने कोरी, जुलाहा और जोगी या योगी जाति के इतिहास पर जो पांडित्यपूर्ण प्रकाश डाला है वह निस्संदेह स्तुत्य है, किन्तु उनकी इस गवेषणात्मक विवेचना से कबीर की जाति पर कोई प्रकाश नही पड़ता। कबीरदास की 'ना हिन्दू ना मुसलमान' वाली उक्ति ने तो उन्हें केवल हिन्दू और मुसलमान जातियों से ही बहिष्कृत किया था, किन्तु डा. हजारीप्रसाद के 'पालित' शब्द के प्रयोग ने तो विचारे कबीर को 'जोगी' या 'योगी' जाति का भी नहीं रहने दिया। उन्होंने अपने एक भी वाक्य में यह प्रकट नहों होने दिया कि कबीर अमुक जाति में उत्पन्न हुए थे। बार-बार पढ़ने पर भी उनके यही शब्द मिल सके—

१. 'कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।'[1]
२. 'कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी-जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।'[2]
३. 'कबीरदास इन्हीं नव-धर्मान्तिरित लोगों में पालित हुए थे।'[3]

---

[1] डा. हजारीप्रसाद—कबीर, प्रस्तावना, पृष्ठ ६

[2] डा. हजारीप्रसाद—कबीर, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

[3] डा. हजारीप्रसाद—कबीर, प्रस्तावना, पृष्ठ १४—निष्कर्ष (७)

इन उक्तियों के आधार पर यही कहना पड़ता है कि डा. हजारीप्रसाद ने डा. श्यामसुन्दरदास के मत को ही अर्द्धव्यक्त रूप में स्वीकार कर लिया है। उन्होंने डा. श्यामसुन्दर की 'विधवा-ब्राह्मणी-पुत्र' वाली बात को जो किंवदन्ती से संबंधित है, छोड़ दिया है और डा. बड़थ्वाल के इस मत को स्वीकार किया है कि कबीर के ऊपर नाथपंथ के कुलागत संस्कार थे, किन्तु इस वाक्य का दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है, अतएव इसको डा. साहब के शब्दों में इस प्रकार रखा गया है:—

"कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।"

डा. हजारीप्रसाद ने अपनी सुदूर खोज के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जुलाहे लोग योगियों में भी मिलते रहे हैं। मुसलमानों के आने के बाद धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। 'कबीरदास इन्हीं' नव-धर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।

जोगी या योगी जाति को लेकर कबीर के मर्मज्ञ डा. त्रिगुणायत ने डा. हजारीप्रसाद का बहुत दूर तक पीछा किया है। वे यह समझ गये हैं कि 'कबीर' के रचयिता ने कबीर को जुगी जाति से परिवर्तित मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका यह भ्रम मिथ्या है। पीछे दिये हुए अनेक उद्धरणों से (जिनमें 'पालित' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए) यह स्पष्ट है कि कबीर का योगी जाति से परिवर्तित मुसलमान वंश में पालन-पोषण हुआ था। डा. त्रिगुणायत के भ्रम को मिटाने के लिए डा. हजारीप्रसाद के ये शब्द पर्याप्त होने चाहिए—'कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।' डा. हजारीप्रसाद ने जो कुछ कहा है वह जोगी-जाति-संबंधी गवेषणात्मक सत्य है। उनके शब्दों का कबीर की जाति के संबंध में कोई अर्थ लगाना उचित नहीं है। मैं समझता हूँ डा. हजारीप्रसाद के मत के खण्डन में डा. त्रिगुणायत का श्रम व्यर्थ ही गया। डा. साहब के तर्कों का खंडन करते हुए डा. त्रिगुणायत अपने तर्क इस प्रकार देते हैं—

१. ऊपर दिये हुए तर्कों में दिया हुआ उनका पहला तर्क बहुत ही अशक्त है। उनका यह कहना कि कबीरदासजी ने अपने को जोलाहा तो कहा है, किन्तु मुसलमान कहीं नहीं कहा है। मेरी समझ में यह ठीक उसी प्रकार है

जिस प्रकार एक ब्राह्मण से यह आशा की जाय कि वह अपने को ब्राह्मण कहने के बाद हिन्दू भी कहे। कबीरदास जी अपनी जाति, धर्म आदि का लेखा तो दे नही रहे थे जो जुलाहा कहने के बाद अपने को मुसलमान अवश्य कहते। उन्होने जुलाहा शब्द का प्रयोग अपने कुल की हीनता द्योतित करने के लिए ही किया है। अन्य स्थलों पर उन्होंने अपने को स्पष्ट रूप से हीन जाति का कहा है।

कबीर मेरी जाति को, सब कोई हसनोहार।
—(सन्त कबीर, सं० २)

अतः हम कह सकते हैं कि उन्होंने जोलाहे शब्द का प्रयोग अधिकतर अपनी हीन जाति को द्योतित करने के लिए ही किया है। इसलिए उन्होंने जहाँ जुलाहे शब्द का प्रयोग किया है वहाँ सापेक्षता में ब्राह्मण को भी ले आये हैं—**'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा.........'** अथवा **'तू ब्रह्म मैं कासी का जुलाहा.........'**।

इन दोनों ही में उनके कहने का अभिप्राय यही है कि तुम उच्चात्युच्च ब्राह्मण हो और मैं नीच जाति का जुलाहा हूँ, किन्तु फिर भी मुझे तुम से अधिक ज्ञान है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य जी का प्रथम तर्क सशक्त नहीं है।

२. उनका दूसरा तर्क है कि कबीरदास ने अपने को 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा है। उनके मतानुसार यह उक्ति आश्रम-भ्रष्ट जुगी जाति की ओर संकेत करती है। आचार्य जी से ऐसे तर्क की आशा नहीं की जाती थी। वे संत-साहित्य के मर्मज्ञ हैं। संत लोग कभी भी वर्णाश्रम धर्म में विशेष विश्वास नहीं करते थे। यदि ऐसा न होता तो मुसलमान सन्तों के हिन्दू शिष्य न होते और हिन्दू सन्तों के मुसलमान शिष्य न होते।[1] सन्त तो वास्तव में वही है जो समदर्शी हो! कबीर ने संतों का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"निरबैरी निहकांमता सांई सेती नेह।
बिषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥"
—(क. ग्रं., पृष्ठ ५०)

इस प्रकार के लक्षणों से युक्त संत के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों की उपेक्षा करना स्वाभाविक भी है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि भारतीय मध्यकालीन रहस्यवादी सन्तों की प्रमुख विशेषता यही थी कि वे किसी भी धार्मिक संस्था, तथा धर्म-ग्रन्थ में विश्वास नहीं करते थे।[2]

---

[1] 'दीन इलाही'—राय चौधरी, प्रथम अध्याय
[2] 'मेडिवल मिस्टीसिज्म—सेन, प्रीफेस, पृष्ठ १

ऐसी दशा में यह कहना कि कबीरदास का हिन्दू-मुसलमान, दोनों से उदासीन होना उनके जुगी जाति का संकेतक है, अधिक तर्क-संगत नहीं मालूम पड़ता। फिर कबीरदास ने यह भी तो कहा है कि वे योगियों के मतानुयायी नहीं हैं।[1] वे तो अपने संतमत को सभी से अलग मानते है। फिर उन्हें इस आधार पर जुगी जाति का कैसे कहा जा सकता है?

३. उनका तीसरा तर्क है कि कबीरदास ने स्वीकार किया है कि योगी हिन्दू और मुसलमान दोनों से भिन्न होते हैं, किन्तु इस उक्ति में यह भी तो स्पष्ट लिखा है कि कबीरदास योगियों से भी तो संबंधित नही हैं।

४. आचार्य जी का 'समाधि' वाला तर्क भी अधिक सशक्त नहीं। एक तो जनश्रुति को हम पुष्ट प्रमाण नहीं मान सकते क्योंकि कबीरदास से सम्बंधित बहुत-सी जनश्रुतियाँ साम्प्रदायिक भावना के कारण बहुत ही अतिरंजित रूप में प्रस्तुत की जाती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कबीरदास की समाधि भी बनी थी और जलाये भी गये थे, तो भी यह तर्क उन्हें जुगी जाति का सिद्ध करने में पर्याप्त नही है। बहुत से हिन्दू योगियों की समाधियाँ पाई जाती है जो जुगी जाति के न होकर केवल योगी ही होते हैं। इस बात में कोई भी संदेह नहीं कर सकता कि कबीरदास योगी थे। अतः आचार्य जी का यह तर्क भी मुझे अधिक सशक्त नहीं लगता। मेरी समझ में कबीर की नाथपंथी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए उन्हें जुगी जाति का सिद्ध करना आवश्यक भी नही क्योंकि कबीर के युग में नीच जाति के लोगों में नाथपंथ की बड़ी प्रतिष्ठा थी।

इस प्रकार डा. त्रिगुणायत ने डा. हजारीप्रसाद के मत-संबधी अनेक तर्कों के खण्डन करने की चेष्टा की है। साथ ही उन्होंने 'पिता हमारो बड़ु गुसाईं' उक्ति पर भी विचार किया है। वे कहते है-"कबीर की जाति से सम्बंधित एक मतवाद और उठ खड़ा हुआ है। इसका आधार कबीर द्वारा प्रयुक्त 'गोसाईं" शब्द है।............गोसाइयों के संबंध में एम. ए. शेरिंग ने लिखा है कि ये दशनामी भेद से कहीं शैव और कहीं वैष्णव होते हैं।[2] इसी आधार पर

---

[1] योगी गोरख गोरख करै, हिन्दू रामनाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घट-घट रह्यौ समाई॥
—(क. ग्रं., पृष्ठ २००)

[2] हिन्दू ट्राइब्ज एण्ड कास्टस् एज रिप्रेजेण्टेड एट बनारस—एम. ए. शेरिंग (१८७१-८१), पृष्ठ २५५

डा. रामकुमार वर्मा का मत है कि कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कार से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथपंथ का पर्याप्त प्रभाव था।[1] कबीर पर नाथपंथ के प्रभाव का वे यही कारण मानते हैं। अहमदशाह ने लिखा है कि कबीर को यदि विधवा ब्राह्मणी का पुत्र ही माना जाय तो गोसाईं अष्टानंद वाली कथा सत्य माननी चाहिए और कबीर को अष्टानंद गोसाईं का पुत्र मानना चाहिए।[2] किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इस मत का भी समर्थन नहीं कर सकते। अतः हम कबीर का संबंध गोसाईं जाति से स्थिर नहीं कर सकते।"

कबीर की जाति के संबंध में डा. त्रिगुणायत के मत[3] को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. कबीरदास किसी भी जुगी ऐसी जाति से संबंधित न थे।

२. कबीर का कोरियों से कोई विशेष संबंध न था। कबीरदास की यह प्रवृत्ति थी कि वे जिस वर्ग और जाति के लोगों के सामने बात करते थे तो प्रायः उसी व्यक्ति की भाषा में विचारों को अभिव्यक्त करते थे। कबीर ने कोरी शब्द का इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्रयोग किया है। जुलाहे का हिन्दी रूपांतर कोरी ही हो सकता है। कोरी शब्द जाति का सूचक न होकर केवल व्यवसाय का ही सूचक है। इसलिए हम कबीर को डा. बड़थ्वाल के मतानुसार किसी कोरी जाति का मुसलमानी संस्करण भी नहीं मान सकते हैं।

३. किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कबीर का संबंध गुसाईं जाति से भी स्थिर नहीं किया जा सकता।

४. कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। कबीर की हिन्दू-विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए रामानन्द का शिष्यत्व पर्याप्त है। रामानन्द का शिष्य होने पर ही कबीर हिन्दू धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे।

अब डा. त्रिगुणायत और डा. बड़थ्वाल के मतों को सामने रख कर देखना है। वे दोनों इस संबंध में तो एक मत हैं कि कबीर जुलाहा जाति में

---

[1] संत कबीर—पृष्ठ ६१

[2] (i) कबीर एण्ड हिज़ फालोअर्स—डा. की, पृष्ठ २८
(ii) दी बीजक आफ कबीर—अहमदशाह १९१७, पृष्ठ ४-५

[3] कबीर की विचारधारा, डा. त्रिगुणायत, पृष्ठ ४१-४३

उत्पन्न और पालित-पोषित हुए थे। मतभेद केवल इतना है कि डा. बड़थ्वाल यह कहते हैं कि कबीर के पूर्वजों ने शायद थोड़े ही दिन पहले अपने धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था—उस धर्म को छोड़कर जिसमें गोरख-मत का बड़ा आदर था और डा. त्रिगुणायत का मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। उनमें हिन्दू विचार-धारा रामानन्द के सम्बन्ध से प्रकट हो रही थी। रामानन्द के प्रभाव से ही कबीर हिन्दू-धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे। जो हो यह स्पष्ट है कि उक्त दोनों विद्वान कबीर को जुलाहा जाति का मानते हैं, किन्तु मेरा मत डा. बडथ्वाल के पक्ष में है। ठीक है कि 'जुगी' जाति से कबीर का कोई सम्बन्ध नहीं था और न 'बड्डगुसाई'' शब्द ही कबीर की जाति का सूचक है। 'कोरी' शब्द के समान यह शब्द भी आध्या-त्मिक संकेत के रूप में प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है। इससे परमात्मा के स्वामित्व या नियामकत्व का संकेत ग्रहण करना अनुचित न होगा।

तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन, दलित जातियों के प्रति कबीर की विशेष सहानुभूति और उनकी जाति की उपहास्यता हमें यह मानने के लिए प्रवृत्त करती है कि कबीर के परिवार की कोरी जैसी किसी दलित जाति से अवश्य ही किसी प्रकार की निकटता रही थी। हिन्दुओं में कोरी जाति से संबंधित अनेक उपहासमयी कहानियाँ प्रचलित हैं। ऐसी ही हँसी की कहानियाँ जुलाहों के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध हैं। इसलिए 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार'—इस उक्ति से जिस प्रकार 'जुलाहा' जाति की ओर संकेत ग्रहण किया जाता है वैसे ही 'कोरी' जाति की ओर भी संकेत हो सकता है। ऐसा भी देखा गया है कि धर्म-परिवर्तन के अनन्तर भी लोग प्रायः अपने पूर्व व्यवसाय को ही अपनाए रहते हैं। अतएव कबीर-कालीन जुलाहों में बहुत से धर्मान्तरित कोरी रहे हों तो आश्चर्य की क्या बात है? फिर यह न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि कबीर के पूर्वज कोरी थे जबकि कबीर ने अपने मुख से कोरी और जुलाहा दोनों जातियों से अपना संबंध जोड़ते हुए हमें भी दोनों को संबद्ध रूप में देखने के लिए प्रेरित किया है।

यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि 'विधवा ब्राह्मणी' वाली किंवदन्ती में कोई तथ्य नहीं दीख पड़ता। इसको न तो कबीर की उक्तियों का ही समर्थन प्राप्त है और न अन्य सन्तों की वाणियों का ही। हो सकता है कि यह किसी ब्राह्मण की गढ़न्त हो जिसने कबीर जैसे नीच जाति के व्यक्तियों में ऐसी प्रतिभा से चकित होकर यह किंवदन्ती तैयार कर दी हो।

यह भी संभव है कि इसके प्रादुर्भाव में किसी ब्राह्मण-विरोधी व्यक्ति या दल का व्यंग्यात्मक प्रयास हो। कुछ भी सही प्रमाणों के अभाव में इसको कबीर की जाति के निर्णय के लिए कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इससे हमारा मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे। इनके कुल का संबंध कोरी जाति से, जिस पर नाथ-पंथ का प्रभाव था, अवश्य रहा था। इसलिए उनके वंश पर पूर्वजातीय धार्मिक संस्कार बने हुए थे जिनकी अभिव्यक्ति कबीर के व्यक्तित्व से प्रमाणित है तथा जिनके पोषण में रामानन्द का प्रभाव भी सहायक था।

'कबीर' नाम साहित्य में इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि इसके सम्बन्ध में संदेह के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मध्यकालीन विचारधारा के

नाम

इतिहास में भी 'कबीर नाम अग्रणी है। साहित्य के इतिहास में भी यही नाम प्रचलित है। हाँ, कभी-कभी इसके साथ पूर्व-सर्ग और पर-सर्ग अवश्य मिलते हैं, जैसे दास और साहब। इस प्रकार यह नाम कभी 'दास कबीर', कभी 'कबीरदास' और कभी 'कबीर साहब' के रूप में भी प्रयुक्त देखा गया है। कबीर साहब और कबीरदास नामों का प्रयोग कबीर की बानियों में कभी नहीं आया। इन नामों में आदर की भावना निहित है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग उनके पंथ वालों ने ही किया होगा।

हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों में कबीर और कबीरदास, ये दो नाम ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। महात्मा कबीरदास, संत कबीर, कबीर की विचारधारा, कबीर, कबीर : साहित्य और सिद्धान्त, कबीर : एक अध्ययन, कबीर : एक आलोचना आदि ग्रन्थों में कबीर और कबीरदास नामों का ही प्रयोग हुआ है।

कबीर ने अपनी वाणी में 'कबीर' शब्द का प्रयोग ही बहुलता से किया है। कबीर की सभी साखियाँ तो नहीं, किन्तु उनमें से अधिकांश 'कबीर' की मुद्रा से मुद्रित हैं। पदों में तो शायद कुछ ही ऐसे हों जिन पर 'कबीर' की छाप न हो। रमैणियों के अन्त में भी अधिकांशतः 'कबीर' की छाप लगी मिलती है। साखियों में कबीर शब्द का प्रयोग संबोधन में हुआ है, जैसे—

कबीर जाको खोजते, पायो सोई ठौर।
सोई फिरि कै तू भया, जाको कहता और॥

—(क. ग्रं., पृष्ठ. २५३, साखी ५६)

रमैणियों के अन्त में जहाँ कहीं 'कबीर' नाम का प्रयोग हुआ है, उसके पूर्व 'कहै' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, जैसे—

"जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि बिचार॥"

—(क. ग्रं., पृष्ठ २४०, रमैणी ५)

इससे स्पष्ट है कि रमैणियों में कबीर 'वक्ता' के रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु पदों में 'कबीर' शब्द के पहले 'दास' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जैसे—

"दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन-दिन प्रीति नई।"

—(क. ग्रं०, पृष्ठ १६१, पद ३०४)

पदों में कहीं-कहीं दास के पश्चात् 'कबीर' न होकर 'कबिरा' या 'कबीरा' का प्रयोग हुआ है, जैसे—

"यूं दास कबीरा गावै, तार्थं मन कौं मन समझावै॥"

—(क. ग्रं. पृष्ठ १४६, पद १७२)

'कबिरा' शब्द का प्रयोग साखियों में भी सम्बोधन के लिए हुआ है। पदों में 'जन कबीर' का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिलता है, जैसे—

"जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुंनि समानी त्यौरी।"

—(क. ग्रं. पृष्ठ १६१, पद ३०३)

रमैणियों की भाँति पदों में भी 'कबीर' के पहले 'कहै' क्रिया के प्रयोग से कबीर ने वक्ता का पद धारण कर लिया है, जैसे—

"कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलि करि मंगल गाई।"

—(क. ग्रं. पृष्ठ १६२, पद ३०६)

एक पद में अपने नाम की घोषणा करते हुए कबीर कहते हैं—

"जाका ठाकुर तुही सारिंगधर, मोहि कबीरा नांऊ रे।"

—(क. ग्रं. पृष्ठ २७०, पद १८)

एक साखी में अपने नाम का परिचय कबीर ने इस प्रकार दिया है—

"कबिरा तुही कबीर तू, तेरो नाउ कबीर।
राम रतन तब पाइये जो पहले तजहि सरीर॥"

—(क. ग्रं. पृष्ठ २६२, साखी १७७)

इस पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है 'कबीर' ही मौलिक नाम है। इसके साथ 'दास' और 'जन' शब्दों का प्रयोग भावना का द्योतक है। जिस प्रकार 'जन कबीर' उसी प्रकार 'दास कबीर' के प्रयोग से अपनी वाणी में कबीर ने अपने भगवद्दासत्व की ओर ही इंगित किया है। कबीर साहब और कबीरदास नामों का प्रयोग आदर व्यक्त करने के लिए कबीर के अनुयायियों ने किया है। श्रद्धालु आलोचकों ने भी अपने ग्रन्थों में 'कबीरदास' नाम का प्रयोग किया है।

'कबीर' नाम से जिस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का परिचय सहसा मिल जाता है, उसी प्रकार उनकी जाति के सम्बन्ध में भी संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार नीरू या नूरी किसी मुसलमान नाम का संकेत देता है, उसी प्रकार कबीर शब्द भी मुसलमान नाम की ओर संकेत करता है। वह बिजली खाँ, फिदाई खाँ, सिकन्दर खाँ आदि नामों की सभा में अर्थतः भले ही गुरुतर हो किन्तु जातितः हीनता का बोधक है।

किसी को क्या पता था कि कबीर नाम का बालक यथानाम तथा गुण होगा। मैं समझता हूँ जो काम अपने आसन से कबीर ने किया उसको अकबर अपने शासन से भी न कर सका। समाज, धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिस क्रान्ति को जन्म दिया उससे उनका नाम सार्थक[1] हो गया।

जनश्रुति के अनुसार कबीर का एक छोटा सा परिवार था जिसमें छै प्राणी थे—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री और स्वयं कबीर। कबीर की माता का नाम नीमा और पिता का नाम नीरू या नूरी बताया जाता है। कहते हैं कि कबीर के प्रति उनके पिता का व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण था। इसको स्वीकार करते हुए कबीर लिखते हैं—

परिवार

"बापि दिलासा मेरो कीन्हा।"

इसके विपरीत कबीर की माँ कबीर से खिन्न रहती थी। सम्भवतः इसका कारण यह था कि कबीर की साधु-संगति उसको रुचिकर नहीं थी।

---

[1] कबीर शब्द किब्र से बना है। किब्र का अर्थ गौरव, महत्त्व या बड़प्पन है। अतः कबीर का अर्थ महान या गौरवमय हुआ।

कबीर जो कुछ कमाते थे उसे साधुओं पर व्यय कर देते थे। यह आचरण नीमा के निरन्तर खेद का कारण था। इसका संकेत हमें कबीर के इस पद से मिलता है—

"कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे।
ठाड़ी माइ करारै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे।।"

—(क. ग्रं. पृष्ठ १३७, पद १५१)

उक्त पद से स्पष्ट है कि कबीर की माँ कबीर के सत्संग से तुष्ट नहीं थी। उनके संताचार को वह पारिवारिक विपत्ति का कारण समझती थी। एक पद में कबीर ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
हमारे कुल कउ न राम कहिओ।
जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयौ।।"

इसीलिए उसके मरने पर कबीर ने कहा था—

"मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला।"

कुछ लोगों का यह कहना है कि यहाँ 'माई' शब्द माँ के लिए न होकर माया के लिए है। मैं समझता हूँ इससे दोनों ओर संकेत ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि पारिवारिक वातावरण में भी इस उक्ति की संगति बैठ जाती है।

कबीर की स्त्री का नाम लोई बताया जाता है। लोई को सम्बोधन करके कबीर ने अनेक पद लिखे हैं। एक पद में वे कहते हैं—

"रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहि कहत घर मेरा।"

× × × ×

"कहत कबीर सुनहु री लोई, हम तुम बिनसि रहेगा सोई।।"

इसमें लोई और कबीर का एक घर होना प्रकट किया गया है। इससे तो यही सम्भावना है कि लोई कबीर की स्त्री थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि लोई से कबीर के विचार नहीं मिलते थे, अतएव कलहकारी मतभेद रहता था।

कुछ लोग 'लोई' के पहले 'सुनहु रे' की स्थिति (सुनहु रे लोई) से 'लोई' का अर्थ 'लोग' लगाते हैं, किन्तु जनश्रुति की प्रतिष्ठा से 'लोई' को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में स्वीकार करना ही उचित दीख पड़ता है।

लोई के विषय में यह जनश्रुति है कि वह एक वनखण्डी वैरागी की परिपालित कन्या थी जो उस वैरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी हुई, टोकनी में रखी हुई गंगा में बहती मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण उस कन्या का नाम लोई रखा गया।

वनखण्डी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य सन्तों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दिया गया। औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा—"गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं; यह दूध उन्हीं के लिए रख छोड़ा गया है।" थोड़ी देर में वहाँ सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधुओं को कबीर की 'सिद्धई' पर बड़ा आश्चर्य हुआ। लोई भी विस्मय से मुग्ध हो गई और उसी दिन से वह कबीर के साथ हो ली।

कबीर-पंथ के लोग कबीर को अविवाहित कहते हैं, किन्तु 'ग्रन्थ साहब' में दिये हुए एक दोहे से यह सिद्ध होता है कि कमाल कबीर का पुत्र था। इस प्रकार कबीर का विवाहित होना भी प्रमाणित हो जाता है। उक्त दोहा इस प्रकार है :—

"बूड़ा बंस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़िके, घर ले आया माल॥"

कुछ लोग उक्त दोहे को प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु पहले तो 'ग्रन्थ साहब' में प्रक्षेपों के लिए बहुत कम या बिल्कुल गुंजाइश नहीं दीख पड़ती, इसके अतिरिक्त 'ग्रन्थ साहब' में कमाल सम्बन्धी कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे कबीर और कमाल के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

कुछ आलोचकों का भी यही मत है कि लोई कबीर की स्त्री नहीं थी, शिष्या थी। वे अपने मत के पक्ष में कबीर द्वारा की गई कामिनी-निन्दा को प्रस्तुत करते हैं :—

"नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज जान मैं, पैसि न सकई कोइ॥
एक कनक अरु कामिनी, विषफल किए उपाइ।
देखे ही थैं विष चढै, खाए सूँ मरि जाइ॥"

प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही गया है कि कबीर विवाहित थे। अतएव हमारी समझ से लोई कबीर की शिष्या नहीं थी। हमें तो यही ठीक जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पंथ चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गई।

डा. रामकुमार वर्मा ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर की दो स्त्रियाँ थी। पहली शायद कुरूप थी और उसकी जाति-पाँति का भी कोई पता नहीं था। उसमें स्त्रियोचित सुलक्षण न थे। दूसरी स्त्री संभवतः सुन्दर और सुलक्षणा थी। पहली स्त्री का नाम लोई और दूसरी का धनिया था। उसे लोग 'रमजनिया' भी कहते थे। डा. रामकुमार वर्मा का यह भी अनुमान है कि संभवतः वह रमजनिया वेश्या रही हो। इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं दीख पड़ता। यह संभव हो सकता है कि कबीर की दो पत्नियाँ रही हों, किन्तु उनमें से एक वेश्या थी, यह नहीं कहा जा सकता। जो स्त्री उनकी भक्ति-भावना के अनुकूल रही होगी उन्होंने उसी को गुणवती कहा होगा। कबीर-ग्रंथावली में एक पद ऐसा है जिससे डा. रामकुमार वर्मा के इस अनुमान की पुष्टि होती है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं। पद यह है :--

"अब की घरी मेरो घर करसी।
साध संगति ले मोकौं तिरसी॥
पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूं नहिं पायौ।
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायौ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मांनैं।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जांनैं॥
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ रु रांम सुन्यूं रे॥"

—(क. ग्रं., पृष्ठ १६५, पद २२६)

यद्यपि इस पद से आध्यात्मिक ध्वनि भी निकलती है, किन्तु लौकिक अर्थ भी पुष्ट हो जाता है। इस पद से स्पष्ट है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं।

पहली से उनकी नहीं पटती थी। वह उनके आध्यात्मिक प्रवाह में बाधक सिद्ध होती थी क्योंकि वह कबीर के मर्म को नहीं समझती थी। दूसरी पत्नी उनके आध्यात्मिक विचारों की समर्थक एवं प्रेरक थी। वह उनके साथ राम-चर्चा कहने-सुनने में भी भाग लेती थी। कदाचित् यह दूसरी स्त्री धनिया या 'रामजनिया' थी।

कबीर की माँ की तरह उनकी पहली स्त्री भी उनसे अप्रसन्न रहती थी क्योंकि वे साधु-सन्तों के सत्कार में अधिक संलग्न रहते थे। घर में जो कुछ अच्छा भोजन बनता उसे वे साधु-सन्तों को खिला देते थे और उनकी स्त्री को चबैना आदि खाकर ही रह जाना पड़ता था। इसीलिए उसे कह देना पड़ा :—

"मूंड पलोसि कमर बँधि पोथी।
हम कउ चाबनु, उन कउ रोटी॥"

—(संत कबीर, गौ. ६)

अपनी दूसरी स्त्री से कबीर अधिक प्रसन्न थे, य तथ्य कबीर की एक अन्य उक्ति से भी प्रकट होता है :—

"भरी सरी मुई मेरी पहली बरी।
जुग जुग जीवउ मेरी अब की धरी॥"

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की पहली स्त्री जल्दी मर गई थी।

कमाल के अतिरिक्त कबीर की एक पुत्री भी थी जिसका नाम कमाली था। कबीर-पंथियों ने कबीर को अविवाहित सिद्ध करने के लिए कमाली को किसी शेख तकी की पुत्री बताया है जिसे कबीर ने उसके मरने के आठ दिन बाद पुनर्जीवन प्रदान किया। कमाली तभी से उनकी पोष्य पुत्री होगई। कमाल को भी कबीर-पंथी लोग कबीर का पोष्य पुत्र बतलाते हैं।

जो हो इतना सत्य है कि कमाल और कमाली कबीर के परिवार के अभिन्न अंग थे। कमाल बेढंगा और कबीर के नाम को बिगाड़ने वाला था। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि कमाल और कमाली के अतिरिक्त जमाल और जमाली भी कबीर की संतति थे। कुछ लोगों ने जमाल और जमाली के स्थान पर निहाल और निहाली नाम बतलाये हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर नूरी (नीरू) पिता एवं नीमा माता के औरस पुत्र थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। पहली का नाम लोई था और दूसरी का धनिया था जिसे रामजनिया भी कहते थे। शायद यह नाम महात्मा रामानन्द के प्रभाव से रखा गया था। पहली स्त्री जल्दी मर गई थी। उससे कबीर की बनती नहीं थी। दूसरी स्त्री कबीर को अधिक प्रिय थी। उससे उनकी भक्ति-साधना को बड़ी प्रेरणा मिली थी। अनेक पुत्र और पुत्रियों के संबंध में पुष्ट प्रमाण न मिलने से केवल यही माना जा सकता है कि कबीर को एक पुत्र और एक पुत्री का लाभ हुआ था। उनमें से केवल पुत्र ही बचा था। उसका नाम कमाल था जिसने गुजरात में अपना धर्म चलाया था। कबीर को पारिवारिक सुख नहीं मिल सका था। इसका प्रमाण उनकी ही एक साखी है—

"जदि का भाई जनमिया, कहूँ न पाया सुक्ख।
डाली-डाली मैं फिरौं, पाती-पाती दुक्ख॥"

—(क. ग्रं., पृष्ठ ११७)

कबीर का जन्म और पालन-पोषण जुलाहा परिवार में हुआ था। उनके परिवार का व्यवसाय कपड़ा बुनना था। कोरी और जुलाहों का यह व्यवसाय बहुत पुराना है। कोरी और जुलाहे लोग कपड़ा बुनते ही नहीं,

व्यवसाय

बेचते भी हैं। जिस प्रकार ये लोग घर-घर से सूत खरीदते फिरते हैं उसी तरह घर-घर कपड़ा भी बेचते फिरते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग पैठों और अठवारों की हाटों में भी कपड़ा बेचने जाते हैं।

कबीर ने अपनी बानियों में अपनी जाति कोरी और जुलाहा बतलाई है। इससे कम से कम उनके पारिवारिक व्यवसाय पर तो प्रकाश पड़ता ही है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि कोरी या जुलाहा जाति का पेशा कपड़ा बुनना है। कबीर भी कपड़ा बुन कर जीविका का उपार्जन करते थे। यद्यपि इससे उनके माता-पिता को विशेष सहायता नहीं मिलती थी, फिर भी घर का काम तो चलाना ही पड़ता था। इसी साधन से कबीर अपने सत्संग का व्यय भी चलाते थे।

कबीर की बीसियों बानियाँ ऐसी हैं जिनमें बुनने के रूपक प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें जो विस्तार दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि कबीर को 'बुनता' का गहन ज्ञान प्राप्त था। ऐसा ज्ञान वैयक्तिक अनुभव की ओर संकेत करता

है। कबीर के करीब तेरह पद ऐसे हैं जिनसे उनके 'वयनजीवी' होने का संकेत मिलता है। एक स्थान पर कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है—

"हम घर सूत तनहि नित ताना।"
—(संत कबीर, ग्रा. २६)

ऐसा भी प्रतीत होता है कि पैत्रिक व्यवसाय में कबीर की रुचि नहीं थी। रुचि भी क्या करती? यदि सत्संग से अवकाश मिलता, कपड़ा तो वे तब बुनते। शायद बाद में उन्होंने यह व्यवसाय छोड़ भी दिया था—

"तनना बुनना सभु तज्यौ है कबीर
हरि का नाम लिखि लियौ सरीर॥"

गुरु

कबीर के गुरु कौन थे? यह प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है। कबीर के गुरु के सम्बन्ध में लोगों का मतभेद है। इन लोगों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—एक तो वे जिन्होंने कबीर के सम्बन्ध में शोध करके अपना मत स्थिर किया है और दूसरे वे जो कबीर-पंथी हैं। कबीर-पंथियों के भी दो वर्ग हैं—हिन्दू कबीर पंथी और मुसलमान कबीर-पंथी। 'मुसलमान कबीर-पंथियों का कथन है कि कबीर शेख तकी के मुरीद थे। हिन्दू कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र को ही पड़ी थी।'[१] कहा जाता है कि निगुरा कहकर कुछ लोग कबीर को खिजाते थे। वे कबीर की 'वाणियों' का अनादर करते थे। कबीर ने परिस्थिति का सामना करने के निमित्त एक गुरु चुनने की आवश्यकता समझी। महात्मा रामानन्द की उस समय बड़ी ख्याति थी। स्वयं सर्वज्ञ होते हुए भी कबीरदास ने गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए किसी प्रकार रामानन्द को अपना गुरु बना लिया।

'कबीर' पर शोध करने वाले विद्वानों में से कुछ ऐसे भी हैं जो रामानंद को कबीर का गुरु नहीं मानते। उनमें से डा. भण्डारकर[२] एवं डा. मोहनसिंह[3] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा. मोहनसिंह का तो यह भी कहना है कि कोई लौकिक व्यक्ति कबीर का गुरु नहीं था। इसके विपरीत डा. हजारीप्रसाद, डा. श्यामसुन्दरदास आदि कुछ विद्वानों की यह दृढ़ मान्यता है कि कबीर के गुरु रामानंद थे। श्री चन्द्रबली पांडेय ने कबीर का जीवन-वृत्त लिखते समय यह

---

[१] देखिये, कबीर का जीवन-वृत्त—चन्द्रबली पांडेय

[२] वैष्णविज्म तथा शैविज्म आदि—भंडारकर प्रथम अध्याय।

[3] कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी—पृष्ठ ११,१४, डा. मोहनसिंह

कहा है, "अनुसंधान की दृष्टि से कबीर के गुरु का प्रश्न अभी अछूता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कबीर रामानंद के शिष्य थे क्योंकि कबीर ने स्वयं इसको अपनी वाणी से स्पष्ट कर दिया है—'कासी में हम प्रगट भये हैं रामानंद चेताए। समरथ का परवाना लाए हंस उबारन आए।' उक्त महानुभावों से हमारा यही नम्र निवेदन है कि हम इसको कबीर की रचना मानने में असमर्थ हैं। हमारी दृष्टि में, इस पद्य में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि इस पद्य का प्रसंग क्या है और इससे किस तथ्य का प्रतिपादन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्य में इसलाम और हिंदूमत की खिचड़ी पकी है, पर उससे यह कबीर रचित नहीं हो सकता। यह तो किसी भक्त-शिष्य की करतूत है जो गोरख को घटाने के लिए की गई है। कबीर इस स्थल पर अपना परिचय तो दे रहे हैं परन्तु परिचय देने का जो ढंग है वह कबीर का नहीं है। ग्रंथावली में यह पद्य नहीं है। यह पद्य उस समय का है जब कबीर व्यक्ति विशेष न रह कर कुछ और ही बन गये थे। 'प्रगट होने' का प्रयोग संत-समाज में उत्पन्न होने के अर्थ मे भी होता है। यह सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमात्मा तथा उसी के अंश का प्रभाव है, इसलाम के खुदा का नहीं। 'समरथ का परवाना लाना' इसलाम का पैगाम लाना है, अवतार लेना नहीं। यहाँ तो परमात्मा स्वयं अवतार लेते हैं। परमात्मा तो केवल यमराज भेजते हैं जिसके वाहक यमदूत कहे जाते हैं, महात्मा नहीं। सन्तों ने भी कबीर के 'जुग-जुग' आने की बानगी ली है, उनके परवाने की नहीं। कबीर-पंथियों में जो परवाना चलता है वह कबीर की भक्ति का परवाना है, 'समरथ' का नही"।[1]

इस विवेचन से पांडेय जी का तात्पर्य यह नहीं कि रामानंद कबीर के गुरु नहीं थे। उनका आशय तो केवल इतना है कि यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने से सबसे बड़ी अड़चन तो सामने यह आती है कि उक्त दोनों महानुभावों का समय अनिश्चित है। फिर भी विद्वानों ने इतिहास, अनुमान और 'वाणियों' का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा तो की ही है। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से दोनों का संबंध असम्भव सिद्ध नहीं होता, फिर भी स्वयं कबीर के वचनों से प्रमाण-संचय करना अत्युचित होगा। कबीर-ग्रन्थावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमें स्वामी रामानन्द का नाम नहीं आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव, नारद आदि प्राचीन भक्तों को जाने दीजिये, जयदेव तथा नामदेव का नाम तक लिया गया है। कबीर का कथन

---

[1] कबीर का जीवन वृत्त, 'गुरु'—चन्द्रबली पांडेय

है:—"जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर। संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव।" मैं समझता हूँ कबीर-ग्रन्थावली में एक भी पद्य ऐसा नहीं आया है जिसमें किसी भी वैष्णव आचार्य का नाम आया हो। कबीर काशी में रहते थे। अनेक वैष्णव आचार्य समय-समय पर वहाँ आते रहते थे। आचार्य नहीं तो उनके शिष्य तो आते ही रहते थे। दर्शन के इतिहास में ऐसे अनेक शास्त्रार्थों का उल्लेख मिलता है जो काशी में वैष्णव सिद्धांतों को लेकर हुए थे। फिर भी कबीर उनके विषय में मौन हैं। क्यों? वे शंकर का तो नाम लेते हैं, किन्तु भक्ति के उन्नायक रामानुज का ध्यान नहीं रखते। ऐसी दशा में यदि कबीर ग्रंथावली में रामानन्द का नाम नहीं मिलता तो आश्चर्य की बात क्या है? कबीर की वाणियों में 'वैष्णव' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है, 'साकत' (शाक्त) का भी अभाव नहीं है। यदि अभाव है तो 'शैव' का। सम्भवतः शंकर इसी अभाव की पूर्ति करते हैं। कदाचित् यह स्वीकार करने में तो किसी को आपत्ति न होगी कि वैष्णव धर्म से कबीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि उन्होंने अपने ही शब्दों में स्वीकार किया है कि—"मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक रांम। वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम॥"[१] कबीर की दृष्टि में वैष्णव का पद बहुत ऊँचा था। वे तो वैष्णव की माँ तक को बधाई देते हुए कहते हैं—"कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनों पूत। रांम सुमिरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत॥"[२] कबीर वैष्णव मत के प्रशंसक ही नहीं, स्वयं वैष्णव थे। इसकी पुष्टि के लिए उनकी यह वाणी पर्याप्त है—

"मेरी जिभ्या बिस्नु नैन नाराइन, हिरदै बसै गोबिंदा।"[3]

कबीर पर वैष्णव धर्म का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि वे अपने को वैष्णव से अभिन्न मानते है। वे अपनी एक साखी में कहते हैं:—

"हम भी पाहन पूजते, होते रन[४] के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई, डार्‌या सिरथैं बोझ॥"[५]

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि कबीर का जन्म मुसलमान कुल में हुआ था। उनके कुल में किसी ने राम का नाम नहीं जपा था। फिर उनके

---

[१] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९

[२] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३

[3] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १७३, ३३०

[४] 'रन' शब्द का प्रयोग कबीर ने 'बन' के अर्थ में किया है।

[५] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ ४४

'पाहन पूजने' और 'बन के रोझ' होने का क्या अभिप्राय है। यदि और न सही, कबीर का मुसलमान-परिवार में पालित होना ही सत्य मान लें तो भी वे संस्कार-वश 'पत्थर-पूजा' और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त तो थे ही। फिर उनके कथन का अभिप्राय क्या है ? मैं समझता हूं कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना घनीभूत हो गया था कि उनका विश्वास पुनर्जन्मवाद में हो गया था। निस्सन्देह यह प्रभाव रामानन्द का था।

मेरी भी यही धारणा है कि कबीर रामानन्द के ही शिष्य थे, किन्तु, तदर्थ प्रमाण होते हुए भी, कुछ विद्वानों ने कबीर को शेख तकी का ही मुरीद माना है। उनमें श्री रामप्रसाद त्रिपाठी तथा स्वर्गीय मैलकम साहब एवं वेस्कट साहब[1] प्रमुख हैं। प्राय: इन सभी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए गुलाम सरवर की 'खज़ीन अतुल असफिया' से उद्धरण दिये है। गुलाम सरवर भी कबीर को शेख तकी का मुरीद मानते हुए प्रौढ़ तर्कों से अपने मत की पुष्टि नहीं कर सके हैं। उनके मत को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने कबीर की जन्म-तिथि देकर अपनी भ्रामक अटकलबाजियों को ही प्रस्तुत किया है। ऐसे अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक ग्रंथ के आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

शेख तकी को कबीर का पीर मानने वाले लोग अपने पक्ष में यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं :—

"मानिक पुरहि कबीर बसेरी, मदहति सुनी शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना, झूँसी सुनि पीरन के नामा ॥"[2]

यह धारणा कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के ही मुरीद थे, कबीर पंथी मुसलमानों की है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि कबीर का सम्बन्ध शेख अकरदीं और सकरदीं से भी था। यह वर्णन भी आता है कि शेख अकरदीं और सकरदीं कबीर को लेकर स्वामी रामानन्द की शरण में गये थे। प्रवाद तो यह भी है कि झूँसी के किसी शेख तकी से कबीर की लाग-डांट भी हो गई थी। कबीर के साथ जहाँगश्त[3] फकीर का संबंध भी कहा जाता है। कबीर-ग्रंथावली में तो केवल यह पद्य मिलता है:—

---

[1] कबीर एण्ड दी कबीर पंथ, पृष्ठ २५
[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास——रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७३
[3] कबीर एण्ड हिज़ फोलोवर्स, पृष्ठ १८

"हज्ज हमारी गोमती तीर, जहाँ बसहिं पीतंबर पीर ।
वाहु वाहु क्या खूब गावता है, हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥"[१]

यह ध्यान रखने की बात है कि ये पंक्तियाँ 'ग्रन्थसाहब' की हैं और कबीर-ग्रन्थावली के परिशिष्ट में दी गई है । श्री चन्द्रबली पांडेय का मत है कि 'पीतांबर जी अवश्य ही एक अच्छे गायक थे, तारक नहीं' । यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफी कहें तो पीतांबर संज्ञा के अनुरोध से भक्त । पूरे पद पर विचार करने से पीतांबर जी भक्त ठहरते हैं, सूफ़ी नहीं । उनका 'हरिनाम' कबीर को प्रिय लगता है । पीतांबर पीर का कोई विशेष परिचय अभी तक नहीं मिला । हो सकता है कि उनका स्थान जौनपुर रहा हो । इस समय हम इतना ही कह कर सन्तोष करते हैं कि वे राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक, और पीर के रूप में ख्यात थे । यदि कबीर उनके शिष्य नही थे तो उन पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी । कबीर उनके सत्संग को ही तीर्थ समझते थे ।

कबीर-ग्रन्थावली के परित: अनुशीलन से यही पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नहीं थे । जिस अर्थ में लोग शेख तकी को कबीर का पीर कहते हैं उस अर्थ में तो स्वामी रामानन्द भी उनके गुरु नहीं माने जा सकते । रामानन्द का दीक्षा-मंत्र तो 'रां रामाय नमः' था । उन्होंने कबीर को केवल 'राम राम कह' का मंत्र दिया था । शायद कबीर 'गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै' की भाव से प्रेरित होकर किसी गुरु की खोज में थे जो उन्हें रामानन्द में मिला ।

कुछ भी हो, कबीर किसी सूफी या शेख के मुरीद नहीं थे । उनके शेख का वही तात्पर्य हैं जो सूफियों के शेख का है । सूफी लोग शेख, मीर और काज़ी को उपहास की दृष्टि से देखते हैं । वे उनका खूब मज़ाक उड़ाते हैं । वे चुटकियां ले-लेकर उन्हें 'प्रेम-पीर' की दीक्षा देना चाहते हैं । यह कहा जाता है कि रामानन्द के निधन के पश्चात् कबीर ने जिज्ञासा से प्रेरित होकर सूफियों का सत्संग भी किया । उसी समय मुसलमानों ने उन्हें अपन ने का प्रयत्न भी किया और सम्भवतः वे अपने प्रयत्न में किसी सीमा तक सफल भी हुए; परन्तु अन्ततोगत्वा उधर कबीर के सिद्धांतों को ठेस पहुँची और मुड़ते हुए वे पुकार उठे—

"तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा ।
ग़ाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई ॥"

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३३०

शायद इसी खोज के बीच कबीर की शेख तकी से भेंट हुई होगी। इसमें तो सन्देह नहीं कि शेख तकी कोई प्रसिद्ध व्यक्ति थे, किन्तु कबीर ने जिस रूप में शेख तकी का नाम लिया है उसमें उनकी श्रद्धा नहीं दीख पड़ती। इस विषय में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि 'कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है, पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे 'घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख' इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देने जान पड़ते हैं।'

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीर 'सत्संगी पुरुष' थे। हिन्दू मुसलमान किसी भी सत्पुरुष से मिलते थे। उन्होंने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं भी किया है। वे अनेक उन स्थानों में, जहाँ मुसलमान फकीर रहते थे घूमे-फिरे थे। भूंसी, जौनपुर और मानिकपुर उन दिनों मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे और उनकी कबीर ने यात्रा की थी। सारग्राही होने के नाते सबकी बातों का संचय करके भी कूड़ा-कर्कट लेने को तैयार नहीं थे। उनके सिद्धान्तों की कसौटी पर जो वचन पूरे उतरते थे, उन्हीं को वे लेने के लिए तैयार थे अन्यथा वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने को तैयार न थे। सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर किसी शेख या सूफी के मुरीद न थे। हाँ, वे उनके सत्संग से लाभ उठाने वाले जीव अवश्य थे।

इस विवेचन से कबीर-पंथियों के मत का फैसला हो जाता है। न तो वे 'निगुरा' थे और न शेख तकी के मुरीद ही। अनेक विद्वानों का मत है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनों आधारों पर यही मत अधिक तर्कसंगत और ठीक प्रतीत होता है। यह ठीक है कि कबीर ने अपनी वाणियों में कहीं भी रामानन्द के नाम का निर्देश नहीं किया, किन्तु, क्या यह उचित है कि इसी आधार पर उनको रामानन्द के शिष्यत्व से वंचित कर दिया जाए? कुछ सामाजिक क्षेत्रों में जिस प्रकार स्त्री अपने पति का नाम नहीं लेती थी उसी प्रकार शिष्य भी अपने गुरु का नाम नहीं लेते थे। अतएव आदर, कृतज्ञता और शिष्टाचार की रक्षा के लिए कबीर ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया तो विस्मय की क्या बात है। डा० त्रिगुणायत[1] ने अपने अधिनिबंध

[1] कबीर की विचार-धारा—डा० त्रिगुणायत, पृष्ठ ४६

में जो तर्क संकलित किये हैं वे रामानन्द को कबीर का गुरु सिद्ध करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। उनसे मैं भी सहमत हूँ। तर्क ये हैं:—

१. "कबीर और रामानन्द लगभग समकालीन थे। रामानन्द युग के महान् आचार्य थे। ऐसे महान् आचार्य को छोड़ कर कबीर और किसी को गुरु नहीं बना सकते थे।"

२. "रामानन्द और कबीर की विचार-धारा में बड़ा साम्य है। यह साम्य सम्भवत: इसलिए है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। शिष्य का गुरु की विचार-धारा से प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है।"

३. "कबीर और रामानन्द के सम्बन्ध को ध्वनित करती हुई बहुत-सी किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। किंवदन्तियाँ स्वयं अतिरंजनापूर्ण और कपोल-कल्पित होती हैं" फिर भी उनके पीछे कोई सत्य अवश्य निहित होता है। अत: इस आधार पर भी कबीर और रामानन्द में हम गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मान सकते हैं।"

४. "कबीर ने एक स्थल पर लिखा है:—

"कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर॥"

—(क. ग्रं., पृष्ठ ६८)

इस साखी से भी स्पष्टत: प्रकट होता है कि कबीर के गुरु बनारस में थे। बनारस में उस समय रामानन्द से महान् और कोई दूसरा आचार्य न था। अत: उन्हें कबीर का गुरु मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

५. "अनेक निष्पक्ष प्राचीन विद्वानों ने कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। इन विद्वानों में 'दविस्ताने तवारीख' के लेखक मोहसिन फानी, भक्तमाल के लेखक नाभादास जी, उसके टीकाकार प्रियादास जी, तथा 'तजकीरुल फुकरा' के लेखक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त थोड़े दिन हुए श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव ने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने कबीर को रामानन्द का शिष्य सिद्ध करने के लिए किसी 'प्रसंग पारिजात' नामक प्राचीन ग्रन्थ को प्रमाण रूप में उद्धृत किया था। इस ग्रन्थ के लेखक कोई अनन्तदास

साधु कहे जाते हैं। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि वे स्वामी रामानन्द की वर्षी के दिन उपस्थित थे। उन्होंने कबीर को रामानन्द का ही शिष्य माना है। इन प्राचीन सन्त विद्वानों के मतों को अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। अतः रामानन्द को कबीर का गुरु कहना अनुपयुक्त नहीं है। इसीलिए हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य डा० हजारीप्रसाद जी तथा डा० श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल आदि इसी मत के पक्ष में हैं।"

इन तर्कों के आधार पर रामानन्द ही कबीर के गुरु ठहरते हैं। कबीर की समस्त विचार-धारा एक मौलिक आयोजना होते हुए भी रामानन्द से प्रभावित है।

यह ठीक है कि कबीर ने 'राम-नाम' की दीक्षा रामानन्द से ली थी और रामानन्द के विचारों का कबीर पर गहरा प्रभाव था, किन्तु यह प्रश्न भी तो उठ खड़ा होता है कि कबीर का विद्यागुरु कौन था और 'सतगुरु' शब्द से उनका क्या अभिप्राय है?

सतगुरु

'जहाँ तक कबीर के विद्याध्ययन और पुस्तक ज्ञान का संबंध है उसमें वे बिल्कुल कोरे थे।' इस तथ्य को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :—

"विद्या न परउ वाद नहिं जानउ"

—(संत कबीर, वि. २)

अतएव कबीर के विद्या-गुरु के सम्बन्ध में उठे हुए प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट हो जाता है कि जब उन्होंने अध्ययन ही नहीं किया था तो अध्यापक कहाँ से आया? इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने किसी, पाठशाला' या 'मदरसा' में जाकर अध्ययन नही किया था या पुस्तकें नहीं पढ़ी थीं तो वे कुछ जानते भी नहीं थे। यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर मनस्वी थे। जो कुछ बाहर देखते थे उस पर विचार और मनन करते थे। इस प्रकार समाज और जीवन के सम्बन्ध में कबीर का गहन अध्ययन था। उनकी अन्तर्दृष्टि बड़ी पैनी थी। इसीलिए वे युग-द्रष्टा का सम्मान प्राप्त कर सके।

कबीर का 'सतगुरु' शब्द उनके व्यक्तित्व की भाँति ही विलक्षण है। मेरी समझ में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने 'अलख राम' के लिए किया है। कबीर का सतगुरु 'आजाद' या 'बेसरा' सूफियों के गुरु=जैसा है। उनमें प्रायः लोग

ऐसे होते हैं जिनको अलख या अलगैब से शिक्षा मिलती है। कबीर ने अनेक स्थलों पर अपने ऐसे ही गुरु का निदर्शन किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

"कबीरा तालिब तोरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।"

—(क. ग्रं., पृष्ठ ६८)

एक दूसरे स्थान पर वे इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

"तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला, कहै कबीर रांम रमूं अकेला।"

—(क. ग्रं., पृष्ठ १२६)

एक तीसरे स्थान पर कबीर का गुरु इन शब्दों में व्यक्त होता है :—

"कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा।"

—(क. ग्रं., पृष्ठ १७६)

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर की वाणियों में ऐसे अनेक उद्धरण मिल सकते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि यदि कबीर से कोई उनके गुरु के सम्बन्ध में पूछता तो वे कुछ चिढ़ जाते थे। कदाचित् उनका यह प्रश्न किसी ऐसे ही प्रश्न का उत्तर है :—

"मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थैं आया ?"

इस प्रश्न में तो किसी मुसलमान प्रश्न-कर्त्ता को उत्तर दिया गया है, अब एक पंडित को दिये हुए उत्तर को देखिये :—

"जाइ पूछौ गोबिन्द पढ़िया ।पंड़िता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।"

कबीर की इस मनोवृत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। वे यथार्थ उत्तर देने में या तो कोई आपत्ति समझते थे या उनका कोई वास्तविक गुरु न था, किन्तु उन्होंने अपने मत की आयोजना एवं प्रचार किसकी प्रेरणा से किया ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कबीर जब यह कहते हैं कि "मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ, अब मोहि दोष न लाइ।"[1] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको जिस 'दयाल' से आज्ञा मिली है वही उनका 'सतगुरु' है। वह प्रेरक हरि है क्योंकि एक अन्य साखी में कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि—

[1] कबीर—ग्रन्थावली, पृष्ठ १९६

"हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौ सागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥"

—(क. ग्रं., पृष्ठ ५६).

एक अन्य साखी में कबीर ने राम को स्पष्टतः अपना 'सतगुरु' कह कर समस्या सुलझा दी है। वे कहते हैं—

"राम मोहि सतगुरु मिले, अनेक कलानिधि, परम तत्त सुखदाई"

—(क. ग्रं. पृष्ठ १५२)

गुरु-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि कबीर 'निगुरा' नहीं थे। उनके गुरु रामानंद थे। उन्हीं से कबीर ने रामी नाम की दीक्षा ली थी। वे पढ़े-लिखे बिल्कुल न थे, अतएव उनके संबंध में किसी विद्या-गुरु की कल्पना व्यर्थ है। उन्होंने राम, हरि आदि शब्दों से अपने 'सतगुरु' की ओर संकेत किया है। इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि उनका सत्गुरु परमात्मा से अभिन्न है।

कबीर की वाणियों में अनेक ऐसी हैं जिनमें गुरु-महिमा का निरूपण है। वे गुरु और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। जिस व्यक्ति की अपनी निजी धारणा ऐसी रही हो उसके पंथ में भी गुरु का पद अवश्य सुरक्षित रहा होगा। अवश्य ही अपनी शिष्य-परम्परा में कबीर ने बड़ा आदर पाया होगा। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजली खाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, सुरतगोपाल, जीवा, तत्त्वा, जागूदास आदि कबीर के शिष्य थे। कबीरदास की वाणी में इन सब का उल्लेख नहीं है। हाँ, अनन्तदास कृत 'परचई' में वीरसिंह बघेला के नाम का उल्लेख अवश्य मिला है। कबीर के हिन्दू-शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हैं—धर्मदास और सुरतगोपाल।

शिष्य

धर्मदास जाति से बनिये थे। वे मूर्तिपूजक थे। कबीर और धर्मदास की भेंट सबसे पहले काशी में हुई थी। इसके बाद वे वृन्दावन में मिले। मूर्ति-पूजा के पक्ष में होने के कारण कबीर ने अपनी पहली भेंट में ही धर्मदास को काशी में खूब फटकारा। वृन्दावन में साधु-मण्डली में कबीर का उपदेश धर्मदास ने भी सुना। उस समय वे कबीर को पहिचान न पाये और बोले—"आपके-से उपदेश मैंने काशी में भी किसी महात्मा के मुख से सुने थे।" इस बार धर्मदास की श्रद्धा उमड़ पड़ी और मूर्ति को पानी में डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वयं उनके घर बाँधोगढ़ गये और कहा—"जिस पत्थर के तुम्हारे तौलने के बाट हैं

तुम उन्हीं की पूजा करते हो।" इस उक्ति का धर्मदास पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने कबीर को अपना गुरु मान लिया। कबीर की मृत्यु के बाद धर्मदास ने कबीर-पंथ की एक शाखा छत्तीसगढ़ में चलाई और सुरतगोपाल ने काशी वाली शाखा का काम सँभाला। धीरे-धीरे दोनों शाखाओं में मत-भेद हो गया। किन्तु धर्मदासी आदि अनेक कबीर-पंथी शाखाओं में कबीर का समादर पैग़म्बर की भाँति होता रहा।

देशाटन

कबीर न तो घुमक्कड़ ही थे और न तीर्थाटन में ही उनकी रुचि थी। तीर्थाटन और हज को वे बिल्कुल निस्सार मानते थे। अतएव यह समझना तो भूल है कि वे तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध से इधर-उधर घूमे होंगे, किन्तु यह बात अमान्य नहीं है कि उनको सत्संग में अधिक रुचि थी और वे हिन्दू-मुसलमान, किसी भी साधु के दर्शन को अपना सौभाग्य समझते थे। उनकी दृष्टि में साधु-संगति के सिवा तीर्थों का कोई महत्त्व ही नहीं था अथवा यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि संत-जन ही कबीर के तीर्थ थे और सत्संग ही तीर्थ-यात्रा। कबीर स्वयं कहते हैं—

"मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ॥"

—(कबीर-वचनामृत, साखी-भाग, पृष्ठ १४३)

बीर का मत है कि जब तक मन शुद्ध नहीं तीर्थों में जाने से कोई लाभ नहीं हो सकता और मन के शुद्ध होने पर तीर्थों में जाना व्यर्थ है। इसीलिए वे कहते हैं—

"मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामें तोति पिछांणि॥"

—(कबीर-वचनामृत, साखी, पृष्ठ १३)

ऐसी बात नहीं कि कबीर तीर्थों के महत्त्व का ही अवमूलन करते हैं, वे तो काबे की यात्रा को भी व्यर्थ बतलाते हैं। तब कहते हैं—

"सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकउ कहाँ खुदाइ॥"

—(सं० क०, स० १८५)

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यदि कबीर ने तीर्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया तो देशाटन भी नहीं किया। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु उनकी वाणियों में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के अनेक वर्णन मिलते हैं। उनका ज्ञान कबीर को कहाँ से हुआ ? सत्संग से ही न। स्पष्टतः सत्संग के दो ही साधन थे—एक तो यह कि उनके पास हर धर्म और सम्प्रदाय के लोग आते रहते थे और दूसरा यह कि वे स्वयं सन्त-समागम के हेतु देशाटन करते थे। कबीर को सत्संग लाभ दोनों ही साधनों से हुआ। उनकी अनेक वाणियों में पर्यटक की पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है। उनके कुछ शब्द तो इतने स्पष्ट हैं कि उनको पढ़ने के बाद यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि कबीर ने देशाटन नहीं किया था। इनके अतिरिक्त अनेक किंवदन्तियों और विभिन्न साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विवरणों से इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश-देशांतरों में भ्रमण किया था। भ्रमण करने में उनका उद्देश्य तीर्थ-यात्रा, हज या केवल पर्यटन करने का नहीं था। वे सत्संग के द्वारा सत्य की खोज करने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे।

सत्य को प्राप्त करने के लिए कबीर बड़े आतुर थे। इसी हेतु वे स्थान-स्थान पर घूमते फिरे। कबीर के एक पद की नीचे उद्धृत पंक्तियों से उनकी यात्राओं का संकेत मिल जाता है—

"वृन्दावन ढूंढ्यो, ढूंढ्यो हो जमुना के तीर।
राम-मिलन के कारनै, जन खोजत फिरै कबीर॥"

'दविस्ताने मजाहिब' के लेखक मुहसिन फानी के शब्दों से भी इस संकेत की पुष्टि इस प्रकार होती है—"कहते हैं कि कबीर गुरु की तलाश में मुसलमानों और हिन्दू कामिलों के पास गया। जो ढूंढता था न पाया। आखिरकार एक श स ने पीर रोशनदिल रामानन्द बरहमन की तरफ उसको तवज्जह दिलाई।" कहा जाता है कि कबीर कड़ा, मानिकपुर और झाँसी भी गये थे। गोमती के तीर पर वे पीताम्बर पीर के पास भी प्रायः जाया करते थे। मगहर, रतनपुर और जगन्नाथपुरी में इनकी समाधियाँ होने से यहाँ की यात्रा भी प्रमाणित हो जाती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर की गुजरात-यात्रा का उल्लेख भी किया है। भड़ौंच से १३ मील दूर शुक्रतीर्थ के निकट एक द्वीप में स्थित 'कबीर-बट' ने उनकी यात्रा वहाँ भी प्रमाणित कर दी है। 'कबीर ने अपने स्पर्श से उस वट वृक्ष को सूखे से हरा कर दिया'—इस किंवदन्ती में यदि कोई सत्य हो सकता है तो सबसे पहला यह कि कबीर वहाँ गये थे। 'हिस्ट्री आफ मरहठा पीपुल' में भी यह उल्लेख आया है कि कबीर ने पंढरपुर की यात्रा की थी। 'कबीर मंसूर'

ग्रन्थ के अनुसार कबीर बगदाद, बुखारा और समरकन्द भी गये थे। कबीर की अपनी निजी वाणी से तो यह भी प्रकट होता है कि वे मक्का-मदीना भी गये थे। उन्हीं की एक पंक्ति देखिए—

"कबीर हज काबे होइ, होइ गइया केती बार कबीर।"

इसके अतिरिक्त कबीर की और भी कितनी ही पंक्तियाँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि उन्होंने देशाटन खूब किया था। "बनि-बनि फिरौं उदासी" तथा "फाटै दीदै मैं फिरौं, नजर न आवै कोइ" आदि वाक्यों से भी कबीर की भ्रमण-लालसा एवं अटन-उत्कंठा का परिचय मिलता है।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि काशी और काबा से कबीर का कोई धार्मिक सम्बन्ध नहीं था। काशी और मगहर के सम्बन्ध में जो किंवदन्ती प्रचलित है उसका भी यही अर्थ है कि कबीर किसी स्थान को ऊँचा-नीचा नहीं मानते थे। स्वर्ग और नरक किसी स्थान में नहीं हैं, वे तो मनुष्य के मन में ही निहित हैं। वे तीर्थों का मूल्य केवल साधु-सन्तों के सम्बन्ध से ही मानते थे। सच तो यह है कि साधु ही उनके जंगम तीर्थ थे। उन्हीं से उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो सकता था, इस विश्वास से वे साधु-समागम के लिए आतुरता से देशाटन करते थे। वे जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर प्रत्येक 'साधु'—सच्चे साधु का आदर करते थे और सच्चे साधुओं से मिलने एवं उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही वे दूर-दूर घूमते-फिरते थे। सम्भवतः इन यात्राओं में से उनकी प्रारंभिक यात्राएँ जिज्ञासा के परिणामस्वरूप हुई होंगी, किन्तु ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए ही देश-विदेशों में पर्यटन किया होगा।

कहा जाता है कि कबीर इतने साधु-प्रिय हो गये थे कि उनके यहाँ साधु-सन्तों की भीड़ लगी रहती थी। वे घर की परिस्थितियों में रहने वाली इस भीड़ से ऊब कर "घर-बार छोड़कर जंगल में जा छिपे।...... और रामजी ने बड़े उत्सव के साथ उनका भण्डारा समाप्त किया।"[1] इस

वैराग्य

कथा का उल्लेख अन्य सन्तों ने भी किया है। "घर तजि बन बाहर कियौ बास, घर बन देखौं दोऊ निरास, जहाँ जाउँ तहाँ सोग सन्ताप, जुरा मरण को अधिक बियाप। कहै कबीर चरन तोहि बन्दा,

[1] भक्तमाल, शिवदयालकृत, पृष्ठ २२३

घर में घर दे परमानन्दा",[1] यह कहकर कबीर ने अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वन-वन फिरने का प्रसंग अन्यत्र भी आया है—"जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरों उदासी।" इससे यह तो सिद्ध होता है कि कबीर कुछ काल के लिए वैरागी अवश्य बन गये थे। यदि उक्त प्रवाद ठीक है तो इसका मूल कारण उनकी अपनी परिस्थितियाँ थीं, किन्तु यह भी प्रकट होता है कि कबीर की वैराग्य-वृत्ति अधिक दिन तक न ठहर सकी। वे शायद बन में भी दुख से मुक्त न हो सके। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि दुख साथ-साथ लगा फिरता था, अतएव उनका यह निश्चय बन गया कि दुख का सम्बन्ध घर या वन से नहीं है। उससे मुक्त होने का मार्ग तो कुछ और ही है। सम्यक् आत्म-बोध से ही उसका अन्त हो सकता है। वे उद्बोधन को अपना अभीष्ट मानकर बोल उठे—"कहे कबीर जाग्या ही चहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।"[2] इस प्रकार कबीर ने उस वैराग्य को अपनाया जो वास्तविक शान्ति का मूल निश्चित किया गया है। उनका वैराग्य 'माया में उदास' का पोषक और 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' को चरितार्थ करने वाला था। कबीर ने वैराग्य के रूढ़ अर्थ का खण्डन करते हुए कहा—"करि वैराग फिरौं तन नगरी मन की किंगुरी बजाई।"[3] इससे स्पष्ट है कि कबीर का वैराग्य 'मन' का विराग था। उसका सम्बन्ध परिवार या निवास के परित्याग से बिल्कुल नहीं था।

ज्ञानार्जन

कबीर बड़े मेधावी व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। इसी कारण उनका ज्ञानार्जन उनकी जिज्ञासा की तृप्ति न कर सका। प्रतिभा से प्रज्ज्वलित जिज्ञासा ने एकबारगी उनको घर-बार की सुधि से विमुक्त करके इधर-उधर भटकने के लिए विवश कर दिया। उन्होंने बचपन में तो कुछ पढ़ा-लिखा नही था और जाति के भी जुलाहे थे। 'न तो वे वेद ही पढ़ सकते थे और न कुरान ही। वेद के वे अधिकारी न थे और कुरान रटने का उन्हें अवकाश नहीं मिलता था। जो कुछ उन्होंने सीखा-समझा वह अपर्याप्त था',[4] अतएव वे सतसंग से संशय का नाश करना चाहते थे; परन्तु उनके पास इतना समय कहाँ था और

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०६
[3] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१७
[4] कबीर का जीवन-वृत्त—चन्द्राबली पांडेय

उनकी सुनता था ! वे घर से बाहर निकल इधर-उधर भ्रमण करते रहे ।[1] उन्होंने इतना सत्संग किया था कि साधारणत: लोग कर नहीं पाते । सन्त-समागम-काल में उन्होंने इतना सुना था कि उनका यह कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता—

> **"वेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरना ।**
> **कहु कबीर यों रामहि जपौ.मेटि जनम मरना ।।"**
>
> —(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१८)

इससे यही ध्वनित होता है कि कबीर को 'बहुश्रुतता' का बल प्राप्त था । यह नहीं कि उन्होंने वास्तव में सब कुछ छान डाला था । कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि कबीर को सब ग्रन्थों का ज्ञान स्वत: ही हो गया था, वे 'ऋतंभर' थ । इस धारणा के पीछे पंथवालों की श्रद्धा का चाहे कितना ही बल रहा हो, किन्तु कम से कम यह तो सत्य है कि वे बहुश्रुत थे । उनके भ्रमण का मुख्य उद्देश्य ज्ञानार्जन था जिसका आधार गुरु आदि सन्त थे । कबीर ने 'अपरा विद्या' (व्यावहारिक ज्ञान) को कभी महत्त्व नहीं दिया था । उनका लक्ष्य तो परा से परिचय प्राप्त करना था । उनका मत था कि वेद, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथ व्यावहारिकता के प्रचारकमात्र हैं। वे लोकाचार की शिक्षा देते हैं—

> **"तार्थे कहिये लोकाचार, बेद कतेब कथैं ब्यौहार ।"**
>
> —(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७)

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने धार्मिक क्रिया-कलापों को वेद या कुरान का प्रतिपाद्य विषय समझ लिया था । उनकी दृष्टि में पुस्तकाध्ययन व्यर्थ था । वे तो अनुभव ही को सब कुछ समझते थे । इसीलिए वे आदेश देते हैं—

> **"कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।**
> **बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ।।"**
>
> —(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

क्योंकि उनकी ऐसी धारणा है—

> **"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।**
> **एकै आखिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होइ ।।"**
>
> —(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

---

[1] कहते हैं कि वे इसी धुन में बलख-बुखारा तक भी गये थे ।

कबीर के ज्ञान का सम्बन्ध पोथियों से नहीं था, इसलिए वे पुस्तकों व घोटने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्वयं पुस्तकों से ज्ञानार्जन नहीं किया था और न वे उनको इसका उचित साधन ही समझते थे। उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया था वह प्रायः अनुभव-प्रदत्त था। यही उनका 'सहज-ज्ञान' था। इसी आधार पर वे कहते हैं—

"का पढ़िए का गुनिएँ, का वेद पुराना सुनिएँ।
पढ़ें गुनें मति होई, मैं सहजें पाया सोई॥"

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७)

जो ज्ञान कबीर के अनुभव से दूरस्थ है उसको वे लोकाचार-मात्र मानते हैं। उनके प्रति उनकी श्रद्धा तनिक भी नहीं है। इस ज्ञान को लेकर वे किसी वाद-विवाद या वितंडावाद में नहीं पड़ना चाहते और वे साफ-साफ कह देते हैं—

"विद्या न पढ़ूँ बाद नहिं जानूँ।
हरि गुन कथत सुनत बौरानूँ॥"

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १३५)

किंवदन्तियाँ

प्रायः देखा जाता है कि महापुरुषों के अनुगामी उनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियों का प्रचलन कर देते है। निस्सन्देह उनका उद्देश्य महापुरुष की महिमा बढ़ाना होता है। वे किसी घटना को अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना के साथ व्यक्त करने में अपना गौरव समझते हैं। कालान्तर में वे अतिशयोक्तियाँ ही रूढ हो जाती हैं और उनको हम किंवदन्तियों अथवा दन्तकथाओं के रूप में कहते-सुनते हैं। कबीर भी एक महापुरुष थे। उनके मत को लेकर अनेक सम्प्रदायों के रूप में सन्त-मत का जो विकास हुआ उससे स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व एक महापुरुष का व्यक्तित्व था और उनकी शिष्य-परम्परा में उनको विस्मयजनक सम्मान मिला। उनकी महिमा के प्रसार के लिए शिष्य-वर्ग ने जो किंवदन्तियाँ प्रचलित कर दीं उनमें परोक्षतः किसी तथ्य की गवेषणा अवश्य की जा सकती है। इनको स्थूल रूप से छै भागों में बाँट सकते हैं—जन्म से सम्बन्धित, पत्नी से सम्बन्धित, पुत्र-पुत्री से सम्बन्धित, गुरु से सम्बन्धित, कबीर के व्यक्तिगत चमत्कारों से सम्बन्धित और मृत्यु से सम्बन्धित।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित किंवदन्तियों में तीन बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उनमें से एक है कि काशी में एक सात्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानन्द के परम भक्त थे। उनकी एक विधवा पुत्री थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने चौंककर जब पुत्री का वैधव्य प्रकाशित किया तो स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता; परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप जब उस युवती ने पुत्र को जन्म दिया तो वह लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसे लहर तालाब के किनारे डाल आई। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पत्ति के कोई पुत्र न था। बालक के रूप ने इस दम्पत्ति के हृदय को लुभा लिया। वे उसे उठा ले गये और इसी बालक का भरण-पोषण कर वे पुत्रवान हुए। इसी का नाम कबीर रखा गया। इस किंवदन्ती में रामानन्द के आशीर्वाद वाली बात के कोई सिर-पैर नहीं दीखते।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित दूसरी किंवदन्ती यह है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी की हथेली से हुआ था, इसीलिए वे करवीर या कबीर कहलाए। यह कथा कबीर-पंथियों की जोड़ी हुई ज्ञात होती है। अप्राप्य प्रमाणों के आधार पर इसे सत्य रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

तीसरी किंवदन्ती यह है कि 'जेठ की पूर्णिमा थी। आकाश नवमेघों से आच्छादित था। रह-रह कर चमचमाती हुई चपला अपना प्रभाव दिखा रही थी। समस्त प्रकृति किसी दिव्य प्रकाश के अवतीर्णार्थ खिलखिलाकर हँस रही थी। ऐसे ही समय काशी के लहर तालाब में खिले हुए एक कमल पर आकाश से एक महापुरुष उतरा। इसी ने कुछ घड़ियों उपरान्त शिशु के रूप में नीमा के अंक को सुशोभित किया। इसके पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं है; मनगढ़न्तमात्र है। कबीर के लौकिक होने की बात कबीर के उपासकों को प्रिय न लगी। उन्होंने अपने आदिपुरुष को जीवन-मरण के कष्टों से मुक्त करने के लिए उनके जन्म को अलौकिक बना दिया। उनको याद था कि ब्रह्मा भी कमल से उत्पन्न हुए थे, अतएव कबीर के जन्म को भी कमल से जोड़ने में उन्हें किसी कठिनता का सामना न करना पड़ा।'

पत्नी से संबंधित किंवदन्तियों में अधिक प्रचलित 'लोई' वाली है। कहते हैं कि लोई एक वनखंडी वैरागी की परिपालिता कन्या थी। यह लोई उस वैरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी और टोकरी में रखी हुई तथा गंगाजी में बहती हुई मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पड़ा था। बनखण्डी बैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य सन्तों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दे दिया गया। औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा कि 'गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं, उन्हीं के लिए रख छोड़ा है।' थोड़ी देर में सचमुच एक साधु आ पहुँचे जिससे अन्य साधु कबीर की 'सिद्धई' पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई उनके साथ हो ली।

उनके पुत्र और पुत्री—कमाल और कमाली—से संबंधित एक किंवदन्ती है। कुछ लोगों का मत है कि कमाल और कमाली कबीर के औरस पुत्र-पुत्री थे। कबीर-पंथियों का कहना है कि वे दोनों कबीर की सन्तान नहीं थे, वे किसी अन्य गृहस्थ के पुत्र-पुत्री थे। संयोगवश दोनों की मृत्यु हो गई और वे एक स्थान पर डाल दिये गये। कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन दोनों को पुनर्जीवित कर दिया और तभी से वे उनकी सन्तान कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कबीर के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती रामानन्द विषयक है। कहते हैं कि 'रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया क्योंकि उनका पोषण एक जुलाहा परिवार में हुआ था, किन्तु कबीर में सच्ची लगन थी। उन्होंने एक युक्ति सोची। एक दिन ब्रह्म मुहूर्त में ही वे पच-गंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जिन पर से रामानन्द जी गंगा-स्नान करने जाया करते थे। नित्य की भाँति स्वामी जी सीढ़ियों पर से उतर रहे थे कि कबीर के सिर पर उनके पैर की ठोकर लगी। स्वामी जी ने राम-राम कह कर अपना पैर हटा लिया और चले गये। कबीर ने इसी 'राम-राम' को गुरु मान लिया और स्वामी जी को अपना गुरु घोषित कर दिया। स्वामी जी ने जब कबीर से पूछा तो उन्होंने घाटवाली घटना निश्छल होकर सुना दी। रामानन्द जी ने गद्‌गद होकर कबीर को कंठ से लगा लिया।'

इसमें तो सन्देह की कोई बात ही नहीं कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, और हो सकता है कि इस किंवदन्ती में भी कोई सत्य हो। कबीर-पंथी तो इसे सत्य मानते ही हैं।

कबीर की उदारता से संबंधित भी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं कि 'एक बार वे एक थान बुनकर उसे बाजार में बेचने गये। कुछ ही दूर जाने पर एक आदमी ने गिड़गिड़ाकर उनसे कुछ माँगा। उन्होंने तुरन्त आधा थान फाड़कर उसको दे दिया किन्तु उसके यह कहने पर कि 'यह तो कम है', कबीर ने बचा हुआ आधा थान भी उसे दे दिया।'

कबीर की सत्यनिष्ठा के सम्बन्ध में भी कुछ किंवदन्तियाँ चली आ रही है। एक बार की बात है कि 'कबीर के यहाँ बहुत से साधु आ गये। उनके स्वागत के लिए घर पर कुछ भी न था। वे बड़े व्यग्र थे। वे उनके भोजनादि का प्रबन्ध कहाँ से करें, यह उनके सामने एक समस्या थी। लोई ने उन्हें दुखी देखकर साहूकार के पास जाने की आज्ञा माँगते हुए कहा कि साहूकार मुझ पर आसक्त होने के कारण मेरी बात नहीं टाल सकता। मैं शीघ्र ही उससे रुपये ला सकती हूँ। कबीर से आज्ञा मिलने पर लोई रुपये लेने चली गई। साहूकार के बेटे से, शाम को आने का वचन देकर, वह रुपये लेकर लौट आई। यहाँ उसने कबीर को सारा समाचार कह दिया। शाम होते ही आकाश गरजती हुई काली घटाओं से घिर गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा, किन्तु कबीर ने अपने वचन न जाने देने के निमित्त कम्बल उढ़ाकर लोई को उसी समय साहूकार के घर पहुँचा दिया। साहूकार ने जब लोई को भीगा न देखा तो पूछा—"पानी से बचकर कैसे आई?" लोई ने सब बात बतादी जिसे सुनते ही साहूकार का मद गलित हो गया। वह कबीर के पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ाने लगा।'

कबीर और सिकन्दर लोदी से संबंधित भी एक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि 'काजी ने कबीर को काफिर घोषित कर दिया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दे दी। बेड़ियों से जकड़े हुए कबीर नदी में फेंक दिये गये, किन्तु जिन कबीर को मोह-माया की शृंखला न बाँध सकती थी, जिनकी पाप की बेड़ियाँ कट चुकी थी उन्हे ये जंजीरें बाँधे न रख सकी और वे तैरते हुए नदी-तट पर आ खड़े हुए। फिर काजी ने उन्हें दहकते हुए अग्नि-कुण्ड में डलवाया, किन्तु उनके प्रभाव से आग बुझ गई और कबीर की दिव्य देह पर आँच तक न आई। इसके बाद उनको मस्त हाथी के सामने छोड़ा गया, किन्तु पास पहुँचकर हाथी उन्हें नमस्कार करके चिंघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ।'

कबीर की मृत्यु के अवसर पर शव को जलाने और दफनाने के प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में विग्रह खड़ा हो गया। एक पक्ष के नेता रींवा के

वीरसिंह देव बघेला और दूसरे के नवाब बिजली खाँ थे। इसी समय आकाशवाणी हुई बताई जाती है। जब कबीर के शव पर से चादर उठाई गई तो शव के स्थान पर कुछ फूल पड़े मिले जिनको हिन्दू-मुसलमान दोनों ने आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलों को हिंदुओं ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीर-चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलों के ऊपर मुसलमानों ने मगहर ही में कब्र बनाई।

इन किंवदन्तियों में से कुछ तो सत्यता को लिए हुए हैं, किन्तु कुछ भावना और कल्पना के आधार पर निर्मित्त हैं। किंवदन्तियों का कोई ऐतिहासिक मूल्य चाहे न भी हो किन्तु भावना के इन रंगों में कबीर के चरित्र के कुछ पहलू अवश्य सुरक्षित हैं। भावना के दूसरे पक्ष में कबीर के अनुयायियों के गुरु विषयक आदर्श का अवलोकन भी किया जा सकता है।

चित्र

जो काम आज फोटोग्राफी से लिया जाता है, प्राचीन काल में वही चित्रकला और मूर्तिकला से लिया जाता था। भारतीय कलाओं में इन दोनों का प्रमुख स्थान था। चित्र और मूर्ति द्वारा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का न केवल कायिक रूप ही हमारे सामने आ जाता है वरन् कलाकार के कौशल से उसकी मुद्राएँ तक हमारे सामने आ जाती हैं। बुद्ध और महावीर की मूर्तियाँ उनकी शान्तिमयी मुद्रा को हमारे लोचनों में बसा देती हैं। भारत में ऐसी मूर्तियों की सुरक्षा धर्म ने की है। मूर्तियों के जो अवशेष आज तक मिल रहे है उनका एकमात्र कारण मंदिर या विहार रहे हैं। कबीर के सम्बन्ध में ऐसी कोई मूर्तियाँ नहीं मिलती है। कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। उनके धर्म में मूर्ति को कोई स्थान नही दिया गया है। इसीलिए कबीर-पंथी मठों में कबीर की मूर्ति दिखाई नहीं देती है।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप को सुरक्षित रखने के लिए दूसरा साधन चित्र थे जो प्रायः दीवारों या शिलाओं पर चित्रित किये जाते थे। चित्रकला का नूतन विकास शायद मध्यकाल में हुआ है। कबीर का कोई प्राचीन चित्र तो मिलता नहीं है। उनके जो चित्र मिले हैं वे उत्तरमध्यकालीन प्रतीत होते हैं। कबीर-ग्रंथावली में कबीर के दो चित्र मिलते हैं—एक युवावस्था का और दूसरा वृद्धावस्था का। पहला चित्र कलकत्ता म्यूज़ियम से प्राप्त हुआ है और दूसरा कबीरपंथी स्वामी युगलानन्द जी से मिला है। डा. श्यामसुन्दरदास का मत है कि "दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पडते। दोनों की आकृतियों में बड़ा अन्तर है। यदि दोनों नहीं तो इनमें से कोई एक अवश्य

अप्रामाणिक होगा। दोनों भी अप्रामाणिक हो सकते हैं, किन्तु संत युगलानन्द जी वृद्धावस्था वाले चित्र के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिकता का दावा करते हैं, जो ४६ वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्ति का ही हो सकता है।"[1] प्रसंगवश इस चित्र के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह अवश्य ही अन्य चित्रों से अधिक प्रामाणिक है। कबीर के दो चित्र जो कबीर-ग्रंथावली और 'की' महोदय की पुस्तक 'कबीर एण्ड हिज फालोवर्स' में दिये गये हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। ग्रंथावली के चित्र का समय अज्ञात है, किंतु 'की' के चित्र का समय १८वीं शताब्दी है। इसमें सन्देह नहीं कि ये चित्र काल्पनिक हैं। कबीर के गले एवं हाथ में कण्ठी और माला के अतिरिक्त कबीर की 'झीनी-झीनी' चदरिया भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चित्र का आधार प्रचलित प्रभाव है, इतिहास या सत्य नहीं।[2]

स्वामी युगलानन्द जी का दिया हुआ चित्र बड़ा शानदार है जिसमें किसी सूफी की वेश-भूषा प्रदर्शित की गई है। इसमें हिन्दू-भक्त प्रकट नहीं हुआ। इसी कारण इस चित्र में कुछ तथ्य निहित प्रतीत होता है, कोरी कल्पना की सजावट दिखाई नहीं पड़ती। युगलानन्द जी ने इस चित्र को कबीर के सम्बन्ध से सुरक्षित रखा है। इसमें किसी हिन्दू-भक्त की भावना की उर्मिलता दिखाई नहीं पड़ती। प्राय: देखा जाता है कि कबीरपंथी महंत लोग अब भी विशेष अवसर पर वैसी ही टोपी लगाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि कबीर 'सूफियाना' वेश-भूषा को पसंद करते थे और विशेष अवसरों पर वैष्णव होने पर भी इसी में दिखाई देते थे। श्री चन्द्रबली पांडेय का कथन है कि 'यह पोशाक उनकी रक्षा में कवच का काम करती थी, नहीं तो कट्टर काजी उनको जीवित नहीं छोड़ते और सिकंदर के कोप ने उनको कभी का चर्महीन कर दिया होता।

जो हो, किन्हीं प्रौढ़ प्रमाणों के अभाव में यह कहना अनुचित नहीं कि कबीर ने किसी विशेष वेश-भूषा को नहीं अपना रखा था। जिस प्रकार वे काशी और मगहर को एक-सा समझते थे, उसी प्रकार वे वेश-भूषा को भी महत्त्व नहीं देते थे। अतएव उक्त चित्रों के आधार पर, यदि वे प्रामाणिक हों तो भी, कबीर के रूप और वेश-भूषा का निर्णय करना कठिन है। जो चित्र हमारे सामने आते हैं वे कबीर-पंथियों की भावना के प्रसून हैं। इनका महत्त्व केवल उनकी श्रद्धा तक ही सीमित लगता है।

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१

[2] कबीर का जीवन-वृत्त—श्री चन्द्रबली पांडेय

कबीर की उक्तियों से यह प्रकट होता है कि उन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया था। इस सिद्धि का आधार उनका आस्तिक्य-भाव था। उनका विश्वास था कि परमात्मा जीवमात्र के अन्तर में निवास करता है। उसको केवल वे ही देख सकते हैं जिनका अन्तर निर्मल है, मन पावन है—

आत्म-साक्षात्कार

"जो दर्शन देखा चहिए, तो दर्पण मांजत रहिए।"

यह उक्ति उपदेशमात्र नहीं है, इसमें अनुभव का सार है। आत्मा का साक्षात्कार होने पर ही वे यह कह सके हैं:—

"प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन, मैं पायो करत विचारा॥"[१]

यह सब कुछ कहने पर भी प्रमाण की आवश्यकता होती है कि कबीर को अनुभव हो गया था। जिस समय मन 'उनमन' होकर शून्य में लीन हो गया द्विविधा और दुर्मति का बहिष्कार हो गया और 'राम-नाम' में 'लौ' लग गई, तब कबीर को आत्मा का साक्षात्कार हुआ। कबीर का अनुभव उन्हीं के शब्दों से प्रमाणित होता है:—

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, राम-नाम लिव लागी॥"[२]

यही 'आत्म-परिचय' की दशा है। उस 'परिचित' का परिचय देना दुष्कर है क्योंकि वह वाणी से परे है। इसी दशा मे कबीर के मुख से निकल पड़ता है:—

"कथ्यौ न जाइ नियरै अरु दूरी,
सकल अतीत रह्या घट पूरी।
जहाँ देखौं तहाँ रांम समांनां,
तुम्ह बिन ठौर और नहीं आंनां॥"

कबीर मुग्ध एवं विस्मित होकर मूक हो जाते हैं। उनके सामने रहस्य तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु वह कहने में नहीं आता। वाणी उनकी सहायता नहीं देती। बस इतना भर कह सकते हैं:—

---

[१] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७९

[२] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ २९१

"नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा,
रांम चरित न जांनियैं जियरा ।।"

आत्मसाक्षात्कार की दशा में कबीर उन्मत्त हो जाते हैं। जो मन इधर-उधर लिए फिरता है वह मर जाता है। सर्वत्र आत्मतत्त्व ही आत्मतत्त्व का प्रसार लगता है। इस दशा में कबीर कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जो तत्त्वतः सत्य हैं किन्तु कुछ लोगों को गर्वोक्तियाँ दीख पड़ती हैं। देखिये :—

"कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ।।"

यह ठीक है कि कबीर ऐसी उक्तियों में अपने को सिद्ध-सा व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें गर्वोक्ति की बात भी क्या है? वे सिद्ध तो थे ही और यदि उन्होंने 'सिद्धता' की बात कह दी तो मिथ्या नहीं हैं, सत्याभिव्यक्तिमात्र है।

उपदेश कबीर के उपदेश अनुभूति में पगे होते थे। अपने अनुभव को दूसरों तक पहुँचाना कबीर ने अपना कर्तव्य समझ रखा था। इसीलिए उन्होंने कहा भी है :—

"हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौ सागर मैं जीव है, जे कोइ पकड़ै तीर ।।"[1]

इतना ही नहीं उन्हें 'दयालु' की आज्ञा हुई थी कि वे लोक को उपदेश द। अतएव उपदेश देते हुए वे परमात्मा की आज्ञा का पालन करते थे। अन्त में जब उन्होंने देखा कि लोग उनके उपदेशों से भी अपने मार्ग को नहीं बदलते तो उन्होंने स्पष्टतः कह दिया :—

"मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि-कहि हारयो, अब मोहि दोस न लाइ ।।"[2]

वे अपने उपदेशों को बिखेरना या किसी पर लादना नहीं चाहते थे, किन्तु वे इतना चाहते थे कि उनके उपदेश पात्र तक अवश्य पहुँच जाएँ और वे यह जानते थे कि जो पात्र होगा उसे एक तृषा, एक पिपासा अवश्य होगी और वह अवश्य ही जल की खोज में निकलेगा। इसीलिए वे सस्ते उपदेशकों को सुना देते हैं :—

---

[1] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६

[2] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ६६

"नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर-घर वारि ।
जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवेगा झक मारि ।।"[१]

कर्तव्य और पात्रता के तटों के बीच में कबीर के निर्लिप्त आचरण की धारा प्रवाहित थी । वे उदासीन रहकर भी उपदेश देने में मग्न रहते थे । उनके उपदेशों का कुछ प्रभाव पड़ता था । जहाँ कबीर का पदार्पण होता था वहीं मानो धैर्य आ पहुँचता था :—

"दाध बलीता सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ ।
जहाँ कबीरा पग धरै, तहाँ टुक धीरज होइ ।।"[२]

इसी धैर्य को कबीर अपने उपदेश की उपादेयता समझते थे, यही उसकी सार्थकता थी । "कबीर प्रेम-रस का पौसरा चला रहे थे । पीनेवालों की कमी थी । इसी चिन्ता में वे घुले जाते थे । उनकी समझ में नही आता था कि वे किस प्रकार जनता को उसका आस्वादन कराएँ ।"[३]

"दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
बिधना बचन पिछांणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ ।।"[४]

इसमें सन्देह नही कि कबीर के उपदेश बड़े मूल्यवान थे । वे लोक को बन्धन से मुक्त कराने के लिए उत्सुक थे । भव-सागर को पार करने के लिए 'राम-नाम' से अच्छी और कोई नौका नही है । इसीलिए वे डूबते हुए आर्त लोकजनों से कहते है :—

"भौ बूड़त कछु उपाय करीजै, ज्यूं तिरि लंघै तीरा ।
राम-नाम लिखि भेरा बाँधौ, कहै उपदेश कबीरा ।।"[५]

लोक के आर्तनाद में कबीर को एक परिचित करुण स्वर सुनाई पड़ता था । वे भी भव-पीड़ा से पीड़ित हो चुके थे । उन्हें अपने मार्ग से जो अमूल्य रत्न प्राप्त हुआ था उसे वे छिपाना नहीं चाहते थे । छिपाते तो तब न जबकि

---

[१] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ ६१
[२] कबीर-ग्रंथावली पृष्ठ ८०
[३] कबीर का जीवनवृत्त—चन्द्रबली पांडेय
[४] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १४४
[५] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १७३

वह छिप सकता और वे छिपा सकते ! उसे पाकर वे मानों उन्मत्त हो गये थे। वे उसे सबको गा-गा कर दिखाने लगे। दूसरों को तरसाने के लिए नहीं; वरन् भटकनेवालों को उस 'हीरा' का मर्म समझाकर उसकी प्राप्ति की ओर प्रेरित करने के लिए। जैसे वे दूसरों को प्रेरित कर रहे थे वैसे ही उन्हें भी अपने गुरु से प्रेरणा मिली थी। इसी को वे स्पष्टतः कहते हैं :—

"गुरु दीनी बस्तु कबीर कौ, लेवहु वस्तु सम्हारि।
कबीर दई संसार कौं, जिसु लीनी मस्तक भाग॥"[१]

जिस रस का भेद कबीर को ज्ञात हो गया था उसे वे सबको बता रहे थे। वह रस कितना मधुर था, कितना मादक था ! उसे पाकर और पीकर उन्हें दुनिया की किसी वस्तु की कामना नहीं रह गई थी। वह रस था राम का नाम। वे दूसरों को सिहर कर समझाते हैं :—

"दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे।
राम को नांव अधिक रस मीठौ बारंबार पीवै रे॥"[२]

कबीर का राम सत्त्वस्वरूप है। ब्रह्मा और शङ्कर में वे गुण कहाँ हैं जो राम में हैं ? तमोगुण का नाम ही शङ्कर है और रजोगुण ब्रह्मा है। राम की ज्योति सत्त्वस्वरूपिणी है जो निर्विकार एवं उज्ज्वल है। अपने राम का परिचय देते हुए कबीर कहते हैं :—

"रजगुन ब्रह्मा, तमगुन संकर, सतगुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई॥"[३]

दूसरी पंक्ति से यह भी स्पष्ट है कि कबीर के राम देश, काल एवं जाति की परिधि से विमुक्त हैं। उनमें जिस प्रकार हिन्दुओं द्वारा जपे जाने की योग्यता है उसी प्रकार तुर्कों द्वारा भी। इसी में एकता की समस्या का हल है और इसी में राम-रहीम के अभेद का रहस्य निहित है।

---

[१] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ ३२५

[२] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १९३

[३] कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १०६

कबीर बड़े सरल और शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे, किन्तु उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। उन्होंने धर्म और समाज के गहनातिगहन तल में प्रवेश करके जो कुछ देखा था उसीसे उन्होंने एक नये समाज और नये धर्म की कल्पना की थी। वे वयनजीवी थे और अपने श्रम से ही अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। उसी श्रममय जीवन में से अधिकांश समय वे साधु-सेवा और सत्संग में बिताते थे। उनकी अतिथि-सेवा साधु-समाज में इतनी मोहक बन गई थी कि उनके घर पर साधुओं की भीड़ लगी रहती थी।

स्वभाव

उनमें भावुकता और बौद्धिकता का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ था। दया के तो मानों वे सागर ही थे। उनकी दयार्द्रता के कारण ही उनके सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ बन गई हैं जिनमें कुछ तथ्य अवश्य रहा होगा। वे 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के समर्थक थे। समता उनका नारा था। वे हिंसा के विरोधी थे और झूठ से उन्हें घृणा थी। यह कहना अयुक्त न होगा कि सत्य और अहिंसा उनके आयुध थे। काँटे बोने वाले के लिए भी वे फूल बोने का उपदेश देते थे।

उनकी अहिंसा में विनीतता का प्रमुख स्थान था। इसीलिए उन्होंने 'बाट का रोड़ा' बने रहने का उपदेश दिया है। कुछ लोग उनको गर्वोन्नत कहते हैं। वास्तव में वे गर्वोन्नत थे नहीं। उनकी जिन उक्तियों में गर्व की गन्ध आती है वे अध्यात्म-सम्बन्धी हैं। उनमें तथ्य की चोट है, सत्य का प्रकाश है; दिखावट या बनावट का काम नही है। वे उस अवस्था की उक्तियाँ हैं जिनमें अस्मिता गल जाती है और अहंकार काफूर हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो वे यह क्यों कहते :—

"तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥"

धर्म के आडम्बरों के प्रति कबीर की कोई सहानुभूति नहीं थी, किन्तु किसी धर्म की अच्छाई को वे भुला नहीं सकते थे। यही कारण है कि कबीर का पंथ सारग्राहिता से प्रशस्त है। कबीर का लोकाचार दंभ और पाखंड से मुक्त था। वे जो कुछ कहते थे, करते भी थे। इसीलिए उन्होने करनी और कथनी दोनों पर ज़ोर दिया था।

कबीर को जीवमात्र प्रिय था। प्रत्येक मानव उनका बन्धु था। दुखी के प्रति उनकी सहानुभूति थी और सुखी के प्रति वे प्रसन्न दीख पड़ते थे, किन्तु दुःख से घबराने वाले और सुख में इतराने वाले को वे बुद्धिमान नहीं मानते थे। उनकी यह मान्यता थी कि प्रायः लोग सुख के मद से चूर होकर आस्तिक्य-भाव को खो बैठते हैं और दुःख में वे परम आस्तिक बन जाते हैं। यदि वे सुख में आस्तिक बने रहें तो दुःख की नौबत ही क्यों आए ?

"दुख में सुमिरन सब करें सुख मैं करै न कोइ ।
सुख मैं जे सुमिरन करें तो दुख काहे को होइ ॥"

लोक के प्रति वे विनीत और विनयशील दीख पड़ते हैं, किन्तु दीन नहीं। अपनी दीनता का प्रदर्शन वे एकमात्र प्रभु के सामने करते हैं और वहाँ वे उसकी महत्ता के सामने सिर झुकाकर कह उठते हैं :—

"मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागत है मेरा ॥"

यही कबीर का भावुक रूप है इसी में उनके आत्मसमर्पण की भावना निहित है। यहाँ 'कबीर का भक्त' प्रमुख है।

कबीर को मिथ्या चमक-दमक प्रिय नहीं थी और न वेश-भूषा के प्रति ही उनका मोह था। 'जो मिल गया सो पहन लिया' के सिद्धान्त में उनकी पूर्ण आस्था थी। वे परम आस्तिक होने के कारण ही सत्यनिष्ठ एवं भक्तिदृढ़ थे। प्रेम की पीर ने उनके हृदय में अपना घर बना लिया था, किन्तु 'उन पर इस पागलपन में 'मजनूं' बनने का जुनून सवार न हो सका।'

कबीर में सीखने की लगन थी सीखने के लिए ही वे इधर-उधर घूमे-फिरे। इसी लगन में उनका तथ्यान्वेषण निहित था। उनको ज्ञान की पिपासा थी। पंडितों से उनको किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी, किन्तु उन्होंने उनके शास्त्रार्थ से लाभ अवश्य उठाया। गोरखनाथ के जगाये हुए योग से भी उन्हें बहुत कुछ मिला। सूफियों की शराब से उनका महारस कुछ घटिया नहीं था। कबीर ने उसका भी मनमाना आस्वादन किया।

सब ओर घूमते हुये भी कबीर ने समाज को नहीं भुलाया था। कबीर का आध्यात्मिक गगन समाज के धरातल पर ही बना था। उसीमें वे उन्मुक्त

खग की भाँति विहार करते थे। स्वर्ग और नर्क की कल्पना, कबीर की दृष्टि में, केवल मानसी कल्पना थी, किन्तु पाप और पुण्य, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के मन और कर्म दोनों से है, उनकी दृष्टि में बड़े कठोर बन्धन थे जिनसे केवल विवेकी पुरुष ही मुक्त होते हैं।

कबीर अनित्य को नित्य नहीं मानते थे। जो लोग अनित्य को नित्य मान बैठते हैं वे भ्रान्त हैं। जो नित्य है उसका विनाश नहीं होता और जो उत्पन्न और नष्ट होता है वह नित्य नहीं है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं है कि कबीर के अपने सिद्धान्त थे जिन पर वे आरूढ़ थे।

जीवन-विषयक निष्कर्ष

कबीर का जन्म काशी में (या उसके आस पास) सम्वत् १४५५ में एक जुलाहा परिवार में हुआ था जिस पर नाथ-पंथ का प्रभूत प्रभाव था। जुलाहा जाति को हिन्दू तो हेय समझते ही थे, किन्तु मुसलमान भी आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के परिवार का तत्कालीन समाज में कोई आदर नहीं था। कबीर के पिता का नाम नीरू और माता का नीमा था।

उस समय शिक्षा का जो वातावरण था वह कबीर की स्थिति के अनुकूल नहीं था। उस समय कबीर के जैसे परिवारों में शिक्षा का प्रचलन नहीं था। कबीर जैसे बालक अपनी जीविका के उपार्जन में (कुछ तो प्रथा-वश और कुछ स्थिति-वश) संलग्न हो जाते थे। कबीर अपनी पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के बीच में पुस्तक-अध्ययन से वंचित ही रह गये, किन्तु, जैसा कि आगे विवेचन किया जाएगा, प्रतिकूल परिस्थितियों में ही उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। यद्यपि पुस्तक-ज्ञान की दृष्टि से वे अपढ़ थे, परन्तु परिस्थियों ने उन्हें जीवन के गम्भीर एवं विशाल अध्ययन के लिए उत्कट प्रेरणा दी थी। कबीर के व्यक्तित्व में जो फौलादी शक्ति दिखाई पड़ती है वह निःसन्देह परिस्थितियों का परिणाम है।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उनका कोई विद्या-गुरु भी नहीं था. किन्तु उन्होंने रामानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु मान लिया था। कबीर का गुरु कभी-कभी परमात्मा या राम में भी दीख पड़ता है जिसको वे 'सतगुरु' भी कहते हैं। गुरु या 'सतगुरु' के प्रति कबीर के अन्तर में बड़ा सम्मान है।

कबीर की दो पत्नियाँ थीं, एक लोई और दूसरी धनिया। दूसरी रामजनी या रमजनिया नाम से भी प्रसिद्ध थी। लोई की प्रकृति कबीर के अनुकूल नहीं थी, किन्तु दूसरी कबीर की भक्ति को सहयोग देनेवाली थी; इसीलिए वह उनकी स्नेह-भाजन थी। लोई कबीर की साधु-संगति से बहुत खिन्न थी। इससे खिन्न तो कबीर की माँ भी थी, परन्तु लोई इससे व्यथित थी। पति के इस प्रकार के आचरण या जीवन से अधिकाश स्त्रियों को खेद होता है, किन्तु कौटुम्बिक आवश्यकताएँ व्याहत होने के कारण लोई इसको विशेष अभिशाप समझती थी।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि कबीर का पुत्र कमाल और पुत्री कमाली थी। डा. मोहनसिंह ने 'कबीर—हिज बाइग्राफी' में दो पुत्र (कमाल और निहाल) तथा दो पुत्री (कमाली और निहाली) का उल्लेख किया है। कही-कहीं निहाल और निहाली के स्थान पर जमाल और जमाली नाम भी मिलते हैं। डा त्रिगुणायत ने भी ऐसा संकेत किया है कि कबीर के कई बच्चे थे। कबीर की सन्तान की संख्या को अन्तः साक्ष्य पर न छोड़कर यह कहा जा सकता है कि वे बाबच्चेदार गृहस्थ थे।

कबीर गृहस्थ साधु थे। उनका परिवार भी कुछ छोटा नही था। अतिथियों के कारण वह और भी विशाल बना रहता था। प्रायः वैष्णव भक्त और सन्त जन ही कबीर के अतिथि होते थे। उनको पाकर वे अपने को धन्य समझते थे। वे सन्त-सेवा में इतने रत रहते थे कि वे अपने सम्बन्धियों और विशेषतः अपनी माता और स्त्री लोई के भी अप्रिय हो गये थे।

सत्संग से कबीर को बहुत बडा लाभ हुआ और वह था ज्ञान लाभ। ग्रन्थों को पढ़कर शायद उनको इतना ज्ञान न हो पाता जितना उन्हें सुनने से हुआ था। उनका ज्ञान केवल 'सुनने' तक ही सीमित नहीं था, अपितु मनन से उसमें तेज आ गया था। उनका फौलादी व्यक्तित्व उसी मनन का परिणाम था। उनका व्यक्तित्व ज्ञान, कर्म और उपासना, तीनों से समन्वित था। उसमें एक ही साथ सरलता, समरसता और विचित्रता का दर्शन होता था।

उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। यात्रा का लक्ष्य तीर्थाटन नहीं था। वे अनेक स्थानों में साधुओं से मिलने, ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने अथवा अपने मत का प्रचार करने के लिए घूमते थे। वे झूँसी, मगहर, जौनपुर, मानिकपुर, गागरोनगढ़, गुजरात, मथुरा आदि स्थानों में गये थे।

उनके अनेक शिष्य थे जिनमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों वर्ग सम्मिलित थे। उनमें बिजलीखाँ, धर्मदास, बीरसिंह बघेला, सुरतगोपाल, जीवा, तत्वा, जागूदास आदि अधिक प्रसिद्ध थे। कबीर के पश्चात् उनके पंथ की अनेक शाखाएँ हो गई थीं, जिनका जन्म उनके शिष्यों की प्रसिद्धि के कारण हुआ था।

कबीर का पंथ सत्य पर आधारित था जो उनके अनुभव से अभिन्न था। उनकी अहिंसा भी भावनामात्र नहीं थी। उसमें भी सत्य का बल था, अनुभव की धरा थी। दंभ और पाखंड से उनको घृणा थी क्योंकि उनका आधार मिथ्या है जो खोखली है और जिसमें प्रदर्शनमात्र है। 'कहना और, करना और' का सिद्धान्त उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं था। वे तो 'करनी .और कथनी' में एक तादात्म्य चाहते थे। वे सत्यप्रिय होने के नाते स्पष्टतावादी थे, किन्तु इस विषय में अनेक आलोचकों को भ्रम हो गया है जो उनके हृदय को शुष्कता एवं कठोरता से लांछित करते है।

उन्होंने न तो धार्मिक पक्षपात सीखा था और न खुशामद। उनमें पक्षपात इसलिए नहीं था कि सत्य को वे सदैव सत्य ही समझते थे। असत्य कभी सत्य नही हो सकता है, ऐसी उनकी धारणा थी। इसीलिए वे खुशामद और पक्षपात से मुक्त थे, इसीलिए भय उनसे दूर भागता था। सिकन्दर लोदी ने काजी के बहकाने से जो जो यातनाएँ कबीर को दीं, वे भी उनको सत्य से विचलित न कर सकीं। अन्त में मुक्ति ने सत्य का ही वरण किया।

कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार-प्रकार नहीं, जो देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकता, उसकी मूर्ति कैसी? यही कारण है कि उन्होने स्थान-स्थान पर मूर्ति-पूजा के प्रति अपनी अरुचि दिखलाई है। जिसका आकार नही उसकी मूर्ति का आश्रय लेकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न बिल्कुल वैसा ही है जैसा असत्य के सहारे सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न। असत्य से भ्रांति की वृद्धि हो सकती है, जिज्ञासा की तृप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए मूर्ति-पूजा पर उनका यह व्यंग है—

"लाडू लावर लापसी, पूजा चढ़े अपार।
पूजि पुजारा ले चला, दे मूरति के मुख छार॥"

कबीर किसी धर्म विशेष के अनुयायी नहीं थे, वे तो सारग्राही थे। इसी कारण कबीर का पंथ चला। वे अवतारवाद के विरोधी थे, किन्तु आवागमन को मानते थे क्योंकि वे कर्म-परिपाक को भुला नहीं सकते थे। वे इस

सिद्धांन्त से सहमत नहीं थे कि मरने के बाद भी प्राणी क़ब्र में पड़ा-पड़ा क़यामत तक सड़ा करता है'। 'जनम अनेक गया अरु आया' तथा 'देखो कर्म कबीर का कछू पूरब जनम का लेखा' कह कर कबीर ने कर्मवाद और तत्संबन्धी पुनर्जन्मवाद का समर्थन किया है।

कबीर प्रेम के पथिक थे। प्रेम ने ही कबीर को ऊँच-नीच के भेद-भाव का परित्याग कर सब की एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी। जाति और धर्म के भेद को भी प्रेम ने ही निकाल बाहर किया था। कबीर का वह प्रेम मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, परमात्मा की सृष्टि के सभी जीव-जन्तु उसकी परिधि में आ जाते है। वे 'सबै जीव साईं के प्यारे' के सिद्धान्त के प्रतिपादक थे।

कबीर का प्रेम-तत्त्व सूफियों के संसर्ग का फल होते हुए भी उसमें उन्होंने भारतीयता का पुट दे दिया है। सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनके 'मजनूँ को अल्लाह भी लैला नजर आता है,' किन्तु कबीर ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में ही देखा है। उनकी उक्ति, 'राम मेरे दूल्हा मैं राम की बहुरिया' राम का प्रियतमत्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। कबीर के प्रेम का यह रूप भारतीय माधुर्य-भाव के सर्वथा अनुकूल है। प्रेम का जो स्रोत कबीर ने 'विरहिणी नायिका' के हृदय में देखा है उसमें निःसन्देह भारतीय प्रेम का प्रवाह है। भारतीय प्रेम-मार्ग के पथिक ने विरह-व्यथा को सदैव नारी-हृदय में देखा है। कबीर ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है जिसमें सूफियाना भावों में भी भारतीयता कूट-कूट कर भरी है।

कबीर अपने सिद्धान्तों के पक्के थे क्योंकि वे किसी की नकल नहीं थे। उनमें अनुभवसिद्ध सत्य था। सत्य मनुष्य के व्यवहार को निश्चित और दृढ़ बनाता है। निश्चय और दृढ़ता कबीर का व्रत था। उनके अनुभव में जो सिद्ध हुआ उसको उन्होंने वैसा ही कहा। यही उनका सत्यान्वेषण और सत्य-परिचय था। उन्होंने अपने अनुभव को आचरण में भी उतारा था। उनके समय में लोक का ऐसा भ्रम था कि काशी में मरने से स्वर्ग मिलता है और मगहर में मरने से नरक, किन्तु कबीर की तत्त्व-दर्शिनी दृष्टि ने इसे स्वीकार न किया। वे अपने अन्तकाल में इसी कारण मगहर में चले गये थे। वहीं संवत् १५७५ में उन्होंने अपनी देह का विसर्जन किया।

: ३ :

समकालीन वातावरण

कबीर का समय एक उथल-पुथल का समय था। उनके चारों ओर राजनीति, धर्म, समाज आदि का जो वातावरण बना हुआ था उसी में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। उस वातावरण के अनेक झोंकों से प्रताड़ित होकर कबीर की आँखें खुल गईं। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा थी, केवल उसके सजग होने की देर थी। उद्बोधन का यह काम उनकी समकालीन परिस्थितियों ने किया। उन्होंने समाज को न केवल तत्कालीन राजनीति में ही घुटा हुआ देखा, अपितु धार्मिक रूढ़ियों और विकारों में भी दलित और गलित पाया।

कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। उन्होंने एक ओर तो सामयिक परिस्थितियों का निर्भीकता से सामना किया और दूसरी ओर समाज के त्राण की दिशा में उत्साहपूर्वक अपना क़दम बढ़ाया। जिस समय असंख्य लोग उस विकरालता में आँखें मीच कर कराह रहे थे उस समय कबीर सदय उत्साह और सहज मन्यु से उसके बहिष्कार में संलग्न हो गये। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों की विकटता का दायित्व केवल धर्म पर ही नहीं था, बल्कि राजनीति पर भी था।

राजनीतिक वातावरण

भारतीय प्रजा अभी तक तुगलक काल को नहीं भूली थी। तुगलक-वंश का अन्त होते-न-होते दिल्ली-सल्तनत के टुकड़े होने लगे। जौनपुर में एक नई शक्तिशाली बादशाहत की स्थापना हो गई जिसका विहार में भी अधिकार था, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता अधिक दिन तक न रह सकी। मलिक-उस-शर्क (पूर्व का शासक) के उत्तराधिकारियों के समय में इस सल्तनत को बड़ा वैभव प्राप्त हो गया।

मालवा में एक खिलजी अमीर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। स्वतन्त्रता की घोषणा सन् १४०१ में हुई थी और हुसुंगशाह मालवा का

प्रथम शासक बना जिसने माण्डू को अपनी राजधानी बनाया किन्तु मालवा को वास्तविक महत्त्व का उपलाभ सुल्तान महमूद के शासन-काल से पूर्व न होसका।

गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२९७ में ही जीत लिया था। परतन्त्रता की एक शताब्दी पश्चात् ज़फरखाँ ने सन् १४०१ में औपचारिक रूप से शाह की पदवी ग्रहण करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। इसके पश्चात् गुजरात का वैभव-काल प्रारम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वह भारत के अग्रणी राज्यों में से एक महत्त्वपूर्ण राज्य रहा। अहमदशाह (१४११-१४४१ ई०) ने अहमदाबाद का नगर बसाया और उसे सुन्दर इमारतों से विभूषित किया।

मालवा और गुजरात के मध्यवर्ती हिन्दू-राजा मालवा और गुजरात के सुल्तानों के बीच होने वाले युद्धों में पक्ष ले रहे थे। दोनों मुस्लिम शक्तियों के बीच में राजपूत राजाओं का राज्य फैला हुआ था और आबू से रणथंभौर तक के इस क्षेत्र में एक सैनिक संघ प्रतिष्ठित था जिसका नेतृत्व मेवाड़ के गुहिलौत वंशीय राणा कर रहे थे। उनकी नीति यह थी कि दोनों सुल्तानों में एकता न होने पाए; इसलिए गुजरात को निरन्तर मेवाड़ के राणा से लोहा लेना पड़ रहा था। आबू की पहाड़ी पर निर्मित अचलगढ़ के दुर्ग ने मुस्लिम शक्ति को एक ओर से सीमाबद्ध कर दिया था।

उधर बंगाल का सूबा फीरोज़ तुगलक के समय में ही स्वतन्त्र हो चुका था, किन्तु बंगाल के स्वतन्त्र बादशाहों का वास्तविक वैभव हुसेनशाह से प्रारम्भ हुआ जिसका वंश अकबर के समय (सन् १५७६) तक सत्तारूढ़ रहा।

देश और राजधानी पर प्रभाव

भारतीय प्रजा अभी तक तुगतक काल को नहीं भूली थी। यदि मोहम्मद तुगलक को प्रजा के लोग राजधानी-परिवर्तन, फारस विजय-कामना, ताम्र-सिक्कों के प्रचार, नृशंस मानव-हिंसा आदि के कारण अभी तक नहीं भूले थे, तो फीरोजशाह तुगलक को उसके संकीर्णहृदय और धर्मान्ध होने के नाते अब तक कोसते थे। उसके समय में ब्राह्मणों पर जो पॉलटैक्स लगाया गया था उसकी चर्चामात्र से न केवल ब्राह्मण ही थर्रा जाते थे अपितु हिन्दूमात्र का हृदय व्याकुल हो उठता था। उसने कितने ही हिन्दुओं को असिधारा में निमग्न करा दिया था। उसके पश्चात् भी कोई न्यायप्रिय

शासक गद्दी पर नहीं बैठा। उसके बाद जो सुल्तान सिंहासनारूढ़ हुए प्रायः वे सभी क्रूर एवं विलासी थे।

इसके बाद तैमूर का आक्रमण हुआ जो भारतीय इतिहास की एक भीषण घटना है। नृशंस युद्ध और बर्बर लूट-मार से हिन्दुओं की अवशिष्ट प्रतिष्ठा भी परास्त हो गई। उसकी राजनीति धर्म से कितनी व्याकुल थी, इसका परिचय उसके ही शब्दों से इस प्रकार मिलता है—"भारत पर आक्रमण करने का मेरा लक्ष्य काफिरों को दण्ड देना, बहुदेवबाद और मूर्तिपूजा का अन्त करके गाजी और मुवाहिद बनना है।"[1] अपने लक्ष्य की सिद्धि में वह कितना सफल हुआ, इसका अनुमान हम केवल इससे लगा सकते हैं कि "भारत से लौटते समय उसका एक-एक सिपाही सौ-सौ स्त्री, पुरुष और बच्चों को गुलाम बनाकर ले गया था।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि तैमूर का हमला हिन्दुओं ही के लिए नहीं, देश के लिए भी एक कठोर वज्रपात था। उससे देश में दरिद्रता, अशांति और निराशा के भयावह एवं करुण दृश्य दिखाई पड़ने लगे। अनाचार और व्यभिचार की दुंदुभि बजने लगी और सबसे भयंकर धक्का पहुँचा हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म को जिससे उनकी काया काँप उठी। इतना ही नहीं तैमूर के आक्रमण से दिल्ली का गौरव भी गिर गया। जो नगर लगभग दो शतियों तक साम्राज्य के गौरव का केन्द्र रहा, वही अब प्रान्तीय राजधानी की दशा को प्राप्त हो गया।

देश की ऐसी दुर्दशा के समय दिल्ली का शासन-सूत्र लोदी-वंश के हाथों में चला गया। बहलोल लोदी ने एक बार पुनः देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, किन्तु देश के दुर्भाग्य से शासन-सत्ता अधिक दिन तक उसके व्यक्तित्व का उपभोग न कर सकी। उसके पश्चात् शासन की बाग-डोर सिकन्दर लोदी के हाथों में चली गई। उसका समय हिन्दुओं के लिए और भी भयानक सिद्ध हुआ। इस काल में हिन्दुओं को गाजर-मूली की भाँति काटकर फेंक दिया गया। उसका धार्मिक दुरुत्साह इतना प्रबल था कि "वह एक-एक दिन में पन्द्रह

---

[1] एलियट एण्ड डाउसन, तीसरी पुस्तक, पृष्ठ ३९७

[2] ईश्वरी प्रसाद : मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ ३३७

सौ हिन्दुओं को तलवार के घाट उतारने में भी नहीं हिचका।"[3] यदि उसने कबीर को भी मरवाने का प्रयत्न किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सिकन्दर का भी अधिकांश समय विद्रोहियों को दबाने में ही बीता। उसकी नीति से दिल्ली का रहा-सहा गौरव भी क्षत-विक्षत हो गया। अब केन्द्रीय शासन इतना विभक्त हो गया था कि दिल्ली को साम्राज्य का अतीत गौरव प्राप्त न हो सका। जैसा कि पहले कहा जा चुका है दिल्ली के गौरव का विभाजन बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा के बीच हो गया था।

कबीर के आविर्भाव का यह समय एक उथल-पुथल का समय था। अब राज्य-विजय का प्रश्न नही रह गया था। अब तो प्रश्न था शासन को दृढ़ और प्रभावशाली बनाने का। देश के टुकड़ों का सम्बन्ध दिल्ली से न रह जाने के

राजनीतिक प्रभाव का पर्यवेक्षण

कारण उनमें शासकों की अपनी-अपनी नीति चल रही थी जिसका प्रजा से विशेषतया हिन्दुओं से गहन सम्बन्ध था। दिल्ली के हाथ में केवल स्थानीय शासन रह गया था जिसमें पंजाब का समृद्ध प्रान्त भी सम्मिलित था। उस समय इस्लाम का वास्तविक वैभव दिल्ली में नहीं, बल्कि अहमदाबाद, मांडू, जौनपुर और लखनौती में था। इस विभाजन और रीति-नीति का प्रभाव धर्म, समाज, कला, साहित्य आदि पर भी पड़े बिना न रह सका। 'कबीर-बानी' इनका एक मुखर प्रतिरूप प्रस्तुत करती है।

यह ठीक है कि कबीर के उदय से पूर्व ही हिन्दू-धर्म पर संकट के काले बादल छा रहे थे। इस्लाम काफिरों को जो कुछ दे सकता था, हिन्दुओं को वह सब कुछ मिला। शासन की छत्र-छाया में हिन्दू लोग मुसलमान बन रहे थे।

धार्मिक वातावरण

हिन्दुओं के बहुदेववाद और मूर्तिपूजन के प्रति इस्लाम की स्थायी घृणा थी और दोनों धर्मों में सम्बन्ध स्थापित होने की कोई आशा नहीं थी। उस समय तक जितने मुसलिम विजेता आए उन्होंने मंदिर की मूर्तियों का अपमान किया। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता पर क्या-क्या आघात हो चुके थे इसका प्रमाण फीरोज़ तुग़लक के काले कारनामे हैं। कहा जाता है कि उसने एक बार एक

---

[3] टिट्स : इण्डियन इस्लाम, पृष्ठ ११-१२

ब्राह्मण को खुलेआम हिन्दू संस्कार करने पर जीवित ही जलवा[1] दिया था। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि सिकन्दर लोदी की उपस्थिति में बोधन नाम के एक ब्राह्मण को अपने धर्म का उत्कर्ष प्रकट करने पर मृत्यु-दण्ड[2] दिया गया था।

इन सब घटनाओं से जो विस्मयजनक तथ्य उद्घाटित होता है वह है हिन्दू धर्म की शक्ति। उस हिन्दू के लिए, जो इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता था, सब द्वार खुले थे। कोई पद या अधिकार ऐसा नहीं होता था जो उसको न मिल सकता था। खुसरो (काठियावाड़ का एक अवर्णदास) ने तो मुसलमान होकर थोड़े समय के लिए दिल्ली का तख्त तक पा लिया था। छै सौ वर्ष तक शक्ति और समृद्धि का सरल पथ उपलब्ध होने पर भी उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की संख्या १४ प्रतिशत ही रही, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्म ने अपने ऊपर आए हुए सब आघातों का बड़े साहस से सामना किया। उधर तो धर्म-परिवर्तन की परम्परा बनी रही और इधर हिन्दू-धर्म ने दृढ़ बनने के प्रयत्न किये। धर्म-रक्षा की भावना ने नए सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस समय हिन्दू-धर्म में अनेक आंदोलन हुए। वैष्णव सम्प्रदायों ने उत्तर में और लिंगायत धर्म ने कर्नाटक में जो विकास किया उससे हिन्दू-धर्म की बड़ी रक्षा हुई।

"कहना न होगा कि उक्त धार्मिक आन्दोलन केवल भक्ति पर आश्रित थे, कर्मकाण्डपरक नहीं थे। निस्सन्देह भारतीय भक्ति का रूप बहुत प्राचीन है, किन्तु उस समय उसको जो लोक प्रियता प्राप्त हुई उसका कारण थी हिन्दुओं की निराशा जो तत्कालीन आघातों से उत्पन्न हुई थी। गीता में भक्तियोग का उपदेश दिया गया है और उसका अन्तिम सन्देश परमात्मा को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना है। गीता ने जीवन में प्रयत्नवाद की प्रतिष्ठा करते हुए फलासक्ति का अवमूलन अवश्य किया है, किन्तु जयदेव से लेकर चैतन्य (उससे भी पीछे) तक की राधा-कृष्ण की भक्ति में इसकी कोई प्रतिध्वनि नहीं है।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति-क्षेत्र की यह नई उपज थी। मध्यकालीन भक्ति का उदय इस्लाम के आक्रमण के उत्तर के रूप में हुआ था। चाहे उनके

---

[1] स्मिथ : स्टुडेण्ट्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १२६

[2] ईश्वरी प्रसाद : मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ ४८१–८२

[1] के. एम. पनिक्कर: ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ १३१

देवों के कुछ भी नाम रहे हों, किन्तु सभी मध्यकालीन भक्तों ने यह माना है कि एक परमात्मा हमारा उपास्य है और उसी के अनुग्रह से हमारी मुक्ति हो सकती है। अतएव सभी भक्ति-धाराओं में तत्त्वरूप से अद्वैतवाद का प्रवाह है। भिन्न-भिन्न नामों से प्रख्यात राम, कृष्ण, शिव आदि एक ही अनन्त शक्ति के प्रतीक हैं। कबीर की बानियों में इस तथ्य का दर्शन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

इस्लाम के बढ़ते हुए प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय भावना ने अपने को अनेक रूपों में व्यक्त किया था। अपनी भूमि पर इस्लाम को अपना सहचर समझ कर अनेक भारतीय धर्मों ने उसके प्रति जिस सहिष्णुता का परिचय दिया था वह सहज सांस्कृतिक थी। यद्यपि कुछ मुसलमान शासकों ने भी यहां के धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई, किन्तु वे अपने नैतिक दृष्टिकोण से इस्लाम की बढ़ती हुई कट्टरता का नियंत्रण न कर सके। इस्लाम जैसे नए धर्म में इस प्रकार की कट्टरता स्वाभाविक थी, किन्तु उससे भारतीय हृदय की उपजाऊ भूमि में रक्षात्मिका भावना के अनेक बीज प्रांकुरित हो उठे।

कर्नाटक में वीरशैव सम्प्रदाय का विकास भी इस युग की एक विशेषता थी। तामिलनाड की भाँति कर्नाटक में भी शैव मत की एक प्राचीन परम्परा थी। बारहवीं शताब्दी में इसके दो सिद्धान्तों पर विशेष जोर देते हुए एक नए मत का आविर्भाव हुआ। उन सिद्धान्तों में से एक तो था केवल शिव की उपासना पर आधारित अद्वैतवाद और दूसरा था जाति-पाँति का बहिष्कार जिसमें ब्राह्मणों की प्रमुखता का भी उन्मूलन था। वीर शैव मत के अनुयायी बासव को अपने मत का जन्मदाता मानते हैं। निस्सन्देह मध्यकालीन हिन्दू-सन्तों में बासव का प्रमुख स्थान था।

वीरशैव सम्प्रदाय

वीरशैव मत उस समय नया दीखता हुआ भी अपने मूल रूप में प्राचीन था। कहना न होगा कि शैवमत बहुत प्राचीन धर्म है। उसका प्रचार कबीर के प्रादुर्भाव से पूर्व उत्तर भारत में भी था। शैव और वैष्णव मतों में एक-दूसरे के सम्पर्क के कारण बहुत कुछ आदान-प्रदान हो चुका था। साम्प्रदायिक उत्साह से मुक्त विष्णुभक्त शिव की आराधना बिल्कुल उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार उदार शैव शिव के साथ-साथ विष्णु और उनके अवतारों का भी समादर करते थे।

शैवमत

पूर्व में शाक्त मत का जोर था, किन्तु जिस प्रकार वैष्णव भक्तों में दुर्गा की उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार शैवों में योग के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होने लगे थे। आद्या शक्ति को देवी के रूप में स्वीकार करके भी शैवों और वैष्णवों के मन में शाक्तों के प्रति घृणा भर गई थी। पंच मकारों में मत की घोरतम विकृति की अभिव्यक्ति ने शाक्त मत को संयत धर्मों से विदूर कर दिया था।

शाक्तमत

इन धर्मों में एक ओर तो अपरिलक्षित रूप से आदान-प्रदान हो रहा था और दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता और कठोरता के कारण भाव-संकीर्णता और कटुता का विकास हो रहा था। अतएव अन्त: साम्प्रदायिक राग-द्वेष धार्मिक विकृतियों का परिणाम था। एक ही भाव-भूमि पर आग्रह और विग्रह के प्रारूढ़ हो जाने से विकृति कुछ अधिक जटिल हो गई थी।

शैव, शाक्त और वैष्णव मतों का सम्बन्ध

यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म के विकारों की छाया में जिन मतों का आविर्भाव हो गया था उन्होंने भी आर्य-संस्कृति की मौलिकता को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। उससे हिन्दू-धर्म की एकता खण्डित हो गई। यह कहना भी असंगत नहीं कि बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय होने पर भी वह अपने अनेक सिद्धान्तों को भारतीय विचार-धारा में प्रवाहित छोड़ गया था। अनात्मवाद की चरम अभिव्यक्ति नागार्जुन के 'शून्यवाद' में हो चुकी थी। औपनिषदिक आत्मा के स्थान पर 'शून्य' की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिन्तन की परम्परा में एक बड़ी क्रान्ति और प्रगति को जन्म दे दिया था। शंकर का मायावाद शून्यवाद को एक चुनौती था।

बौद्ध धर्म

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शून्य' ने विकास-क्रम से अशून्य के रूप में सब कुछ प्राप्त किया। धीरे-धीरे शून्य को स्थिति और शक्ति की विशेषता प्राप्त हो गई। जिस प्रकार बौद्ध चिन्तन से प्रसूत क्रान्ति को नहीं भुलाया जा सकता है उसी प्रकार बौद्ध-साधना की क्रान्ति को नहीं भुलाया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत साधना की वस्तु है, किन्तु व्यक्तिवाद के हाथों में पड़ कर वह अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता। परिणामत: विकृतियों का

विकास होता है जिससे अनेक मतों और सम्प्रदायों का प्रजनन होता रहता है। वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की विकृति और विकलता के ही परिणाम थे, किन्तु कालक्रम से वे भी विकृतियों से विगलित हो गये। फिर भी नये धर्मों और सम्प्रदायों के लिए वे अपनी कुछ परम्पराएँ और साधनाएँ छोड़ गये।

नाथ-पंथ

नाथ-पंथ वज्रयान और सहजयान ही की प्रतिक्रिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि "नाथ-पंथ सहजयान और वज्रयान का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप है।"[1] राहुल जी ने तो नाथ-पंथ के प्रधान आचार्य गोरखनाथ को वज्रयान का ही आचार्य कहा है।[2] यों तो इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (भगवान् शंकर) ही माने जाते हैं, किन्तु इसके पुनरुत्थान का श्रेय गोरखनाथ ही को दिया गया है। इस सम्प्रदाय का उदय सिद्धों की बीभत्स एवं तामसिक साधना-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में होने से इसमें सदाचरण को विशेष महत्त्व दिया गया।[3] नाथ-पंथ के स्रोत की विवेचना करते हुए विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने नाथ-पथ को दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के अन्तर्गत रखा है किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से उसे पतञ्जलि के योग से सम्बद्ध किया है।[4] डा. हजारी प्रसाद[5] ने इसका सम्बन्ध बौद्ध और शाक्त मतों से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण देते हुए उन्होंने कौल और कापालिक मतों को नाथमतानुयायी कहा है। डा. मोहनसिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मेडिवल मिस्टिसिज्म' में नाथ-पंथ के सिद्धान्तों और साधन-पद्धति को औपनिषदिक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

किसी समय नाथ-पंथ का बडा प्रभाव था अनेक सवर्ण और अवर्ण लोग इसके अनुयायी थे, किन्तु अवर्णों में तो इसका प्रचार बहुत ही अधिक था।

---

[1] डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी—'नाथ सम्प्रदाय' तथा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ १४३।

[2] मंत्रयान, वज्रयान चौरासी सिद्ध—गंगा पुरातत्त्वांक, पृष्ठ २२१।

[3] चौरासी सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय—योगांक, पृष्ठ ४७१।

[4] डा. रामकुमार वर्मा—हि. सा. का आलोचनात्मक इतिहास, परिवर्द्धित संस्करण पृष्ठ १५२।

[5] डा. हजारी प्रसाद—नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ ५६।

गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक लोक वार्ताएँ परम्परा से देश में प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखपंथ या नाथ-पंथ का प्रभाव कभी लोकव्यापी था। सभी वर्ग और श्रेणियों में इसका समादर था, इसीलिए राजा से रङ्क तक की लोक-कथाएँ इससे सम्बन्धित मिलती हैं। ऐसा दीख पड़ता है कि इसके सिद्धान्तों का सामान्य समादर इसलिए हुआ कि इस मत ने सामाजिक भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था। अवर्णों के लिए यह एक बहुत बड़ा आकर्षण था। इसके अतिरिक्त पंथ की यौगिक करामातों और सिद्धियों की जनश्रुतियों से समाज जितना विस्मित हुआ था उतना ही आकृष्ट भी। कबीर के समय में भी इस मत का व्यापक प्रचार था, किन्तु उत्तर भारत में इसके मठ स्थापित हो गये थे। कहते हैं कि गोरखपुर इस पंथ का केन्द्र था। जिस प्रकार उत्तर भारत में उसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत में भी इस मत का प्रचलन रहा है। नाथ-पंथ में निरंजन की महिमा का बहुत गान किया गया है। साधारण रूप में 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है।

भारत में 'निरंजन' से सम्बन्धित एक सम्प्रदाय भी रहा है जो 'निरंजन सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पंथ नाथ-पंथ की भाँति ही प्राचीन माना जाता है। इस पंथ में निरंजन-पद परमपद का समकक्ष था। आजकल निरंजनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजस्थान और उसके प्रान्तरीय भागों में मिलता है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानन्द थे जो निरंजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। "पर आजकल के निरंजन मत के अनुयायी बहुत कुछ रामानन्दी वैरागियों के समान राम-सीता के उपासक हैं। वे शालिग्राम-शिला और गोमती-चक्र को मान्यता देते हैं।"[1] अपने मेडिवल मिस्टिसिज्म में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "उड़ीसा में अब भी वह निरंजन पंथ जी रहा है जिसने निर्गुण साधना को प्रभावित किया था। यहीं से इस पंथ की शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तों में पहुँची थीं। पश्चिमी भारत में भी इसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है।"[2] डा. हजारीप्रसाद ने अपने 'कबीर' में लिखा है कि 'बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक

निरंजन संप्रदाय

---

[1] भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृष्ठ १८९।

[2] क्षितिमोहन सेन : मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७०७।

धर्ममत है जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं।"[1] उन्होंने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पंथ' में दिखाया है कि एक समय यह धर्म-सम्प्रदाय झारखण्ड और रीवां तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर-मत में गृहीत हो गईं, परन्तु उनका स्वर बदल गया।"[2] "बंगाल में धर्म-पूजा-विधान का एक काफी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ। शुरू-शुरू में धर्म ठाकुर या निरंजन देवता को बौद्ध धर्म के त्रिरत्न में से एक रत्न (धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मत में सन्देह भी किया जाने लगा है।"[3] कबीर पंथ के अध्ययन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि "निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से था।"[4] डा. त्रिगुणायत का अनुमान है कि निरंजन पंथ नाथ-पंथ का ही एक उपसम्प्रदाय है। निरंजन पंथ का अध्ययन इस अनुमान का समर्थन नहीं करता। जिस प्रकार कबीर-पंथ को नाथ-पंथ या निरंजन पंथ का उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते उसी प्रकार निरंजन-पंथ को भी नाथ-पंथ का एक उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते। डा. त्रिगुणायत की यह बात भी उचित नहीं दीख पड़ती कि उत्तरी भारत में निरंजन पंथ का नाम-मात्र अवशिष्ट रह गया है। राजस्थान राज्य में अब भी अनेकों निरंजनी मिलते हैं।

इस्लाम और सूफी मत

कबीर के समय में इस्लाम धर्म इतना प्रबल नहीं था जितना सूफी मत। डा० हजारीप्रसाद का यह कहना ठीक ही है कि "मज़हबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे; पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ कर दिया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय

---

[1] डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ ५२।

[2] डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ ५२।

[3] दे. सुकुमार सेन और पंचानन मण्डल सम्पादित 'रूपारामेर धर्म मंगल' की भूमिका।

[4] दे. डा. हजारीप्रसाद का लेख, विश्वभारती पत्रिका खण्ड ५, अङ्क ३।

निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को एक अननुभूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे"[१] जिसको 'राज और समाज' किसी का आदर प्राप्त नहीं था, किन्तु सूफीमत की आड़ में इस्लाम अपनी सहानुभूति का आकर्षण दे रहा था, उसको केवल स्वीकार करने की देर थी। फिर तो समता और पद सब कुछ प्रस्तुत था। सच तो यह है कि कुछ भारतीय विचारों के आवरण में सूफीमत इस्लाम का पोषक था। यही कारण था कि हिन्दू-समाज इस्लाम का सामना करता हुआ भी सूफीमत का विशेष विरोधी नहीं था। तत्कालीन निर्गुणोपासना की विरह-भावना में जिस तीव्रता का समावेश हुआ वह प्रायः सूफीमत की ही प्रेरणा थी।

तान्त्रिक सम्प्रदाय

अनेक धर्मों का विवेचन करते हुए हम उस समय प्रचलित तान्त्रिक साधना को नहीं भुला सकते। यों तो तान्त्रिक साधना बहुत से सम्प्रदायों और मतों में समादृत हो चुकी थी, किन्तु कबीर के युग में वह अपनी पराकाष्ठा पर थी। उसकी चरमाभिव्यक्ति शाक्त मत में हो रही थी। यद्यपि शाक्तमत अपनी अनेक हेय प्रवृत्तियों के लिए बहुत से लोगों की घृणा भी पा चुका था, फिर भी इसके अनेक सिद्धान्त उस समय की विचार-पम्रपरा और साधना-पद्धति में समाविष्ट हो गये थे। तान्त्रिकों का प्रभाव समस्त भारत में विद्यमाम था, किन्तु शाक्त लोगों का प्रभाव बंगाल और उसके आस-पास के भू-भाग पर विशेष था। शाक्तों को वक्र दृष्ठि से देखते हुए भी कबीर ने उनकी साधना की कुछ बातों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा था, इसीलिए बुराइयों में भी अच्छाइयां मिलने पर उन्होंने उन्हें स्वीकार कर लिया था। कबीर की साधना में वे बातें किस मार्ग से समाविष्ट हुई, यह प्रश्न विचार करने योग्य है। अनुमान किया जाता है कि वे सीधी तान्त्रिकों या शाक्तों से न आकर नाथ-पन्थ के माध्यम से आई थीं। अस्तु, इस प्रश्न पर 'प्रभाव' के अन्तर्गत ही विचार करना सुसंगत होगा।

---

[१] डा० हजारीप्रसाद : कबीर, पृष्ठ १७४–१७५

वेद-विरोधी धर्मों में बौद्ध और जैन धर्म ही प्रमुख थे। बौद्ध धर्म की विकृतियों ने वज्रयान और सहजयान जैसे सम्प्रदायों को जन्म देकर भी अवकाश ग्रहण नहीं किया था। प्रतिक्रियास्वरूप नाथ-पन्थ आदि अनेक मतवाद प्रचलित हो गये थे। इधर जैन धर्म के अन्तर्गत भी सम्प्रदायों का उदय हो गया था। उनकी स्पर्धा की भावना में कटुता के फल लग कर वे न केवल धर्म को खिन्न कर रहे थे, अपितु सामाजिक जीवन को संकीर्ण बना रहे थे। जबकि बौद्धों की अहिंसा हिंसा का रूप ले चुकी थी, जैनों की अहिंसा ने अपने तात्त्विक सौन्दर्य का विसर्जन नहीं किया था। हाँ, वह उपेक्षा और रूढ़ियों के हाथों किसी अंश तक उपहास्य अवश्य हो गई थी। यों तो जैन धर्म भारत भर में फैला हुआ था और उसके अनुयायी किसी न किसी अंश में कम-से-कम नगरों में तो मिलते ही थे, किन्तु राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र में उनका बाहुल्य था।

जैन धर्म

भारतीय धर्म-साधना को सामान्यतः दो प्रमुख धाराओं में बांटा जाता है—वैदिक धारा तथा वेद-विरोधी-धारा। जैन तथा बौद्ध वेद-विरोधी धारा में आते हैं। वेद-विरोधी धारा में चार्वाकों का नाम भी आता है, किन्तु चार्वाक-मत का अधिक विकास न हो सका। कबीर के समय में भी चार्वाक मत उपेक्षित ही था। वेद-विरोधी धारा तो वैदिक युग में भी रही होगी, किन्तु उस समय वह अत्यन्त क्षीण होगी, अन्यथा वेदों का इतना डंका न बजता। महात्मा बुद्ध में यह धारा अत्यन्त शक्तिमान रूप में प्रकट हुई। वैदिक तथा वेद-विरोधी धाराओं का संघर्ष जीवन के अनेक क्षेत्रों में था। संघर्ष के जो कारण तब थे वही कबीर के समय में भी विद्यमान थे।

संक्षेप

कबीर के युग तक आते-आते भारतीय चिन्तन तथा साधना की अनेक धाराओं का उद्गम तथा विकास हमारे सामने आ जाता है। कबीर के युग में भारत दो भिन्न समाजों में विभक्त दीख पड़ता था—एक भारतीय धर्म-साधना का पोषक था और दूसरा अभारतीय धर्म-साधना का। भारतीय धर्म-साधना का पोषक समाज अनेक धर्मों और सम्प्रदायों से क्षत-विक्षत होते हुए भी अपनी सांस्कृतिक एकता रखता था, किन्तु अभारतीय धर्म ने जो समाज तैयार किया था वह भारतीय समाज से एक दम भिन्न था; इसीलिए देश में विरोध का वातावरण था। हिन्दू-धर्म से सूफी मत की सहानुभूति अवश्य दिखाई पड़ती थी,

किन्तु बिल्कुल वैसी ही जैसी कि किसी वृक्ष के पार्श्व में उगी हुई एवं वृक्ष पर छाई हुई लता की, जो वृक्ष की मौलिक शक्ति को स्वयं लेकर उसे हीन करने का प्रयत्न करता है।

हिन्दू-समाज में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनमें वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैदिक कर्मकाण्डी भी थे। इन धर्म-साधनाओं में पारस्परिक विरोध था। जिस प्रकार शिव, विष्णु और शक्ति की प्रधानता को लेकर उनके उपासकों में विरोध का उद्बोधन होता था, उसी प्रकार उनकी साधना भी संघर्ष को जन्म देती थी।

तांत्रिक सिद्धों की साधना अत्यन्त विकृत तथा पापाचार से भरी हुई थी। वे शक्ति की पूजा करते थे। उन्होंने मांसाहार, सुरापान तथा व्यभिचार को साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। इधर उनके आचरण की तो यह दशा थी, उधर वे लोग सामान्य जनता को सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर प्रलोभन से बहकाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की साधना साधकों के पतन के साथ-साथ समाज पर भी बुरा प्रभाव डाल रही थी। परिस्थितियां मानो उद्धार के लिये व्याकुल थीं।

हिन्दुओं में बहुदेवोपासना और मूर्ति-पूजा का प्रचलन था। मूर्ति-पूजा के अनेक विधि-विधान विद्यमान थे। मन्दिर के अनेक पुजारियों के हृदय में संकीर्णता, पाखण्ड और दुराचार का आवास था। बाह्याचार चरम-सीमा पर था। स्नान, छापा, तिलक, माला, वस्त्र आदि के बल पर ही अनेक पाखण्डी भक्त, साधु और महात्मा बने बैठे थे। अज्ञ जनता को बहका कर वे अपना उल्लू सीधा करने में संलग्न रहते थे। इन बाह्याचारों के प्राबल्य और बाहुल्य से सत्य-धर्म अन्धकार में निमग्न हो चला था। श्रद्धा और विश्वास ने अपना स्थान अन्ध भक्ति और दंभ को छोड़ दिया था। वेश की सेवा होती थी। सत्य के परिपोषी को अश्रद्धालु, अधर्मी एवं नास्तिक आदि संज्ञाओं से विभूषित किया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था ने कर्माधार का परित्याग करके जन्माश्रय स्वीकार कर लिया था। शूद्रों को सामाजिक सौभाग्य से वंचित कर रखा था। अन्त्यजों को वेदाध्ययन से ही परिवारित नहीं कर रखा था, अपितु उन्हें मन्दिरों तक में प्रवेश नहीं मिलता था, मानो धर्म का ठेका कुछ ही लोगों को मिला था।

उनका स्पर्श तक दूषी समझा जाता था। उनके कुंए भिन्न थे, उनके मोहल्ले अलग थे। हिन्दुत्व की सीमाओं में उन्हें कहीं मुक्ति नहीं दीख रही थी। इस्लाम के द्वार के भीतर उन्हें अपने दुर्भाग्य से मुक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। इसीलिए अवर्ण लोग मुसलमान होते चले जा रहे थे। जो लोग इस्लाम को नहीं भी चाहते थे, वे भी तत्कालीन हिन्दुत्व से ऊब गये थे। अतएव समय किसी ऐसे धर्म अथवा पंथ की अपेक्षा रखता था जिस पर चलने का सब को अधिकार हो। यद्यपि बौद्ध-धर्म में किसी समय ऐसे लोगों को आकर्षण मिल सकता था, किन्तु उस समय वैदिक धर्म की उदारता ने उस आकर्षण को मन्द कर दिया। कबीर के समय में वैदिक उदारता रूढ़ियों में बंध करसं कीर्णता में परिणत हो गई थी। उस समय बौद्ध धर्म अपनी विकृतियों को छोड़कर लुप्त हो गया था। जितने मत-मतान्तर उस युग में प्रचलित थे वे भी अनेक विकृतियों का आवास बन रहे थे, किन्तु नाथ-पंथ जैसे सम्प्रदाय भी विद्यमान थे जिनमें चाहे और कितनी ही खराबियां रही हों, उन्होंने जाति-पांति के बन्धन को तोड़कर एक नई सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया था जिसमें वेदों, मन्दिरों और वेश-भूषा को कोई महत्व नहीं दिया गया था। ऐसे सम्प्रदायों में दलित वर्ग के लिए आकर्षण था। इसीलिए निम्न वर्ग के लोगों पर नाथ-पंथ का इतना व्यापक प्रभाव था; किन्तु उसमें बुद्धि के साथ हृदय के समन्वय को तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकी थी, अतएव अब भी एक अभिनव समन्वित सहज धर्म की आवश्यकता थी।

व्यवसाय और व्यापार

उस समय के लोग या तो सरकारी नौकरियों द्वारा या स्वतन्त्र व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। मुसलमान शासकों की नीति चाहे कुछ भी रही हो, किन्तु छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारी प्रायः हिन्दू ही थे। यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े हाकिमों के मुसलमान होते हुए भी छोटे-छोटे कर्मचारियों के बिना जो हिन्दू ही हो सकते थे, मुसलमान शासकों का काम नहीं चल सकता था। पटवारी, लेखपाल, कोषाध्यक्ष और जिले के अन्य कर्मचारी अनिवार्यतः हिन्दू होते थे तथा गवर्नर और जिले के हाकिम मुसलमान होते थे। मुसलमान शासकों ने केवल न्यायाधिकार अपने हाथों में ले रखा था, किन्तु इस्लाम धर्म से सम्बन्धित कानून के अधिकारी काजी ही होते थे।

यह समझना उचित न होगा कि व्यापार हिन्दुओं के हाथ से मुसलमानों के हाथ में पहुंच गया था। यह ठीक है कि मुसलमान भी व्यापार करने लगे थे,

किन्तु मुसलमान आक्रमणकारी सैनिक साहसिकता के पक्षपाती थे, अतएव वे व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यापार शैली जिसमें 'हुंडी' का विशेष महत्व था एवं जिसमें 'उधारखाता' अपना विशेष महत्व रखता था उनके लिए रहस्य था। इसमें सन्देह नहीं कि व्यापारी जातियों के लाभ का अधिकांश सरकारी कोष एवं हाकिमों की जेबों में जाता था, किन्तु हिन्दू बनिया आज की भांति ही सामाजिक ढांचे का एक आवश्यक अंग था।

हिन्दू-आय का अधिकांश धन कर में चला जाता था। अधिकांश जनता दीन थी। प्रजा के बहुत से लोग स्वतन्त्र व्यवसाय से ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। हिन्दुओं के बहुत से व्यवसाय मुसलमानों ने भी अपना रखे थे। इसका एक कारण यह भी था कि धर्मान्तरण के उपरान्त भी बहुत से व्यवसायियों ने अपने व्यवसाय नहीं छोड़े थे।

हिन्दू-लोग सामाजिक उच्चता को व्यवसाय के माप-दण्ड से नापते थे। उनकी दृष्टि में धर्म और व्यवसाय में एक सम्बन्ध था, किन्तु मुसलमानों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में स्पष्ट था। वे धर्म और व्यवसाय को भिन्न मानते थे। पुजारियों और पण्डों ने धर्म को व्यवसाय बना लिया था, इसलिए उसका सहज औदार्य और चारित्र्य गुण विलीन हो चला था। संकीर्णता, दंभ और पाखण्ड के विकास का यही मूल कारण था।

: ४ :

साहित्यिक वातावरण

कबीर के प्रादुर्भाव-काल में भारतीय जीवन में वह स्पन्दन नहीं था जो साहित्य की प्रेरणा बनता है। क्रूरता और उत्पीड़न के बीच आकर्षण और आशा में विकलता का अवशेष मात्र था। जहाँ भय और अशान्ति का साम्राज्य हो, जहाँ दरिद्रता और निराशा से लोग व्याकुल हों, जहाँ जीवन दंभ और पाखंड से क्षुब्ध हो, जहाँ राजनीतिक कुचालों से हृदय विषाक्त हो रहा हो और जहाँ अनिश्चय का अंधकार छा रहा हो, वहाँ साहित्य कैसे पनप सकता है? ऐसे युग में वीर-पूजा से भी अधिक वैराग्य को अवसर मिला। वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था, जिसमें वैराग्य और उपदेश का स्वर अधिक ऊंचा रहा। वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान जैसे सम्प्रदायों के अनुयायी अब भी अपनी साधनाओं में निरत रहते थे। उनको अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की ही चिन्ता थी। यदि उनका समाज से कोई सम्बन्ध था तो अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध से। जहाँ उनके सिद्धान्त नहीं थे वहाँ उनकी घृणा थी। सिद्धों और नाथों की वाणियों में अनेक स्थानों पर ऐसे स्वर का उद्वेलन भी होता दीखता है जिसमें सन्त-वाणी का बीज दीख पड़ता है। ऐसी बात नहीं कि सन्त-वाणी अपनी पूर्व वाणी से सर्वथा साम्य ही रखती थी, वह उसका विरोध भी करती थी। विरोध के स्वर में सन्तों ने अपने पूर्ववर्तियों को 'संशयग्रस्त' एवं 'माया-निरत' बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि सन्त-मत अपनी स्वतन्त्रता में प्रकट हुआ।

नामदेव, त्रिलोचन, सदना आदि ने सन्त-वाणी-परम्परा को और आगे बढ़ाया। इन वाणियों में ब्रह्म, माया और जीव से भी अधिक जगत और शरीर की अस्थिरता के वर्णनों और उपदेशों की प्रचुरता थी। बंगाल में गीतगोविंद के रचयिता जयदेव ने अपनी मौलिक उद्भावना से एक नई शैली को जन्म देकर ब्रह्म-निरुपण की धारा को मानो एक नई दिशा प्रदान की थी, किन्तु उस समय

उसकी गणना सन्त-साहित्य के साथ की जाती थी। कबीर की वाणियों में इन दोनों धाराओं का मिलन स्पष्ट है। कुछ लोग कबीर को सन्त-मत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु उनको सन्तमाला की उज्ज्वल मणि ही कहना समीचीन होगा। उन्होंने साहित्य को जो कुछ दिया वह 'सार-संग्रह' के रूप में ही था।

उस समय साहित्य में काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानों का उपयोग कम अथवा नाममात्र के लिये ही होता था। प्रबन्धकाव्य तो बहुत ही कम रचे जाते थे। मुक्तक क्षेत्र में था। आबद्ध परम्परा के पुजारी ही कुछ करते दिखाई देते थे। जिस प्रकार जैनों और चारणों के स्वर में कोई प्रगति नहीं दीख पड़ती थी उसी प्रकार सन्त वाणियों में भी गतानुगतिकता ही प्रमुख थी। उन का प्रचलन मुक्तक रुप में ही था।

साधारणतया साहित्य में जीवन के प्रवृत्ति-मूलक तथा निवृत्तिमूलक, दोनों ही दृष्टिकोण विद्यमान थे। पहले से लौकिक साहित्य का सृजन हो हो रहा था और दूसरा वैराग्य तथा अध्यात्म-संबधी काव्य को प्रेरित कर रहा था। जिस प्रकार नागार्जुन के शून्यवाद ने निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को प्रेरित किया था उसी प्रकार शंकर के मायावाद ने भी उसे प्रोत्साहन दिया था। इसके अतिरिक्त राजनीति के विक्षुब्ध वातावरण तथा समाज की विषमताओं ने भी निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को ही अग्रसर किया था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वीर-वन्दना का प्रचलन अब भी था। सामन्ती दरबारों में शास्त्रीय दृष्टि से कविता करनेवाले कवियों का अभाव नहीं था और वहां उनको पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त होता था, किन्तु कला-प्रदर्शन की भावना ही उनकी रचनाओं में प्रमुख थी। जिस प्रकार इस समय संस्कृत में काव्य-शास्त्र और नायक-नायिका-भेद की रचनाएं बढ़ रही थीं, उसी प्रकार दरबारी कवि भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र को अपनी कृतियों से समृद्ध बना रहे थे। वे यश और अर्थ के लोभ से कला-कौशल के नवीनतम रूप पर ही दृष्टि रखते थे। अभिप्राय: यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोजनसाध्य था। सन्त-काव्य मत-प्रचार के लिए निर्मित हो रहा था और दरबारी कवि अपने सामन्तों की विरुदावली में अपनी कला का चमत्कार दिखाने में ही अपने को कृतकृत्य मानते थे, किन्तु ऐसे कवि भी अधिक नहीं थे।

देश के अनेक भागों में, प्रमुखतया पश्चिमी भाग में, जो जैन साधु साहित्य-सर्जना में तत्पर थे उनकी रचनाओं को मूल प्रेरणा धार्मिक प्रचार और कला-कौशल के प्रदर्शन के लोभ से मिलती थी; इसलिए वे प्राचीन कृतियों के नवीनीकरण से ही प्रायः तोष-लाभ करते थे।

कबीर के पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णाश्रम का प्रचुर विरोध दिखाई पड़ता है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ ही भारतीय साहित्य में इस विरोध का प्रजनन हो गया था। सिद्धों ने उसे कम न होने दिया। भारत में इस्लाम के जमने पर उसको अधिक उत्तेजना मिली। उस समय की अधिकांश रचनाएं समाज को विभाजित करने का प्रयत्नमात्र हैं। सन्त-वाणी के अतिरिक्त उसको एक सूत्र में बांधने का प्रयास किसी दिशा से नहीं हुआ।

यदि यह कहा जाय कि उस समय साहित्य-निर्माण शक्तिहीन हो गया था, तो कुछ अनुचित नहीं। यह कहना तो ठीक नहीं कि लोक में अनुभूति प्रदान करने वाला वातावरण नहीं था, किन्तु अनुभूति को व्यक्त करने वाली शक्ति-मयी प्रतिमा का मानो अकाल पड़ रहा था। मौलिक सृजन-शक्ति के अभाव में अनुभूति की कोई गति नही थी।

उस समय संस्कृत भाषा सामाजिक जीवन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुकी थी। यद्यपि त्रावनकोर से कश्मीर तक संस्कृत अब भी विद्वानों और दार्शनिकों की भाषा बनी हुई थी, किन्तु सिद्ध-सम्प्रदाय ने देश के तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में बड़ी क्रान्ति पैदा कर दी थी। उसने न केवल संस्कृत भाषा के मूल पर आघात किया, अपितु जन-भाषा के विकास में बहुत बड़ा योग दिया। इन्हीं के हाथों में एक नई अभिव्यंजना-शैली को भी जन्म मिला जिसको विद्वानों ने 'संध्या भाषा' कहा है। अपभ्रंश के भग्नावशेष उनकी लेखनी में अब भी निहित थे। मुसलमानों के सम्पर्क ने भी लोक-भाषाओं को बड़ा प्रोत्साहन दिया था। गुजराती, बंगाली, मराठी, मारवाड़ी और ब्रज-भाषाएं अपभ्रंश की गोद में अपना रूप संवार रही थीं।

'संध्या भाषा' कोई भाषा नहीं थी। वह तो एक शैली थी जिसमें उलटे अर्थों का प्राधान्य था। नाथों और तांत्रिकों में इसका बहुत प्रचलन था। इसमें वाच्यार्थ को बाधित करके कोई संकेतिक अर्थ ग्रहण किया जाता था।

यह शैली साम्प्रदायिक शैली थी जो केवल सीमित क्षेत्रों में प्रचलित थी। साधारण क्षेत्रों में इसके संकेतों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि इसके रूढ़ार्थ कभी-कभी घोर गर्हणीयता तक पहुंच जाने से इसमें लोकप्रियता नहीं थी।

'सन्ध्या भाषा' ने एक ओर तो अपने प्रवर्तकों के आचरण की कलई खोली और दूसरी ओर साहित्य की प्रतीक-पद्धति को आगे बढ़ाया। उसी से उलटबांसियों का प्रचलन हुआ। यों तो प्रतीक-प्रयोग कोई नयी चीज नहीं थी और न उलटबांसियों में ही कोई नवीनता थी। कूट और विरोधाभास में इनका बीज-दर्शन हो जाता है, किन्तु शैली के रूप में इनमें नूतनता अवश्य थी।

उस समय की शब्दावली में विविधता थी। यद्यपि योग, तन्त्र, आदि से संबंधित उक्तियां प्रायः विदेशी शब्दों से मुक्त थीं, किन्तु सन्त-वाणियों को फारसी-अरबी के अनेक शब्दों ने भाषा के शब्दों में मिल कर निर्वर्गीय रूप दे दिया था। इन शब्दों के प्रचलन के लिए प्रायः मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क ही उत्तरदायी था। सूफीमत के प्रचार और राजनीतिक परिस्थितियों ने भी उक्त शब्दों के प्रचलन को आगे बढ़ाया था। सम्मिलित समाज के ढांचे में इनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं था। लोक-व्यवहार से आये हुए विदेशी शब्दों को तत्कालीन सिद्धानुयायी जिनके हृदय में संस्कृत के विरोध की भावना निहित थी, बड़े उत्साह से देखते थे।

उस समय की भाषा का निर्णय करना आज के आलोचक की समस्या है। अपभ्रंश अपना दायित्व अपनी बोलियों को सौंप चुकी थी, किन्तु प्रमुखता पाने के लिए उनमें प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। शौरसेनी या महाराष्ट्री अपभ्रंश की भांति अभी किसी बोली को प्रामुख्य नहीं मिला था, इससे कोई भाषा अभी तक साहित्यिक भाषा की स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकी थी। जैन और चारण कवि अब भी अपभ्रंश का पल्ला पकड़े हुए थे। बोलियों में अपभ्रंश का पूरा पुट था। विद्यापति ठाकुर जैसे कवि भी अपनी भाषा में अपभ्रंश का पुट दे रहे थे। हां, सन्तों ने अपनी वाणियों में एक नयी परंपरा को जन्म दिया था जिसमें अनेक प्रमुख बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण की स्वीकृति थी। उनकी भाषा को विद्वानों ने 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। 'सधुक्कड़ी' शब्द सन्तों की भाषा को साधारण भाषा से पृथक् कर देता है।

मिले-जुले शब्दों के प्रयोग से बनी हुई भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम यदि 'हिन्दुस्तानी' जैसे अर्थ में दिया जाता है तो उसमें निहित लोक-तन्त्रता के प्रति संकेत स्पष्ट हो जाता है। अनेक स्थानों में भ्रमण करने वाले एवं अनेक स्थानों से सम्बन्धित शिष्यों के संपर्क में आनेवाले साधुओं की वाणियों में मिले-जुले शब्दों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक था। सन्तों की वाणी में प्रति-स्पर्धी भाषाओं की एकता और व्यापकता का स्वर था। यद्यपि उनकी यह कामना आज तक सफल नहीं हो पायी, किन्तु अनेक बाधाओं के गर्भ में प्रयत्न अब तक चल रहे हैं और वह दिन बहुत दूर नहीं जब कि सन्तों का स्वर देशव्यापी भाषा की एकता में मिले-जुले शब्दों से प्रतिध्वनित होगा।

अभी तक छन्द-क्षेत्र में कोई नवीनता नहीं आयी थी। दोहा, चौपाई, सबद, रमैणी, गीत, बानी आदि का प्रयोग रूढ़ हो गया था। इन्हीं को प्रमुख सन्तों के शिष्य-प्रशिष्य जहां-तहां गा-गा कर लोगों को मुक्ति का साधन बताते फिरते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह तानपूरे का साहित्य था।

गीतों का जो रूप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचलित था वह अब बदलने लगा था। 'गीतगोविंद' ने गीत की एक नयी शैली और नयी परम्परा को जन्म देकर लोक-भाषाओं के क्षेत्र में गीत के लिए एक अभिनव वातावरण उत्पन्न कर दिया था। विद्यापति के पद उसी का परिणाम थे। यद्यपि सिद्ध लोग ही पद-शैली का प्रचलन कर चुके थे, किन्तु विद्यापति से पूर्व पदों को केवल साम्प्रदायिक स्वीकृति ही मिली थी। विद्यापति ने उनको साहित्यिक स्वीकृति देकर उनके इतिहास में एक नूतन अध्याय को प्रारंभ कर दिया था। उसी परम्परा का निर्वाह, कुछ अधिक विस्तार से, सन्तों ने किया।

तत्कालीन पदों को देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत का विरोध सिद्धों के सम्प्रदाय में भी नहीं रह गया था। उस समय पद स्वयं एक छन्द बन गया था, किन्तु दो पदों में मात्रा-भेद अथवा राग-भेद हो सकता था। लोक-भाषाओं में पदों को प्रायः भक्ति, वैराग्य आदि के क्षेत्र में ही अधिक महत्व मिला था। यों तो विद्यापति के बाद भी पदों में शृंगार-रचना हुई, किन्तु उनके प्रसार में भक्ति और अध्यात्म का धरातल ही प्रमुख रहा।

उस समय का सर्वप्रिय छन्द दोहा था जो लोक-भाषाओं को अपभ्रंश से मिला था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक तो वह राजा से रंक तक, सभी का कंठहार बन गया था और उसकी उपयुक्तता सभी रसों में स्वीकार करली गयी थी। सभी धर्मों, सम्प्रदायों और वर्गों ने इसका स्वागत करके इस छन्द को साहित्यिक ही नहीं, प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी अनिवार्य बना दिया था। यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि 'दोहा' को सिद्धों से भी अधिक जैनों और चारणों से परिपोषण प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि दोहा की सरलता उसकी लोक-प्रियता का प्रमुख कारण थी। उसने कलात्मक भेद-उपभेदों में भी जिस प्रकार अपनी लोक-प्रियता को अक्षुण्ण रखा उसी प्रकार सरलता को भी। सच तो यह है कि दोहा लोक-जीवन का एक अंग बन गया था। इसको सबसे बड़ी सहायता चौपाई और चौपई से मिली। ऐसी बात नहीं कि वह चौपाई या चौपई से अलग रहा ही नहीं, किन्तु अनेक प्रबन्ध काव्यों में उसको प्रायः उन्हीं का साथ मिला। रमैणियां भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह समय सांस्कृतिक संघर्ष का समय था। युग प्रवृत्तियां ऐसे वातावरण की प्रतीक्षा कर रही थीं जिसमें आदान-प्रदान की संभावनाएं बढ़ें तथा अस्थिर और निराश जीवन को सान्त्वना मिलि। कबीर से पूर्व के काव्य में जीवन और समाज में समरसता लाने वाली शक्ति का अभाव था, प्रायः प्रयत्नों का प्रवाह विपरीत दिशा में था। इसलिए लोक-जीवन को कबीर की 'वाणी' की बड़ी आवश्यकता थी।

●

: ५ :

वातावरण का प्रभाव : क्रिया और प्रतिक्रिया

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर का समय भारतीय इतिहास में अत्यन्त अशान्ति का समय माना जाता है। शासकों की अदूरदर्शिता, अमीरों की दलबन्दी, देशी राजाओं और प्रान्तीय सूबेदारों की विद्रोह-भावना और इन सबकी परम्परा में तैमूरलंग का प्रलयकारी आक्रमण—ये सब ऐसी बातें थीं जिनसे तत्कालीन राजनीतिक वातावरण विषाक्त हो गया था। देश की राजकीय एकता के छेद-विच्छेद से दिल्ली नष्ट हो गयी थी और अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने स्वाधीन होकर मनमानी करना प्रारम्भ कर दिया था। इधर दुर्भिक्ष और महामारी के प्रकोप से सहस्त्रों व्यक्ति काल कवल बन गये थे। धन-जन के विनाश और राजनीतिक अस्थिरता के कारण जनता में व्याकुलता फैल रही थी।

कबीर ने राजनीतिज्ञ न होते हुए भी दूषित राजनीति को बड़े दुःख और क्षोभ से देखा था। क्रूर राजनीति उनकी आंखों की जलन थी। शासकों को देश के टुकड़ों की चिन्ता नहीं थी, अकाल और महामारी की चिन्ता नहीं थी, प्रजा के सुख दुःख की चिन्ता नहीं थी। यदि उनको कोई चिन्ता थी तो यह कि उनके प्रभुत्व की रक्षा या वृद्धि कैसे हो। वे अपनी-अपनी प्रभुता के लिये प्रजा का कैसा ही बलिदान कर सकते थे। उनकी ऐश्वर्य लोलुपता के पीछे कोई मंगल भावना या नैतिक सिद्धान्त नहीं था। आकांक्षा की कोई दिशा अथवा आशा की कोई किरण किसी भी विभीषिका को स्वीकृति दे सकती थी। नरसंहार से वे हिचकते नहीं थे क्योंकि वह तो उनकी दैनिक क्रीड़ा बन गया था। ऐसी बात नहीं कि अच्छे शासक थे ही नहीं। थे अवश्य, किन्तु इने-गिने थे जो देश के दुर्दिन की बाढ़ को बड़ी व्यग्रता से देखते थे। धोखा, छल, कपट, क्रूरता, विलास आदि राजनीति की ऐसी लहरें थीं जो युग के प्रवाह में कहीं भी दृष्टिगोचर हो सकती थीं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समग्र देश में एक उद्दाम लू चल रही थी जिसका दाह भयंकर एवं व्यापक था। उससे छोटे बड़े, गरीब-अमीर, सब पीड़ित थे। पसीना बहाकर दैनिक आजीविका का उपार्जन करने वाले लोग तक नृशंसता का शिकार बन रहे थे। उनकी मुक्ति उपेक्षा से भी सम्भव नहीं थी, सम्भव तो वह तब होती जब स्वयं उपेक्षा असंभव न होती। विशेष करों ने सामाजिक एकता को विक्षुब्ध करके चूर चूर कर डाला था। धार्मिक विडम्बनाएं राजनीति का अंग बन रही थीं। कबीर भी उस पीड़ित समाज के एक अंग थे। पीड़ा ने उन्हें सचेत किया था और दलितों की कराहों ने बल दिया था। उन की भर्त्सनाओं में समाज का क्षोभ था और उनकी विरक्तोक्तियों में उसकी निराशा थी।

अभी कहा गया है कि राजनीतिक वातावरण को विषाक्त बनाने में धार्मिक विषय का भयंकर हाथ था। तत्कालीन राजनीति को बहुत अंश तक मुल्ला और पुजारी प्रेरित करते थे। हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक विवादों के अतिरिक्त हिन्दुत्व के भीतर भी मतान्तर ईर्ष्या और द्वेष का बोल बाला था। एक ओर शंकर और कुमारिल के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म अन्तिम सांसें ले रहा था, दूसरी ओर जैन, शैव और वैष्णव धर्मों के भीतर अनेक उपसम्प्रदाय संगठित हो रहे थे। भारत में दक्षिणी और पश्चिमी नाथ-पंथियों का अधिक जोर था और योगी, जती, सन्यासी शाक्त आदि सब पारस्परिक संघर्ष में व्यस्त थे। देश या सामाजिक जीवन की एकता की चिन्ता किसी को नहीं थी। उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में एक क्रान्ति को जन्म देकर जाति-पांति के तने को हिलाकर देखा था और पश्चिम की ओर नामदेव घूम घूम कर बारकरी सम्प्रदाय के प्रचार में संलग्न थे जिससे मालवा, राजस्थान तथा पंजाब में उनके अनेक अनुयायी बन गये थे।

बौद्धों का सहजयान सम्प्रदाय लुप्त प्राय: होता हुआ भी अपने विकृत रूप को बंगाल में छोड़ गया था। इस्लाम के मुल्लाओं और क़ाजियों ने अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच गहरी खाई खोद दी थी। इस समय तक सूफी-सम्प्रदाय चिश्तिया और सुहर्वर्दिया शाखाओं को जन्म देकर अपने प्रचार को बढ़ाने में लगा हुआ था। चिश्तिया शाखा के फकीर अहमद साबिर (मृ० सं० १३८२) ने उत्तर प्रदेश के पश्चिमी

भाग में अपनी साबिरी शाखा की नींव डाली थी और 'सुहर्वादिया शाखा' के शेख तकी (सं० १३७७—१४८६) ने अपने अपने उपदेशों का प्रचार उत्तर प्रदेशों के पूर्वी भागों में किया था। बंगाल सहजिया सम्प्रदाय ने वैष्णवों पर अपना जादू डाल दिया था जिससे वहां वैष्णव सहजिया संप्रदाय की नींव पड़ रही थी और मैथिल कोकिल ने धर्म में एक नए स्वर को प्रशस्त किया था। ऐसे वातावरण में कुछ ऐसे विचार भी पनप रहे थे जो धार्मिक संघर्ष और संकीर्णता से ऊँचे उठकर एक नए पथ की ओर संकेत कर रहे थे। उन्हें केवल एक प्रौढ़, प्रवर्तक और कर्मठ संचालक की आवश्यकता थी जो युग की भयानकता में होकर उनको आगे बढ़ाता। यह मार्ग भी किसी धर्म निन्दा से असम्भव था। वह तो सब धर्मों के सार-ग्रहण से ही बन सकता था। वही स्थायी और सार्वभौम मार्ग हो सकता था।

कबीर ने समाज की दुर्बलता को बड़ी करुणा से देख कर उसे निकालने के मौलिक प्रयत्न किए थे। भय, भर्त्सना और भक्ति उनके ऐसे अस्त्र थे जिससे वे राजनीतिक विभीषिकाओं और सामाजिक विषमताओं के शत्रु को परास्त करना चाहते थे। जिस शरीर पर मनुष्य इतना गर्व करता है, जिस वैभव के लिए वह इतने अत्याचार करता है, जिसकी गहरी नींव डालने के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है वे भंगुर हैं। इसीलिए वे बोले:—

"कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड।
हैंवरि ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड॥
कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मंड़ाण।
सबहीं ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान॥"

परिवर्तन की लहरों के क्षणिक बुदबुदों पर गर्व करना व्यर्थ है। यह शरीर धूल की पुड़िया है जो चन्दरोज़ा है। कुछ ही दिनों में यह खाक में मिल जायेगा। कबीर विस्मित हैं कि जन्म-मरण को देखकर भी मानव अपने क्रूरकर्म नहीं छोड़ता, इसलिए कबीर उपदेश देते हैं कि ऐसे कर्मों से बच कर उचित आचरण करना चाहिए:—

"कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी जू बांधी एह।
दिवस चारिका पेषणां, अंति षेह की षेह॥
जांमण मरण बिचारि करि, कूड़े कांम निबारि।
जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ संवारि॥"

एक दिन सबको इस दुनिया से कूच करना है। जो राजा राणा या छत्रपति अपने अधिकार या पद के मद में विचूर्ण होकर अपने प्रस्थान को भूल रहे हैं, उनको सावधान हो जाना चाहिए:—

"इक दिन ऐसा होइगा, सबसूं पड़ै बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होय ।।"

इस प्रकार कबीर काल के डंके की कर्कश ध्वनि सबको सुनाते हैं और समझाते हैं कि गजेन्द्रारोहण, छत्रधारण, वैभव-विलास, उच्च आवास, ये सब एक दिन नष्ट होने वाले हैं। इतने पर भी जो अपने मार्ग को नहीं पहचानते उन मूर्खों को कुछ कहना व्यर्थ है। जिनको लोक-वैभव का गर्व है वे केवल गर्व का भार वहन करते हैं। दुनिया की कोई वस्तु, विलास की कोई सामग्री हमारे साथ नहीं जायेगी। जो लोग दुनिया को ही सब कुछ मान बैठे हैं उनकी तुलना कबीर उस गाफिल से करते हैं जो अपने ही पैरों में कुल्हाड़ा मार लेते हैं:—

"दीन गंवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथि।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ।।"

यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता, इसकी सफलता और सार्थकता हरि-भक्ति में है, अन्यथा वह व्यर्थ है:—

"कबीर हरि की भगति करि, तजि बिषिया रस चोज।
बार-बार नहीं पाइए, मनिषा जनम की मौज ।।"

इस प्रकार कबीर न केवल अपने मार्ग को प्रशस्त करते हैं, अपितु उनके मार्ग का भी निर्देशन करते हैं जो भ्रान्त या उन्मत्त हैं। अधिकार, यौवन या वैभव के मद से प्रमत्त लोगों को वे ऐसे संकेत करते हैं जो उनकी दुर्नीति के विसर्जन में सहायक हों।

यह ठीक है कि कबीर के वैराग्य में परंपरा की कड़ी दीखती है, किंतु उसमें चेतावनी का संकेत भी स्पष्ट है। उसमें युग-प्रवर्तन और क्रांति के अमोघ लक्षण दीख पड़ते हैं यह भुला देना चाहिए कि कबीर के पथ को उनकी भक्ति ने निर्मित किया था। सच तो यह है कि उनकी प्रेरणा में युग की अभ्यर्थना थी, अत्याचार को सकरुण विकल हृदय की चुनौती थी।

कबीर का लक्ष्य संयत एवं संतुलित जीवन में निराशा का संचार करना नहीं था, अपितु ऐसे जीवन के प्रति आशा पैदा करना था। जिन लोगों का दुर्नम अनाचार की सीमा लांघ चुका था और जिनके निष्करुण अहंकार की विस्फोटमयी ज्वालाओं में प्रलय का भयंकर अभिनय था, उनको उनके कुकर्मों के प्रति निराश करना ही कबीर की वैराग्योक्तियों का प्रधान लक्ष्य था।

अपने समय में कबीर को भक्ति ही में एक ऐसा मार्ग दीख पड़ा जिसमें विषमता का निवारण कर समता एवं सन्तुलन स्थापित करने की क्षमता थी। भक्ति की शक्ति ही गर्व के उन्माद का उपचार एवं दलितों की निराशा का अपहरण कर सकती थी। इसी भक्ति में कबीर को अपने लिए एक शक्ति का प्रकाश दिखाई पड़ा और इसी में उन्हें वह दिशा दिखाई पड़ी जो समाज की एकता के पथ को संकेतित कर रही थी। उनकी विरक्तोक्तियाँ उसी पथ की सीढ़ियाँ थी। अतएव कबीर की भक्ति में आशा-निराशा, आकर्षण विकर्षण तथा भय और प्रेरणा का अद्भुत सामंजस्य खोज लेना कठिन नहीं है, क्योंकि दो विपरीत बिन्दु आक्षिप्त दशा में एक ही सरल रेखा में, एक पथ में प्रलीन हो जाते हैं। अतएव यह कह देना अनुचित नहीं है कि उनमें से एक दूसरे में खो जाता है। भक्ति सांसारिक आसक्ति को परमात्मा की आसक्ति में विलीन कर देती है जिससे दर्प का निपात, अनेकता का विलय और एकता का आविर्भाव होता है। कहना न होगा कि कबीर की भक्ति-भावना के मूल में सामाजिक एकता की प्रेरणा ही थी।

यदि यह सत्य है कि 'परमात्मा के प्रति परम प्रेम का नाम ही भक्ति है' तो यह भी सत्य है कि भक्ति को सामाजिक प्रेम के रूप में अंकुरित भी देख सकते हैं। कबीर की भक्ति में दो दिशाओं से आनेवाली प्रेम-परंपराओं का मिलन है। एक तो भारतीय प्रेम-परम्परा और दूसरी सूफी प्रेम-परंपरा। दोनों की पद्धतियां भिन्न होती हुई भी उनका लक्ष्य एक ही है।

भारतीय भक्ति-परम्परा में भी भक्ति की दो धाराएं मानी गई हैं—एक तो भावप्रधान और दूसरी ज्ञानप्रधान। भावप्रधान भक्ति में साधक अपने हृदय की सारी कामनाएं, अपने मन की समस्त प्रवृत्तियाँ अपने इष्टदेव के चरणों में अर्पित कर देता है और आत्मसमर्पण के भाव में ही वह

परमानन्द का अनुभव करता है। इसको प्रेमाभक्ति भी कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र का यह प्रेम ईश्वर-सान्निध्य का एक मार्ग है। इसमें प्रेमी अपने को प्रिय के प्रेम-बन्धन में बांध लेता है और इतना कस कर बांध लेता है कि उसका अपना अस्तित्व ही प्रिय में डूब जाता है, दुई मिट जाती है और एकता के भाव का अपूर्व उन्मेष होता हैं। शास्त्रीय परिभाषा में इसको कुछ भी कहा जाये; किन्तु है यह वही दशा है जिसे ज्ञानी अद्वैतावस्था कहते हैं। भाव और ज्ञान की परम परिणति एक ही स्थिति में एक ही दशा में होती है। इस स्थिति पर पहुँच कर भक्ति और ज्ञान का अन्तर मिट जाता है।

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि कबीर के प्रेम का प्रादुर्भाव तत्कालीन समाज की दुर्दशा से हुआ। उनकी करुणा ही अन्ततोगत्वा भक्ति में परिणत हुई। खंड को अखंड और त्रस्त को आश्वस्त करने की प्रेरणा के पीछे उनका करुणाजन्य प्रेम था। इस प्रेम का मूल स्वर एकता था और यही उनकी भक्ति का स्वर था। कदाचित् कबीर के सामने एकता की समस्या को हल करने के लिए एक द्विविधा रही होगी, उनके समक्ष एक भयंकर प्रश्न रहा होगा कि वे प्रेम-क्षेत्र में किस पथ को अपनायें—भारतीय भक्ति-मार्ग को अथवा सूफी-प्रेम-मार्ग को। एक में आलंबन साकार और सलील था और दूसरे में आरोपित। एक के समर्थन में दूसरे का विरोध निहित था। कबीर का लक्ष्य विरोध का मिटाना था, इसलिए वे किसी एक मार्ग को लेकर नहीं चल सकते थे। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दोनों ओर से प्रेम-साधना के तात्विक उपकरण संकलित किये और दोनों के विरोध को निर्गुण भक्ति में विलीन कर दिया।

कबीर की निर्गुण भक्ति का स्वरूप भारतीय भक्ति-धारा के बहुत समीप था। भारतीय भक्ति-धारा के दो रूप अन्यत्र कहे गये हैं। उनमें से एक ज्ञानप्रधान भी था। कबीर की भक्ति इसी के अन्तर्गत आती है। जिस समय हम भक्ति के इस रूप पर विचार करते हैं तो सहसा गीता के उस भक्त का स्मरण हो आता है जिसके लिए 'ज्ञानी'[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ज्ञान और भक्ति के सामंजस्य की ओर संकेत करता है। यही सामंजस्य कबीर की निर्गुण भक्ति की आधार-शिला है। यहाँ ज्ञान का महत्त्व भक्ति के लिए ही है।

---

[1] तेषां ज्ञानी मम प्रिय.

कबीर की भक्ति को देखते समय विशेष ध्यान देने की बात यह है कि निराकार के समर्थक कबीर अपनी वाणी में साकार को नहीं भुला सके हैं। 'ना जसरथि घरि औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा'—कहने वाले कबीर ही उस स्वरूप से संबंधित अनेक उदाहरण दे जाते हैं जो साकार की प्रतिष्ठा में ही अधिक सहायक होते हैं, जैसे—

"राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसो भाव बिदुर को देख्यो, बहु गरीब मोहि भावै।
(दुर्योधन) हस्ती देखि भरम ते भूला हीरभगवान न जाना[1]।"

और

"महापुरुष देवाधिदेव नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहलाद उबारयो अनेक बार[2]॥"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीर को सगुण और निर्गुण की विशेष चिन्ता नहीं थी, चिन्ता तो उन्हें उस सामाजिक खाई की थी, जो उनके कारण उत्पन्न हो सकती थी। क्योंकि साकारोपासना अवतारवाद और बहुदेववाद का समर्थन करती है जिसका तालमेल इस्लाम के 'एकेश्वरवाद' से बिल्कुल नहीं बैठता। कबीर के युग में एकता एक समस्या थी। उसका हल खोजना कबीर अपना कर्तव्य समझते थे। निर्गुण-पंथ उसी हल को प्रस्तुत करता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि एक नये पंथ को चलाने के लिए ही कबीर ने निर्गुण-भक्ति को पुरस्सर किया था। उनकी इस भक्ति में तथ्य केवल इतना है कि कबीर ने एक नया पंथ चलाया और उसमें निर्गुण-भक्ति का प्रमुख स्थान रहा, किन्तु कबीर-पंथ में निर्गुण भक्ति की मान्यता पंथ के आग्रह से नहीं थी, समस्या के हल के निमित्त थी। कबीर पंथवादी थे, यह समझना भ्रम होगा, किन्तु यह सत्य है कि उन्हें नया पंथ चलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी क्योंकि वे एकतावादी थे। निर्गुण-पंथ को नया पंथ इसलिए नहीं समझ लेना चाहिये कि उसमें कोई नयी चीज थी। ईंट और रोड़े सब पुराने थे यदि कोई नवीनता थी तो उनसे 'भानुमती का कुनबा' जोड़ने में थी।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१८, १७६

[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१४

कबीर की भक्ति में प्रेम-तत्त्व की प्रतिष्ठा की कोई नयी बात नहीं थी। भारतीय भक्ति-धारा में प्रेम का वह स्वरुप मिलता है जिसके श्रद्धा और विश्वास अभिन्न अंग हैं। भक्ति के रूप को आगे बढ़ाने में कबीर का बड़ा हाथ रहा। अनात्मवादी बौद्धों ने देश में ही नहीं बाहर भी, अनीश्वरता के प्रचार में कोई कमी नहीं छोड़ी थी। सिद्धों ने सिद्धियों के प्रलोभन से जहां योग का प्रचार किया वहां अनीश्वरवाद को भी दृढ़ किया। उनके निरीश्वर योग में आत्मा और परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं था। इससे भागवत धर्म को बड़ा आघात पहुँचा और कबीर के समय अनास्था और अविश्वास लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में बहुत बढ़े हुए थे। इससे मनुष्य के मन में सन्देह के साथ साथ निराशा भी बढ़ गयी थी। इन्हीं में कबीर के युग की दुरवस्था का विशेष कारण निहित था। इसके उच्छेदन के लिये, विश्वास और आशा की प्रतिष्ठा के लिए एक सामान्य भाव-भूमि की आवश्यकता थी जो कबीर को ईश्वरवाद के भीतर ही दिखायी पड़ी। यह ईश्वरवाद हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये सामान्य था, अतएव कबीर ने जिस भक्ति की प्रतिष्ठा की, देश की सामाजिक एकता के लिए उसका बहुत बड़ा मूल्य था।

कबीर की भक्ति का वियोग-पक्ष अधिक सबल है। उसकी विशेषता विरह की तीव्रता जो उन्होंने सूफीमत से ली। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूफी-प्रेम उन्मादविशिष्ट है और कबीर के प्रेम-निरुपण में उसके अनेक लक्षण मिलते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी-प्रेम साधना से कुछ नहीं लिया वे हाथी को देख कर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रुप को ही अंगीकार किया था, अपितु माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में उसको उन्होंने चित्रित किया है। सूफी-सम्प्रदाय में इन सब रूपों को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सूफियों के लिए परमात्मा 'माशूक' है और जीवात्मा आशिक है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध में हरि 'पीव' हैं और वे उतकी 'बहुरिया' हैं। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य-जीवन की जो व्यंजना है उसमें सूफी-मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा—में जो पत्नी और पति का सम्बन्ध है वह भारतीय भक्ति परम्परा के अनुरूप है, किंतु इसमें आश्रय और आलंबन से सम्बन्धित आरोप भी स्पष्ट हैं। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति में कोई स्थान नहीं है। कृष्ण-भक्ति में ब्रज गोपियों का

कृष्ण से पत्नी-पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नहीं देता। इसीलिए नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'सा तु परम-प्रेमरूपा यथा ब्रजगोपिकानाम्' किन्तु सूफी-प्रेम-साधना का सारा महल ही इस आरोप के ऊपर खड़ा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय तक भक्ति और योग में असंगति का स्वर प्रकट हो गया था। उनके समर्थकों ने उनमें एकस्थता और संगति देखने के बजाय असंगति को ही देखा। परिणामतः ज्ञान और भक्ति की भांति भक्ति और योग के बीच में भी खाई-सी बन गयी। यद्यपि नाथ-पंथ ने योग में प्रेम का पुट देकर उसे भक्ति के समीप लाने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसकी क्षीण रुचि शैवमत में ही अवरुद्ध हो गयी। वह वैष्णव भक्ति से भी अपना नैकट्य स्थापित करने की चेष्टा न कर सका। कबीर ने योग की इस प्रवृत्ति को बड़ी व्यग्रतापूर्ण सूक्ष्मता से देखा और उसे भक्ति में लाने का अतुल प्रयत्न किया। श्रीरंग, हरि, राम, गोविंद, शिव आदि शब्दों से एक ही शक्ति की ओर संकेत करके योग को भक्ति से जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति में चित्तवृत्ति की स्थिरता और योग में प्रेम-तत्त्व की प्रतिष्ठा होने से योग और भक्ति बहुत निकटस्थ हो गये।

कबीर की भक्ति बहुप्रयोजना है। वह निराशा और संदेह का निवारण कर आशा और विश्वास को दृढ़ करती है, एक ही परम शक्ति की प्रतिष्ठा कर लौकिक शक्तियों को चुनौती देती है, एक सत्य की मान्यता से अनेकता का निराकरण करती है और ज्ञान से अटूट सम्बन्ध जोड़कर प्रेम के आलम्बन की एकता को प्रतिष्ठित करती है। उसमें अन्धविश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं है। किसी पद्धति या प्रथा को कबीर रूढ़ि के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी स्वीकृति केवल उसी काम या विश्वास को मिल सकती थी जो प्रेम-मूलक एकता की व्यवस्था करने वाली उनकी बौद्धिकता की निकष पर खरा उतर सकता था। जो चीज समय के लिये प्रयोजनीय नहीं है कबीर उसे हेय एंव त्याज्य मानते हैं। समय की कसौटी पर खराब सिद्ध होने वाली जाति-प्रथा को वे हेय मानते हैं। वे ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई मौलिक भेद नहीं देखते थे। उनकी दृष्टि में प्रेम से परिष्कृत चाण्डाल दुराचारी ब्राह्मण से बहुत ऊंचा था। कबीर के अन्तर की इस प्रक्रिया में उनके मस्तिष्क और हृदय का सामजस्य देखा जा सकता है। यही कबीर के ज्ञानी भक्त की अभिव्यक्ति थी।

कबीर भक्ति को आडम्बर से अलग मानते थे। मस्जिद और मंदिर कुरान और वेद, ईमान और धर्म, तस्बीह और माला, दाढी और चोटी आदि अपने तथाकथित रूप में बाह्याडम्बर हैं। इनसे सामाजिक विकृतियों और भेदों की वृद्धि-मात्र होती है। इससे कबीर उनको स्वीकृति नहीं देते। उनको न तो वे धर्म का ही लक्षण मानते हैं और न ईश्वर-प्रेम का ही। खुदा या परमात्मा मस्जिद या मन्दिर में नहीं मिलता। वह तो हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदय के निर्मल होने पर ही उसका अनुभव होता है। इसीलिए कबीर कहते हैं:—

"कबीर दुनिया देहुरौ सीस नवावण जाइ
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥"

परमात्मा प्रेम और दया में है। दम्भ और पाखण्ड में नहीं। खुदा की सच्ची बंदगी नवाज में नहीं है दया में है। जो नवाज पढ़ कर जीवहत्या करते हैं, वे कभी सत्यरूप परमात्मा के समीप नहीं पहुंच सकते। इसी प्रयोजन से वे काजी को चेतावनी देते हैं:—

"यह सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥"

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कबीर ने मानव-प्रेम को उदार बनाकर व्यापक ईश्वर-प्रेम में विलीन कर दिया था। ज्ञान और भक्ति अथवा योग और भक्ति के बीच में खड़े किये हुए अवरोधों को मिटा कर भक्ति को ज्ञान और योग से परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया था। ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट कबीर की भक्ति में तत्कालीन सभी विचार-धाराओं और साधनाओं का सार संगृहीत था।

पिछले अध्याय में जिन अनेक धार्मिक विचार-धाराओं की ओर संकेत किया गया है उनमें से प्रमुख थीं—१. सगुण वैष्णव भक्ति धारा २. ज्ञानाश्रयी निर्गुण-भक्ति-धारा, ३. नाथपंथी योग-धारा, ४. सूफी-प्रेममार्गी धारा और ५. इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा। कबीर की साधना में इन सबके उपकरण सार रूप में मिलते हैं। कबीर की साधना के संबंध में अनेक मत प्रस्तुत किये गए हैं। कबीर के आलोचकों ने अपनी-अपनी रुचि एवं खोज के अनुसार अपने-अपने निर्णय दे दिये हैं। कुछ ने उन्हें सगुण भक्त कहा है, कुछ

ने ज्ञानी के रूप में अंकित किया है और कुछ ने उन्हें योगी माना है और कुछ ने सब कुछ भुला कर सूफी और इस्लाम का अनुयायी कहा है। रुचिवैचित्र्य उन्हें ईसाई-धर्म से प्रभावित कहने की सीमा तक पहुंच गया है। इन अनेक मतों के पीछे दो कारण दीख पड़ते हैं—एक तो यह कि कबीर ने कहीं भी अपने सिद्धान्तों का शास्त्रीय विधि से निरूपण नहीं किया और दूसरा यह कि उनके सारग्रहण में अनेक मतमतान्तरों का अंतर इतना सूक्ष्म हो गया है कि उसके रहस्य का उद्घाटन सरलता से नहीं किया जा सकता।

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर पर अपने समकालीन वातावरण का प्रभाव पड़ा किंतु प्रभाव के ग्रहण करने में वे बड़े सतर्क थे। इसका परिचय हम उन का सार–स्वीकृति और विकार–निषेध से मिलता है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कबीर ने किसी मत या पंथ का खण्डन या उपहास नहीं किया। हां, उनमें आ जाने वाले विकारों पर अवश्य ही व्यंग्यों का कशाघात किया है। दम्भ, पाखंड और धूर्तता के प्रति तो वे बड़े ही कटु हो गए हैं। उनकी यह कटुता असत्य और असार के प्रति थी। सार-सत्य के प्रति नहीं थी। इस तथ्य की झांकी हमें इस पद से मिल सकती है:—

"काजी कौन कतेब बखानें।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानै॥
सकति से नेह पकरि करि सुंनति, यहु नबदूं रे भाई।
जोर खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
हौं तो तुरक किया करि सुंनति औरति सौं का कहिए।
अरध सरीरी नारिन छूटै, आधा हिन्दू रहिए॥
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झष मारी॥"

कबीर का कहना है कि धर्म का लक्षण वेशभूषा नहीं है, उसका सार तो सत्य है जो एक है और जिसे किसी धर्म या पंथ से देखा जा सकता है। ढोंग-ढकोसले उस सत्य को छुपाते हैं और उन्हीं के आवरण में वह अनेकता में प्रदर्शित होता है:—

"कबीर यहु तो एक है पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेष॥"

तिलक-छापा, वेश-भूषा, मंदिर-मस्जिद आदि भेदसूचक हैं, भ्रम-मूलक हैं, सत्य नहीं हैं। भेदावलंबी इस संसार-सागर से कभी पार नहीं उतर सकता:--

"कबीर इस संसार कौं, समझाऊं कै बार।
पूंछ ज पकड़ै भेद की, उतरथा चाहै पार ॥"

इससे स्पष्ट है कि कबीर अपने वातावरण को बड़ी सूक्ष्मता से देख रहे थे। प्रभाव उनके चारों ओर छा रहे थे। किंतु उन्हीं को स्वीकार किया था जो उनकी मानसिक तुला पर पूरा उतरा था। वे चतुर शिल्पी की भांति प्रभाव के प्रस्तर को अपनी बुद्धि की टांकी से तराश कर अपनी रुचि के अनुकूल गढ़ कर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते थे। इसीलिए वे वैष्णव, सूफी, योगी आदि अनेक रूपों में आलोचकों के समक्ष आ प्रकट होते हैं।

कबीर ने अपने पंथ का आधार वैष्णव-धर्म को बनाया था जिस पर उपनिषदों की शिक्षा का विशेष प्रभाव है। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म का अभेद तथा एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धांत मूलतः उप-निषदों में ही मिलते हैं। उनके 'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तरि, कहै कबीरा'—शब्दों से वैष्णव-भक्ति के प्रति उनका आकर्षण स्पष्ट है। वैष्णव-धर्म के प्रति उनका झुकाव इतना है कि वे सिहर कर कह उठते हैं:—

"कबीर धनि ते सुन्दरी, जिन जायो बैसनों पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत ॥"

कबीर के कुछ सिद्धान्तों की प्रवृत्ति वैष्णव-धर्म के अनुरूप है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, अहिंसावाद, भाग्यवाद, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के प्रति कबीर की आस्था और श्रद्धा वैसी ही है जैसी वैष्णव भक्तों की होती है।

इसके अतिरिक्त कबीर का परिचय बौद्ध-धर्म के. महायानी रूप, वज्रयान, सहजयान, निरंजन-पंथ, तन्त्रमत और नाथ-पंथ और जैन-धर्म से भी था। कबीर की वाणी को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि वे सहजयानी और नाथपंथी सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित थे। बाबा गोरखनाथ के प्रति

उनका आदर दीख पड़ता है, किन्तु उन नाथपंथी योगियों को खरी सुनाने में वे बिल्कुल नहीं हिचकते जिन्होंने योग को किंगरी, मेखला, सींगी, जनेब, घंघारी, रूद्राक्ष, अधारी, गूदरी, खप्पर, झोला आदि में ही परिमित कर लिया है। इन चिन्हों को वे बाह्याडंबर मानते हैं और इनकी निंदा करते हैं। वे योगी के स्वरूप की मीमांसा करते हुए कहते हैं :—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
राति-दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसन, मन में रहना।
मन का जप तप मनसूं कहना॥
मन में खारा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लूका॥"

उनके अन्य कई पदों से भी यही प्रकट होता है कि नाथ-पंथ के बाह्याडंबरों को भी उन्होंने आड़े हाथों लिया है। वे तो बाबा गोरखनाथ के अलख जगाने तक के भी समर्थक नहीं हैं और न वे उनकी साधना की प्रमुखता की ही स्वीकृति देते हैं। कबीर के लिए साधना गौण है, राम की कृपा मुख्य है। वे उस रामकृपा में विश्वास के समर्थक हैं। कबीर के राम उदार और भक्तवत्सल हैं और गोरखनाथ सिद्धों की ज्योति के उस व्यक्त रूप में आस्था रखते हैं जो निरंजन है। यहीं कबीर का गोरख से अलगाव है। दोनों में एक और भी अन्तर है। कबीर के गुरू आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी हैं, अपितु परमात्मा के समकक्ष या साक्षात् परमात्मा हैं, जबकि बाबा गोरखनाथ के गुरु कायिक साधना और योग के विशेषज्ञ हैं पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में गोरखनाथ का कबीर पर बहुत प्रभाव है। नाद, विन्दु, सुरति, निरति आदि शब्द जिनका प्रयोग कबीर-वाणी में अनेक बार हुआ है, गोरखनाथ की टकसाल के ही सिक्के हैं। खंडन-मंडन की शैली और तीव्र प्रयोग भी कबीर ने गोरखनाथ से ही सीखे हैं। उनके वाक्यों में सिद्धों और नाथों का अक्खड़पन भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु कबीर के व्यक्तित्व की छाप कहीं भी छिपी नहीं है। उनका व्यक्तित्व उनकी भाषा

और अर्थ में है। सहज, समाधि, शून्य, षटचक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि पर उन्हीं का रंग चढ़ा हुआ है।

कबीर के 'अजपा जाप', 'उल्टी चाल' या 'उल्टी गंगा' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको हम निरंजन-सम्प्रदाय में खोज सकते हैं। इसी प्रकार चक्रभेदन, कुण्डलिनी-चालन आदि बातें कबीर ने तंत्र-मत से ली हैं। 'कुंडलिनी' की मान्यता शाक्तों में भी थी, किन्तु उनके असंयत आचरण के प्रति कबीर को बड़ी घृणा थी। इसीलिए वे कह उठे :—

"चन्दन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबराउं।
बैश्नों की छपरी भली, ना साषत का बड़ गांउं॥"

और भी,

"साषत बांमण मति मिले, बैसनों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेंटिये, मांनो मिले गोपाल॥"

इन सब प्रभावों के परिणामस्वरूप कबीर का निर्गुण पंथ बड़े समृद्ध रूप में प्रकट हुआ। उसमें व्यवस्थित साधना का विकास हुआ। भक्ति और योग की संगति पुष्ट हुई। माया के व्यवहारिक और सैद्धान्तिक भेदों के बल से मायावाद को तर्कों की भूमिका पर खड़े होने का हौसला हुआ और अद्वैतवाद बहुत पूर्णता को प्राप्त हो गया। कबीर ने धर्म को अत्यन्त सहज, सरल, सात्त्विक और बुद्धिवादि रूप देकर धर्म और समाज का निकट संबंध प्रकट किया।

इसके अतिरिक्त वातावरण के प्रति कबीर की प्रतिक्रिया भी हुई जिससे वर्णाश्रम के दर्प-दंभ के प्रति उनका विरोध सतर्क हो गया। लोक और वेद के अंधानुसरण के विरुद्ध उन्होंने बहुत सी खरी-खोटी बातें सुनायीं और हठयोगियों की करामातों का विरोध करके उन्होंने बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का खंडन किया।

*

: ६ :

सिद्धों और नाथों की परम्परा में कबीर

महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके शिष्य-प्रशिष्यों में व्यावहारिक पक्ष की मान्यता बढ़ गयी। साथ ही सरल सुगम धर्म-साधना के स्थान पर दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार बौद्ध-धर्म में मतभेद बढ़ गया और सम्प्रदाय बनाने की भावना का विकास होने लगा। प्रोफेसर कीथ के अनुसार साम्प्रदायिक उथल-पुथल के गर्भ में बौद्ध-धर्म कम से कम अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया उनमें से हीनयान और महायान नामक दो सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में यान का अर्थ वाहन या यात्रा का साधन है। हीनयान नाम महायान सम्प्रदाय वालों ने ही प्रतिपक्षी सम्प्रदाय को दिया था।

चाहे हीनयान सम्प्रदाय के लोग प्रारम्भ में अपने लिये यह नाम पसंद न करते हों किन्तु उसमें केवल नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को ही स्थान दिया जाता था अतएव वह यथार्थवादी, अनेकवादी और नैरात्म्यवादी ही रहा। इसके विरुद्ध महायान में सभी वर्ण, विचार एवं मत वालों को सरलता से समान स्थान मिल सकता था, अतएव उसे हीनयान की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता एवं गौरव प्राप्त हुआ और वह अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज एवं समन्वमूलक समझा जाने लगा। इस मत ने बुद्ध को देवत्व पर प्रतिष्ठित कर, जातक कथाओं के आधार से बोधिसत्त्वों की उपासना को प्रेरित किया और बौद्ध-धर्म के मूल ढांचे को ही बदल दिया।

इस सम्प्रदाय ने संस्कृत भाषा अपनायी, भक्तिवाद एवं तन्त्रोपचार की पद्धतियों का समर्थन किया। तंत्रवाद के प्रभाव के कारण महायान वाले विभिन्न गुह्य साधनाओं की ओर आकर्षित हुए और गूढ़ातिगूढ़ रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के प्रजनन के कारण वे भी कई उपायानों में विभक्त हो गये। जिनमें इतनी

विभिन्नताएं आ गयीं कि यह पहिचानना भी कठिन हो गया कि कभी उनका सम्बन्ध महायान से रहा होगा। उनमें साधना की उलझनें, मंत्रों की जटिलताएं, योग, समाधि, तंत्रों, मंत्र तथा डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि का महत्त्व बढ़ गया। मंत्रों में लोगों की आस्था इतनी बढ़ गयी कि मंत्रों, के विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही उनके परिणामों का अनुमान कर लिया जाता था।

इसके समानान्तर ही महायान सम्प्रदाय में वाम-मार्ग की धारा भी प्रवाहित होने लगी जिसकी विकृतावस्था के कहने की आवश्यकता नहीं है। वे बौद्ध साधक जो मंत्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में विश्वास करते थे और मंत्रयान सम्प्रदाय का प्रचार करते थे सिद्ध कहलाने लगे। शंकर के आलोक से जब बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त अभिभूत होने लगे तो आन्ध्र शासकों के अनुराग के कारण उनकी राजधानियों (प्रतिष्ठान और धान्यकटक) के निकट श्रीपर्वत उन सिद्धों का प्रधान केन्द्र हुआ। मंत्रयान सम्प्रदाय धनलोलुप होने के कारण विलासिता की ओर प्रवृत्त हुआ और वह उस सीमा तक पहुंची कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की भी अवहेलना करने लगा। अब उसका परिवर्तित रूप वज्रयान हो गया। यह परिवर्तन सन् ८०० ई० के आस पास हुआ और वज्रयान में मंत्र और योग के साथ मद्य और मैथुन भी सम्मिलित हो गया। आठ सौ वर्ष बाद महायान के सदाचार की यह दशा हुई। सन् ८०० से सन् ११७५ ई० तक वज्रयान सम्प्रदाय अपने दिन देख कर पतनोन्मुख हो गया। आगे चल कर वज्रयान सम्प्रदाय पाल शासकों का आश्रय लेकर बिहार से आसाम तक फैल गया। वज्रयान के प्रचारकों के प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की भी गणना की जाती है जो अपनी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। इनमें प्राय: सभी वर्ग के साधक थे। उनमें शूद्रों की अधिकता थी।

इस कारण इनमें वर्ण और वर्ग भेद की भावना थी। प्रत्येक वज्रयानी साधक एक महामुद्रा के सम्पर्क में अवश्य रहता था। वह किसी नीच जाति की रूपवती स्त्री को अपने लिए चुन लेता था और फिर गुरु के आदेश से उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। उसके सहवास में रहकर ही उस साधक की हर प्रकार की साधना चला करती थी। उन दोनों की वृत्तियों में साम्य लाने के प्रयत्न सहवास के द्वारा ही किये जाते थे।

इन सिद्धान्तों के कारण साधना काम-वासना प्रधान बन गयी। दुर्व्यसन उनकी साधना बन गये थे। उनके सहवास में 'समरस' व 'महासुख' का रहस्य निहित था। इस को दुष्प्रभाव समाज में बड़ी तीव्रता से फैलने लगा।

आगे चल कर धीरे-धीरे यह वज्रयानी सम्प्रदाय ही सहजयान सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। चौरासी सिद्धों में से बहुत से साधना के वास्तविक रहस्य को जानते थे। अतएव उन्होंने साधना के पथ से जटिलता को दूर करके 'सहज भाव' की स्थिति को महत्त्व दिया। इसी कारण उनका सम्प्रदाय 'सहजयान' नाम से अभिहित हुआ। उनके मत से साधना ऐसी होनी चाहिये जो चित्त को विक्षुब्ध न होने दें अन्यथा सिद्धि असम्भव है। सहजयानियों ने मंत्रयान और वज्रयान में प्रचलित मंत्र आदि बाह्य साधनों की उपेक्षा करके मानसिक शक्तियों के विकास पर ही विशेष ध्यान दिया। उन्होंने अपने पूर्वजों के मूल पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हुए भी उनको अपनी व्याख्या से विभूषित किया। इस प्रकार वज्रयान में जो वज्र शब्द पुंसेन्द्रिय का प्रतीक था वह सहजयान में उस प्रज्ञा का बोधक बना लिया गया जो बोधिचित्त का सारस्वरूप है।

सहजयान में योग-साधना के हेतु गुरु से दीक्षा लेना अनिवार्य था और वह गुरु अपने शिष्यों की अन्तर्वृत्तियों का परीक्षण करके ही साधना विशेष में प्रेरित करता था और उसी के अनुसार वह किसी कुल या वर्ग का सदस्य समझा जाता था। बौद्धों के पंचस्कन्धों या मूल तत्त्वों के अनुसार डोंबी, नटी, रजकी, चांडाली, और ब्राह्मणी—ये पांच प्रकार के कुल होते थे। वस्तुतः वज्रयान और सहजयान, दोनों सम्प्रदायों का लक्ष्य 'महासुख' या 'पूर्णानन्द' प्राप्त करना था। यह समरस दशा 'सहज' ही कही जाती थी। इसी कारण सम्प्रदाय का नाम सहजयान पड़ा।

सिद्धों का समय वि० सं० ७९७ से १२५७ तक माना जाता है। मान्यता तो यह भी है कि सिद्ध परंपरा आगे चलकर मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के हाथों में नाथ-पंथ के नाम से अभिहित हुई जो बारहवीं शताब्दी के आरम्भ से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। यही नाथ-पंथ सन्तकाव्य का अधिकांशतः प्रेरक रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि सिद्धों की टकसाल के ही सिक्के थे। अतएव सन्त-साहित्य की नींव को वस्तुतः सिद्धों ने ही डाला था।

सिद्धों में वर्ण-भेद के प्रति घृणा थी। आदि सिद्ध सरहपा जो स्वयं ब्राह्मण भिक्षु थे, जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने सहजयान सम्प्रदाय में इसको पनपने नहीं दिया। उन्होंने ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे—जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो ये भी दूसरों की तरह उत्पन्न होते है। तो ब्राह्मणत्व रहा कहां? यदि यह कहा जाये कि संस्कारवश ब्राह्मण होता है तो फिर चांडाल में भी संस्कार करने दो, वह भी ब्राह्मण हो जायेगा। यदि वेदाध्ययन से कोई ब्राह्मण बन सकता है तो चांडालों को भी वेदाध्ययन करके ब्राह्मण क्यों नहीं बनने दिया जाता?" इसी प्रकार सिद्धों ने वेदवाद की आलोचना की और कहा—"पाठसिद्ध न होने से वेदों की प्रामाणिकता असिद्ध हैं। वे परमार्थ नहीं हैं क्योंकि उनमें शून्य की शिक्षा ही नहीं है। अतः उन्हें व्यर्थ की बकवास समझना चाहिए।"

इतना ही नहीं इन सिद्धों ने धार्मिक आचार-विचारों पर भी वाक्प्रहार किये और यज्ञादि की व्यर्थता बतलायी। सरहपा ने कहा—"यदि अग्नि में घृत डालने से ही मुक्ति मिलती है तो फिर यज्ञादि सबको क्यों नहीं करने दिये जाते, जिससे सब के सब मुक्त हो जायें। यज्ञ करने से मुक्ति चाहे प्राप्त होती हो या न होती हो किन्तु धुआं लगने से नेत्रों को तो पीड़ा पहुंचती ही है।" इसी प्रकार शिवोपासकों का उपहास करते हुए सरहपा ने कहा, "ये शिव के भक्त शरीर में भस्म लगाते हैं, सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जला कर घर में बैठते हैं और ईशानकोण में बैठकर घंटा बजाया करते हैं, आसन बांध कर आंखें मूंदा करते हैं तथा लोगों को व्यर्थ ही धोखा देकर गुमराह करते हैं। बहुत से लोग इनके बहकाने में आ जाते हैं परन्तु जब कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर ईश्वर भी एक पदार्थ है और वह भी कैसे रह सकता है?" इस प्रकार सरहपा और उसके अनुयायियों ने वैष्णव, शैव आदि धर्मों की साधना पद्धतियों का कटु उपहास किया और सहज साधना को ही श्रेष्ठतम साधना मान कर उसी का प्रचार किया।

सरहपा ने चित्त की शुद्धि का अपूर्व साधन वज्रयानियों में प्रचलित योगिनी-मार्ग को माना है। जो उस मार्ग को पूर्णतः समझता हुआ अपना चित्त उसी में लगाता है, वस्तुतः उसी को चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है। सम्प्रदाय में इसके अनेक नाम हैं। कहीं यह अवधूती, कहीं चांडाली, कहीं डोंबीत था कहीं

बंगाली से अभिहित है। यह एक ऐसा राज-मार्ग माना जाता है जो वैराग्य से बिल्कुल भिन्न एवं विपरीत है। इसके अनुयायी घर में भार्या के साथ निवास करते हुए भी मुक्त हो सकते हैं। वास्तव में सहजयानी साधना का अन्तिम लक्ष्य चित्त-शुद्धि है। इसी से सहजावस्था सुगमता से प्राप्त हो सकती है। जो इस सहज का परित्याग करके निर्वाण प्राप्त करना चाहता है मानों वह आकाश-कुसुम की गंध सूंघना चाहता है।

सहज साधना में एक चित्त ही सब का बीज रूप है। बंधन और मुक्ति का उद्भव यहीं से होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्त चित्त ही मुक्ति का साधन है। अबद्ध चित्त केवल बंधन में डाल सकता है। जड़-जीव जिस चित्त के कारण बंधन में पड़ते हैं वही विवेकियों को मुक्त करता है।

> **"चितेकेस अलबीअं भवणिब्बाणोवि जस्सविफुरंति।**
> **तं चितामणिरूअं पणयह इच्छा फलं देन्ति॥**
> **चित्ते बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ पत्थिसन्देहा।**
> **बज्झति जेण विजडा लहु परिमुच्चन्ति तेणवि बुहा॥"**

गीता में भी बंध और मुक्ति का कारण मन ही माना गया है। जो मनोजित् है वही बड़ा भारी योगी होता है। सहजयान सम्प्रदाय में भी मनका शून्यीकरण इष्ट है। शून्य दशा में मन इन्द्रिय-विषयों की अनुभूति नहीं करता अनाद्यन्त होने के कारण वह सब सुख 'अद्वय' कहलाता है। इसी को अमना-करण, निःस्वभावीकरण या मन का मार डालना कहते हैं। कबीर आदि सन्तों का 'अनमन या 'उन्मन' भी यही है। अमनीकरण की स्थिति के अभ्यास को अनेक रूपकों द्वारा प्रकट किया गया है। रुई धुनने या हरिण की आरवेट के रूपक उनके सुन्दर उदाहरण हैं।

सहजयानी सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धति में योग की अनेक प्रक्रियाओं को भी स्थान दिया है। प्राणायाम की उस दशा में जहां इड़ा-पिंगला मिल जाती हैं अर्थात् दोनों स्वरों से वायु का गमनागमन निरुद्ध हो जाता है, सहज या महासुख का आविर्भाव होता है। इस महासुख-कमल-किंजल्क का पान योगी शरीर के भीतर ही प्राप्त कर लेते हैं। वह आनन्द 'सुरत-वीर' के मुख के समान होता है।

इस महासुख-कमल के दो खंड हैं—'ललना' (चन्द्रानाड़ी) और 'रसना' (सूर्या-नाड़ी)। यह पादप नभ रूपी जल में परमानन्दमय प्रकाश-पंथ में उत्पन्न होता है। मूल शक्ति उसकी नाल है और अनाहत-ज्ञान उसका रूप है। जहां वायु और मन एक साथ निश्चल हो जाते हैं वह 'उद्धमेरु' (सुषुम्ना का सिरा) है। उसकी कल्पना पर्वत- शिखर के समान की गई है वह महामुद्रा और मूलशक्ति का निवास-स्थान माना गया है। जिस प्रकार वज्रयानियों ने महामुद्रा की साधना में व्यभिचारपरक चित्र प्रस्तुत किये थे, उसी प्रकार सहजयानियों ने भी प्रस्तुत किये। साधक के एकान्तविहार और प्रेम-विलास की अवस्था भी उन्होंने उसी प्रकार चित्रित की, किन्तु अपनी साधना को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने भिन्नार्थ प्रकट किया।

सहजयान सम्प्रदाय में एक युगनद्ध की भावना भी विद्यमान थी। उनकी बोधिचित्त को संवृत अवस्था में ले जाने का विशेष महत्त्व है। बोधि-चित्त का यह पथ इड़ा तथा पिंगला-नाड़ी से होकर मध्या-नाड़ी सुषुम्ना से जाता है जिससे उसे मध्यमार्ग भी कहते हैं। 'सहजमार्ग' से अभिहित सहज-यानियों की यह साधना उजूबाट (ऋजुबाट) अथवा सरल-मार्ग के रूप में चित्रित की गयी और विशुद्ध सात्त्विक जीवन का मार्ग मानकर उसके द्वारा विश्व-कल्याण तक की आशा की गयी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-धर्म सदाचरण की साधना के रूप में प्रारंभ हुआ था उसने परिवर्तनो के गर्भ में अनेक रूप धारण किये, किन्तु वज्रयान में उसका अति विकृत एवं बीभत्स रूप प्रस्तुत हुआ। सहजयान ने अपने प्रयत्नों से कुछ सुधारों को जन्म अवश्य दिया और ये प्रयत्न चौदहवीं शताब्दी तक होते रहे किन्तु वह भी अपनी प्रवृत्तियां दूसरे नये सम्प्रदायों को सौंप कर उनमें विलीन हो गया। सहजयान को चाहे वज्रयान की ही एक प्रशाखा मान लिया जावे परन्तु उसके दृष्टिकोण की विशेषता भुलायी नहीं जा सकती। वस्तुतः सहजयान ने ईश्वरवाद की प्रेरणा दी और स्वाभाविक धर्म और आचरण का प्रतिपादन किया।

सिद्धों का साहित्य अनेक संग्रहों में मिलता है। उन्हों ने किसी सुसंस्कृत भाषा को व्यवहार में न लाकर सर्व-सामान्य जन-भाषा का ही प्रयोग किया। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उन्हें भिन्न-भिन्न भाषाओं से सम्बन्धित किया है। कोई उन्हें बंगला का आदि कवि कहता है और कोई अवधी का। वस्तुतः वे अप-

भ्रंश के ही कवि हैं। उनकी भाषा प्रमुखतया मागधी अपभ्रंश है। कुछ विद्वानों ने उसे 'संध्या' भाषा कहा है और इस शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। कुछ विद्वानों ने संध्या भाषा उस भाषा को कहा है जिसमें संध्या का आलोक और अंधकार, दोनों का मिलन हो अर्थात् जिसमें स्पष्टता के साथ अस्पष्टता भी हो। कुछ विद्वानों के अनुसार संध्या भाषा वह भाषा है जो देशों के संधि-प्रदेश में बोली जाये। कदाचित् बंगाल और बिहार की सीमा पर निर्मित होने के कारण सिद्ध-भाषा को 'सन्ध्या' नाम दिया गया। कुछ विवेचकों ने अभि-सन्धि (रहस्य) से सम्बन्धित करके इसको यह नाम दिया है। पं० विधुशेखर शास्त्री ने इस शब्द को 'संधा' कहा है और उसे संस्कृत शब्द संधास (अभि-प्रेत) का अपभ्रंश रूप मानकर उसको अभिसंधि सहित या अभिप्राययुक्त भाषा माना है। विद्वानों ने अपने-अपने तर्कों से इन तीनों मतों को काट दिया है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'सन्ध्या भाषा' उस भाषा को कहा है जो अपभ्रंश के संध्याकाल में प्रयुक्त हुई। मेरी समझ में यह मत भी निर्दोष नहीं है क्योंकि ऐसी भाषा का जन्म उपनिषद् काल में ही हो गया था। वज्रयान ने इस भाषा का पर्याप्त विकास किया और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में तो कुछ सम्प्रदायों में यह भाषा प्रचलित हो गयी। अवश्य ही संध्या भाषा नाम बहुत बाद का है जो 'स्पष्टापष्ट' दोनों अर्थों का एक साथ ही द्योतन करता है। यह भाषा वाच्यार्थ में छिपा कर कोई दूसरा अर्थ भी देती है। इसी गूढ़ागूढ़ता के कारण संभवतः उसका यह नाम दिया गया।

सिद्ध काव्य में गूढ़ता और अगूढ़ता के संबंध से एक ही साथ दो रस निष्पन्न होते कहे जाते हैं—शृङ्गार और शान्त। इन दोनों के निर्वाह में ही कौशल निहित है। रूढ़ियों के खंडन, सदाचार के प्रतिपादन और मध्यमार्ग के प्रतिष्ठापन के साथ सिद्धों ने जिस 'महासुख' की गवेषणा की है उसमें नैतिक और मानसिक धरातल पर शान्ति और आनन्द की भावना का विनिवेश है। सिद्ध लोग दुःख और नश्वरता से घबरा कर निराशावाद का आश्रय लेने के समर्थक नहीं हैं। वे तो वास्तव में निराशा में आशा की कान्त किरण दिखला कर महासुख की ओर प्रेरित करते हैं। वे जीवन के संकलन में रस प्राप्त करते हैं, विकलन में नहीं। शृङ्गार-रसोर्मियां कहीं-कहीं अश्लीलता अभिव्यक्त करने लगती है। जिस के मूल में वज्रयानी प्रभाव है।

सिद्धों का साहित्य चाहे साहित्यिक निकष पर पूरा न उतरता हो किन्तु लोक-भाषा के प्रचलन में उनका महत्त्वपूर्ण योग रहा। भाषा की लाक्षणिकता, एक नयी शैली के बीज भी इन्हीं लोगों ने लोक-भाषा में बोये थे।

सिद्ध-साहित्य ने गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी अपना योग दिया और जन-मन को आकर्षित करने के लिए दोहों के साथ छोटे-छोटे पदों का प्रचलन भी किया। संगीत साधना के प्रति अभिरुचि होने के कारण कुछ सिद्धों ने तो अपनी रचनाओं को संगीत के घाट उतारने का ही उपक्रम किया। वीणापा नामक सिद्ध की रचनाओं में राग-रागनियों की सहज-संयोजना हुई है।

छन्दों के क्षेत्र में सिद्धों को आचार्य होने का गौरव तो नहीं दिया जा सकता किन्तु दोहा, चौपाई, छप्पय आदि छन्दों के प्रचलन में उनका योग अवश्य रहा। उन्होंने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये तो प्रायः दोहा-छंद की ही सहायता ली। कुछ लोग भ्रमवश दोहा-चौपाई वाली शैली में प्रबन्ध-काव्य की सृष्टि करने का श्रेय सूफी कवियों को देते हैं किन्तु सरहपा तथा कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में इस शैली का प्रणयन स्पष्ट है। इन से भी पहले जैन कवियों ने अप-भ्रंश में इस शैली का प्रवर्तन किया था और दस-दस बारह-बारह चौपाइयों के बाद छत्ता, उल्लाला आदि के योग से प्रबन्ध-काव्य लिखने की परम्परा भी उस समय अधिक प्रचलित हो चुकी थी। फिर भी छन्द-साधना में सिद्धों के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार हिंदी की साहित्यिक परम्पराओं के निर्माण में ही सिद्धों का योग नहीं है, अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-धारा की दृष्टि से भी उनका योगदान स्मरणीय है। धर्म के विकास की दिशा में सिद्धों ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। उस क्षेत्र में नाथ-सम्प्रदाय ने कुछ और प्रगति की। आगे चलकर साहित्य में जिस रहस्यवाद ने व्यवस्थित रूप में अपनी अभि-व्यक्ति की वह सिद्ध साहित्य से ही प्रेरित हुआ था। वर्ण और वर्ग के विरोध में समता की जिस भावना का उदय हुआ हिन्दी का परवर्ती साहित्य उसके मूल्य को नहीं भुला सकता।

नाथ-पंथ को भी सिद्ध-साहित्य की ही एक शाखा कह सकते हैं। यह सत्य है कि कुछ सिद्ध नाथ ही थे। त्रिपुरा विषयक तांत्रिक साहित्य के इतिहास में नाथों के नामों का प्राचुर्य है। नाथों की बहुत सी बातें जिस प्रकार वज्र-

यानियों, सहजयानियों, तांत्रिकों, त्रैपुरों, वीराचार्यों से मिलती हैं उसी प्रकार शैवों सहजियों और बाद के वैष्णवों से मिलती हैं। महायानियों और तांत्रिकों का सम्बन्ध अध्ययन का एक रोचक विषय है। महायानियों का शून्यवाद, हठयोग तंत्र आदि में कैसे प्रविष्ट हो गया और बाद के बौद्ध-सम्प्रदायों में उसकी व्याख्याएं क्या से क्या हो गयीं, यह भी एक रोचक विषय है। इन मतों का सम्बन्ध रासायनिकों के दर्शन से होने के कारण उसका अध्ययन भी आवश्यक है। वैष्णवों के रसवाद पर सिद्धों से सम्बन्धित रहस्य-विज्ञान के विकास का बहुत प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि कबीर जैसे वैष्णव के वाणी-प्रवाह में इस परम्परा की लहरें छिटक रही हैं तो आश्चर्य की क्या बात है।

वैसे तो नाथ लोग अपनी उत्पत्ति 'शिव' से बतलाते हैं जिनको वे नाथ कहते हैं इसीलिए पंथ का नाम नाथ-पंथ है। साहित्य में नाथ-पंथ को सिद्ध-मार्ग या अवधूत मार्ग भी कहा गया है और इस मत के आचार्यों ने सिद्धि के लिये योगाभ्यास पर विशेष बल दिया है इसलिये यह 'योग-मार्ग' नाम से भी अभिहित है। कुछ अंशों में कापालिकों का भी नाथों से घनिष्ठ संबंध है, किन्तु वह अपने आप में एक स्वतंत्र मत के अनुयायी हैं। कहने के लिए तो कापालिक मत के प्रवर्तक आदिनाथ ही माने जाते हैं किन्तु इसके सिद्धान्तों और आचारों में इसका अपनापन स्पष्ट है।

नाथ-पंथी अपने मत की दिव्योत्पत्ति में विश्वास करते हुए मत्स्येन्द्र-नाथ को मत-प्रवर्तक मानते हैं। इनका इतिहास अनेक दन्तकथाओं से आवृत होते हुए भी यह मानने में बाधा नहीं डालता कि मत्स्येन्द्रनाथ एक बड़े योगी थे। इनके संबंध में यह कहा जाता है कि बड़ी भारी योगशक्ति के होने पर भी वे वासना के पाश में पड़ गये, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें बड़ी कठिनता से उससे मुक्त किया।

मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्यों में योग्यतम गोरखनाथ ही थे। भारतीय महा-पुरुषों में उनका नाम अमर रहेगा। वे बड़े भारी सिद्ध ही नहीं, आधुनिक हठ-योग के जन्मदाता भी थे। वे मध्यकाल में यौगिक रहस्यवाद के प्रसिद्ध संचालक थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद जी शास्त्री का कहना है कि मूलतः गोरखनाथ बौद्ध थे। बाद में वह नाथ हो गये।

तारानाथ के अनुसार उनका बौद्ध नाम अनंगवज्र था, किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार उनका नाम रमणवज्र था। यह सत्य हो सकता

है किन्तु कायाबोध में जो गोरखनाथ की रचना के रूप में प्रसिद्ध है, एक कहावत आती है जिससे वे 'पश्वारम्भक' प्रकट होते हैं। यदि 'आरंभ' शब्द बलिदान (Sacrificial slaughter) का वाचक है तो गोरखनाथ नाथ होने से पूर्व बौद्ध कदापि नहीं हो सकते।

गोरखनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ का समय निश्चित नहीं है। परम्परा उन्हें कबीर (१५०० ई०) और मधुसूदन सरस्वती (१७०० ई०) से सम्बद्ध करती है, किन्तु शायद इसका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। ज्ञाननाथ या ज्ञानदेव ने, जिनका होना १३वीं शताब्दी में माना जाता है, अपनी भगवद्-गीता की टीका में अपनी गुरु-परम्परा में उनको तीसरा माना है। यह परम्परा इस प्रकार दी गयी है— १. आदिनाथ, २. मत्स्येन्द्रनाथ, ३. गोरखनाथ, ४. गहिनीनाथ, ५. निवृत्तिनाथ और ६. ज्ञाननाथ। इससे गोरखनाथ का १२वीं शताब्दी के आरंभ में होना सिद्ध होता है। इससे गोरखनाथ और धर्मनाथ समसामयिक और एक ही गुरू के शिष्य भी सिद्ध हो जाते हैं परन्तु कुछ अन्य मतों के अनुसार गोरखनाथ का जीवन-काल ५०० ई०, ७०० ई० या १००० ई० भी माना जाता है। गोरखनाथ के अनेक शिष्य थे। उनमें से बालानाथ, हालिकपाव, मालिपाव आदि प्रसिद्ध थे। राजा गोपीचन्द की राजमाता मयनामती गोरखनाथ की ही शिष्या बतलायी जाती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से नाथ लोग अद्वैतवादी नहीं थे और न द्वैतवादी ही थे। वे दोनों से भिन्न थे। नाथ को वे परमेश्वर कहते हैं जो सगुण और निर्गुण से संबंधित विरोध से परे है। उनकी दृष्टि में जीवन का चरम लक्ष्य नाथ रूप में आत्मानुभूति करना और संबंधों की दुनिया से सदैव ऊपर रहना है। इस अनुभूति का मार्ग योग बतलाया गया है जिस पर उनका प्रमुख बल रहता है। नाथों की यह धारणा है कि योग के बिना सिद्धि प्राप्त करना असंभव है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति, जिसे कुछ लोग गोरखनाथ की कृति बतलाते हैं और कुछ नित्यनाथ की, तो यहां तक कहती है—

"सन्मार्गश्च योगमार्गः, तदितरस्तु पाषण्डमार्गः।"

योग की चाहे कुछ भी परिभाषा रही हो किन्तु अपने नाम के समय से ही हठयोग की परिभाषा वही है। सि० सि० पद्धति में उसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ॥"

ब्रह्मानन्द के अनुसार यहां सूर्य और चन्द्र क्रमशः प्राण और अपान के प्रतीक हैं और उनका योग ही प्राणायाम है जो वास्तव में हठयोग का अर्थ है। वायु-विजय (प्राण-निरोध) ही हठयोग का सार है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार का प्रचलन भारत में नाथों ने किया था। हठयोग-प्रदीपिका (१-४) में कहा गया है कि इस योग का रहस्य केवल मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को ही विदित था। ब्रह्मानन्द ने जालन्धर, भर्तृहरि और गोपीचन्द के नाम और जोड़ दिये हैं। इन सब लोगों का संबंध नाथपंथ से था। अतएव यह संभव है कि गोरक्षनाथ, या अधिक संभवतः मत्स्येन्द्रनाथ हठयोग के आदितम प्रचारक थे। इसका इस उक्ति से कोई विरोध समझने की आवश्यकता नहीं है—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या (ह० यो० प्र० १-१) क्योंकि प्रत्येक विद्या एक प्रकार से परमेश्वर से निकली हुई कही जा सकती है।

हठयोगविद्या की नींव नाथों ने डाली, इसका निर्णय करना कठिन है क्योंकि एक अन्य परम्परा के अनुसार हठयोगियों के दो सम्प्रदाय हैं—एक प्राचीन और दूसरा आधुनिक, जिनकी नींव क्रमशः मार्कण्डेय और नाथों ने डाली—

"द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः ।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥"

मार्कण्डेय द्वारा प्रवर्तित हठयोग में अष्टांग की मान्यता है किन्तु दूसरे सम्प्रदाय ने हठयोग में से यम-नियम को निकाल कर उसे षडङ्ग बना दिया। यदि इस परंपरा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यही कहना उचित है कि नाथों ने प्राचीन मृतप्राय विद्या को पुनर्जीवन दिया। यह मत अधिक ग्राह्य भी लगता है।

अब प्रश्न यह है कि जब राजयोग पहले से ही उन्नत दशा में था तो हठयोग के पुनर्जीवन की क्या आवश्यकता थी? यह तो स्वयं सिद्धों ने भी

स्वीकार कर लिया था कि अपने पूर्णतम रूपों में भी हठयोग राजयोग का केवल सहयोगी या सोपान है। पतंजलि का योग प्रमुखतः राजयोग सिद्धान्तों पर आधारित है। इसी प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मान्य योग भी राजयोग पर आधारित है यद्यपि हठयोग की सरल क्रियाओं की उपयोगिता इन सभी ने स्वीकार की है।

हठयोगियों का ऐसा विश्वास है कि साधारण लोगों के लिए जिनका मन पर बिल्कुल अधिकार नहीं, राजयोग का अभ्यास असम्भव है। मंत्रयोग ध्यान-योग का अभ्यास यदि समुचित रूप से किया जाये तो राजयोग की सिद्धि तक पहुंचा सकता है किन्तु इनको भी सशक्त बनाने के लिए मनो-योग या मन-साधना की आवश्यकता है जो साधारण भक्ति की शक्ति से बाहर की चीज है। मगर हठयोग की नींव शरीर की कुछ यांत्रिक क्रियाओं पर होने से उसी को एकमात्र वैज्ञानिक योग कह सकते हैं और सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी सुगमता भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि इसकी साधना में किसी प्रकार की मानसिक शक्ति, जिसकी अन्य प्रकार के सभी योग में थोड़ी-बहुत आवश्यकता रहती हैं, अनिवार्य नहीं है।

यह तो प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि हठयोग का सार प्राण-विजय है और इस देश के सभी लोग यह मानते है कि विन्दु (वीर्य), वायु (प्राणवायु) तथा मन का एक दूसरे से गहन-संबंध है। इससे किसी एक के निरोध से शेष दो अपने आप निरुद्ध हो जाते हैं। हठयोगी अपनी साधना का आधार ब्रह्मचर्य या वीर्य-निरोध मान कर चलते हैं। अतएव उनकी साधना का प्रथम सोपान वायु-निग्रह बनता है और उससे वह मनोनिग्रह में प्रवृत्त होते हैं। समग्र क्रियाओं और प्रयत्नों का सार यही मनोनिग्रह है। वायु-निग्रह को सरल बनाने के लिए आसन, मुद्रा और नादानुसंधान की आवश्यकता बतलायी जाती है।

आसन का निरन्तर अभ्यास शरीर को हल्का, स्वस्थ और दृढ़ बनाता है। एक बार इन गुणों के उपलब्ध हो जाने पर स्वभावतः उनकी प्रतिक्रिया मन पर होती है। मुद्रा का अभ्यास कुंडलिनी शक्ति को जगाने के लिए अभिप्रेत है क्योंकि उसकी सजग प्रेरणा के बिना कोई भी चिदनुभूति असंभव है और नादाभ्यास या नादानुसंधान का सीधा संबंध मन से है। इससे मन की चंचलता नष्ट होकर वह स्थिर होता है।

जैसे ही मन निश्चल होता है तथा वायु ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होती है कि उस शान्तावस्था का उदय होता है जिसे लय, मनोन्मनी या सहजावस्था कहते हैं। यह परमानन्द की अवस्था होती है। इस संबंध में यह ध्यान देने की बात है कि उक्त अभ्यास या प्रक्रियाएं एक-दूसरी से संबंधित हैं।

नादानुसंधान समुचित रूप से तभी हो सकता है जबकि चेतन हृदय से उठनेवाली अविरल आभ्यन्तरिक शब्द-धारा जब श्रवणीय बन जाय। यह शब्द वास्तव में तभी सुनायी पड़ सकता है जबकि वायु सुषुम्ना और उसकी अनेक प्रशाखाओं में प्रविष्ट हो जावे। इसके लिए नाड़ी-शोधन भी आवश्यक है। जब नाड़ियां परिशुद्ध हो जाती हैं तो अनाहतनाद सुनायी पड़ने लगता है इनकी शुद्धि के लिए आसनों और मुद्राओं की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत आसन-सिद्धि उस समय तक असंभव है जब तक कि शरीर के स्थायित्व के विरोधी सूक्ष्म कारण पूर्णतः दूर न हो जायें।

गोरखनाथ ने जिस हठयोग पद्धति का प्रचार किया वह प्राचीन परंपरा से विशेषतया भिन्न नहीं है। वस्तुतः हठयोग में बड़ी उत्कृष्ट प्राणविद्या निहित है। गीता, गोरक्षसंहिता एवं हठयोग प्रदीपिका में हठयोग के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ उसे राज-योग की आधार-शिला कहा गया है। आसन, मुद्रा और प्राणायाम की सिद्धि के साथ ही साथ हठयोग समग्र सृष्टि में परिव्याप्त महाकुंडलिनी शक्ति को भी प्रधानता देता है। हठयोगियों का कहना है कि गर्भ में जीव इसी कुंडलिनी और प्राण-शक्ति के साथ प्रविष्ट होता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट ही रहती है। वह मेरुदण्ड में स्थित त्रिकोणचक्र के स्वयंभू लिंग का साढ़े तीन वलयों से परिवेष्ठन किये हुए हैं। कुण्डलिनी या सर्पिणी की भांति साढ़े तीन वलयों में स्थित होने से यह कुण्डलिनी कहलाती है।

अनेक मुद्राओं और क्रियाओं का लक्ष्य कुण्डलिनी-जागरण है जिसका संबंध, आसनों की सफलता से है। वस्तुतः इन सब यांत्रिक क्रियाओं (Mechanical devices) का लक्ष्य केवल उस दिव्य शक्ति की मुक्ति और सक्रियता है, जो मनुष्य के भीतर भौतिक भार से दबी हुई सुषुप्त एवं निष्क्रिय पड़ी है। सुषुम्ना का यह मार्ग साधारणतया अवरुद्ध रहता है। योगी अपनी साधना से उसे साफ कर देता है।

नाथों के योग का विशेषता यह थी कि उसमें संयम के कायिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया था । इसका संबंध शारीरिक नाड़ी विषयक तथा प्राणतंत्री संबंधी ज्ञान से विशेष है । नाथों का सामान्य-सिद्धात उन भौतिक तत्त्वों का ज्ञान है जिनको हम जाग्रत अवस्था में स्थूलतम रूप में पाते हैं और सम्प्रज्ञात या तथाकथित सस्मिता-समाधि में सूक्ष्मतम रूप में अनुभव करते हैं । भौतिक तत्त्वों में आवृत जीवात्मा का ज्ञान जगत् में आवृत विश्वात्मा के ज्ञान से अभिन्न है केवल सीमाओं के सावधानी से निवारण करने की आवश्यकता है । हठयोगियों के मत से उनके निवारण का निश्चित एवं सत्वर मार्ग वायु को क्रमशः उस समय तक अर्ध्वगामी बनाना है जब कि सहस्त्रदल-कमल के उच्चतम तल पर चेतन तत्त्व में विश्व-तत्त्व की प्राप्ति न हो जाये ।

आत्मा पर दुहरा आवरण पड़ जाता है—एक तो भूतस् का और दूसरा मनस् का। मन शब्द का प्रयोग यहां व्यापक अर्थ में किया गया है जिस के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार आदि भी आ जाते हैं। इन्द्रियां मन का व्यापारिक रूप हैं । भूतस् शब्द सापेक्ष सन्तुलन की अवस्था में पदार्थ का वाचक है । इस के अन्तर्गत पंचतन्मात्राएं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध आ जाते हैं । प्रत्येक तन्मात्रा का अपना केन्द्र होता है जहां विकास और संकोच की योग्यता रहती है । चेतना के भूतस् में आवृत होते ही मन अपना विकास इन्द्रियों में करता है। इन्द्रियां पदार्थ-ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं करा सकती । इन्द्रियों से विलग किया हुआ मन ही अतीन्द्रिय ज्ञान का उद्भव करा सकता है । मन इन्द्रियों से जितना विलग होगा ज्ञान उतना ही शुद्ध होगा । मन के विलगीकरण का अभिप्राय ही ध्यान और उसकी शुद्धता है। स्थूल भूत से आलिप्त मन स्थूल—इन्द्रियाबद्ध कहलाता है । इस दशा में वायु की गति भी सरल एवं अर्ध्व नहीं होती ।

शरीर में वायु को तिर्यक् गति तिर्यक् मार्ग की आवश्यकता पैदा कर देती है । इसी का पारिभाषिक नाम नाड़ीचक्र है जो अनेक नाड़ियों की गुत्थियों से बनता है । ये नाडियां शरीर में विभिन्न दिशाओं में जाती हैं । सुषुम्ना को छोड़ कर जो शुद्ध वायु की सरल गति का केन्द्रीय मार्ग है, अन्य नाड़ियों को सुषुम्ना के साथ उनकी स्थिति के संबंध से स्थूल रूप से दो वर्गों में बांट सकते हैं—दांया और बांया । साधारण मनुष्य के शरीर में मन और

वायु इन्हीं चक्करदार मार्गों में से प्रवाहित होते हैं। यह गमन मनुष्य का संसार है।

सुषुम्ना के मार्ग में छः चक्र स्थित हैं जिनको भेदन करके वायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचता है। पहला चक्र 'मूलाधार' है जो गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य स्थित है। इसका आकार चतुर्दल कमल का सा है। इसमें एक सूर्य निवास करता है। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है जो जननेंद्रिय के मूल में है। यह षट्दल कमल है। 'मणिपूर' या 'नाभिचक्र' तीसरा चक्र है। यह दशदल कमल, है और नाभि प्रदेश में स्थित है। चौथा 'हृदय-चक्र' हृदय प्रदेश में है। यह द्वादशदल कमल है। सोलह दलों का विशुद्ध चक्र कंठ स्थान में है और छटा चक्र 'आज्ञा-चक्र' है। इसे आकाश चक्र भी कहते हैं। यह केवल द्विदल कमल है और भृकुटी मध्य में स्थित है। यही षट् चक्र हैं। इन सबके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र हैं वह सहस्र दल वाला कमल है जिसे सहस्रदल कमल कहते हैं। यहीं शिव का स्थान है और शक्ति यहीं शिव से मिलती है।

नाथों का जोर तो इस बात पर भी रहता है कि यदि परमेश्वर को प्राप्त करना है तो केन्द्रीय मार्ग जो सागर में नदी की भांति उसमें मिलता है, मालूम करना चाहिये। अन्य सब मार्ग भ्रामक होंगे क्योंकि वे स्थूल पदार्थों से बने हैं। भौतिक मन की अनेक धाराएं—इन्द्रिय वृत्तियां तथा भौतिक वायु की विभिन्न धाराएं—प्राणतत्त्व जैसे ही एक बिन्दु पर तीव्रता से मिलते हैं तो चेतना की गहन शक्तियों का व्यंजक तीव्र प्रकाश होता है। शक्ति की यह अभिव्यक्ति ही कुंडलिनी का प्रकाश एवं भूतस् से उसका आंशिक मोक्ष है। शक्ति का यह आविर्भाव, आंशिक होते हुए भी अविरलता से बढ़ता है और परम तत्त्व की असीमता में विलीन हो जाता है। इस तिरोभाव का अर्थ विनाश नहीं है, केवल विलय या ऐक्य है।

शक्ति की अनन्तता ही उसकी परमता है, शक्ति, चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त, एकता है। नित्य व्यक्त शक्ति ही ब्रह्म है, और उसी का दूसरा नाम शिव है। वह कर्म और भूत से मुक्त है किन्तु यह सत्य है कि इस शक्ति के एक अन्श को भूतस निगरण कर लेता है और ऐसी प्रतीति होती है मानो उसके मन से उसने अपनी एकता खो दी हो। नाथों का यह दावा है कि एक मात्र सद्गुरु अपनी सक्रिय शक्ति के द्वारा जो वास्तव में शिवेतर नहीं है, अपने

शिष्य की सुषुप्त शक्ति को सचेत कर सकता है। शिव और शक्ति का अन्तर वस्तुतः भेदहीन अन्तर है। इस संबन्ध में कहा गया है—

"शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव[1] ॥"

यह एक रहस्य है कि भौतिक तत्त्व शक्ति को कैसे आवृत कर लेता है। मगर यह सत्य है कि एक बार शक्ति के अनावृत हो जाने पर वह उस अनंत विश्व-कारण में खिंच आती है जो मुक्त है।

भौतिक तत्त्व ही शिव और शक्ति में भेद पैदा कर देता है। इस कारण इसके अतिक्रान्त हो जाने पर तथाकथित भेद विगलित हो जाता है। वास्तव में भौतिक पदार्थ कुछ नहीं है, परम तत्त्व से जीव के विप्रकर्ष के कारण भ्रामक प्रतीति है। यह परम तत्त्व शिव और शक्तिस्वरुप है। जब शिव और शक्ति का ऐक्य हो जाता है तो यह भ्रम नष्ट हो जाता है। योग का लक्ष्य इसी ऐक्य की प्रतिष्ठा है। तांत्रिक और नाथिक साहित्य में जो शृंगारिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं उनके भीतर भी इसी एकता का रहस्य निहित है।

जब तक जीव भूतस् से आबद्ध रहता है शिव को नहीं जान सकता, उसे आत्मानुभूति नहीं हो सकती। यह तभी संभव है जबकि उसकी शक्ति मुक्त हो जाये। शक्त्यावरण का अभिप्राय है (१) अपने कारणभूत शिव से विच्छेद (२) भूतस् के अन्ध-गर्भ में उसका (जीव का) निगरण तथा (३) अन्त में अदृश्य प्रकाश के उस गहन लोक में निमग्न हो जाना जो भूतस के कारण पैदा हो जाता है। पहली और दूसरी स्थिति 'प्रकृतिलीन' दशा है। यह सृष्टि से पूर्व की स्थिति है। तीसरी स्थिति प्राकृतिक बंधन की दशा है। इसमें भौतिक सापेक्षिक (Relative) शक्यों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। उदाहरण के लिए वायु ही ले सकते हैं जो इस शरीर में विषमाचार करती है। इसी प्रकार अन्य भौतिक शक्तियां भी हैं।

इस विषमता के निवारण के लिए योगी के अनेक साधन होते हैं। स्वाभाविक ढंग से भी यह विषमता कभी-कभी, चाहे एक क्षण के लिए ही सही, दूर हो जाती है। इसको 'संधि-क्षण' कहते हैं जो पूर्वकालीन साहित्य के

---

[1]. सिद्ध सिद्धान्त, ४·३७

'निरोध-क्षण' से मिलता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षण का काल बढाया जाये। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि—प्राणवायु के प्रवाह को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—दक्षिण प्रवाह तथा वाम प्रवाह। ये दोनों धाराएँ 'पोजिटिव' तथा 'निगेटिव' के रूप में विरोधी हैं किन्तु एक- दूसरी की पूरक हैं। सिद्धों और नाथों के साहित्य में इन धाराओं को सूर्या और चन्द्रा भी कहते हैं।[1] इन्हीं को हठयोग में क्रमशः पिंगला और इड़ा के नाम से अभिहित किया जाता है।

कुछ साधनों के द्वारा इन सूर्य और चन्द्र शक्तियों का निरोध सहज या मध्यमार्ग के खुलने में सहायक होता है। इस मार्ग को सुषुम्ना नाड़ी, ब्रह्म नाड़ी, या शून्य नाड़ी भी कहते है। इस मार्ग के खुलते ही (जो अब तक अवरुद्ध पड़ा था) बिन्दु, वायु और मनस् क्रियायोग से सूक्ष्म होकर, इसमें प्रवेश करके ऊर्ध्व-गामी होते हैं। कुण्डलिनी का जागरण, मध्यमार्ग का खुलना, वायु और मन की शुद्धि, प्रज्ञा का उदय, अहंकार और अविद्याग्रन्थि का विनाश—ये नाम एक ही क्रिया के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से रखे गये हैं। यह क्रिया एक दम सम्पन्न नहीं हो जाती क्योकि युगों की सचित वासना का विनाश धीरे-धीरे ही होता है। इस प्रक्रिया में समय लगता है। तंत्र-शब्दावली में नाथ लोग इसे 'षट्चक्रभेद' कहते हैं। यह प्रक्रिया नियत मार्ग की क्रमिक ऊर्ध्वगति है जो पाश्चात्य रहस्य-वादियों की विरेचन प्रक्रिया (Purgative process) तथा तांत्रिकों के उपासना-कांड की भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि से मिलती है।

ब्रह्म के गूढ़ मार्ग (ब्रह्म नाड़ी) को वैदिक ऋषि भी जानते थे। छोटे उपनिषदों के अतिरिक्त इसके ज्ञान का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् में भी है, जिसमें एक केन्द्रीय नाड़ी का उल्लेख आया है जो हृदय से मूर्धा तक जाती है। स्पष्टतः यह नाड़ी सुषुम्ना है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि मनके ऊर्ध्वगमन के संबंध में चार भिन्न मत हैं। इनके अनुसार

---

[1]. अमरांग शासन of गोरक्षनाथ—यत्र च मूलभगमण्डलान्ते कुण्डलिनी शक्तिर्विनिर्गता तत्र वामभागोद्भव सोमनाड़िका दक्षिणभागोद्भव सूर्यनाड़िका; चन्द्रो वामाङ्गव्यापकः सूर्यो दक्षिणाङ्गव्यापकः, चन्द्रो वामाङ्गे वामनासापुटं सूर्यो दक्षिणाङ्गे दक्षिणनासापुटं—इत्येवं सूर्यचन्द्रौ व्यवस्थितौ।

चार भिन्न स्थान ठहरते हैं जहाँ से मनका ऊर्ध्वगमन होता है—(१) मूलाधार चक्र, (२) नाभि, (३) हृदय तथा (४) भ्रूमध्यभाग।

वैदिक मतों के अनुसार मन का ऊर्ध्वगमन हृदय से होता है, किन्तु नाथों ने मूलाधार और नाभि से माना है। प्रत्येक दशा में वह स्थान सूचित होता है जहाँ मन और वायु एकस्थ होते हैं। बड़े ध्यान के पश्चात् यह मार्ग व्यक्त होता है। आलंकारिक भाषा में इस प्रकाश-पथ का एक सिरा ईश्वर या गुरु का सूचक है और दूसरा सिरा प्रकाशित जीव या शिष्य का और स्वयं मार्ग दोनों के संबंध का। निरन्तर अभ्यास से दोनों सिरों का अन्तर कम होता चला जाता है और योग-शक्ति बढ़ती चली जाती है। अन्त में मार्ग समाप्त हो जाता है और ईश्वर एवं जीव अथवा शिव और शक्ति का मिलन हो जाता है। इस मिलन को 'दोनों की एकता' भी कह सकते हैं क्योंकि दोनों तत्त्वों का अन्तर मिट जाने से अभेद सिद्ध हो जाता है।

यही शिव-शक्ति-सामरस्य है जो आनन्द रूप में व्यक्त होता है। आनन्द ज्ञान से प्राप्त होता है और योग की सहज अभिव्यक्ति ही ज्ञान है। यह ज्ञान पुस्तक-ज्ञान से भिन्न होता है। पुस्तकों से प्राप्त सैद्धान्तिक ज्ञान को नाथों ने हेय माना है क्योंकि वह भारमात्र होता है जो केवल अंधकार में डालकर भ्रान्त करता है, प्रकाश नहीं देता।

वास्तविक ज्ञान योग के बिना प्राप्त नहीं होता। बौद्धिक ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। इसीसे योगबीज (६४) में कहा गया है—'योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्' - वास्तव में इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो यह प्रकट करते हैं कि योग के बिना ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती हैं। असित, जनक, तुलाधार, धर्मव्याध, पैलवक, मैत्रेयी, सुलभा, शार्ङ्गी, शाण्डिली आदि के नाम इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

सिद्धों ने योग पर इतना बल इसलिए दिया है कि उसके बिना भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकता। कायिक परिमितियों से ऊपर योगी के सिवा कोई और नहीं उठ सकता। जब तक कायिक परिमितियाँ या बन्धन रहते हैं मानसिक स्थैर्य और आलोक संभव नहीं है क्योंकि कायिक परिमितियों का संबंध वासनाओं और भौतिक परतंत्रताओं से है। यह काया-

जाल अनेक व्याधियों का कारण है। यह पंचतत्त्व से प्रभावित होता है, शीत और धूप से खिन्न होता है और क्षय एवं मृत्यु का शिकार बनता है। योगियों का दावा है कि योग से इन सब दुर्बलताओं का निवारण हो सकता है।

नाथों के सिद्धान्तों के अध्ययन में कायिक शुद्धि को नहीं भुलाया जा सकता। योगी लोग उक्त दुर्बलताओं से युक्त शरीर को 'अपक्व कहते हैं। शारीरिक संबंध से दुख की अनुभूति होती है और आत्मा की सहज शक्ति आच्छन्न होती है। साधारण मनुष्य बड़े तप से भी इन्द्रियों और वासनाओं का दमन नहीं कर सकता। प्रयत्न करने पर भी मनुष्य के मन को प्राकृतिक तत्त्वों का प्रभाव विक्षुब्ध कर ही देता है। ऐसा ही मनुष्य परिस्थितियों का दास कहलाता है। स्थूल भौतिक शरीर से संबंधित दुर्बलताओं को तथाकथित ज्ञान दूर नहीं कर सकता। इसीलिए योगद्वारा शरीर की शुद्धि और परिपक्वता की आवश्यकता होती है।

शारीरिक शुद्धि का संबंध शारीरिक अमरता से भी है। इस अमरता पर नाथ बहुत जोर देते हैं। उनका मत है कि यदि स्थूल कायिक दोषों का परिहार हो जाये तो शरीर रोग, क्षय एवं मृत्यु से मुक्त हो सकता है। वह हलका हो सकता है, विचार की तीव्रता से वह आकाश में चल सकता है, इच्छानुसार कोई या कितने भी रूप धारण कर सकता है। किसी भी दीवार में होकर निकल सकता है, पत्थर में प्रविष्ट हो सकता है, जल में अक्लिन्न (undrenched) रह सकता है, अग्नि उसको जला नहीं सकती और वायु उसको सुखा नहीं सकती। वह सामने आकर भी अदृश्य हो सकता है। उसमें संकोच और विकास की योग्यता आ जाती है और भूतजय के फलस्वरूप उसमें सब शक्तियों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार का शरीर देवदुर्लभ होता है। यह शरीर आकाश से भी अधिक शुद्ध होता है। सिद्धकाय दिव्यदेह, योगदेह आदि अनेक नामों से ऐसे शरीर को अभिहित किया जाता है और इस परिवर्तन की प्रक्रिया (process) को देहवेध, पिण्डस्थैर्य, पिण्डधारण आदि नामों से पुकारते हैं।

इस संबंध में यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक युग और देश के रहस्यवादी अमर काया की इच्छा करते रहे हैं। हठयोग रसायन और तंत्र से सम्बन्धित साहित्य में इस प्रकार के शरीर के बहुत से उल्लेख

मिलते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार लौहवेध हो सकता है उसी प्रकार देहवेध भी हो सकता है अर्थात् जिस प्रकार लोहे का सोना बनाया जा सकता है उसी प्रकार कुछ साधनों से प्राकृतिक शरीर को अमर बनाया जा सकता है। प्राचीन रासायनिकों के पास कायाकल्प के उनके अपने साधन थे। जिनमें पारा, भुड़भुड़, गंधक आदि का अंश प्रमुख होता था। इस शरीर को वे 'रसमयी तनु' और 'हरगौरीसृष्टिजा तनु' कहते थे क्योंकि यह रस या 'पारा' (हरधातु या हरसृष्टि) और भुड़भुड़ (गौरीधातु या गौरीसृष्टि) का परिणाम होता था[1]।

रासायनिकों को जो सिद्धि पारा धातु से अभिप्रेत थी वही हठयोगियों को वायु-नियंत्रण से अभिप्रेत थी। इसीलिए कहा गया है कि वह कर्मयोग जिससे शरीर की स्थिरता प्राप्त की जाती है, रस और पवन नाम से दो प्रकार का माना जाता है[2]। प्रसिद्ध महायानी नागार्जुन, यह कहा जाता है, बड़ा भारी रासायनिक था जिसने अद्भुत शक्तियां सिद्ध कर रखी थीं। वह तांत्रिक और सिद्ध योगी भी था। उसके बहुत से अनुयायी भी उसी के समान यशस्वी थे। नाथ लोग स्पष्टतः नागार्जुन और उसके सिद्धान्तों से प्रभावित हुए थे। कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि नाथ लोगों का हठप्रक्रियाओं और रसायनशास्त्र के ऊपर समान रूप से अधिकार था।

हठ और रसायन, दोनों की प्रक्रियाओं में एक ही प्रकार की परिमितियां हैं। वे शरीर को शुद्ध, अमर और मुक्त बना देती हैं, किन्तु अपनी सीमाओं को पार किये बिना मन को स्थिर और शान्त नहीं बना सकतीं। वे जीवन-मुक्ति का उदय करती हैं जिसमें मन और वायु (प्राण) सहस्रार की शुभ्र व्यापक ज्योति से प्रकाशित आज्ञाचक्र में स्थिर हो जाते हैं। यह स्थिति दीर्घकाल तक रहती है और इस बीच में उपासना या राजयोग की दशा, जो उसके पश्चात् स्वभावतः प्राप्त हो जाती है, मन को धीरे-धीरे अनन्त में विलीन कर देती है। इससे यह स्पष्ट है कि हठयोग और रसायन

---

[1] देखिये, रसहृदय

[2] रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः।

की क्रियाओं के अन्त में ही राजयोग का वास्तविक क्षेत्र प्राप्त होता है[१]। राजयोग की समाप्ति पूर्णप्रज्ञा के अन्तिम प्रकाश में होती है। जिसकी प्राप्ति शुद्ध शरीर और मन (यथा सिद्ध शरीर की दशा) में ही होती है। प्राकृतिक एवं दूषित काया प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए अयोग्य होती है, यहां तक कि उससे अटूट ध्यान भी नहीं हो सकता।

गोरखनाथ ने एक 'केवल' 'तत्त्व' की भावना की है जो परमात्मा से अभिन्न है। वह भाव और अभाव, दोनों से परे है। उसका नामकरण तक नहीं किया जा सकता—

"वस्ती न शून्यं न वस्ती अगर अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महि बालक बोलहि वाका नाँव धरहुगे कैसा॥"

—(गोरखबानी)

इस 'केवलावस्था' की प्राप्ति ही जीव का मोक्ष है। इसकी साधना की विवेचना संक्षेप में इस प्रकार की गयी है—

"शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके यदि वायु के गमनागमन के मार्ग को भी अवरुद्ध कर लिया जाये तो उसका व्यापार चौसठ सिद्धियों में होने लगेगा जिससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक ऐसी सूक्ष्मता सिद्ध कर लेगा कि उसकी छाया भी नहीं पड़ सकेगी—

"अवधू नवघाटी रोकि लै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटे अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध॥"

—(गोरखबानी)

गोरखनाथ ने 'वासना' को विनाश का मूल कारण माना है। उनकी मान्यता है कि यदि साधक को वासना ने छू भी लिया तो फिर वह पीछे लग जाती है। वह सारी साधना को नष्ट कर देती है। कहते हैं—

---

[१] तस्मात् दिव्यंदेहं सम्पाद्य योगाभ्यासवशात् परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थ-प्राप्तिर्भवति।
देखिये—सर्वदर्शन संग्रह, रसेश्वर भाग। यहां 'योग' का अर्थ स्पष्टतः राजयोग है।

"नदी तीरे बिरिखा, नारी संगे पुरिखा,
अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपजी मेर खिसि पड़ई,
ताथैं कैंद बिनासा ।
गोड़ भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पंखियां ।
अमी महारस बाघणि सोख्या ।।"

—(गोरखबानी)

इस वासना का विनाश वैराग्य भावना के बिना कदापि संभव नहीं है । वैराग्य को सुदृढ़ करने के लिए इन्द्रिय-विषयों से पराङ्मुख होना आवश्यक है । जब तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से इन्द्रियां अपना सम्बन्ध रखती है अर्थात् जब तक ऐन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति रहती है तब तक वैराग्य-भावना कैसी ? इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह और वैराग्य-भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वस्तुत: वैराग्य-भावना से ही इन्द्रिय-निग्रह होता है । और तभी प्राण-साधना और मन:साधना बन सकती है । यही हठयोग-साधना का मूल रहस्य है । गोरखनाथ का कहना है—"हठयोग साधना से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाने पर अनाहतनाद सुन पड़ता है जो समस्त सार तत्त्वो का सार और गंभीर से भी गंभीर है । इसीसे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जो अपनी स्वसंवेद्यता के कारण अनिर्वचनीय है । उस स्थिति में ब्रह्मसाक्षात्कार के सिवा सब कुछ असत् और व्यर्थ प्रतीत होता है—

"सारमसारं गहर गंभीरं गगनउचलिया नादं ।
मानिक पायां केरि लुकाया झूठा वादविवादं ।।"

—(गोरखबानी)

इस प्रकार गोरखनाथ प्राणप्रक्रिया प्रधान योग-साधना को वेदाध्ययन से अधिक महत्त्व देते हैं । सर्वसाधारण के लिए यह सरलतम साधना है। इससे परमात्मा आत्मा में उसी प्रकार गोचर होने लगता है जिस प्रकार जल में चन्द्रबिम्ब । इससे शरीर भी शुद्ध होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है ।

गोरख-साधना के प्रथम सोपान पर मनोमारण और संतजीवन-यापन की प्रतिष्ठा है । पहले के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक रूपकों का उपयोग किया

है जिसमें मन-मृग के आखेट की चर्चा है। जो मनको मार लेता है वही सन्तों द्वारा 'मरजीवा' कहलाता है।

गोरखनाथ के समय तक तप का मूल्य आंका जाता था किन्तु उन्होंने अपनी साधना में जिस जाप की प्रतिष्ठा की उसमें जीभ और माला की आवश्यकता नहीं रहने दी। गोरक्षपद्धति में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥"

—(गोरखबानी)

श्वास-प्रश्वास के साथ चलने वाला यह आत्म-चिन्तन ही नाथ पंथियों का अजपाजाप है। इसे उन्होंने 'अजपा' गायत्री कहा है—

"अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥"

साधना की अन्य क्रियाएं इस जप में कोई व्याघात उपस्थित नहीं कर सकती, हां, थोड़े से अभ्यास की आवश्यकता अवश्य होती है। फिर तो यह जाप गुप्त रूप से निरन्तर स्वतः ही चला करता हैं। इसी की ओर संकेत करते हुए गोरखनाथ ने कहा है :—

"ऐसा जाप जपो मन लाई।
सोऽहं है अजपा गाई॥" —(गोरखनाथ)

इस जाप से साधना को दो प्रकार से सहायता मिलती है—एक तो मन की गति पंगु होती है और दूसरे ब्रह्म-भावना के उत्कर्ष से आत्मनिरति सिद्ध होती है। इसी को घटावस्था की सिद्धि कहते हैं—

"घरही रहिबा मन न जाई दूर। अहनिसि पीवें जोगी बारुनीसूर॥
स्वाद विस्वाद बाई माल छीनं। तब जांनिबा जोगी घट काल छीनं[1]॥"

आत्म-चिन्तन गोरख-साधना का मूल मंत्र है। आत्मा के सिवा गोरखनाथ को कोई भी अन्य वस्तु आकर्षक प्रतीत नहीं होती। "आत्मा ही मछली है, वही

---

1. गोरखबानी, पृष्ठ ४८, प १३७

जाल है, वही धीवर है, और वही काल भी। वही स्वयं मारता और खाता है। माया रूप में वह अनेक बंधन डालता है और जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर स्नान करने योग्य न तो कोई तीर्थ है और न पूजन करने योग्य कोई देवता है। अलक्ष्य और अभेद होते हुए भी जो कुछ है, वह वही है।

इस प्रकार गोरखवाणी के विषय आत्म-साधना से संबंधित हैं। उन्होंने अपने पूर्वजों से लाक्षणिक शैली लेकर भी उसका उपयोग अध्यात्म-क्षेत्र में ही किया है। रहस्यात्मक शैली का बीज-वपन वज्रयानियों के हाथों से होकर भी वह अपने वास्तविक अर्थ में नाथ-पंथ में ही प्रांकुरित हुआ। उलटबासियों का लिखित रूप यहीं से आरम्भ होता है। हिन्दी पहेली के जन्म का भी यही समय है। हिन्दी के विचित्र रूपक भी वस्तुतः नाथों से ही प्रचलित हुए। उलटबांसियों में जहां एक शैली दृष्टिगोचर होती है वहां प्रवर्तकों की एक प्रवृति का भी परिचय मिलता है। तांत्रिक और योगियों ने उलटी बातें कह कर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की और साथ ही अपनी शैली का प्रचार भी किया। 'हठयोग प्रदीपिका' के निम्नलिखित श्लोक से इसका परिचय मिल सकता है —

"गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारूणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥" ह० प्र०, ३-४७

किन्तु तत्काल ही वे स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"लोग कहते हैं कि गोमांस महापाप है और वारुणी-सेवन अयुक्त है। उनका यह भ्रम है। वास्तव में गोमांस-भक्षण पापनाशक है और वारुणी अमरता प्रदान करने वाली है। 'गो' शब्द जिह्वा-वाचक है और तालु में उसका प्रवेश ही गोमांस-भक्षण है। जिह्वा-प्रवेश से उत्पन्न हुई वन्हि के कारण उपरिस्थित चन्द्र से जो सार स्रवित होता है वही अमर वारुणी है। ऐसी कूटोक्तियों का प्रचलन सिद्धों की वाणी में पर्याप्त मिलता है और पीछे के संतकाव्य में इस पद्धति का उपयोग किया गया है, किन्तु यौगिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में, जिसमें आचरण पर आंच नहीं आने पाती।

गोरखनाथ ने सिद्धों के हाथ में हुई विकृत साधना को पुनः परिष्कृत करके उसमें नवीन प्राण फूंके। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर गोरखनाथ की

साधना-पद्धति भारतीय मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल मिलती है। धर्म-विकारी तत्त्वों पर गोरख-साधना में कठोराघात किया गया है तथा संयम एवं सदाचार से जीवन का निकटतम संबंध स्थापित करने का अमोघ प्रयत्न किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहजमार्ग की व्यवस्था का श्रेय वास्तव में गोरखनाथ को ही है।

गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार के लिए जन-समुदाय की भाषा को ही ग्रहण किया। इससे एक ही साथ दो काम हुए : सर्वसाधारण में नाथ-पंथ का प्रचार हुआ और जन-भाषा को विकसित होने का अवसर मिला। गोरखनाथ संस्कृत भाषा के भी पंडित थे, अतएव इनकी रचनाएं हिन्दी के साथ साथ संस्कृत में भी हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने मराठी भाषा भी अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया। 'अमरनाथ-संवाद' और 'गोरक्ष-गीता' इसी भाषा में हैं। मिश्रबन्धु ने ब्रज भाषा में भी उनके एक ग्रंथ का उल्लेख किया है जिसमें पूछिबा, कहिबा आदि राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग है।

गोरखनाथ की रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ भी कहना सहज नहीं है। डा० बड़थ्वाल ने उनकी 'सबदी' को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है, किन्तु डा० मोहनसिंह की दृष्टि में 'गोरखबोध' ही उनकी सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। चाहे गोरखनाथ कृत रचनाओं की प्राचीनता पर संदेह किया जाय, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती सन्तकाव्य नाथ-पंथ की साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक मान्यताओं से बहुत प्रभावित हुआ है। सन्त काव्य में ब्रह्मचर्य, वाणी-संयम, मनः शुद्धि, ज्ञाननिष्ठा, बाह्याचारों का अनादर आदि का जो चित्रण मिलता है उसका मूल स्रोत भी नाथ-वाणियां ही हैं। यद्यपि कबीर आदि कुछ मेधावियों ने बहुत सी मौलिक उद्भावनाएं भी प्रस्तुत कीं, किन्तु उनकी वाणी के अधिकांश विषय नाथों की भूमिका से ही चुने गये थे। यह माना जा सकता है कि गोरखवाणी रूखी तथा सिद्धों के विरोध में गृहस्थ-जीवन के प्रति अनादर प्रकट करने वाली थी, किन्तु योग की दुस्तर साधनाओं को भी उन्होंने जीवनोपयोगी रूप में प्रस्तुत करके धार्मिक भावनाओं को प्रेरित किया। साथ ही गोरखनाथ ने अपनी कृतियों के द्वारा परवर्ती साहित्य को संवाद-शैली प्रदान की जिसका प्रणयन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा विश्वास एवं मत के प्रचार के निमित्त किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी साधना पद्धति में गोरखनाथ ने बहुत सी बातें सिद्धों की भी समाविष्ट कर लीं, किन्तु अनेक बातें उन्होंने नितान्त मौलिक रूप में भी प्रस्तुत कीं। गृहस्थ जीवन के प्रति उनकी अरुचि में उनकी मौलिकता को नहीं भुलाया जा सकता। योग को गोरखनाथ ने योग के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, वरन् उसे एक तत्त्वसिद्धि के साधन के रूप में भी लिया। वज्रयानियों ने जिस योग को प्रमुखतया कायिक बना रखा था और जिसमें विकृताचरण भी समाविष्ट हो गया था उसी को गोरखनाथ ने न केवल मानसिक आधार प्रधान किया, वरन् आध्यात्मिक सीमा पर भी पहुंचा दिया। उनकी कुछ वाणियों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मवाद में उपासना के छींटे भी दिये हैं। जैसे—

"तुझि पर वारी हो अणघड़ीया देवा।

× × ×

सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहं नहिं घड़ीया।

× × ×

गोरख कहै गुरू के सबंदा तूं ही घड़नैहारा[1]।"

अपने 'निरंजन नाथ' की आरती गाकर भी अपनी योग साधना में भाव पुट का संकेत किया है। जिसको वे नाथ कहते हैं, जो निरंजन है वही हरि नाम धारी है। इन नामों के अभेद के द्वारा हम कबीर तक पहुंच सकते हैं और उनकी वाणियों में हम गोरखनाथ का लक्ष्य खोज सकते हैं। किन्तु जबकि गोरख का नाथ, निरन्जन या हरि योगसाध्य है, कबीर का हरि, राम या निरंजन प्रेमसाध्य है। कबीर योग को प्रेम का सहयोगीमात्र बना लेते हैं। यही दोनों की साधना का मौलिक अन्तर है[2]।

गोरखनाथ बाह्याचार के विरोधी थे। इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिये कि वे सदाचार के भी विरोधी थे। सदाचार का सम्बन्ध उन्होंने मन और वाणी से भी मान रखा था। इसीलिए वे ऐसे आचरण को जो मन के विरोध में होता था मिथ्याचार मानते थे। ऐसे ही आचरण के प्रति उनका कहना है—"लोग आचार आचार कहा करते है। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? भोजन में जो घी देते हो वह भी तो चर्मपात्र अर्थात् पशुधन से ही आता है? चलते समय पैरों में जो जूते पहने

---

1. गोरखवाणी, पृष्ठ १५४-१५८

2. गोरखवाणी, पृष्ठ १५७-१६१

जाते हैं वे भी चमड़े के ही होते हैं। शयन में स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दीजिये × × ×। सूर्यादि ग्रहण के अवसरों पर मिट्टी के पात्र और जलादि को अशुचि समझ कर त्याग दिया जाता है, किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक दिया जाता? बात तो यह है कि जलाशय में जल तो बहुत प्राप्त हो सकता है और कुम्हार के घर मिट्टी के पात्र भी थोड़े ही पैसों में प्राप्त हो जाते हैं तो फिर क्यों न उन्हें अपवित्र समझ कर आचारवान् होने का दावा किया जाये? इधर घृत और धान्य आदि को मोल लेने में अधिक पैसे लगते हैं, इसलिए उन्हें अपवित्र नहीं माना जाता। कहां तक इस प्रकार की बातें लिखी जायें! वास्तविकता तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है और बुद्धिमान लोग इस पर तनिक भी विश्वास नहीं करते[1]।" उन्होंने केवल आचार का ही खंडन नही किया, अपितु द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि आदि मतों में दोष दिखला कर शिव-शक्ति में अभेद स्थापित किया और काम-त्याग पर जोर देते हुए उन्होंने शून्य में ईश्वर की भावना की[2]। इसी शून्य में कबीर आदि सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म को देखा।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त-मत को नाथ-पंथ से बड़ी प्रेरणा मिली। वैराग्य को मन के क्रियात्मक नियंत्रण से संबंधित करके नाथपंथ ने जो साधना-पद्धति अपनायी, सन्तमत ने उसीको अधिकांशतः मान्यता दी। नाथों ने भूत-शुद्धि और भूत-सिद्धि पर विशेष ज़ोर दिया, किन्तु कबीर आदि सन्तों ने मन की शुद्धि और सिद्धि पर विशेष बल दिया। नाथ-पंथियों ने मन का संबंध इन्द्रियों के द्वारा शरीर से स्थापित किया है और शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि का संबंध स्थापित किया है। यद्यपि नाथों की यौगिक क्रियाएँ एक प्रकार से यांत्रिक हैं, किन्तु कुछ स्तुतियों से उनकी वाणी की रागात्मकता भी स्पष्ट है। कबीर ने मन के संबंध को दोनों ओर देखा है—शरीर की ओर और परमात्मा की ओर। एक ओर वे नाद द्वारा मन के शून्यीकरण तक पहुंचते हैं जो दुख और सुख से ऊपर की लोकोत्तर अवस्था हैं, दूसरी ओर वे परमात्मा के प्रेम द्वारा मन को बाँध कर परमात्मा में विलीन कर देते हैं। कबीर की साधना में रागात्मिका वृत्ति की ही प्रधानता है। नाथ-साधना प्रत्यक्ष प्रमाणों

---

[1] देखिये, गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ ६०-६१

[2] देखिये, क्षितिमोहन सेन।

पर आश्रित है, किन्तु सन्तों ने चित्तवृत्तियों के निरोध तक ही नाथों का साथ दिया है। रागात्मिका वृत्ति के द्वारा तत्वानुभूति की ओर प्रगति उनकी साधना-पद्धति की मौलिकता है। कबीर ने नाथ-साधना की शुष्क सरिता में प्रेम का प्रवाह देकर मन को न केवल विलय के लिए बाध्य किया, अपितु रंजन का अवसर भी दिया। इस प्रकार कबीर ने सार-संग्रह के बल से जो मार्ग प्रस्तुत किया उसमें शंकराचार्य, गोरखनाथ, रामानंद के साथ-साथ सूफियों का भी सहयोग है।

भाषा और शैली की दृष्टि से तो कबीर ने गोरखनाथ का अनुकरण अधिकांश में किया है। वही जन-साधारण की बोली, वही उलटबासियाँ और विचित्र रूपक। उपमानों के क्षेत्र में कबीर की मौलिकता सिद्ध है। वे लोक-जीवन से उतरे हैं। कबीर की अनुभूतियों ने उनकी वाणी को उपमान प्रदान किये हैं। जीवन के दैनिक व्यापारों से चुने उपमानों ने उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों को बड़ी सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि लोक-जीवन से कबीर का निकट संबंध रहा है, दूसरी यह कि उनकी अध्यात्म-विवेचना काल्पनिक नहीं, आनुभूतिक है। जगत् और ब्रह्म, स्थूल और सूक्ष्म, असत्य और सत्य के बीच उन्होंने जो अनुभूतियाँ संकलित की हैं वस्तुतः वही कबीर-बाणी है। कबीर-बाणी में जो कहीं-कहीं तीव्रता और तीक्ष्णता है वह गोरख-वाणी में नहीं दीखती।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सिद्धों ने एक बड़ी भारी क्रान्ति को जन्म दिया, किन्तु आचरण के भ्रंश की दिशा में उन्होंने जो कदम उठाया उसको भुलाया नहीं जा सकता। उनके सम्प्रदाय में मद्य, मंत्र, हठयोग और स्त्री को प्रमुखता दी गयी थी और एक नवीन साधना की आड़ में आचरण को ताक में रख दिया गया था। जिस योग का आधार कभी ब्रह्मचर्य था वही मद्य और महामुद्रा से संबंधित होकर क्या हो गया? कहने की बात नहीं। सिद्धों के मंत्र और हठयोग चमत्कार की वस्तु बन गये जिन्होंने शताब्दियों तक भोली जनता को भ्रम में रखा। जो बौद्ध धर्म सदाचार को लेकर आगे बढ़ा था, वह वज्रयान के हाथों में इतना पतित हो जायेगा, कौन जानता था!

फिर भी यह कहना असंगत नहीं है कि सिद्धों ने धर्म, आचार और दर्शन के क्षेत्र में क्रान्ति को जन्म तो दिया ही। "वे सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियों को

उखाड़ फेंकना चाहते थे, यद्यपि जहाँ तक मिथ्याविश्वास का संबंध था, उसमें वे कई गुनी वृद्धि करने वाले थे।······इन्हीं रूढ़ियों के साथ भाषा का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। सिद्धों ने लोक-भाषा में कविता शुरू की क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि भारत के अन्य धर्मवालों की भाँति वे भी किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करें क्योंकि इससे धर्म का ज्ञान थोड़े से लोगों तक ही सीमित रहता था। सिद्धों ने वज्रयान की जनता पर विजय पाने के लिए भाषा की कविता का सहारा लिया।······आदि सिद्ध सरहपा से ही हम देखते हैं कि सिद्ध बनने के लिए भाषा का कवि होना, मानो एक आवश्यक बात थी[1]।" "सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलाप का खुले आम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें ; इसीलिए वे, एक तो, विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को ही उसे सुनने का अवसर देते थे, दूसरे, भाषा भी ऐसी रखते थे जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार दोनों में लग जाये। इस भाषा को पुराने लोगों ने संध्या भाषा कहा है और आजकल उसे 'निर्गुण', 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' कह सकते है। गुप्त रखे जाने के ही कारण हमें 'प्राकृत पैंगल' जैसे ग्रन्थों में इन काव्यों का कोई उद्धरण नहीं मिलता।"[2]

सिद्धों का समय राहुल सांकृत्यायन के मत से १२वीं शताब्दी का अन्त ठहरता है। यदि इस समय को चौदहवीं शताब्दी के अन्त से अर्थात् कबीर के समय से जोड़ा जा सके तो सिद्धों और सन्तों की कविता के प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़ने वाली शृंखला नाथपंथ की कविताएँ हैं[1]।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर को नाथपंथ से बड़ी प्रेरणा मिली क्योंकि विदेशियों और विधर्मियों के प्रहार तथा अपनी भीतरी निर्बलताओं के कारण बौद्ध धर्म तो भारत से विलीन हो चला था और नाथपंथ उससे

---

[1]. राहुल सांकृत्यायन—पुरातत्त्व-निबन्धावली, पृष्ठ १६०

[2]. राहुल सांकृत्यायन—पुरातत्त्व-निबन्धावली, पृष्ठ १६०

[1]. राहुल सांकृत्यायन—पुरातत्त्व-निबन्धावली, पृष्ठ १६१

शिक्षा ग्रहण कर अपनी रक्षा के लिए अनीश्वरवादी से धीरे-धीरे ईश्वरवादी हो गया। कबीर के समय वही एक ऐसा पंथ था जिसकी वाणियों का व्यापक प्रचार था और जिसके सत्संगों की सर्वसाधारण पर छाप थी। भारत में दूर-दूर के प्रान्तों में अबतक फैली हुई नाथपंथ की गद्दियां उसके विशाल विस्तार की सूचना देती हैं।

सिद्धों और नाथों के निमित्त किसी सन्देह के लिए अवकाश नहीं है क्योंकि गोरख-सिद्धान्त-संग्रह में दी हुई सिद्धों की नामावली में मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ के नाम भी सम्मिलित हैं जो नाथ पंथ के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी थे और बौद्धधर्म से मिली हुई थाती में उनके पास प्रमुखतः 'अनीश्वरवादिता' रह गयी थी, किन्तु नाथपंथ में ईश्वरवाद की ओर लौटने पर भी अभी निर्वाण, शून्यवाद के साथ-साथ वज्रयान की कुछ लहरें भी लहरा रही थीं।

कबीर का सिद्धों से सीधा सम्बन्ध बनने का तो प्रश्न ही नहीं है। निर्वाण, शून्य और सहज को उनकी बाणी में देख कर उनका सिद्धों से संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। ये शब्द नाथपंथ में आते-आते बहुत कुछ अर्थ बदल चुके थे और बहुत कुछ अर्थ-परिवर्तन उन्होंने कबीर के हाथों में देखा। कबीर-कालीन वातावरण में नाथपंथ की लहरें देख कर कबीरवाणी के साथ उनका सम्बन्ध खोजना न तो अनुचित है और न कठिन ही, किंतु सैद्धान्तिक क्षेत्र में कबीर की मौलिक देन को नहीं भुलाया जा सकता। कबीर सिद्धों के वातावरण में नहीं रह रहे थे फिर भी वे उनको भूले नहीं थे। उनकी विकृतियों को कबीर-जैसा साधक कभी सहन नहीं कर सकता था। सिद्ध-साधना के सम्बन्ध में उनकी धारणा अच्छी नहीं थी। उनकी यह साखी इस बात को व्यक्त करती है—

"धरती अरू असमान बि, दोई तूंबड़ा अबध।
षट दर्शन संसे पड़या अरु चौरासी सिद्ध[1]॥"

यह विरोध देखकर भी कबीर को सिद्धों से सम्बन्धित करने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती। जिस प्रकार सिद्धों और नाथों के सिद्धान्तों

---

[1]. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४

को देखकर उनकी परम्परा को किन्हीं दो स्रोतों से नहीं देख सकते उसी प्रकार कबीर को उस परम्परा से विलग नहीं कर सकते। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी और नाथ ईश्वरवादी हो गये, किन्तु इससे उनकी परम्परा खंडित नहीं होती बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कबीर का रागात्मक ईश्वरवाद नाथों के शुष्क ईश्वरवाद की परम्परा से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। सिद्धों के प्रयत्नों में वर्गवाद और वर्णवाद का विरोध कोई नया कदम नहीं था, धार्मिक अनुगमन था। फूस अग्नि को ग्रहण करता हैं, यह एक तथ्य है। यदि वह ग्रहण नहीं करता तो इतना आर्द्र है कि वह अग्नि को नहीं पकड़ता, अन्यथा बड़े आश्चर्य की बात है। यदि विषयों के प्रस्तुत होते हुए भी इन्द्रियां उनको ग्रहण नही करतीं तो स्पष्ट है कि मन पर इतना नियंत्रण है कि इन्द्रियां अपने-अपने विषय से निरपेक्ष हो गयी हैं। वज्रयान में महामुद्रा और मद्य के सेवन के सम्बन्ध में इसी सिद्धान्त का ब्याज हो सकता है। यह सिद्धान्त सिद्धान्तरूप में तो बहुत ऊँचा था, किन्तु इसके व्यावहारिक रूप में जो भय था वही सिद्धों के दुराचार में व्यक्त हुआ। नाथों ने उनके योग को तो स्वीकार किया किन्तु उसे सदाचार पर आधारित करके साधना में परिवर्तन किया। सिद्धों की साधना का लक्ष्य वह आनन्द था जो क्रियात्मक ढंग से मन के शून्यीकरण में उपलब्ध है। नाथों ने उस आनन्द को तो स्वीकार किया, किन्तु ईश्वर साक्षात्कार के परिणाम रूप में उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार मन की वृत्तियों के निरुद्ध होने पर ही सम्भव माना और उक्त निरोध के निमित्त उन्होंने हठयोग का आश्रय लिया। कबीर ने इस ईश्वरवाद में भक्ति का पुट देकर रागात्मकता भर दी जो स्पष्टतः रामानन्द का प्रभाव था, किन्तु विरह-तीव्रता में सूफी-प्रेम-भावना भी उतनी ही स्पष्ट है जिसको संतों ने ही नहीं कृष्ण भक्तों ने भी अपनाया।

इस प्रकार कबीर ने सिद्धों के ही योग, विचित्र ढंग और शैली को अपना कर नाथ-पंथ पर अधिकार प्राप्त किया। चाहे नाथ-पंथ अब भी जीवित हो, किन्तु कनफटे जोगियों की बाणियों में कबीर का स्वर भी लहराता दीख पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने नाथपंथ को ही अपनाया, अपितु प्रेम की धरा पर योग और ज्ञान के उपकरणों से वैष्णव भक्ति का एक नूतन किन्तु भव्य भवन निर्मित किया जिसमें अनेक अच्छाइयों का ही संग्रह नहीं था, अपितु क्रिया, ज्ञान और उपासना का मधुर मिलन भी था।

●

: ७ :

आलोचना-पद्धति

कबीर अपने समय के आलोचक थे। उन्होंने समाज को बड़े ध्यानपूर्वक देखा, उसकी भलाई-बुराई दोनों का पर्यवेक्षण किया। समाज में जो 'सुरूप' था उसका उन्होंने आदर किया और उसके प्रति सन्तोष व्यक्त किया ; और जो 'कुरूप' था उसकी निन्दा की। सुरूप और कुरूप दोनों सामाजिक पक्षों पर ध्यान रखते हुए भी उन्होंने कुरूप को बड़ी सूक्ष्मता से देखा। समाज की छोटी से छोटी बुराई भी उनकी दृष्टि से दूर न हो सकी। उसके निकाल फेंकने के लिए उन्होंने आलोचना एवं भर्त्सना का मार्ग अपनाया।

कबीर का लक्ष्य आलोचना करना नहीं था। वे आलोचना के लिए आलोचना नहीं करते थे, बुराइयों को नष्ट करने के लिए ही आलोचना करते थे। इसलिए इनकी आलोचना को निन्दा के क्षेत्र में नहीं रख सकते। निन्दक का लक्ष्य मिथ्यावाद करना है और आलोचक का लक्ष्य विद्यमान दूषणों को सामने रखना—सामने भी इसलिए कि वे दूर हो जायें। इससे कबीर का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है।

कुछ लोग कबीर को ईश्वर-भक्त कह कर उन्हें अन्य क्षेत्रों में खींच लेने का प्रयास करते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर-भक्त सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता हुआ सबको समान समझता है। वह सबके प्रति प्रेम और दया भाव रखता है। जीवमात्र के प्रति प्रेम को ईश्वर-भक्त ईश्वर-प्रेम से भिन्न नहीं समझता, किन्तु कबीर की स्थिति दूसरी है। वे एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं ने उनको विकल कर दिया था। वे उनको मिटा कर समाज में समता की प्रतिष्ठा कर देना चाहते थे। कबीर का 'भक्त' उसी समता की भावना से प्रस्फुटित हुआ, वह उनके व्यक्तित्व के विकास की ही एक स्थिति है। साधना के पथिक होने

के नाते उनका संबंध पहले समाज से हुआ है, फिर ईश्वर से। सामाजिक संवेदना ने उन्हें ईश्वरोन्मुख किया है क्योंकि समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए, उसमें भ्रातृत्व की भावना भरने के लिए पितृत्व की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है।

कबीर की आलोचना साम्य की भावना से प्रादुर्भूत हुई है, किंतु कबीर का साम्यवाद निरीश्वरवादी नहीं है। उसमें यांत्रिक जड़ता नहीं है। उसका धरातल प्रेम और विश्वास है। उसका मूल सत्य और अहिंसा है। उसकी साधना सरल और सुबोध है। अहंकार, दम्भ, पाखंड, स्वार्थपरता, छल, निंदा, भेद आदि उसके विरोधी भाव हैं। उनमें कबीर का साम्यवाद नहीं पनप सकता। वह किसी महेश या नरेश की नीति से संबंधित नहीं है। उसका क्षेत्र मानवता है। उसका सहज कोमल स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध कर लेता है। जो सब जीवों में परमात्मा की सत्ता का अनुभव नहीं करते, उनको कबीर भ्रान्त मानते हैं और वे शीघ्र ही कह डालते हैं—

"यह सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
सांचें मारें झूठ पढ़ि, काजी कर अकाज[1]॥"

कबीर के साम्यवाद ने संकीर्णता का, सम्प्रदायवाद का बहिष्कार कर दिया है, किन्तु धर्म के व्यापक रूप (मानवता के आधारभूत रूप) के प्रति उसका आग्रह है। वे राम-स्नेही को सच्चा मानव मानते हैं क्योंकि वही सत्य का वास्तविक रूप समझता है, वही अहिंसा का सम्मान करता है और वही एकता का पुजारी है। इसलिए कबीर शाक्त और ब्राह्मण से दूर रह कर ईश्वर भक्त के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हैं—

"साषत बांमण मति मिलैं, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानौं मिले गोपाल[2]॥"

कबीर का साम्यवाद वह साम्यवाद है जिसमें धर्म है, किन्तु व्यापक और उदार; ईश्वर है, किन्तु सर्वव्यापी; वह मन्दिर, मस्जिद और गिरिजा की सीमाओं में सीमित नहीं है। उसकी साधना में सरलता और कोमलता और लक्ष्य में एकता है जिसकी सत्ता समाज को प्रेम-निधि और व्यक्ति को विभोर कर

---

[1]. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२
[2]. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१

सकता है। वह एक आदर्श है जिसकी ओर कबीर के प्रयत्न यथार्थ को प्रेरणा दे रहे हैं।

इसी साम्य की प्रतिष्ठा के लिए कबीर ने सामाजिक विकृतियों की निन्दा की है। वे विकृतियों का विनाश चाहते हैं, व्यक्तिमात्र की उनसे मुक्ति चाहते हैं। लौकिक विकृतियों से निकाल कर वे मानव को उस स्थिति में देखना चाहते हैं जिसे लोक-भाषा में साम्य कहते हैं और जिसे दार्शनिक परिभाषा में आत्म-साक्षात्कार भी कहते है। विकृतियों के निवारण के निमित्त वे भर्त्सना तक का प्रयोग कर डालते हैं जिससे उनकी वाणी कटु और कर्कश प्रतीत होने लगती है।

अपने समय और समाज की कुत्साओं और आवश्यकताओं से कबीर इतने सुपरिचित थे कि उनका ध्यान उनसे हटता ही न था। उन्होंने गोपीचन्द, गोरखनाथ, नामदेव और जयदेव का स्मरण लोगों को इसलिए दिलाया कि वे उनके मार्ग का अनुसरण करें अन्यथा कल्पना के भीने आवरण से भूत के स्वर्ण लोक की ओर देखने की उन्हें कभी चिंता नहीं हुई। यदि उनका ध्यान कभी उस ओर गया भी तो भक्ति, प्रेम और ईश्वरीय न्याय को प्रमाणित करने वाली प्रथित घटनाओं अथवा अनुश्रुतियों से प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने समय की कुत्साओं और रूढ़ियों पर और भी अधिक निर्मम आघात किये। एक महान् आत्मा को धारण करने के कारण वे विचक्षण भविष्य-द्रष्टा थे। आदर्श की मधुमयी भूमिका पर वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो सुख-दुख के द्वन्द्वों से परे है, जहाँ व्यक्ति वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त है और जहाँ अखंड प्रेम की ही अनुभूति शेष है :—

"कबीर हम बासी उस देश के, जहँ जाति वरण कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होइ रहा, वेह मिलावा नाहिं॥"

सामान्य दृष्टि से उक्त उद्धरण में आध्यात्मिक अनुभूति की विशुद्धता ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें गहराई में जाने को प्रेरित करता है। वस्तुतः वर्तमान जीवन के अभावों ने प्रक्षिप्त होकर कबीर के अन्तर में इस निराले भाव-लोक की सृष्टि की जिसमें शब्द-ब्रह्म का आनन्दमय मिलन है और जहां जड़ अचेतन की कलई खोल दी गयी है।

इस लोक में वे सबको प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि उसी स्तर पर स्थिति एकता है। सत्य का न्यायमय पथ ही इसका सरल एवं सीधा मार्ग है। उन्हें अपने समय में जो बुराइयां दृष्टिगत हो रही हैं उनमें विषमता का विलास है, असत्य और अन्याय की क्रीड़ा है। फिर भी दंभी और पाखण्डी लोग उसे वेष द्वारा छिपाने का प्रयत्न करते हैं। कबीर उनको चेतावनी देते हैं कि उनका यह मिथ्याचार उनकी मुक्त नहीं होने देगा—

> "का नांगे का बांधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम-राम।
> नागें फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई॥
> मूंड मूंडायें जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंती कोई॥
> ब्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै कौंण परम गति पाई।
> पढ़ैं गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न वारा।
> कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई[1]॥"

कबीर जानते थे कि मंदिर और मस्जिद समाज की एकता को खंडित करने वाले थे, अतएव उनके सम्बन्ध में जो भ्रम था उसके विरुद्ध उन्होंने एक बहुत ऊंची आवाज उठायी। यदि परमात्मा मूर्ति में रहता है, मंदिर में उसका निवास है और अल्लाह मस्जिद में रहता है तो दूसरे स्थानों में किसका वास है, उनका स्वामी कौन है—

> "अल्लह एकु मसीति बसतु है, अवर मुलकु किसु केरा।
> हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा[2]॥"

उन्होंने समाज में भरे हुए कपट को देखा और साथ ही उन रूढ़ियों को देखा जो आपस में भेद-भाव पैदा करती हैं। हृदय कपट से पूर्ण है फिर भी लोग दिखावे के लिए पुरी में जा जा कर स्नान करते हैं या मस्जिद में जा जा कर सिज्दा करते हैं। ये सब आचार व्यर्थ हैं। उन्होंने हृदय की शुद्धता पर विशेष बल दिया और तीर्थ, नमाज़ आदि के मिथ्याचारों पर करारी चोट देते हुए वे कहते हैं—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १३२

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-२६६

'कहा उड़ीसे मज्जन कियां, क्या मसीत सिर नायें ।
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जायें[1] ॥"

बहुदेववाद में विश्वास भी सम्प्रदायवाद का प्रेरक था ग्रौर सम्प्रदाय समाज में एकता के स्थान पर ग्रनेकता ही फैलाते थे, इसलिए कबीर ने एक परमात्मा की शरण में जाने का ही निर्देश किया—

"कहत कबीर सुनहु नर नरवै परहु एक की सरना[2] ।"

कबीर ने वास्तव में रूढ़ियों ग्रौर ग्राचरणों की ग्रालोचना की है ग्रौर ग्रालोचना करते समय इन्होंने कुछ को ही ग्रपना लक्ष्य बनाया है। यों तो सामान्य ग्रालोचना के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति ग्रा जाता है, किन्तु मूर्ति-पूजा, तीर्थव्रत, रोज़ा, नमाज़ ग्रादि के संकेतों से वे धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर ग्रपने वाग्बाण छोड़ते है। धर्मों के क्षेत्र में भी वे उनके ठेकेदारों तक जा पहुंचते हैं। पंडित, मुल्ला, ग्रवधू ग्रादि धर्म-प्रतिनिधि हैं। कबीर इन्हीं को संबोधन करके इनके रूढ़ाचारों की ग्रालोचना करते हैं। इनके संबोधन व्यंग्य प्रधान भी हैं जिनमें ये मधुर चुटकियां भर कर घायल कर देते हैं। प्रायः कबीर की ग्रालोचना बड़ी तीव्र होती है। वे मर्म पर चोट करते हैं। वे चोट केवल चोट करने के लिए नहीं करते, ग्रपितु भ्रम एवं मिथ्याचार को दूर करने के लिए करते हैं। वे धर्म ग्रौर कर्म के उस खोखलेपन पर ग्राघात करते हैं जिसमें कोई तथ्य नहीं है। मुल्ला को सम्बोधित करके कबीर ने ऐसे ही ग्राघातों का परिचय दिया है—

"मुल्लां कहां पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरिपूरि ।
यहु तो ग्रलह गूंगा नाहीं, देखै खलक दुनी दिल माही[3] ॥"

संबोधन के साथ कबीर ग्रपना निर्णय भी सुना देते हैं। जहां वे प्रश्न करते हैं वहां उनका लक्ष्य संकेतित रहता है, किन्तु ऐसे भी ग्रनेक स्थल हैं जहां प्रश्नों के ग्रन्त में उनका निर्णय गुंथा रहता है। उक्त पद में प्रश्न भी है ग्रौर उत्तर भी। ग्रंतिम पंक्ति में उन्होंने जो निर्णय दिया है वह कटु ग्रौर तीव्र है—

---

[1]. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-६

[2]. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-६

[3]. कबीर-ग्रन्थावली पद ६०, पृष्ठ १०७

"कहै कबीर यहु मुलनां झूठा, राम रहीम सबनि में दीठा[1] ।"

कबीर किसी अपराधी को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु मिथ्याचार को क्षमा नहीं कर सकते। वे उसके पीछे पड़ते हैं, उसे नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते हैं और इसी प्रयत्न में मुल्ला, पांडे और काजी को खरी-खरी बातें सुननी पड़ती हैं। पांडे वेद पढ़ता है, किन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं दीख पड़ता। यह देख कर कबीर क्षुब्ध हो उठते हैं—

"पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
तूं राम न जपहि अभागी।
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चन्दन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नांहीं, अंति पड़ै मुखि छारा ॥
बेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रांमां।

× × ×

जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधारम कहां है भाई।
आपन तौ मुनि जन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई[2] ॥"

कबीर के समय में धार्मिक मामलों का फैसला काजी के हाथों में होता था। वह कुरान शरीफ के आधार पर फैसला देता था। उसके न्याय में हिन्दू मुसलमान का भेद-पक्ष रहता था जिससे वैमनस्य की ज्वाला को और भी अधिक भड़क उठने का अवसर मिलता था। यह देख कर कबीर कब मौन रहने वाले थे? किसी दंड का भय उन्हें मूक नहीं कर सकता था। क्रान्ति की प्रेरणा उनको आतुर कर देती थी। वे वाणी की चिन्ता नहीं करते थे, उसकी सजधज का खयाल उन्हें नहीं होता था, अतएव वाणी स्वयं उनके उद्गारों को संभालती फिरती थी। हिन्दू और तुर्क के भेद के विरोध में उनके उद्गारों को देखिये—

"काजी कौन कतेब बषानैं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहि जानैं।
सकति से नेह पकरि करि सुंनति, यहु नबदूं रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपैं करि किन जाई।

---

1. कबीर-ग्रन्थावली, पद ६०
2. कबीर-ग्रन्थावली, पद ३६, पृष्ठ १०१

हौं तौ तुरक किया करि सुंनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिन्दू रहिये।
छांड़ि कतेब रांम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेब कबीर भगति की, काजी रहे भख मारी[१]॥"

इस प्रकार अन्याय और पाखण्ड के कारण उत्पन्न हुई जीवन की विषमताओं की कबीर ने बड़ी कटु आलोचना की जिसमें कबीर के अन्तर की तीव्र व्याकुलता फूट पड़ी। अपने समय की जितनी कटु आलोचना और समकालीन बुराइयों पर जितने भीषण प्रहार कबीर ने किये उतने शायद और किसी ने नहीं किये। उनकी आलोचना में तीव्रता, कटुता, भर्त्सना, भय, मोहन और संवेग, सबका यथावसर उपयोग किया गया है।

कबीर का लक्ष्य केवल आलोचना करना नहीं था, बुराइयों को मिटाना था। वे किसी दूषण को समाज में नही देखना चाहते थे, विशेषतः उस दूषण को जो समाज की एकता को भ्रष्ट करने में प्रवृत्त था क्योंकि दूषित समाज में वे घुटने लगे थे। उस घुटन को वे सहन नहीं कर सकते थे। कुछ आलोचकों के विचार से कबीर की आलोचना-पद्धति में समाज के निर्माण के लिए कोई उपकरण नही है। समाज के लिए उनकी वाणी का केवल निशेधात्मक मूल्य है। यह आरोप ठीक नहीं है। कबीर सहज स्वाभाविक प्रेममय जीवन के प्रचारक थे। उसी में वे कल्याण को देखते थे। यह ठीक है कि वे समाज की बुराइयों को निकाल कर फेंक देना चाहते थे, किंतु यह भी ठीक है कि वे एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। निर्दोष समाज में ही कबीर के आदर्श समाज की कल्पना निहित थी। कबीर के आदर्श में कोई अलौकिक कल्पना नहीं थी।

वे कोई नया शिलालेख तैयार करने नहीं जा रहे थे, किंतु जो शिलालेख उनके सामने था, वह दूषित और भ्रामक था। उसे शुद्ध कर चमकाना उसके सही रूप को सामने लाना उनका प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने देखा कि कुछ दंभी-पाखण्डियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए लोग भटक रहे थे। जीवन के सही रूप को न समझ कर कितने लोग गुमराह हो रहे थे। कुछ गर्व और अहंकार का भार ढो रहे थे और कुछ अत्याचार और निराशा में पिस रहे

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ५९, पृष्ठ १०७

थे। कबीर की आलोचना-पद्धति में उनके उद्धार का प्रयत्न था। समाज के उद्धार के लिए उन्हें एक दिव्य प्रेरणा मिली थी। उनके लिए परमात्मा का निर्देश था----

"हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौ-सागर में जीव हैं, जे कोई पकड़े तीर॥"

इस साखी से स्पष्ट है कि कबीर की वाणी के मूल में लोक-मंगल की कामना निहित है। उनकी मंगल-साधना लोक-प्रेम की समानार्थक है। यों तो कबीर जीवमात्र के प्रति सहानुभूति रखते हैं, किन्तु मानव पर उनकी विशेष दृष्टि है। इसीलिए उनकी दृष्टि उसकी दुर्बलताओं पर है। उनकी भक्ति और काव्य-सर्जना की आधार-शिला मानवता के प्रति उनकी तीव्र संवेदना है। मनुष्य के प्रति वे सहानुभूति रखते हैं, इसीलिए वे उसके दूषणों की आलोचना भी करते हैं। जो प्रश्न कबीर के सामने प्रमुख रूप में आया है, वह सामाजिक परिमार्जन का प्रश्न है; विषमताओं के निवारण और एक समतल सामाजिक भूमिका की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। दूषणों की आलोचना के साथ-साथ कबीर की दृष्टि में उनका निवारण भी है जो सद्गुणों की प्रतिष्ठा के साथ ही हो सकता है। अतएव जब हम कबीर को आलोचक के रूप में देखते हैं तो उसके निषेध-पक्ष के पीछे विधेय भी छिपा रहता है—

"खांहि हलाल हराम निवारैं, भिस्त तिनहुं कौं होई।
पंच तत्त का मरम न जानैं, दोजगि पड़िहै सोई॥"

× × ×

"सायर उतरौ, पंथ संवारौ, बुरा न किसी का करणा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूं भरणा[1]॥"

यहां बुराई से बचाने के प्रयत्न के पीछे 'सायर उतरौ पंथ संवारौ' का प्रयत्न भी निहित है। 'पंथ संवारौ' में 'सत्पथ' पर चलने का संकेत स्पष्ट है। यही सत्पथ 'भवसागर' से पार उतरने का साधन है। 'सत्पथ-गमन' की प्रेरणा कबीर की दृष्टि में, मनुष्य वहन करता ही है, और उसका यह दायित्व है स्वामी के प्रति। मनुष्य ने अपने दायित्व को निभाया या नहीं,

---

[1]. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१

इसका उसे परमात्मा को उत्तर देना पड़ता है। इस प्रकार कबीर की आलोचना-पद्धति निषेधात्मक ही नही, विधेयात्मक भी है।

कबीर का सत्पथ मिथ्याचार के लिए कोई अवकाश नही छोड़ता। उस पर चलने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को ही नही, वरन् जो भी चाहे उस पर चल सकता है। वह इतना सरल है कि उस पर चलने वाले को कुछ जोर नही आता किन्तु वक्रगति मनुष्यो का उस पर चलना कठिन है। वक्रता का परित्याग ही उनकी गति की साधना है। इसीलिए वे वैष्णव तक को अपनी आलोचना के मैदान में क्षमा नही करते। छापा-तिलक बना कर लोगों को वंचित करने वाले आडम्बरी वैष्णव की कटुतम आलोचना करके ही कबीर कृतकृत्य नहीं हो जाते अपितु उस आडंबर के कारण को भी सामने ला रखते हैं—

"वैस्नों भया तो का भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक॥"

वेश-भूषा और आडम्बर के पीछे अज्ञान छिपा हुआ है। उसी अज्ञान ने छापा तिलक को गौरव देकर वैष्णव को भ्रम में डाल दिया है। वैष्णवत्व वेश में नहीं है, हृदय और आचारण में है—प्रेम और सरल व्यवहार में है। यहा सात्त्विक एवं सदाचारपूर्ण जीवन के प्रति कबीर का आग्रह स्पष्ट है जिसको कुछ उद्धरण और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं, यथा—

"वैष्णों की छपरी भली नां साकत का बड़ गाँउ।"

क्यों ? इसीलिए न कि वैष्णव श्रेष्ठ आचरण का प्रतीक है और शाक्त दुराचार की प्रतिमूर्ति। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिये कि कबीर मंगल की साधना के क्षेत्र में केवल निषेध-पक्ष को ही नहीं अपनाते। उनकी वाणी विधेय का स्वतंत्र रूप से भी प्रचार करती है और निषेधगत संकेतों से भी। यह ठीक है कि वाच्यार्थ में निषेध की ही प्रमुखता है किन्तु कबीर के अभिप्राय को, उनकी वाणी को लक्ष्यार्थ से वंचित नहीं किया जा सकता। 'खूंदन तो धरती सहै बाढ़ सहै बनराइ' जैसे वाक्यों में विधेय स्पष्ट है किन्तु जिस प्रकार निषेध में विधेय संकेतित रहता है उसी प्रकार 'खूंदन × ×' आदि वाक्यों में निषेध भी संकेतित है। मनुष्य विनयविमुख न हों, असहिष्णुता से काम न ले, बुराई का प्रतिकार बुराई से न करे आदि निषेधों में कल्याण

की भावना स्पष्ट है। अतएव कबीर-वाणी में दोनों पक्षों का समावेश है। निषेध पक्ष में विधेय और विधेय में निषेध के संकेत स्वतः ही मिल जाते हैं।

पीछे यह कहा जा चुका है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में व्यंग्यों का भी समावेश है और व्यंग्य-क्षेत्र में कबीर का स्थान कुछ कम ऊंचा नहीं है किन्तु व्यंग्यों में कबीर ने समाज की खिल्ली उड़ायी है, ऐसा न समझ लेना चाहिये। 'खिल्ली' में हलकापन का भाव निहित है। यदि कबीर को समाज की खिल्ली उड़ाने वाला कह दिया जाये तो समाज के प्रति कबीर की संवेदना का हलकापन प्रकट होगा। कबीर का पाठक यह जानता है कि उनके व्यंग्य बाण का सा असर करने वाले हैं, उनमें मर्म-भेदन की अमोघ शक्ति है। सीधा प्रभाव ही उनके व्यंग्यों का गुण है। उनके व्यंग्य पीड़ा पहुंचाने के हेतु नहीं हैं, अपितु ग्लानि उत्पन्न करने वाले हैं। अस्तु, कबीर की वाणी को समाज की मज़ाक या खिल्ली कह कर हल्की बनाना उचित नहीं है। क्योंकि खिल्ली या मज़ाक से विवशता का भाव भी नहीं जोड़ा जा सकता। कबीर जो कुछ कहते हैं वह विवश होकर ही कहते हैं। प्रेम और सहानुभूति से संबंधित क्षोभ या व्याघात से प्रेरित होकर कहते हैं। उनकी विवशता ही उनकी वाणी की चरम स्पष्टता है। जो लोग इस मर्म पर ध्यान नही देते वे कबीर की वाणी को गर्वोक्ति भी कह डालते हैं।

कबीर की आलोचना-पद्धति को गर्वोक्तियों से लांछित नहीं करना चाहिये। जिन लोगों को कबीर-वाणी में गर्वोक्तियाँ दीख पड़ती हैं, वे कबीर के व्यक्तित्व का समुचित मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं। ध्यान रखने की बात है कि कबीर आदि से अन्त तक अस्मिता के विरोधी थे। दादू ने उनके लिए ठीक ही कहा है कि वे 'सिर देकर' अर्थात् अपने 'अहं' का बलिदान करके ही वीर हुए थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक 'विगलित-अहं' महामानव की मूर्ति प्रस्तुत करता है। सहानुभूति और प्रेम के मार्ग से कबीर ने आत्म-विस्तार कर लिया था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आत्म-विस्तार महत्त्व का प्रतीक है। उसके बिना कोई भी व्यक्ति अपने युग का समर्थ आलोचक नहीं हो सकता। जिसकी अनुभूति समाज के सुख-दुख से बनती है, जिसके हृदय के स्पन्दन में लोक-संवेदना के स्वर मुखर होते हैं और जिसकी वाणी में युग के

सही-रूप को व्यक्त करने की क्षमता होती है उसी व्यक्ति की आलोचना अपने समय और समाज का परिष्कार और उचित पथ-निर्देशन कर सकती है।

कबीर में ये सब गुण विद्यमान थे, इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति दिखायी देती है। संदेह नहीं कि अहंकार मनुष्य का प्रबल शत्रु है। उसका त्याग अति दुस्साध्य है। यह महापुरुषों की दुर्बलता है—'मान तज्या नहिं जाई'—इस मान ने बड़े-बड़े मुनियों के मन तक को चंचल कर दिया था। कबीर उसके संबंध में बड़े सतर्क हैं। जिसने कबीर के 'मैं-मैं बड़ी बलाय है' को भलीभांति समझा है। वह उन्हें अहंकारी कहने की भूल नहीं कर सकता क्योंकि जो कबीर 'कथनी' और 'करणी' में समझौता चाहते थे उन्होंने स्वयं ही उनके बीच में कोई खाई खोद दी हो ऐसी उनके व्यक्तित्व से आशा नहीं की जा सकती। वे साम्यमूलक धरातल की वह ऊँचाई प्राप्त कर चुके थे जहाँ से उनके पतन के संबंध में किसी आशंका को अवकाश नहीं मिलता :—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।"

इस पंक्ति से स्पष्टतः कबीर की निरहंकारता झलकती है। यदि इसमें भी किसी को गर्वोक्ति की झाँकी मिल रही हो तो और कुछ कहना व्यर्थ है। जो एक ओर तो 'रोड़ा ह्वै रहु बाट का' की बात करता हो और दूसरी ओर ब्रह्मपद को प्राप्त करने की घोषणा कर रहा हो, उसकी दोनों स्थितियों का समझौता 'निरहंकारता' में ही हो सकता है अन्यथा कबीर के व्यक्तित्व में दंभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।

जो कबीर सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक धरातल पर साम्य की प्रतिष्ठा चाहते थे निस्सन्देह क्रान्तिकारी पुरुष थे। क्रान्ति को लाने के लिए जिस साहस और आत्मविश्वास तथा चुनौती देने के लिए जिस निर्भीकता और दृढ़ता की आवश्यकता थी, कबीर के व्यक्तित्व में उनका प्राचुर्य था। इन गुणों की सामूहिक शक्ति जब कबीर के व्यक्तित्व के गौरव से समकालीन रूढ़ियों और विषमताओं को ललकारती है तो नीति के स्थूल माँप-दण्डों से माँपने वाले अथवा-भाषा के केवल खुरदरे रूप से परखने वाले समीक्षक उसे गर्वोक्ति से लांछित देखते हैं परन्तु जो साहित्य को समाज की गतिविधि का नियंता भी मानते हैं वे 'निर्गुण' कबीर की सगुण वाणी से रोमांचित हो उठते हैं।

जो कबीर कीरी से कुंजर तक एक ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं, जो बकरी और कसाई में तत्त्वतः अभेद पाते हैं, उनके अन्तर से किसी गर्वोक्ति का उदय हुआ होगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। गर्वोक्ति के साथ अभेद का कोई समझौता नहीं हो सकता। अस्मिता का विगलन ही एकता का सीढ़ी है। अतएव यह कहना असंगत है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में गर्व या अहंकार का पुट है। कबीर स्वभाव और आचरण, दोनों क्षेत्रों में साम्यवादी हैं। अतएव उनकी किसी सहजोक्ति को गर्वोक्ति कहना सर्वथा अनुचित है।

कबीर की वाणी में समाज के लिए एक प्रेरणा और एक पथ था। वे कोई ऐसे जन-नायक नही थे जिनकी मति और कृति मदविचूर्ण रहती है। उनमें मस्ती है, किन्तु प्रेमकी, समता के साक्षात्कार की। यह उनके अन्तर से प्रवाहित प्रेम-धारा है जो युग-दग्ध मानवता को समशीतोष्णता की भाव-भूमि पर लाने के लिए तत्पर है। कबीर में आत्मरस या स्वरस की मादकता भरी हुई थी। उसी के प्रभाव से वे वर्ग और वर्ण के भेद से ऊपर रहते थे और उसी में उनकी निर्द्वन्द्व स्थिति थी जिसमें उनके उद्‌गारों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। अनुभूतिजन्य कोई उद्‌गार उनके लिए अनभि-व्यंजनीय नही था। वे जो कुछ कहना चाहते थे, अवश्य कह डालते थे, बिना यह ध्यान रखे हुए कि वे कैसे कह रहे थे। उन्होंने भाषा की खुशामद नही सीखी थी। वे उसे भाव-वाहिनी मानते थे और भाव-सेवा के लिए उनकी भाषा सदैव प्रस्तुत रहती थी। भाषा में चमक-दमक और सजावट है या नहीं, यह शायद उन्होंने कभी नहीं सोचा! यदि विदग्धता, कौशल और पांडित्य के अभाव के कारण कोई आलोचक उसे, 'अमार्जन', 'गर्वोक्ति' आदि से लांछित करे तो यह उसकी भूल है। देखना तो यह है कि उनकी भाषा में कितनी ईमानदारी और तत्परता है, जो काम भाषा को सौंपा गया है उसे वह करती है या नहीं और करती है तो किस सीमा तक, कितनी सफलता से।

कबीर की आलोचना-पद्धति में कभी-कभी रूखापन अवश्य प्रतीत होने लगता है किन्तु वह आलोच्य के प्रति उनकी सहानुभूति और ईमानदारी का प्रतीक है। मैं समझता हूँ कबीर का समय ऐसी वाणी की अपेक्षा रखता था। युग को अपनी गति बदलने के लिए मर्म-स्पर्श की आवश्यकता थी और कबीर

की वाणी में मर्मस्वर्शिता पर्याप्त है। जहाँ मर्मस्पर्शिता है वही रूखापन है। रूखापन कबीर की वाणी की प्रवृत्ति नहीं, आवश्यकता की मांग थी। सच तो यह है कि कबीर की आलोचना-पद्धति को उचित परिपाश्व में देखना ही उनकी वाणी का उचित मूल्यांकन है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में प्रेम और सहानुभूति की मूल प्रेरणा है। व्यंग्य और तीव्रता उसका गुण है। सम्बोधनों में उसकी स्पष्टता और निर्भीकता और संकेतों में उसका लक्ष्य निहित है। उनकी वाणी में मार्जन की कमी दिखायी पड़ती है किन्तु आज के दृष्टिकोण से, शिक्षित आलोचक की दृष्टि से, कविता की कसौटी पर कबीर की वाणी को परखने वाले के लिए। जनसाधारण की भाषा में मार्जन-गुण किस सीमा तक रह सकता है, इस परिपार्श्व से देखने वाले को कबीर-वाणी आलोचना का बहता माध्यम ही दीख पड़ेगी।

: ८ :

व्यक्तित्व

कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टतावादी और विनयी थे। दंभ और पाखंड उनको प्रिय नही थे। अहंकार और अनाचार उनको बुरे लगते थे। भीतों और पीड़ितों के प्रति भक्ति का आकर्षण देकर उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। वे लोक-जीवन के अति निकट थे। सामान्य व्यक्ति के लिए उनका व्यक्तित्व अतिसामान्य प्रकट होता है। इसीमें उनकी 'सन्तता' निहित है जो उनके व्यक्तित्व की सरलतम अवस्था है। इसके अतिरिक्त वे स्वतंत्र चिंतक भी थे। उनका गंभीर चिन्तन उनकी वाणी में कभी-कभी इतना निगूढ़ हो गया है कि वह अद्भुत और विचित्र प्रतीत होता है—इतना निगूढ़ कि अच्छे-अच्छे विचारक तक उसकी गहराई में गोते लगा कर उसके समझने में असफल रहते हैं। यदि यह कह दिया जाये कि कबीर अपने 'राम' की भाँति ही साधारण बुद्धि के परे की वस्तु हैं तो, कुछ अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कबीर ने अनेक शब्दों में अपने राम का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार उनके अनेक विद्यार्थियों ने उनके व्यवितत्व की गवेषणा करने की चेष्टा की है किन्तु 'इत्थमिदं' कह कर कोई उसकी 'इति' पर पहुंचने का दावा नहीं कर सका। उनको भक्त, ज्ञानी और योगी के व्यवितत्व में देखकर आलोचक अपनी-अपनी कह गये हैं। किसी ने उनके 'भक्त-स्वरूप' को और किसी ने 'ज्ञानी-रूप' को ही देख कर अपना एकांगी मत स्थिर कर लिया है। न भक्ति, न योग और ज्ञान ही कबीर के पूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त कर सके हैं। अक्खड़, फक्कड़ और मस्तमौला शब्दों से भी उनके व्यक्तित्व का पाक्षिक दर्शन ही हो पाता है। समाज-सुधारक का रूप भी कबीर के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता। हाँ, 'सन्त' शब्द अवश्य ऐसा है जो सम्पूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है।

जिसने कबीर को ज्ञानी, भक्त आदि किसी एक रूप में देखा है वह उनकी वाणियों में से ही इस संबंध में उपयुक्त तर्क और उद्धरण दे सकता है किन्तु जो उनको 'सन्त-महात्मा' कह कर चुप जाते हैं वे चाहे कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण न कर सकें किन्तु उसके संबंध मे कोई भ्रान्ति नहीं फैला सकते।

कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ़ प्रतीत होता उतना ही सरल था और जितना सरल दीखता है उससे कहीं अधिक गूढ़ था। जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देख उसके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कबीर के बाह्य रूप को देखकर, उनकी भर्त्सनामयी कठोर वाणी को पढ़कर उनके कोमल दयालु अन्तर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सच तो यह है कि वे एक सन्त, ऊँचे दर्जे के महात्मा थे इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में सरल और गूढ़, दोनों रेखाओं का अनूठा मिलन है। ठीक है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु अपढ़ और अशिक्षित शब्द उनके व्यक्तित्व का सही मूल्य नहीं आँक सकते। कबीर को शब्दों से खोजना असंभव है। उन्हें उनकी (शब्दों की) प्रवृत्ति, उनकी अर्थ-दिशा में ही ढूंढ़ा जा सकता है। उनके शब्दों में कहीं-कहीं बड़ी गंभीर ध्वनि भरी मिलती है जिसमें उनकी गहन अनुभूति का विलास दृष्टिगोचर हो जाता है। कहीं-कही यह समझना बहुत सार्थक नहीं होता कि अमुक शब्द का क्या अर्थ है अपितु यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है कि अमुक शब्द की भूमिका क्या है। यह समझने के पश्चात् कबीर का अन्तर अगोचर नहीं रहता। इसी परिचय में महात्मा कबीर का परिचय निहित है।

कबीर जागरूक चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक थे। ये गुण इतने मूल्यवान् नहीं, जितनी उनकी निर्भीकता है। उनकी वाणी में जो कर्कशता, एक रूखापन और भर्त्सना का भाव दिखायी देता है उसका कारण है उनका मानव-प्रेम, दयालुता और ईमानदारी। बाह्याडम्बरों के प्रति उनकी वाणी ने जो प्रतिक्रियात्मक-रूप ग्रहण किया है उसमें उनकी ईमानदारी की ही प्रेरणा है। जिस वाणी में प्रति-क्रिया है उसीमें क्रांति टँकी हुई है। उनकी निर्भीक वाणी अटूट शक्ति से देश, धर्म, समाज, दर्शन और साधना में क्रान्ति की धारा प्रवाहित करने में तत्पर प्रतीत होती है।

मानव एकता के परिपोषक कबीर न सुधार में मिलते हैं और न मत-प्रवर्तन में। वे रूढ़ियों के विरोधी किन्तु धर्मभीरु व्यक्ति हैं। अन्धविश्वासों के प्रति उन्हें घृणा है और सद्वृत्ति और सदाचार के प्रति उनकी आस्था है। वे निष्पक्षता के समर्थक और निःशंकता के प्रेरक हैं। वे श्रद्धावान् शिष्य गुरु हैं। उनका 'गुरु भाव' कहीं प्रखर नहीं हुआ। वे प्रेम के प्रचारक और नीति के संस्थापक हैं। वे धन के संग्रह और परिग्रह की निंदा करते हैं क्योंकि धन का संचय एक करता है और वह काम दूसरे के आता है।

वेद और कुरान के अंधपाठ में कबीर का बिल्कुल विश्वास नहीं है। वे अंधपाठ की निंदा करते हैं किन्तु उनके भीतर जो सत्य निहित है, जिस अनुभव की व्यंजना है उसकी निंदा उन्होंने कभी नहीं की। रोजा और व्रत में कबीर को दंभ दीखता है। सच्चे रोजा और व्रत तो मन की पवित्रता है। तीर्थों के प्रति भी कबीर की आस्था नहीं है। इन सबमें कबीर को धर्म-साक्षात्कार नहीं होता। इन सब के मूल में जो रहस्य है उसको पा लेना ही धर्म है। सत्संग, विवेक, मन की पवित्रा आदि में धर्म-दर्शन हो सकता है।

कबीर लोक को छोड़ भागने की बात कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी उनकी वाणियों की तह में न पहुँचने के कारण आलोचक लोग उनका मनमाना अर्थ कर डालते हैं और ऐसे ही किसी झोंके में वे कबीर को पलायनवादी भी कह देते हैं। वे न तो वल्कल वसन पहनने के समर्थक हैं और न बन-खंड में तप करने के ही पक्ष पर हैं[1]। फिर उनका 'पलायनवाद' (यदि कोई है भी तो) उन्हें कहाँ ले जा सकता है! वे इस जगत में रहकर भी उसके प्रति आसक्त नहीं होते। यह अनासक्त भाव उनकी वैराग्योक्तियों का मूल स्वर है।

यदि वे 'पलायनवादी' (शब्द के प्रचलित अर्थ में) होते तो अपने व्यवसाय को छोड़ कर भी भाग जाते किन्तु ऐसी बात नहीं। वे श्रमजीवी थे। जो व्यवसाय उन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिला था उसका उन्होंने परित्याग नहीं किया। अपनी अर्जना को वे अपने परिवार के भरण-पोषण और साधु-सेवा में व्यय करते थे। पलायनवादी पराश्रय में भागता है। कबीर भागने वाले

---

१. बाकुल बसतर किता पहरिबा।
का तप बन खंडि बासा॥—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६)

नहीं थे। वे जीवन की हर परिस्थिति का सामना कर सकते थे। आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के कारण व्याकुलता उनको छू तक नहीं पाती थी। साधु-सेवा और त्याग उनके व्यक्तित्व के भूषण थे। माँ और पत्नी का विरोध भी उनको इस संबंध में विचलित नहीं कर सकता था। एक ओर उनकी उदारता थी और दूसरी ओर सहिष्णुता, एक ओर रुचि थी और दूसरी ओर विरोध। विरोध उनको कभी झुका नहीं सकता था। दुनिया की बातें सुनकर भी वे करते मन की ही थे। उनकी इच्छाशक्ति ने उन्हें चट्टान बना दिया था जिसमें निश्चलता थी किन्तु साथ ही कोमलता भी। कबीर के व्यक्तितत्व के ये दो विरोधी तत्व ही उसे गूढ़ बना देते हैं।

कबीर मस्त और मनमौजी थे। जो धुन आयी वही कह डाला। भावों का दबाना मानों उन्होंने कभी सीखा ही नहीं था। सत्य का पुजारी निर्भीक तो होता ही है अदम्य भी होता है। कबीर भी सत्य के पुजारी थे। उनके सत्य ने न तो कभी दबने का प्रयत्न किया और न उन्होंने कभी उसे दबाने का हो। सत्य उनका गुरु था और सत्य ही ब्रह्म भी। वे अपने को भी सत्य से भिन्न नहीं समझते थे। उनकी आत्मा सत्यस्वरूप थी।

वे अनासक्त योगी और ईश्वरासक्त भक्त थे। उनके ईश्वर प्रेम में 'खालिक' और 'खल्क' दोनों समाविष्ट थे। 'खल्क' के प्रति उनका प्रेम अहिंसा का पोषक था। सत्य के अन्वेषक के नाते वे पूर्वमान्यताओं को महत्त्व नहीं देते थे। बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर सही उतरने पर ही कोई मान्यता कबीर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती थी। किसी भी अप्रतिष्ठित मान्यता की वे धज्जियाँ उड़ाने में समर्थ थे। उनके पास बुद्धि थी और वाक्शक्ति भी। उनके कण्ठ से जो आलोचना निकलती थी वह बड़ी स्पष्ट और तीव्र होती थी। उनकी बुद्धि अनुभव को स्वीकार करती थी। इसीलिए शास्त्र-ज्ञान से वह कभी परास्त नहीं हुई।

कबीर को अपने समय का नेता कह सकते हैं। हाँ, नेता, एक आदर्श नेता क्योंकि वे सत्य-प्रेमी, स्पष्टतावादी, निर्भीक, अहिंसक, वक्ता और त्यागी थे। वे अलोलुप और आत्मविश्वासी थे किन्तु निरभिमान भी थे। वे सरल, विनम्र और सदाचारप्रिय थे। कबीर उद्योगी और कर्मनिष्ठ थे। विषयों से दूर, निन्दकों के पड़ौसी। कबीर सर में कमल के समान इस जगत में रहते थे। डा० त्रिगुणायत

के ये थोड़े से शब्द कबीर के व्यक्तित्व की बड़ी स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करते हैं—
"सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रान्तिकारियों की क्रान्ति और कठोरता, अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधु की आचरण प्रियता, आदर्श पुरुष की कर्तव्य-परायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर की साधना थी[1] ।"

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में समाज की परिस्थितियों और आत्मप्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ था । "वे कभी झिझके नहीं. कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं[2] ।" वे अपनी साधना के धनी, विश्वासों के राजा और अनुभूतियों के साहूकार थे । जो मार्ग उन्होंने दूसरों को दिखाया वे उसी पर चले थे और वही उनका मुक्ति मार्ग था । बंधन तोड़ने के लिए उन्होंने जो सरलता ढूँढ़ निकाली वही उनके मार्ग की विशेषता थी । "डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही तो कहा है कि हजार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ ।"

---

१. देखिये, गोविंद त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा
२. देखिये, राजेन्द्रसिंह गौड़—संत कबीर-दर्शन, पृष्ठ १७

: ६ :

लोक-मंगल की साधना

लोक-मंगल की साधना एक ऐसी साधना है जिसमें व्यक्ति को अपने अनेक स्वार्थों का विसर्जन करना पड़ता है। व्यक्तिगत साधना से वह इस रूप में भिन्न होती है कि उसमें लोक-कल्याण प्रधान होता है जबकि व्यक्तिगत साधना में आत्मकल्याण प्रधान होता है। एक में साधक लोक को सामने रखता है दूसरी में अपने को। फिर भी दोनों में कोई ऐसी विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती जिससे यह कहा जा सके कि अमुक स्थल पर दोनों पृथक् है। व्यक्तिगत साधक लोक-साधक भी हो सकता है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते कोई मनुष्य समाज में रहता हुआ उससे अपना संबंध नहीं तोड़ सकता। यह हो सकता है कि उसकी साधना के कुछ पहलू समाज से दूर हो जायें, फिर भी वह जिस लक्ष्य को लेकर साधना में प्रवृत्त होता है वह उसके सद्भावों को जगा कर उन्हें लोक-कल्याण में भी लगा सकता हैं। ईश्वर का जो प्रेम भक्त को मोहादि से खींच लेता है वही उसकी लोक के प्रति सहानभूति एवं दया को भी उद्‌बुद्ध कर देता है। व्यक्तिगत साधना में स्वार्थ प्रमुख होते हुए भी वह क्रमशः संकीर्णता का परित्याग करता चला जाता है। व्यक्तिगत साधना की सिद्धि या चरम परिणति वास्तव में स्वार्थ की उदारता या व्यापकता में होती है। उस स्थिति में व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमाएं समाज को भी अन्तर्भूत कर लेती है।

लोक-साधक के संबंध में व्यक्तिगत साधना का अवमूलन नहीं किया जा सकता। लोक-कल्याण की कितनी ही उत्कट भावना क्यों न हो व्यक्ति अपनी उपेक्षा करके अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। अपने को भुला कर लोक-मंगल की साधना कदापि संभव नहीं है। जब तक अपना विचार नहीं किया जाता तब तक दूसरों से अपना संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। दूसरों से

संबंध जुड़ने का आशय है सामाजिक सद्‌गुणों का उदय, जिस का संबंध व्यक्ति से होता है। इन गुणों की पुरस्कृति व्यक्ति-साध्य है, लोक-साध्य नहीं। दया, रक्षा अहिंसा, सत्य आदि व्यक्तिगत गुण होते हुए भी सामाजिक मूल्य रखते हैं। इनके बिना सामाजिक गति कभी संभव नहीं है। यदि हम दूसरे को प्रेम करते हैं तो अपने संबंध से करते है। पहले आत्म-प्रेम है। आत्म-प्रेम ही पर-प्रेम का कारण है। 'स्व' अपनी उदार दशा में 'पर' से भिन्न नहीं होता। 'स्व' की साधना का एक पक्ष पर-हित-साधना भी है इसी में लोक-मंगल की साधना पल्लवित होती है।

लोक-मंगल की साधना स्वार्थों को सीमित एंव परिष्कृत करने की प्रेरणा देती है। जिस स्वार्थ की साधना दूसरों के इष्ट में बाधक बनती है, दूसरों के उत्कर्ष को रोकती है, वह अधम है। लोक-मंगल के साथ उसकी संगति नहीं हो सकती। लोक-मंगल केवल ऐसे स्वार्थों को अवकाश दे सकता है जो परोत्कर्ष को बाधित न करे। सच तो यह है कि परापकर्षक स्वार्थ आत्मोत्कर्षक भी नहीं हो सकते। केवल भ्रामक हो सकते हैं। 'सर्वे भवन्तु सुखिन' की कामना सच्चे आत्मोत्कर्ष की कामना होती है। सब में हम और हम में सब समाहित हो जाते हैं।

जो महापुरुष कहलाते है वे इन्हीं गुणों से विभूषित होते हैं। वे 'स्व' को शक्ति-सम्पन्न करके लोक-कल्याण के हेतु उस का उपयोग करते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के नाम इसी परंपरा में उल्लखेनीय है। कबीर, नानक आदि ने इसी को आगे बढ़ाया था। तुलसी और सूर इसी मार्ग के पथिक थे। "यदा यदा-हि धर्मस्य"......आदि वाक्यों का अर्थ भी यही है कि महापुरुष निसर्ग से शक्ति का वरदान लेकर भूतल पर आते है। वे एक ही साथ दो काम करते हैं लोक-कल्याण की संस्थापना और अधर्म का विनाश।

अधर्म व्यक्ति को निष्करुण एवं दुराग्रही बनाता है। वह समाज के कोमल एवं मधुर बन्धन को तोड़ने का सतत् उपक्रम करता है जिससे पीड़ा, वेदना, संकट, अन्याय, उपद्रव आदि, न जाने कितने, संक्रामक सामाजिक रोग भड़क उठते हैं जिन से पीड़ित समाज की रक्षा और मुक्ति महापुरुषों का धर्म होता है। पीड़ा एक दूसरे प्रकार की भी होती है और वह है दैहिक या दैविक।

लोक-मंगल का साधक इनसे सामाज की रक्षा करने में अपना योग देता है। इस को भी धर्म कहना उचित ही है। 'सर्वभूतहिते रत:' धार्मिक का लक्षण है।

कुछ आस्थावान लोग धर्म को एक दैवी प्रेरणा मानते हैं किन्तु वे भी आचार से उसे विरहित नहीं कर देते। जो लोग सद्गुणों के प्रसार और उपयोग को ही धर्म मानते हैं वे तो उसे आचरण में ही देखते हैं। उत्साह आदि गुणों में धर्म-भावना निहित रहती है किन्तु उत्साह को क्रिया से अलग करके धर्म का साक्षात्कार सभव नही है। धर्म की रक्षा ही वास्तव में धर्म-कर्म है। धर्म व्यक्तिपरक होता हुआ भी समाज-सापेक्ष होता है। वह कर्ता के हृदय से उद्भूत होकर सम्प्रदान तक त्वरितगति से जाता है। इसी लिए प्राचीनों ने 'धर्मस्य त्वरिता गतिः' का निदशन किया है। कर्ता और सम्प्रदान के बीच में ही धर्म-क्षेत्र है। इसमें व्यक्तिगत साधना सरल होकर समाजमुखी बनती है। धर्म दाता का भूषण और आदाता का वरदान है। धर्मरत मानव आत्म-तोष प्राप्त करता हुआ दूसरों को भी तोष प्रदान करता है।

इसमें कोई सदेह नही कि कबीर-वाणी में साधना का स्वर ही प्रमुख एवं प्रखर है किन्तु यह समझना उचित न होगा कि उनकी साधना आत्मप्रधान है, लोक से उसका कोई सम्बन्ध न था। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि लोक ने ही कबीर को कबीर बनाया था। उनकी प्रेरणा लोक-जन्य थी। उसका आधार लोक था और क्षेत्र व्यापक था। अतएव यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि कबीर साधक थे, किन्तु उनकी व्यक्तिगत साधना लोक-साधना में ही टकी हुई थी। जहां व्यक्तिगत साधना वनखंडों और गुफाओं में सीमित हो जाती हैं केवल वहां वह लोक-मंगल को भुला सकती है अन्यथा उसमें लोक-कल्याण अपने आप समाविष्ट रहता है। कबीर की साधना उनके व्यक्तिव से प्रारम्भ हुई है किंतु व्यक्ति में आबद्ध रहने के लिये नहीं। वे वनखंडों और गुफाओं का आदर साधना के संबंध से बिल्कुल नहीं करते। साधना मन और आचरण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है, वह वनों और गुफाओं में उत्पन्न नहीं होती। इसलिए कबीर कहते हैं:—

"कबीर खोजी राम का, गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घटि भीतरि रमि रह्या, जौ आवे प्रतीत[1]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८१

"सो सांई तन में बसे, भ्रम्यौं न जाणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास[1] ॥"

इससे स्पष्ट हैं कि कबीर की साधना दूर भागने को प्रोत्साहन नहीं देती। उसका लक्ष्य समाज में रहकर ही अपने और दूसरों के मल का मार्जन करना है इसीलिए वे 'साधु-संगति' को उत्तम मानते हुए कहते हैं:—

"कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूर गंवाइसी, देसी सुमति बताइ[2] ॥"

साधु संगति के सामने वे द्वारका और काशी का शीघ्र ही अवमूलन कर देते हैं:—

"मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥"

साधु संगति करने का आदेश स्पष्टतः कबीर की सामाजिकता को पुष्ट करता है और समाज के सम्बन्ध से ही वे साधना को सफल मानते हैं।

समाज में कबीर को दो तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं, एक अच्छा और दूसरा बुरा। अच्छे तत्त्व की प्रशंसा करते हुए वे बुरे से बचने का उपदेश देते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि वे बुरे की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। आज के प्रगतिवादियों की भांति वे बुराई का चित्र खींचने में भी आगे रहते हैं। वे मनुष्य को न तो देव ही मानते हैं और न दानव ही। वह मनुष्यत्व से उठने की चेष्टा करे, यही संकेत कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर मिलता है। जिनको बुराइयां दानवता की ओर धकेल रही है उन्हें वे सुधार की प्रेरणा देते हैं। यह प्रेरणा किसी व्यक्ति के सुधार की दृष्टि से नहीं है अपितु समाज को पतन से बचाने, पतन को उत्थान में परिणत करने और अपने आदर्श के सांचे में ढालने की दृष्टि से है।

कबीर का आदर्श किसी परंपरा या संप्रदाय विशेष से लिया हुआ नहीं है अपितु वह संग्रह है जिसके लिए उन्हें समाज का काफी मन्थन करना पड़ा

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९

है। वही कबीर का सार संग्रह है और वही उनका मत है। कबीर को सन्त-मत का प्रवंतक कहा जाता है किन्तु उसका प्रादुर्भाव प्रवर्तन की दृष्टि से नहीं हुआ। सामाजिक दूषणों के निवारण की दृष्टि से हुआ था। यदि कबीर के सार संग्रह का सम्बन्ध उनसे (कबीर से) जोड़ते हैं तो समाज से तो पहले से ही जुड़ा हुआ लगता है। सद्गुणों का संग्रह जिस प्रकार समाज ही से हुआ है उसी प्रकार वह समाज के ही निमित्त हुआ है। कबीर की साधना उनके मत से पृथक नहीं है। उसमें जिस प्रकार व्यक्गित साधना दृष्टिगत होती है उसी प्रकार समाज-संग्रह भी।

✓ कबीर एक महापुरुष थे। उनका प्रमुख रूप साधक का था। कुछ स्थलों पर वे अपने सिद्ध होने की बात भी कह गये हैं जो उनकी शुद्ध व्यक्तिगत, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के तीव्रतम उद्गार हैं। कबीर की यह स्थिति उनके समग्र व्यक्तित्व की द्योतक नहीं है। उनका अधिकांश व्यक्तित्व उनकी साधना में निहित है जो व्यक्तिगत होते हुए भी समाजगत है। एक ओर वे संयम-नियम के संबंध से आत्मसाक्षात्कार में संलग्न दीख पड़ते हैं, दूसरी ओर आत्मगुणों के प्रक्षेप से वे उनका प्रसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक कर देना चाहते हैं। इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना, जिसमें आत्मविस्तार या आत्मकल्याण की भावना निहित है, लोक-मंगल की साधना का रूप धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति-साधना पीड़ित जन-लोक के प्रति उनके प्रेम को पुरःसर करती है। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम है। वे उसमें निमग्न होकर उसका आस्वादन करते हैं और दूसरों को भी उसके आस्वादन की प्रेरणा देते हैं। एक ओर ईश्वर-प्रेम दुनिया से उनका मोह तोड़ता है दूसरी ओर वही साथी जीवों के प्रति उनकी सहानुभूति और करुणा उत्पन्न करता है। अपने साथियों के प्रति सहानुभूति और करुणा की दशा में कबीर के लिए आध्यात्मिक उल्लास का स्वार्थमय एकान्तोपभोग दुष्कर हो जाता है।

कबीर के दयाभाव को कुछ आलोचक पवित्र किन्तु शुष्क कह देते हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उसमें ऐसी चेष्टाओं का संकेत मिलता है जो कष्ट व दुख को दूर करने के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। कबीर की दया में कल्याणकारी प्रयत्नों को न खोजना उनके व्यक्तित्व की उपेक्षा करना है। क्योंकि वे

'करनी के बिना कथनी'[1] को कोई मूल्य नहीं देते। इतने पर भी उनकी उक्तियों में प्रयत्न-प्रेरणा न देखना सरासर अन्याय है। अत्याचारों को सहकर भी कबीर ने सत्य और अहिंसा का जो प्रचार किया उससे उनकी शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी शक्ति का उपयोग उन्होंने लोक-हित के लिये भी किया। अतएव कबीर की दया वाणी-विलास का झोंका कहकर नही उड़ायी जा सकती।

कबीर की इस करुणा का कारण है सबकी एकता, सबका एक स्रोत। उसी को देख कर कबीर की करुणा की गठरी यत्र-तत्र सर्वत्र बिखर पड़ती है। उस समय उनकी व्यक्तिगत साधना का एकान्तफल, व्यक्तिगत आनन्द स्तम्भित-सा दीख पड़ता है। सांसारिक दलदल में फँसे हुए निराशों को आशा और उल्लास प्रदान करने के लिए वे अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई से नीचे उतरने में न तो अपमान समझते हैं और न कही डगमगाते हैं। दिव्य साक्षात्कार से आविर्भूत उल्लास की तीव्रता के साथ वे एक आदेश भी प्राप्त करते हैं जो उन्हें दिव्य संदेश के प्रसार की प्रेरणा देता है।[2] जिसे लोग कबीर का अहंकार समझते हैं उनमें वस्तुतः साथियो के प्रति उनके प्रेम का आन्दोलन है अन्यथा उनके मार्ग में अहंकार, गर्व या प्रगल्भता का क्या काम था ?

अहंकार न केवल व्यक्तिगत दूषण है वरन् एक सामाजिक दूषण भी है। अहंकार से समाज विच्छृङ्खल होता है। इसलिए वे मदान्ध लोगों को समझाते हुए कहते हैं—

> **"दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।**
> **मुई खाल की सांस सों, सार भसम ह्वै जाय[3] ॥"**

---

1. **कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नां ठहराइ ॥**
   —(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)
2. **हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।**
   भौसागर में जीव हैं, जे कोई पकड़ै तीर ॥
   —(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६)
3. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४८

इस प्रकार कबीर ने अहंकृति को विचूर्ण करने और समता लाने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक शस्त्र का प्रयोग किया है वह लोक-मंगल की साधना के मार्ग में सुन्दर स्फटिक-सोपान का काम करता है।

कबीर इसी लोक के मानव हैं। उन्होंने समाज के पतन को अपनी आँखों से देखा है, आततायियों के बीभत्स अनाचारों का महोत्सव घृणा की खुली आँखों से देखा है और पीड़ितों की मर्माहों को भी उन्होंने करुणा के कोमल श्रवणों से सुना है। सामाजिक विषमताओं ने उन्हें प्रेरणा दी और यातनाओं ने सहिष्णुतामयी प्रतिक्रिया। कबीर के दर्शन में मूलतः समाज-दर्शन निहित है। उनका अद्वैतवाद उपनिषदों से और मायावाद शंकर से सम्बन्धित होता हुआ भी मौलिक है। उसमें सामाजिक एकता के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। जिस माया का उन्होंने निरूपण किया है उसे भी धन, नारी आदि में देखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर की साधना को व्यक्तिगत साधना कह कर समाज से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

लोक-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक का एक ही मार्ग है। विरक्त और गृहस्थ तक में बहुत अन्तर नहीं है। कबीर चित्त की उदारता गृहस्थ का गुण मानते हैं और विरक्ति बैरागी का। उन्हें भय है कि यदि विरक्त संग्रह में लग गया और गृहस्थ संग्रह करके अनुदार हो गया तो अपना अनिष्ट करते हुए वे समाज का भी अनिष्ट करेंगे। इसीलिए उन्होंने कहा—

"बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदार।
दुहूँ चूकां रीता पड़ै, ताकूं बार न पार[1]॥"

कबीर के लोक-कल्याण का मूलाधार प्रेम है जिस प्रेम पर लोक-कल्याण आधारित है उसी की चरम परिणति ईश्वर प्रेम या भक्ति है। लौकिक प्रेम ही परम रूप में अलौकिक बन जाता है। इस प्रकार कबीर के प्रेम के दोनों पक्ष स्पष्ट हैं। दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। प्रेमी कबीर प्रेमी की तलाश में निकलकर उसे कहीं पा नहीं रहे हैं। यदि उन्हें अपने-जैसे प्रेमी मिल जायें तो कहना ही क्या? अमृत हाथ आजायेगा, कटुता दूर हो जायेगी, सब एक से हो जायेंगे[2]।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५७
२. देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७

यह प्रेम देखने में जितना आध्यात्मिक प्रतीत होता है उतना ही लौकिक भी है। चाहे हमें उसका आध्यात्मिक स्वर ही सुनायी पड़ रहा हो किन्तु यह तथ्य है कि कबीर के व्यक्तित्व का विकास प्रेम और घृणा के बीच में हुआ है। अच्छाइयों के प्रति उनका आग्रह है क्योंकि वे उन्हें प्रिय हैं और बुराइयों के प्रति उनका त्याग-भाव है क्योंकि उनसे उन्हें घृणा है। सामाजिक परिस्थितियों के संबंध से हम यह अनुमान भी कर सकते हैं कि सामाजिक कुरूपताएँ कबीर के सामने शैशव में ही आने लगी थीं। धीरे-धीरे समाज की कुत्सित विडम्बनाओं के गर्भ में ही दलितों और पीड़ितों के प्रति उनका प्रेम प्रस्फुरित हुआ। जिन बुराइयों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया हुई, जिन विद्रूपताओं के प्रति उनके विद्रोह की आग धधकी उन्हीं से पीड़ितों के प्रति उनके हृदय में दया का स्रोत उमड़ा। उनका सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ कर उन्होंने शीघ्र ही अपने से भी जोड़ लिया।

लोक-मंगल की दिशा में कबीर की केवल धार्मिक भावना ही अग्रसर नहीं हुई अपितु नैतिक दृष्टि भी विकसित हुई। यह ठीक है कि लोक-मंगल की साधना में कबीर की धार्मिक भावना तो अपरिहार्य रूप से प्रस्तुत रही ही है पर व्यावहारिक दृष्टिकोण भी उसके पूरक के रूप में संलग्न रहा है। वस्तुतः धर्म व्यवहार से परे की वस्तु नहीं है। जहाँ धर्म सहज मानव गुण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है वहाँ नीति देश-काल के सम्बन्ध से मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करती रही है।

नीति का समाज से अटूट सम्बन्ध है। नैतिक पतन समाज की शक्ति को ध्वस्त कर देता है। व्यक्ति दूषणों का आकार बनकर समाज के मूल को उच्छिन्न करते हैं। अनाचार के वातावरण में सद्व्यक्ति घुटने लगते हैं। उनकी ओर से उस वातावरण को नष्ट करने के लिए जो सत्प्रयत्न होते हैं उन्हीं में लोक-मंगल की साधना निविष्ट रहती है।

स्थूल रूप में धर्म और नीति में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी नीति-व्यवहार के अधिक निकट आती है और धर्म श्रद्धा और विश्वास के। भाव-पक्ष प्रधान होने पर भी धर्म के आचरण-पक्ष को

विस्मृत नहीं किया जा सकता। जो धारण करने की क्षमता रखता है वह धर्म भाव और आचार, दोनों से संपुष्ट होता है। धर्म का सम्बन्ध प्रमुखतया व्यक्ति से और नीति का समाज से होने पर भी धर्म को समाज से और नीति को व्यक्ति से विलग नहीं किया जा सकता। धर्म दृढ़ता की अपेक्षा रखता है, अवस्था और धारणा की पृष्ठभूमि चाहता है और नीति को कौशल की विशेष आवश्यकता है। अपने-अपने ढंग से दोनों ही मार्ग लोक-कल्याण के साधक हैं।

कबीर समाज को नैतिक बल उपार्जित करने की प्रेरणा देते हैं क्यों कि जीवन में सब प्रकार की सफलता का आधार नैतिक बल ही है। कबीर का कहना है कि "शक्ति के अन्तर्गत तीनों भुवनों के रत्न भरे पड़े हैं"—

"सीलवन्त सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥"

कबीर कर्म फल को सामने लाकर पाप से बचने और पुण्य करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि कलिकाल में परिणाम शीघ्र ही मिला करता है, इसलिए बुराई किसी को नहीं करनी चाहिये। यदि तुम बायें हाथ से अन्न बोओ और दाहिने हाथ से लोटा दो तो दोनों का फल उसी के अनुरूप होगा—

"कली काल ततकाल है, बुरा करो जनि कोय।
अनबावे लोहा दाहिणै, बवै सो लुणता होय[1]॥"

जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। कर्म का न्याय परमात्मा करता है और तद्नुरूप फल देता है। अतः कुफल पाने से पहले ही चेत जाना अच्छा है और उसका सीधा मार्ग कुकर्म से बचना है। यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। इसे प्राप्त करके बुरे कर्मों में इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। इसकी सार्थकता और सफलता शुभ कर्म करने में है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६

कबीर मैं और तू की क्षुद्रता से ऊपर उठने-उठाने का प्रयत्न करते हैं। वे सारे विश्व को एक आध्यात्मिक बन्धुत्व में बंधा देखते हैं। जो लोग नहीं देख सकते हैं उनको दिखाने का प्रयत्न करते हैं। अनेक व्यवसाय मनुष्यता का एकता को खंडित नहीं कर सकते। वर्ण-भेद मिथ्या है। इससे समाज में भेद पैदा होता है, समाज की एकता बिगड़ती है। ब्राह्मण और शूद्र दोनों एक हैं. दोनों मनुष्य हैं। उनका व्यवसाय उनकी बड़ाई-छुटाइ का मापक नहीं है। इस लिये कबीर ने ब्राह्मण को फटकार कर कहा:—

"जो तू बांभन बंभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।
जो पै करता वरण बिचारै. तौ जनमत ही डांडि किन सारै[1] ॥"

इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर वर्ण-गर्व गिरा और दूसरी ओर हीनता की भावना गिरी। उनसे शूद्रों ने अपनी जाति को गौरव देना सीखा और अपने आचरण सुधारे। उन्हें अपने प्रति आकर्षण हुआ और जीवन में आशा चमकने लगी। उनके लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया और आत्म-सम्मान की दृष्टि खुल गयी।

कबीर के लोक-कल्याण की साधना में हिंदू-मुस्लिम एकता का भी प्रमुख स्थान है। कबीर इस आन्दोलन के बड़े भारी समर्थक थे। इसके लिए उन्हें अनेक यातनाएं भी सहनी पड़ी। सिकन्दर लोदी ने उन्हें दंड दिया, किन्तु वे अपने पथ पर अडिग रहे और आन्दोलन को दुहरी शक्ति मिली और बादशाह की क्रूरता को उनके सत्याग्रह के सामने झुकना पड़ा। भारतीय जीवन में कबीर का यह प्रयत्न एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। जिस मार्ग को कानून ने आज अपनाया है, कबीर की वाणी ने उसको उस समय ही अपना लिया था। इस दिशा में कबीर के दूरदर्शी प्रयत्न प्रशंसनीय हैं।

देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के संबंध में कबीर की दृष्टि उदार नहीं थी, उन्होंने उसे बड़ी संकीर्ण एव हेय दृष्टि से देखा है। कुछ आलो-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४

चकों का कहना है कि "सभी युगों व देशों के निवृत्तिमार्गियों का यह एक नियम रहा है कि वे स्त्री तथा धन की निंदा करते आये हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जाग्रित करते रहे हैं जो कबीर को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियों को नरक का कुंड बतलाया है। उन्हें स्त्री का विश्वास नहीं है, यह बात खटकती है। यह दुख की बात है कि उन्हें स्त्री में यौन भावना ही दिखाई दी है, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आँखें मूँद ली हैं जिसे उन्होंने उस शाश्वत प्रेमी की भार्याएं बन कर स्वयं अपनाने का विचार किया है[1]।" इसमें तो सन्देह नहीं है कि कबीर ने नारी को आध्यात्मिक साधना के मार्ग का कांटा माना है और शायद वह यौन भावना के सम्बन्ध से। इस विषय में कबीर को किसी परंपरा या स्वर विशेष से सम्बन्ध करना अनुचित है। मेरी समझ में कबीर ने नारी की निंदा इसलिए नहीं की कि उसकी कोई परंपरा चली आ रही थी अपितु साधना के क्षेत्र में नारी के सम्बन्ध से सिद्धों ने जिन विकृतियों का प्रचलन कर दिया था। वे न केवल साधना का कलंक थी अपितु समाज के ऊपर भी बुरा धब्बा थीं। कबीर ने जो कुछ कहा है वह साधना के सम्बन्ध से कहा है और यौन भावना के सम्बन्ध से कहा है। नर-नारी के पति-पत्नी सम्बन्ध अथवा पुत्र-माता संबंध की कहीं निंदा नहीं की है अन्यथा वे स्वयं परमात्मा से 'बहूरिया और दूलहा' अथवा 'बालक और जननी' का संबंध स्थापित न करते। वास्तव में कबीर को स्त्रियों के व्यक्तित्व से कोई घृणा नहीं थी क्योंकि उनके अनुसार पुरुष की भाँति वे भी परमात्मा की सृष्टि हैं:—

"जेती औरति मरदां कहिये सब में रूप तुम्हारा[2]।"

कबीर विश्व-प्रेमी हैं। वे दूर करने की दृष्टि से दूसरों की निर्बलता पर विशेष ध्यान रखते हैं। वे दोष का विरोध दोषी को हानि पहुंचाने की दृष्टि से कदापि नहीं करते। वे बुराई के शत्रु हैं, बुरे के नहीं। बुरे के साथ बुराई करो, यह नीति उन्हें प्रिय नहीं है और न भलाई के बदले भलाई करने में ही उन्हें कोई विशेषता दृष्ठिगोचर होती है, विशेषता तो वे तब समझते हैं जब बुराई का बदला भलाई से दिया जाये इसीलिए वे कहते हैं—

---

१. देखिए, बड़थ्वाल—निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोएट्री, पृष्ठ १८२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६

"जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल ।
तोकूँ फूल के फूल है, वाकूँ हैं तिरशूल[१] ।।"

इससे कबीर की चेष्टाएं स्पष्ट हैं। वे लोगों को बुराई करना नहीं सिखाना चाहते क्योंकि बुराई का जवाब बुराई से देने से बुराई का नाश नहीं होता, प्रत्युत वह अधिक बढ़ती है। यही विचार कर उन्होंने कहा—

"गारी आवत एक है, पलटत होय अनेक[२] ।"

बुराई करनेवाला और की शान्ति को भंग करता है—अपनी शान्ति को और जिसके साथ वह बुराई करता है उसकी शान्ति को। और तो और वे अभिमान की बात तक को 'बुराई' कहते हैं और उपदेश देते हैं—

"ऐसी बाणी बोलिये मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ[३] ।।"

कबीर की अध्यात्म-साधना 'संग' से अटूट संबंध रखती है और संग का मन के संयमन या नियंत्रण में बड़ा योग रहता है—

"कबीर तन पंखी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसो फल खाइ[४] ।।"

कबीर के पास संग के कुछ माप-दंड है जो केवल उनसे ही संबंध नहीं रखते अपितु संसार-संतरण के लिए दूसरों को भी हितकर सिद्ध होते हैं। कभी कभी लोग शुभ्र वेष से बहक जाते हैं और उनमें 'शुभ' का विश्वास कर लेते हैं। कबीर ऐसे लोगो को पहिचानते हैं और वे चेतावनी देते हुए कहते है—

"उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धोरै बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़ै ग्यांन[५] ।।"

---

१. संत-वाणी संग्रह, पृष्ठ ४४
२. संत-वाणी संग्रह, पृष्ठ ४५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४८
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६

सभी मीठा बोलने वाले साधु नहीं होते। बहुधा ऐसे लोग धोखेबाज़ होते हैं—

"जेता मीठा बोलवां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाई करि, ऊंडै दीसी आणि[1]॥"

ऐसा ही नहीं कि कबीर समाज को केवल दूसरों के बताये हुए मार्ग पर ही चलाना चाहते हैं, वरन् उनकी अपनी अनुभूतियां हैं और अपने परीक्षण और प्रयोग हैं। पत्थर-पूजा, तीर्थ-व्रत आदि के खोखलेपन को उन्होंने भली भांति देख लिया है। वे नहीं चाहते कि लोग धोखे में पड़े रहे, वे नहीं चाहते कि वे भ्रम-मार्ग को प्रशस्त करें इसलिए उन्हें कहना पड़ा—

"पाहन कूं का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुषी, यौंही खोवै आब[2]॥"

यहां कबीर ने केवल प्रस्तर-पूजा पर ही आघात नहीं किया है, वरन् करारी चोट दी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर मूर्ति-पूजा के साथ में 'आशा' पर भी लगी हुई कामना (आशा) को हेय बताते हुए भी सिद्धान्त के पीछे निहित भाव को स्वीकार करते हैं। आशा भावना की शुद्धता का अपहरण करके पूजा के माहात्म्य को नष्ट कर देती है। लोग पत्थर को पत्थर न मान कर देव मान बैठते हैं और अपनी-अपनी इच्छा से अनेक देवों की कल्पना करके न केवल देव-एकता को नष्ट कर देते हैं अपितु बहुदेवोपासना के सम्बन्ध से सामाजिक एकता को भी खंडित करते हैं। इसी कारण कबीर ने कहा—

"जेती देषौं आत्मां तेता सालिगंराम[3]।"

जिन लोगों का मानसिक स्तर इतना नीचा है कि उपासना के लिए वे आकार को अनिवार्य मानते हैं उनके लिए कबीर साकारोपासना की सलाह देते हुए कहते हैं:—

"साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं कांम।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४
३. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

इन साधुओं के पूजने का कोई अर्थ है, कोई फल है। ये आपकी शंका का समाधान कर सकते हैं क्योंकि बोलते हैं, समझते हैं और अनुभव रखते है। इनके सामने मूर्ति-पूजा व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक सिद्ध हो जाती है।

कबीर का साधु किसी वन या गुफा में नहीं रहता, किसी विशेष प्रकार का वस्त्र धारण नहीं करता, कोई तिलक-छापा नहीं लगाये रहता, किसी मंदिर या मस्जिद में बैठा नहीं मिलता, उसकी कोई बाहरी पहचान नहीं है, वह तो केवल मन, वाणी और कर्म का संयम जानता है, शुद्ध और निर्मल हृदय वाला है और शांत-चित्त है। कामादि उस को छू तक नहीं पाते। उपकार और प्रेम उसका मार्ग है और मुक्ति उसका लक्ष्य है। वह मुक्ति भी किसी हाट में बिकने वाली वस्तु नहीं है अपितु आत्म-साधना का मधुर फल है जिसे वह एकान्तवासी होकर नहीं प्राप्त करता अपितु समाज में रहकर और निःसंगभाव से उसे प्रेरित करता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

लोक-कल्याण का पथिक विनम्रता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह स्वयं विनम्र होता है और दूसरों को भी विनम्रता की शिक्षा देता है। विनम्रता के उत्कर्ष में कबीर राम का 'मुतिया'[1] तक बन जाते हैं। इनका यह विनय केवल राम के प्रति ही नहीं है, वरन् अपने लौकिक व्यवहार में भी वे बड़े विनयशील हैं। अतएव वे दूसरों को भी विनयी होने का निर्देश करते हैं:—

"रोडा ह्वै रहो बाट का, तजि पाखंड अभिमान।"

कबीर की विनम्रता सहनशीलता और समता में सम्पुटित है। जिस प्रकार उत्तेजना दुख का कारण बनती है उसी प्रकार विषमता की भावना भी दुख देती है। इसी लिए कबीर विनम्र होने के साथ सहनशील होने का आदेश देते हैं:—

"खुंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ॥"

'हरिजन' कबीर का आदर्श मानव है। वह विनम्र और सहनशील होने के साथ-साथ समभाव से विभूषित होता है। उसको पक्षपात कलंकित नहीं

---

१. कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउँ॥

करता। व्यक्ति न केवल स्वयं आत्मशान्ति प्राप्त करता है अपितु समाज को भी उसकी प्रतिष्ठा की ओर प्रेरित करता है। इसी दृष्टि से कबीर कहते हैं—

"सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाँड़े निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ॥"

कबीर की विनयोपेत आध्यात्मिक शक्ति उतके दैन्यसम्पृक्त गर्व के रहस्य का उद्घाटन बड़ी सरलता से कर देती है। कबीर अपने दुर्बल शरीर में भी एक असीम शक्ति का साक्षात्कार करते हैं जो कर्म के मूल्य का किसी प्रकार ह्रास नहीं करती।

समाज के विगलन का कारण कबीर स्व की संकीर्णता मानते हैं। जिससे अनेक विषमताओं का प्रादुर्भाव होता है। सामाजिक एकता का खंडन पारस्परिकता के बन्धन का शैथिल्य इसी संकीर्णता से उद्भूत होता है। अतएव वे मनुष्य को कूप-मंडूकता से निकालकर उसकी वृत्तियों को उदात्त बनाने की प्रेरणा भी देते हैं। जिसने वेद और पुराण की पुस्तकें पढ़ डाली हैं, वह कबीर की दृष्टि में पंडित नहीं हैं। इस संसार में ऐसे लोग न जाने कितने आते और जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, वैयक्तिक कल्याण की दृष्टि से भी उनका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि पांडित्य का गर्व उनकी उन उदात्त भावनाओं को, जिनसे लोक-मंगल का परिपोषण होता है, दबोच देता है और ऐसे व्यक्ति समाज की प्रगति में न केवल दीवाल का काम करते हैं, प्रत्युत दूसरों को पंगु बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे 'पंडितंमन्य' लोगों की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"

कबीर यह जानते थे कि लोक-मंगल की सिद्धि किसी एक व्यक्ति की साधना से नहीं हो सकती थी, व्यक्तिमात्र का आचरण सामाजिक मंगल तक पहुंचा सकता है। इसके लिये वे एक वातावरण की आवश्यकता समझते थे जिसका सृजन उनकी समकालीन परिस्थितियों में अति दुर्भर था। उस समय प्रश्न केवल एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद का ही नहीं था, अपितु वेदवाद और अवेदवाद का भी था। इतना ही नहीं अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय अपनी अनेक भ्रांतियों में आविष्ट होकर सामाजिक कुण्ठाओं के रूप में प्रस्तुत हो रहे थे।

इनमें से किसी के भी पक्ष में कबीर की साधना की असफलता होती। इस कारण कबीर को साधना का एक नया मार्ग निर्मित करना पड़ा जिसके कण-कण में सम्प्रदायवाद को चुनौती थी, जिसमें पग-पग पर नव-जागरण का आह्वान था, समाज को कबीर एक चेतना का वरदान दे रहे थे—उस चेतना का जिसको कोई प्रगतिशील मतवाद आज तक समाज के सामने प्रस्तुत नहीं कर सका है। अनेक वादों के समर्थक अपने-अपने लक्ष्य की मोहनी लेकर यह कहने का दावा कर सकते हैं कि एक अभग्न समाज की प्रतिष्ठा में उनका मत एकमात्र साधन है, किन्तु उसके साधनों में क्या-क्या कुंठाएं हैं, दूसरों को उनके व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं जान सकते हैं।

कबीर मतवादी नही थे। वे न तो किसी मत का विरोध करना चाहते थे और न किसी का समर्थन ही क्योंकि ये दोनों ही बातें उनके लोक-मंगल की साधना में बाधक सिद्ध हो सकती थीं। अतएव वे पक्ष-विपक्ष से ऊपर उठकर उस लोक का विचार करने लगे जिसमें न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न राजा है न रंक, न हिन्दू है न मुसलमान, न वेद है न कुरान, न मंदिर है न मस्जिद, न काशी है न काबा, न पंडित है न काजी और न पुजारी है न मुल्ला।

लोग यह कह सकते है कि यह कबीर का वह लोक है जिसमें इस भूतल के निवासी नहीं रहते। वह कबीर का हरि-लोक हो सकता है या उनका कोई मनोलोक जिसको 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' के सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कहना और समझना भ्रम होगा। इसकी पृष्ठभूमि को यदि मनोविज्ञान के उज्जवल लोचनों से देखा जाय तो उसमें कबीर का वह मंगल-लोक मिलेगा जिसकी कल्पना आज के कवि ही नहीं राजनीतिज्ञ भी करने लगे हैं। धर्म-निरपेक्ष राज्य कबीर की उसी साधना की एक भग्न कड़ी कहा जा सकता है क्योंकि उसको एक सोपान कहना इसलिए उचित नहीं कि उस साधना की प्रतिष्ठा में कबीर ने अलौकिक तत्त्व को लौकिक बनाकर ग्रहण किया था। उन्होंने अद्वैत में एक अखण्ड समाज की भावना की थी जिसमें व्यक्तिगत भेद-दृष्टि के लिए आलोक की कोई किरण नहीं थी।

यह ठीक है कि भारत में अनेक महात्मा हुए, अनेक कवि हुए और अनेक दार्शनिक हुए, किन्तु किसी के प्रयत्नों में ऐसी अदम्य एकता नहीं मिलती।

जिन लोगों को कबीर में कोई रूखापन दीखता है या उन्हें किसी गर्वोक्ति का आभास मिलता है, वे उनके मूल में कबीर की ईमानदारी और लगन देखें। उनकी निर्भीकता और स्पष्टता देखें और उनके विवेक की गहनता देखें। यह ठीक है कि तुलसीदास ने भारतीय मानस के अंधकार को दूर करने के लिये अपने मानस का आलोक दिया और यह भी है कि सूरदास ने हरि-प्रेमियों को मुग्ध करने के लिए लोक-मानस के तारों को झंकृत किया, किन्तु क्या ये किसी मतवाद से उतना ही ऊंचा उठ सके जितना कि कबीर उठे थे ? क्या उनके आदर्शों में कबीर का सा ही एक पूर्ण समाज निहित था ? शायद इस प्रश्न का कोई निष्पक्ष उत्तर न मिले। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह कह कर कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति वैसा ही प्रौढ़ व्यक्तित्त्व लेकर आया तो वह कबीर था, कबीर के महत्त्व को अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु यदि डॉ० साहब बुद्ध और कबीर की परिस्थियों की तुलना करके साधनों के सम्बन्ध में निर्णय देते तो संभवतः उन्हें अपना मत बदलकर यह कहना पड़ता कि भारतीय इतिहास में कबीर एक अनुपम विभूति के रूप में अवतीर्ण हुए। जिस समय विश्वराज्य का स्वप्न साकार होगा, शायद कबीर के लोक-मंगल की साधना का महत्त्व लोग उस समय स्वीकार करेंगे।

जो लोग इस युग में आकर्षण और मोहन के सिवा और कुछ नहीं देखते, उनसे तो कुछ कहने की बात ही नहीं उठती, किन्तु जिन्होंने इस युग के दम्भ पाखंड, छल-छद्म, कपट, मिथ्यावाद, मिथ्याचार आदि को देखा है और इनके जाल में फँसकर युग को कोसते हैं वे कबीर की बाणियों तक पहुँचें। उनसे उनको अवश्य ही कुछ सहानुभूति होगी, कुछ तोप मिलेगा, कुछ तृप्ति मिलेगी और शायद वे यह भी सोचने लगें कि यदि उनमें शक्ति होती तो वे भी ऐसा ही कहते मिथ्याचारों और मिथ्यावादों को कबीर ने फटकारा है उनमें समाज के विनाशकारी तत्त्व स्पष्ट हैं। समता की जो भावना, मानव-एकता की जो प्रेरणा कबीर की वाणी में साकार हुई है, उसमें लोक-मंगल की साधना स्पष्ट है। महात्मा गांधी के इस युग में—उस महात्मा के युग में जिसने अहिंसा और सत्य की आधारशिला पर अपना जीवन निर्माण किया, सत्याग्रह को प्रतिष्टित कर दुराग्रह का मूलोच्छेदन किया। अहिंसा की शक्ति से हिंसा को भगाया, वर्णभेद को उखाड़ कर समता को प्रतिष्ठित किया, भूखों को भोजन और नंगों को वस्त्र दिलाने का जिन्होंने पूर्ण प्रयत्न किया—कबीर की लोक-साधना का

महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जैसे कुछ दिन पहले तक राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने किसी पूर्वज का हथियार चुनता था उसी प्रकार महात्मा गांधी के मुख और हाथों में शक्ति देखते हैं, वह बिल्कुल कबीर की जैसी शक्ति है। परिस्थितियाँ इस युग में भी कुछ कम जटिल नहीं, दोनों ही लोक-मंगल के साधक रहे। अन्तर रहा तो केवल इतना कि महात्मा गाँधी शिक्षित थे और कबीर ने 'मसि-कागद' ही नहीं छुआ था। किन्तु कबीर की वाणी में प्रखरतामयी शक्ति थी और महात्मा गांधी की वाणी में मंजुल प्रभावोत्पादकता। एक मरहम लगाकर फोड़े को ठीक करता था, दूसरा चीर-फाड़ करने में सिद्धहस्त था। दोनों में कौन छोटा और बड़ा था—इसका उत्तर तो शायद फ्रायड ही दे सकें, किन्तु यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि कबीर की वाणी में कभी-कभी कविता की लहर भी उद्वेलित हो उठती थी, परन्तु अपनी साधना को यदि किसी महापुरुष ने फलवती देखा तो वह महात्मा गांधी थे।

●

: १० :

लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर-वाणी

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्तों, योग के प्रतीकों और 'भगति नारदी' आदि वाक्यों को देख कर कबीर-वाणी को लोक-काव्य की कसौटी पर चढाने में हिचक होने लगती है क्योंकि लोक-काव्य का सम्बन्ध किसी दार्शनिक-धारा से नहीं होता। वह तो लोक-जीवन के सामान्यतम तथ्यों की अभिव्यंजना से ही सन्तोष कर लेता है क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है। प्रत्येक मानव उसे अपनी निधि के रूप में अक्षुण्ण रखता है किन्तु देश-काल की छाप उस पर अवश्य लगी रहती है। जो बातें सामान्य जनता में समाहृत होती हैं वही लोक-काव्य की रीढ़ होती हैं क्योंकि काव्य भी तो वास्तव में समाज का ही चित्र है। कबीर की वाणी में यह गुण होने से वह लोक-काव्य के ही अधिक समीप है। उसे दर्शन के अन्तर्गत रखना उसमें आये हुए लोक-जीवन की उपेक्षा करना है। कबीर की सूक्ष्म अनुभूतियों में दर्शन का रंग झलकता है। यह उनके सत्संग का फल भी कहा जा सकता है किन्तु इनके साथ उनकी वे अनुभूतियाँ भी तो हैं जो उनके, अन्तर से नहीं, बाहर से सम्बन्ध रखती हैं और ऐसे बाहर से जिसे प्रत्येक मानव अपना समझता है। दंभ-पाखंड के जिस युग में रंक रहता था उस में राजा भी। उससे दोनों का सम्बन्ध था। जिस पर कबीर का अधिकार था उस पर हर किसी का अधिकार था। इस दृष्टि से कबीर की वह वाणी जो लोक से सीधा सम्बन्ध रखती है लोक-काव्य के अंतर्गत समाहित हो जाती हैं किन्तु उनकी सूक्ष्म अनुभूतियां भी सामान्यतम प्रतीकों का आधार पाकर लोक-जीवन से दूर नहीं रह जाती—

"आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥"

यह एक आध्यात्मिक अनुभूति है जिसमें प्रेम का विरह पक्ष प्रबल है। इस साखी को लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों अर्थ दिये जा सकते हैं। इसके अर्थ में एक ओर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को देखा जा सकता है तो दूसरी ओर विरहणी प्रियतमा का हृदय भी दीख जाता है। अतएव यह साखी जिस प्रकार एक ईश्वर-प्रेमी की निधि है उसी प्रकार सामान्य प्रेमी की भी।

इसके अतिरिक्त जीवन को दर्शन से विरहित नहीं किया जा सकता और भारतीय जीवन तो दर्शन की धरा पर ही प्रवाहित हो रहा है। उसके सुख-दुख और आशा-निराशा के उतार-चढ़ावों से जो गति और अवरोध आते हैं उन्हीं की अभिव्यंजना का नाम तो दर्शन है जो चिन्तनविषयक मान्यता है। मतवादों के सम्बन्ध से अनेक दार्शनिक प्रणालियाँ दीख पड़ती हैं किन्तु जीवन के सामान्यतम तथ्यों एवं तत्सबंधी विचारों को लेकर भी दर्शन-साहित्य में अभिव्यक्त हो सकता है। उसी की प्रतिष्ठा अनेक मतों के ऊपर होती है और वही जीवन-दर्शन है।

कबीर का जीवन-दर्शन निगूढ़तम होते हुए भी सामान्यतम है। उनकी जो उक्तियां अद्वैतदर्शन की पथ-परंपरा की ही जमी हुई शिलाएं प्रतीत होती है व सामान्य मानव तक को रोचक लगती हैं। चाहे साम्प्रदायिक रीतियों से मोह हो जाने के कारण हम अपने राजमार्ग को भूल जायें किन्तु वह एक ऐसा मार्ग है जो सब वीथियों का काम साधता हैं, जो मनुष्य को संकीर्णता से निकाल कर उदार एवं सर्वगम्य मार्ग पर प्रतिष्ठित करता है। कबीर के सामने चाहे उपनिषदों का अद्वैतदर्शन रहा हो चाहे शंकर का मायावाद किन्तु वे उनकी भूल भुलैयों में भ्रान्त नहीं हुए। उनकी उक्तियों पर परंपरा का प्रभाव प्रतीत होता हुआ भी, उनमें 'अपनापन' है जिससे असहमत होने के लिए किसी को कारण मिलना दुष्कर है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित साखी को लीजिये—

"संपति माही समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रमि रहया, साहिब कहिये सोइ॥"

यह साखी आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं सामाजिक दृष्टि से भी कोई मतभेद पैदा नहीं कर सकती। आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अद्वैतवाद का समर्थन दीख पड़ता है और सामाजिक दृष्टि से इसमें ईश्वर की प्रतिष्ठा करके मानव

बन्धुत्व की प्रतिष्ठा की गयी है। जहां मानव के अहंकारमूलक स्वामित्व पर आघात किया गया है वहां समता एवं बन्धुत्व की भावना के लिये धरातल भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की 'वाणी' किसी एक व्यक्ति या वर्ग से संबंध न रखकर अपनी सार्वजनीनता को घोषित करती है। फिर इसे लोक-काव्य के पद से च्युत करना अनुचित ही होगा। कबीर की आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में भी लोक-जीवन की बड़ी सरस झांकियाँ मिल जाती हैं। एक झांकी देखियेः—

"चरषा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भैया की सौं[1]।"

इस पद में कातने के जिस कर्म का निर्देश है वह कबीर कालीन लोक-जीवन का आश्रय था। अब भी गाँवों में गरीब औरतें कताई करके अपना और अपने परिवार का उदर-पोषण करती हैं। आज चरखे की बात भले ही राजनीति से अपना सम्बन्ध रखती दीख पड़ती हो किन्तु पच्चीस-तीस वर्ष पहले तो गांवों की अधिकांश स्त्रियां कताई करतीं थीं। यदि उनमें से कुछ अपने घर का सूत कातती थीं तो कुछ मजदूरी पर कातती थीं। कताई के भी अनेक भेद होते थे बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सूत और रुई के अनेक भेद होते थे। आज तक एक जनश्रुति चली आ रही है कि दिल्ली में अकबर ने एक दरबार किया उस में किसी ने कताई-कला का प्रदर्शन करते हुए एक रत्ती सूत को दो सौ गज से नपवा दिया था। इसमें चाहे कुछ अत्युक्ति रही हो किन्तु कताई का केवल व्यवसाय के रूप में ही नहीं बल्कि कला के रूप में भी मूल्य था, यह तथ्य अवश्य उद्घाटित होता है। 'हजरी का सूत' कला की ओर संकेत करता हुआ कताई का नारी से संबंध स्थापित कर देता है। 'नणद के भइया' में नारी के लिए कितनी मोहकता है, नारी के हृदय में उसकी कितनी प्रतिष्ठा है, इस बात को नहीं भुलाया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि कबीर का यह पद किसी सम्प्रदाय या मतवाद के लिये नहीं बना था अपितु उसका सम्बन्ध सामान्य नारी से था। अतएव वह अवश्य ही नारी-कंठ का भूषण रहा होगा। यह बात नहीं है कि

---

१. कबीर वाणी, पद १३

इस पद में केवल लोक-पक्ष ही प्रमुख है, अध्यात्म-पक्ष भी उतना ही ऊंचा है:—

× × ×

"सब जग ही मरि जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब राँडिनि कौ साथ, चरखा को धरै[1] ॥"

× × ×

यहां 'बढ़ई' परमात्मा हैं, 'चरखा' शरीर है और 'हजरी का सूत' सूक्ष्म की अनुभूतियां हैं। कबीर की वाणी में ये दोनों पक्ष अनेक स्थलों पर प्रबल है फिर भी लोक-काव्य में उसका अपना स्थान है। इसी प्रकार—

"अब मोहि ले चलि नणद के वीर, अपनै देसा।"

इस पद में भी नारी के लिए कम आकर्षण नहीं है। 'नणद का बीर' अपने प्रतीक रूप में जिस प्रकार पंडितों के मन को मोहता है उसी प्रकार नारी-समाज के मन को भी।

ऐसा सोच लेना भी अनुचित नहीं है कि इस प्रकार के गीतों की शैली लोक-प्रचलन प्राप्त कर चुकी होगी। कहते हैं कि विद्यापति-पदावली का मिथिला और उसके आस पास बहुत प्रचलन हो गया था और उनमें से बहुत से पद अब तक लोक-मान्य बने हुए हैं। इसी प्रकार कबीर के पदों को भी लोकमान्यता प्राप्त है। सरंगी, सितार या तानपूरे पर गाये जाते हुए कबीर के पद अब भी जनता का मोहन कर रहे हैं।

लोक-गीतों के संबंध में विद्वानों ने कुछ माप-दण्ड बना रखे हैं और वे हैं द्रुत प्रवाह, शब्द-विन्यास की सरलता, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी सहज स्वाभाविक मनोराग, व्यापार का उद्वेग, आलम्बन या दृश्य सम्बन्धी स्थूल अंकन और साहित्यिक रूढ़ियों का बहिष्कार।

कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि लोक-गीत की पृष्ठभूमि में कोई कथानक अवश्य रहता है। मैं समझता हूँ कि कथानक उसके लिए अनिवार्य

---

१. कबीर-वाणी, पद १३

नहीं है। अनिवार्य है भाव-तीव्रता, प्रवाह-द्रुति और अनुभूति की सार्वजनीनता, भाव-तीव्रता, अभिव्यंजना की कृत्रिमता और शिथिलता को नष्ट करके उसे स्वाभाविक और चुस्त बनाती है। कबीर के गीतों में इन गुणों के अतिरिक्त आत्मपरकता का गुण विशेष हैं। यह ठीक है कि गीतों के लिए आत्मपरकता चाहिये, किंतु लोक-गीतों में आत्मपरकता के प्राधान्य की आवश्यकता नहीं हैं। विषयी की साधना में विषय का भी महत्त्व है। विषय या वस्तु का सहारा लिए बिना विषयी आकाश का पक्षी बन कर ही सदैव नहीं उड़ सकता। उस को जो प्रश्रय, जो विश्राम चाहिये वह वस्तु में मिलता हैं। कबीर के गीतों में आत्मपरकता तो है, किन्तु अनेक स्थलों पर उनका वस्तु-सम्पर्क भी प्रशस्त है—

"कबीरा प्रेम की कूल ढरै, हंमारै रांम बिनां न सरै।
बांधि लै धोरा सींचि लै क्यारी, ज्यूं तूं पेड़ भरै[1] ॥"

× × ×

इस पद में उक्त दोनों गुणों का समावेश है। यह गुण कबीर के गीतों में ही नहीं है, साखियों में भी है। हम उनकी साखियों को भी लोक-काव्य से दूर नहीं रख सकते। यदि लोक-काव्य की एक परख यह भी है कि उसे लोक-प्रेम या लोक-रुचि मिले तो कबीर की वाणी लोक-काव्य सिद्ध होती है। जिन चीजों को आज हम हठयोग से सम्बन्धित कह कर जनसाधारण से दूर की मानते हैं वे कबीर के समय में बहुत पास की मानी जाती थीं क्योंकि योग का सम्बन्ध सिद्धि और गुरु गोरखनाथ से जोड़कर लोगउस को विस्मयात्मक आदर देते थे। बाबा गोरखनाथ के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां और गीत बन गये थे जो बड़े उल्लास के साथ जनता में गाये जाते थे। उन जनश्रुतियों और गीतों का मूल्य कबीर की वाणी में किसी प्रकार घटा नहीं, बल्कि बढ़ा ही दीख पड़ता है।

जो काव्य-लोक के समीप बिना किसी प्रयास या प्रयत्न के ही पहुँचने की क्षमता रखता है और जो लोक-रूचि को तीव्रता से पकड़ लेता है, वह लोक-काव्य नहीं तो क्या हैं। जिस काव्य में जनता का हर व्यक्ति, समाज का प्रत्येक

---

१. कबीर-वाणी, पद २१६

सदस्य, छोटा हो चाहे बड़ा, अपना प्रतिबिंब देख सकता है वही वस्तुतः लोक-काव्य है क्योंकि उसी में जनरुचि को शीघ्रता से पकड़ने की शक्ति होती है। जिस प्रकार लोक-नायक वही है जो लोक-प्रिय है, जिसका प्रभाव लोक पर पड़े बिना नहीं रहता उसी प्रकार जो लोक को खींच कर अपने भावों के साथ उठाने की सामर्थ्य रखता है वह लोक-काव्य है। इस कसौटी पर कबीर की वाणी अधूरी नहीं उतरती। व्यापार, व्यवसाय, व्यवहार, संस्कार, धर्म आदि ऐसा कोई भी तो सामाजिक पहलू नहीं है जिसको कबीर ने न छुआ हो।

वे खेत सींचने के तरीके जानते हैं। अनेक व्यापारों से परिचित हैं। तुरई की कीमत जानते हैं, हिंडोले के खंभों और डोरियों से उनका परिचय है, मधु-संचय का सारा रहस्य जानते हैं। वे बनिये की चतुराई और वस्तुओं का मूल्य जानते हैं। किसान और पटवारी से लेकर बन्दोबस्त के अहलकारों और हाकिमों के कारनामों को जानते हैं। वे विधवा की दशा से परिचित हैं, और सबसे अधिक जानते है वे अपने व्यवसाय को। कताई और बुनाई का जितना सूक्ष्म चित्रण कबीर ने अपनी रचनाओं में किया है वह न केवल उनके सम्पर्क की गहनता प्रकट करता है अपितु उनकी अभिव्यक्ति की सफलता भी। कहने का तात्पर्य यह है कि वे रंक से राजा तक, चींटी से कुंजर तक, राई से पर्वत तक और घोर पापी से परम पुण्यात्मा तक, सबको जानते हैं। सबके चित्र उनकी आँखों में हैं। वे अच्छे चित्रकार हैं, फिर भी विचित्र। वे केवल इन चित्रों को दिखाना नहीं चाहते। उनका मूल लक्ष्य समाज को ममता-मोह आदि से संबंधित अनाचार एवं अत्याचार के पंक से निकालकर एक ही आध्यात्मिक स्रोत की ऊंचाई पर ला बैठाना था। इसी से वे कह उठते हैं—

> **"तन खोजौ नर ना करौ बड़ाई,**
> **जुगति बिना भगति किनि पाई।**
> **एक कहावत मुलां काजी,**
> **रांम बिनां सब फोकटबाजी।**
> **नवग्रिह बाँभण भणता रासी,**
> **तिनहूं न काटी जम की पासी।**
> **कहै कबीर यहु तन काचा,**
> **सबद निरंजन रांम नांम साचा॥"**

यद्यपि लोक-काव्य सामाजिक उल्लास को प्रोत्साहित करता है, सामाजिक जीवन को संरक्षित करता है किन्तु उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत उद्‌बोधन से भी रह सकता है—

"रांम न जपहु कहा भयौ अन्धा,
रांम बिनां जन्म मेलै फंधा।
सुत दारा का किया पसारा, अन्त की बेर भये बटपारा।
माया ऊपरि काया मांडीं, साथ न चलै षोपरी हांडी।
जपौ रांम ज्यूं अन्ति उबारैं, ठाढी बांह कबीर पुकारैं[1]।"

कबीर की वैराग्योक्तियाँ विशेषतः व्यक्तिगत उद्बोधन से ही सम्बन्धित हैं। फिर भी उनमें सामाजिक प्रेरणा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कहा तो यह भी जाता है कि वैराग्य-भावना मध्य-युग की एक बड़ी भारी प्रवृत्ति थी जो अधिकांशतः सत्य भी है। सूर और तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी वैराग्य को भक्ति का साधन मानते रहे। कबीर की विरक्ति-भावना में लोकासक्ति के निवारण करने का लक्ष्य तो निहित है ही, साथ ही उसमें सामाजिक समता और एकता की भावना भी निहित है। जहाँ कहीं कबीर को विषमता का आग्रह दीख पड़ता है वहीं वे वैराग्य का दुधारा लेकर टूट पड़ते हैं। उनका प्रहार एक ओर सामाजिक वैषम्य पर होता है और दूसरी ओर ईश्वरीय एकता के बाधक तत्त्वों पर—

"ताथैं सविये नारांइणां,
प्रभू मेरौ दीन दयाल दाय करणा।
जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं, बिद्या ब्याकरणां।
तन्त मन्त सब ओषदि जांणौं, अंति तऊ मरणां।
राज पाट स्यंघासण आसण, बहु सुन्दरि रमणां।
चन्दन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां।
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणां।
लुंचित मुंडित मौनि जटाधर, अंति तऊ मरणां।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १२८

सोचि बिचारि सबै जग देख्या, कहूं न ऊबरणां ।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणां[1] ।।"

हाँ, एक बात अवश्य है जो कबीर की वाणी को लोक-काव्य के पद पर आसीन होने से रोकती है और वह है समाज की कटुतम आलोचना, ऐसी आलोचना जो वर्गों और सम्प्रदायों पर सीधा प्रहार करती है । उनके सम्बोधन आलोचना की कटुता को और भी प्रखर कर देते हैं । इस प्रकार लोक-रुचि और काव्य के बीच में आलोचना के आ जाने से कबीर-वाणी का लोक-काव्यत्व निर्बल पड़ जाता है ।

कबीर के समय में ही उनकी वाणी की मान्यता गीतों के समान थी । इसका प्रमाण उनके अपने शब्द हैं—

"लोग जानैं इहु गीत है, इहु तौ ब्रह्म विचार ।
ज्यो कासी उपदेस होई, मानस मरती बार[2] ।।"

कबीर यह जानते हैं कि ब्राह्मनिरूपण के सम्बन्ध से गीत की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, उसमें जीवन-तत्त्व भी होना चाहिये, सरसता का पुट भी चाहिये । फिर भी उनकी वाणी को लोग गीत समझते थे, उसका गीतवत् आदर होता था । इससे स्पष्ट है कि उसमें सामान्य जीवन-तत्त्व निहित है । उसमें कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसे गीत-कोटि में रख देती है । चाहे कबीर विनयवश अपनी वाणी को गीत भले ही न कहते हों किन्तु उसकी मान्यता गीतों में थी, इस बात का उन्हें ज्ञान था । कबीर की उक्त साखी कबीर की वाणी को लोक-काव्य की कोटि में रखने का प्रयत्न करती है ।

जो हो, भाषा की सरलता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, जीवन सम्पर्क, प्रवाह-द्रुति, प्रभाव-तीव्रता आदि के आधार पर कबीर-वाणी को लोक-काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं । उसका सम्बन्ध जिस प्रकार मनुष्य के अन्तर्लोक से है उसी प्रकार बहिर्लोक से भी है । दोनों दिशाओं में जीवन से उसका सीधा सम्बन्ध

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २४८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७३

है। जिस प्रकार चिन्तन की ऊंचाई और अनुभूति की गहराई से कबीर-वाणी का सम्पर्क है उसी प्रकार जीवन के विविध पक्षों से भी कबीर का परिचय है। इन दोनों में जो पैबंद दिये हैं वे कबीर के कौशल के प्रमाण हैं। एक ही साथ दो दिशाओं में घुमाना और दो मार्गों से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देना कबीर की अमोघ प्रतिभा का फल है। जिस मार्ग का अनुसरण अच्छे-अच्छे कवि नहीं कर पाते, जिन साधनों का सफल उपयोग विरले ही भारती-नन्दन कर पाते हैं उनका उपयोग ही नहीं वरन् जन-जीवन से सहज सम्पर्क भी कबीर के हाथों में इतना प्रौढ़ और प्रभावोत्पादक बन गया है कि न मानने वाले भी उनको कवियों की सरणि में रखते हैं। लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर की वाणी को उतारने के लिए यह गुण पर्याप्त है।

●

: ११ :

हिन्दी कविता की प्रतीक-परम्परा में कबीर का योग

छायावाद के कुछ समीक्षकों ने इस भ्रम को प्रश्रय दिया है कि प्रतीक-शैली पाश्चात्य-प्रेरणा मात्र है। उनके मत में इतना तो सत्य है कि साहित्य ने भारतीय भाषाओं के साहित्यिक रूप-विधानों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है किन्तु हमारे आधुनिक साहित्य को प्राचीन भारतीय परंपरा से विच्छिन्न करके देखना सदैव समीचीन नहीं है। न केवल भारतीय धर्म और काव्य की प्रतीक-पद्धति की प्राचीनता ही असंदिग्ध है अपितु किसी भी देश के साहित्य और धर्म का ज्ञान वहां की अभिव्यक्ति-परंपरा में न्यूनाधिक मात्रा में प्रतीकों के प्रयोग का परिचय अवश्य देता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव जाति के अस्तित्व के लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है। मानव-जीवन का सारा मंत्र ही अपनी गति के लिए उस पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्म-कांड-संबंधी अंश भी विशुद्ध प्रतीक-विधियों के सिवा और कुछ नहीं है।

जब से मानव-भावों को अभिव्यंजना-शक्ति प्राप्त हुई तभी से प्रतीकों के प्रचलन का इतिहास प्रारंभ हो गया। मानव के सामने जो-जो वस्तुएं आयीं उनसे अपना संबंध रखने के लिए उसने नाम प्रदान किये, जो वास्तव में उनके संकेतमात्र थे। क्रमशः उनको एक जन-समुदाय की स्वीकृति प्राप्त होती गयी। उनके साथ ही क्रियाओं की सृष्टि भी होती गई। संभवतः पहले नामों से ही क्रिया का भी काम ले लिया गया हो किन्तु उनके साथ भी क्रिया मनुष्य के शारीरिक संकेतों के द्वारा व्यक्त होती रही होगी। धीरे-धीरे भाषाओं का विकास होता गया। सभ्यता और संस्कृति का इतिहास यह बताने की भी चेष्टा कर सकता

है कि पहले मनुष्य थोड़े शब्दों से अपना काम चलाता होगा। जैसे-जैसे उसके संबंधों और आवश्यकताओं का विकास होता गया उसकी भाषा की शब्दावली बढ़ती गयी। इस विकास के गर्भ में भिन्न-भिन्न जन-समूहों ने इस धरा पर भिन्न-भिन्न प्रतीकों की योजना प्रस्तुत की। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का अध्ययन आधुनिक अनेकता के मूल में निहित एकता का परिचय देकर भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतीकों का परिचय भी देता है।

प्रतीक वस्तुतः संकेतों का काम करते हैं। मानव के अस्तित्व के लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है, यह बात उक्त विवेचन से प्रकट हो सकती है। डा० बड़थ्वाल ने ठीक ही कहा है, "मानव जीवन का सारा मंत्र ही अपनी गति के लिए प्रतीकों पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्मकांड संबंधी अंश भी प्रतीक-विधियों के सिवा और कुछ नहीं है। भाषा भी वस्तुतः एक प्रतीकात्मक उपाय मात्र है[1]।" प्रतीक तत्त्व जीवन की पुनरभिव्यंजना को नियत एवं संयत बनाकर उसे भावप्रवणता प्रदान करते हैं। प्रतीकात्मक प्रयोग संबंधित अर्थों को प्रतीकों के आंशिक अथवा पूर्ण गुणों से विभूषित कर देते हैं जिससे नियत प्रभावात्मकता की तीव्रता के क्षेत्र में श्रेष्ठ ज्ञान, भाव और अभिप्राय की सीमा तक पहुँचा जा सकता है किन्तु प्रतीकों की सबसे अधिक आवश्यकता आध्यात्मिक अभिव्यंजना के क्षेत्र में प्रतीत होती है जहां कि बहुत सूक्ष्म सत्यों को भी सरल एवं भावपूर्ण ढंग से व्यक्त करना होता है अन्यथा वे हर किसी को बोधगम्य नहीं होते। "जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाये हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आत्मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव जाति के उपयोग में तभी आते हैं जब उन्हें गहरे रंगों में रंजित एवं पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीकों के बने रूपकों का आश्रय मिल जाता है, परन्तु इस सांकेतिक भाषा को समझने के पहले कुछ न कुछ सीखने की आवश्यकता पड़ती है[2]।" अन्यथा प्रतीकों का वास्तविक मर्म समझने में भूल हो जाया करती है। प्रतीकवाद यथार्थवाद में परिणत होकर सदोष बन जाता है। कुछ वैष्णव सम्प्रदाय तक इस दोष से कलंकित हो गये हैं।

---

१. बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७
२. बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७

प्रतीकों का इतिहास मानव अनुभूति और अभिव्यक्ति का इतिहास है। अनुभूति के अभिव्यंजना-पथ पर आते ही प्रतीकों का प्रचलन हो गया होगा, किन्तु कला के इतिहास में प्रतीक-पद्धति का विकास सौन्दर्य भावना से संबंधित है। मोहन-जो-दड़ो के भग्नावशेष सौन्दर्य-भावना के विकास और प्रतीक-प्रयोग के प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण हैं।

काव्य भावों की सहज अभिव्यक्ति है। अनुभूति से प्रेरित कल्पनाएं प्रतीकों को जन्म देती हैं। अनुभूतियों के अभिव्यक्ति-पथ में उद्‌गारों के संकोच वक्रता अथवा असमर्थता का समुपस्थिति होने पर उसे प्रतीकों का उस समय आश्रय लेना पड़ता है जबकि उद्‌गार अदमनीय हो उठते हैं।

जिस प्रकार जीवन की विभिन्न क्रियाओं के लिए अनेक संकेतों का उपयोग होता है उसी प्रकार काव्य में भावों और विचारों की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक शब्दों का प्रयोग होता है। काव्य में प्रतीक अपना नियत स्थान रखते हैं। 'कवि समय' उनसे अधिक सम्बन्धित है। प्रतीक सामान्य भाषा में बहुत कम प्रयुक्त होते हैं अथवा होते ही नहीं। जब ये सामान्य भाषा का अनिवार्य अंग हो जाते हैं तो वे प्रचलन में आ जाने से प्रतीकात्मक गौरव को खो बैठते हैं। नाथों और संतों की भाषा में 'अवधूत' शब्द योगी के लिए आता था किन्तु आज वही शब्द 'औघूत' होकर 'ऊटपटंग' या 'मूर्ख' का वाचक होकर प्रचलित हो गया है और उसने अपना अर्थ खो दिया है।

भावनावश मानव की अनादिता स्वीकार कर लेने पर तो प्रतीकों का इतिहास भी अनादि बन जाता है और यदि विकासवाद की कसौटी पर मानव की परीक्षा करें तो प्रतीक भी मानव-सभ्यता के सहचर सिद्ध होते हैं।

हाँ, साहित्यिक प्रतीकों का उपलभ्य प्राचीनतम रूप वेदों में मिलता है। वैदिक देव-देवियाँ प्रतीकत्व से संपुष्ट हैं। इनके आकार-प्रकार में धार्मिक भावना और कल्पना का मधुर मिलन है। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों ने आचार-क्षेत्र में प्रतीक-पद्धति को अपनाया है वहाँ उपनिषदों ने अध्यात्म-क्षेत्र में प्रतीकों से काम लिया है। वहाँ अक्षर या शब्द तक ने प्रतीकता धारण की है। ॐ ऐसा ही एक प्रसिद्ध अक्षर है जिसकी प्रतीकता उपनिषदों में इस प्रकार स्वीकार की गयी है—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्[1] ॥"

'ॐ' ब्रह्म या परमात्मा का प्रतीक है। उसको अक्षर ब्रह्म भी कह सकते हैं। यह निराकार एवं निर्गुण के ज्ञान में आलम्बन का काम करता है। इसीलिए इसके सम्बन्ध में कहा गया है:—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते[2] ॥"

बौद्ध-साहित्य और कला के अध्ययन से प्रतीकों के विकास पर रोचक प्रकाश पड़ता है। आरम्भ में भगवान् बुद्ध के उपदेशों को अंकित करने के लिए भारतीय शिल्प-विद्या में जो प्रतीक अपनाये गये उनमें दो प्रमुख थे—गुम्बद के रूप में उलटा कमल-पुष्प और स्तूप। एक में भौतिक उपदेश सुरक्षित हैं और दूसरा सारगर्भ उपदेशों का प्रतीक है। इन्हीं से शुंग-काल के पश्चात् बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण की प्रेरणा मिली और प्रतीकोपासना का प्रचलन हुआ। बौद्ध-साहित्य में भी प्रतीकों की समृद्ध परिपाटी का विकास हुआ। जातक कथाओं की प्रतीकात्मकता प्रथित और स्पष्ट है।

पुराणों में प्रतीकों के आश्रय से अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। षड़ानन, काली, गजानन, दशानन, त्रिशिरा आदि अनेक नामों में प्रतीकोद्भास है। इन नामों के साथ जो कथाएं गुम्फित हुई हैं उनमें धार्मिकता, श्रद्धा, कल्पना आदि अनेक उच्च भावों को संपुटित किया गया है।

सिद्धों और नाथों की रहस्यमयी कायिक साधनाओं ने अनेक प्रतीकों को जन्म दिया है। सिद्धों की संध्या भाषा 'हिन्दी-कूटों' की जननी कही जा सकती है। उसमें प्रतीकों ने अर्थ की निगूढ़ अभिव्यंजना में कितना योग दिया है, यह बात सिद्ध-साहित्य के आलोचकों से छिपी नहीं है। नाथों ने प्रतीकों की परंपरा के योग के क्षेत्र में केवल पिष्टपेषण करते हुए कला के क्षेत्र में अवश्य विकास

---

१. कठोपनिषद् १·२·१६
२. कठोपनिषद् १·२·१७

किया। उनके कूट पदों और उलटबाँसियों में परवर्ती शैली का प्रारूप तैयार हुआ।

योग-साधनाओं में नाड़ियों ने नाम प्राप्त किये। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्व विकसित हुआ। उन्होंने प्राण-वाहिनी होने के कारण जीवन-वाहिनी गंगा, यमुना एवं सरस्वती का प्रतीकत्व धारण किया और अनेक श्लोक ऐसे प्रतीकों की शक्ति लेकर बन गये :—

"गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम्[1] ॥"

गोरखवाणी में भी इस प्रकार के प्रतीकों का प्राचुर्य है। गंगा-यमुना के संगम को गोरखनाथ के एक पद में देखिये जहाँ पर स्नान करने की बात परंपरा-मुक्त है :—

"गंगा जमुना कूले पैसि करिलै असनान।
चाँपीला मूले अवधू धरीला धियांन[2] ॥"

अर्थात् योगी को गंगा-यमुना के कूल पर (इड़ा-पिंगला के मिलन में, सुषुम्ना का मार्ग खुलने की स्थिति मे) स्नान से शुद्ध हो जाना चाहिये। मूलाधार को दबाकर (संकोचन कर) ध्यान धरो।

काव्य में जिसको ध्वनि नाम से समझा जाता है उसका भी थोड़ा बहुत सम्बन्ध प्रतीकों से रहता है। काव्य-शास्त्र के ध्वनि-सम्प्रदाय वाले तो ध्वनि को ही काव्य का प्राण मानते हैं। कभी-कभी तो ध्वनि का समग्र भार प्रतीकों पर रहता है। ध्वनि में व्यंग्य रहता है और वह शब्द विशेष में अन्य शब्दों की संगति से आता है। वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अभिप्राय वाच्यार्थ से पृथक् रहता हुआ भी स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है किन्तु शाब्दिक संकेत से। रस के सम्बन्ध में भी यही बात है कि वह व्यंजित हुआ करता है। इसी प्रकार अनिवर्चनीय आध्यात्मिक अनुभव को भी गूंगे के गुड़ से तुलना दी गयी है।

---

१. शिव-संहिता
२. गोरख-वाणी

गूंगा मनुष्य संकेतमात्र कर सकता है। इसी प्रकार कवि अपने अनुभूति-रस को केवल संकेतों से व्यक्त कर सकता है। उनमें से कुछ संकेत तो अलंकार आदि के सम्बन्ध से भाषा का ही अंग बन जाते हैं किन्तु कुछ संकेत सामान्य शब्दों-जैसे होते हुए भी भिन्नार्थ देकर अभिव्यक्ति को एक नियत लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं।

यह ठीक है कि प्रतीक भाषा में अपना अभिप्राय लेकर आते हैं। और इसी अभिप्राय की सफल अभिव्यंजना में उनकी प्रतिष्ठा है किन्तु उनके क्षेत्रीय प्रयोग उन्हें सरसता और नीरसता प्रदान करते हैं। इसी कारण योग-क्षेत्र के प्रतीक शुष्क और नीरस एवं शक्ति और प्रेम क्षेत्र के बड़े सरस और मोहक होते हैं। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतीकों के मान के साथ उनकी सरसता भी अपना मूल्य रखती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से उद्भूत आनन्द की तुलना दार्शनिकों ने स्त्री-पुरुष के मिलन-जन्य आनंद से करके भक्तों के लिए प्रतीक-मार्ग को खोल दिया। कृष्ण और गोपियां की मिलन-लीला में भक्तों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन को देखा। अनेक लीलाओं को प्रस्तुत करने में भक्तों ने जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया उसमें प्रतीकों का मूल्य अविस्मरणीय है। क्या राधा के विकास का इतिहास प्रतीक की सरसता के विकास का इतिहास नहीं है ? जयदेव की पीयूष-वाणी इस विकास का प्रमाण है। ब्रह्मवैवर्तपुण्य आदि रचनाएं भी इसी साधना का साक्ष्य देती हैं। मिथला और ब्रज से हिन्दी-धरा पर जो रस-धारा प्रवाहित हुई उसमें प्रतीकों की सरसता स्पष्ट है। इस सरस प्रतीकता से अलग भक्त-वाणी का कोई मूल्य नहीं रह जाता। कला का वैभव, कल्पना का गौरव और धर्म का आग्रह सरस प्रतीकों के माध्यम से ही निर्वाहित हुआ है

कबीर के हाथों से प्रतीक-परंपरा का सुन्दर शृंगार हुआ। यह ठीक है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था, परन्तु वे स्वभाव से कवि तो थे ही। वाणी उनकी दासी थी किन्तु उसको कबीर के निर्लिप्त और निर्भीक व्यक्तित्व का बल प्राप्त था। अतः उनकी कृतियों में वह करामात मिलती है जिसे देख कर बड़े-बड़े आलोचकों को भी दंग रह जाना पड़ता है।

प्रतीकों के प्रयोग में कबीर की सचेष्टता उनकी अभिव्यंजना से स्पष्ट है। न केवल यौगिक प्रतीकों में ही कबीर का अभिव्यक्ति-कौशल दीख पड़ता

है अपितु उनके सामाजिक और पारिवारिक प्रतीक तो और भी समर्थ और मनोहर हैं। उनके 'कूट' जहां भागवत, विद्यापति-पदावली और गोरखबानी का स्मरण दिलाते हैं वहां उनकी उलटबांसियां पहेलियों की मौखिक परंपरा अथवा किसी अज्ञात लिखित परंपरा की कड़ी के रूप में आविर्भूत होती हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीक परम्परा-युक्त हैं। वे सिद्धों और नाथों की टकसाल के प्रचलित सिक्के हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रतीक अतिप्रचलित होकर काल-क्रम से अपना प्रतीकत्व खो देते हैं, फिर भी किसी सम्प्रदाय के स्वर में वे अपनी मौलिक शक्ति सुरक्षित रखते हैं। सिद्धों के यौगिक प्रतीक कबीर के समय तक भी साम्प्रदायिक ही बने रहे। सामान्य भाषा में वे प्रचलित रूप में स्वीकार न किये गये इसलिए सामान्य अर्थ के स्थान पर वे विशेष का द्योतन करते हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीकों का वर्गीकरण सांकेतिक और पारिभाषिक प्रतीकों के रूप में किया जा सकता है। गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, असीघाट, प्रयाग आदि शब्द सांकेतिक प्रतीक हैं किन्तु सहज, अजपा, शून्य, हरि, निरंजन, नाद, बिंदु आदि पारिभाषिक प्रतीक हैं। सुरति-निरति पारिभाषिक प्रतीकों के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर ने दोनों प्रकार से प्रतीकों का सफलता से प्रयोग किया है। सांकेतिक प्रतीकों का एक उदाहरण देख कर उनके प्रयोग का अनुमान किया जा सकता है:—

"सूर समाणां चन्द में दुहूं किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया कछू पुरबला लेख[1]॥"

यहां 'सूर' और 'चन्द' क्रमशः पिंगला और इड़ा के लिए प्रयुक्त हुए हैं और दोनों का एक घर सुषुम्ना में होता है। यह योग की अवस्था विशेष है। जिसको आलोचकों ने कबीर का योगात्मक रहस्यवाद कहा है। वह ऐसे ही सांकेतिक प्रतीकों से बना है। सांकेतिक प्रतीकों का तो कबीर-वाणी में प्राचुर्य है। योग के सम्बन्ध से ही ऐसे प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ अपितु अन्य सम्बन्धों से भी हुआ है, जैसे:—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७७

"कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बांधी एह।
दिवस चारि का पेषणां, श्रंति षेह की षेह ॥"

यहां 'पुड़ी' शब्द सांकेतिक प्रतीक है जो शरीर की ओर संकेत कर रहा है। एक दूसरा उदाहरण देखिये:—

"कबीर देवल ढहि पड़या, ईंट भई सैंवार।
करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार ॥"

इस साखी में प्रतीकों का बाहुल्य द्रष्टव्य है। 'देवल' शरीर का, 'ईंट' हड्डियों का, 'चिंजारा' परमात्मा का और 'ढहना' मरने का प्रतीक हैं। इन सामान्य शब्दों में ईश्वर-प्रेम का कितना गहरा रहस्य निहित है, इनके भावार्थ से स्पष्ट है। सांकेतिक प्रतीकों में मौलिक और परंपरायुक्त, दोनों प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। उसी प्रकार पारिभाषिक-प्रतीकों में भी ये दोनों प्रकार प्राप्य है। पारिभाषिक प्रतीकों का एक उदाहरण देखिये:—

"अजपा जपत सुंनि अभि-अंतरि, यह तत जानै सोई[1]।"

अथवा

"सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति जब परचा भया, तब खूटे स्यंभ दुवार ॥"

प्रसंगवश यहां यह कह देना असंगत न होगा कि जहां नाथों के लिए यौगिक क्रियाएँ ही साध्य हो गयी हैं वहां कबीर के लिए वे साधन-मात्र है। कबीर का साध्य तो अनन्य प्रेम है जिससे भिन्न परमात्मा भी नहीं है। कबीर ने उस प्रेम के लिए 'रस', 'रसायण', 'हरिरस', 'रामरस' आदि प्रतीकों का व्यवहार किया है:—

"हरिरस पीया जाणियै, कबहुँ न जाइ खुमार।
मैंमंता घूमत फिरै, तन की नाहीं सार ॥"

ऐसे स्थलों पर कबीर की मस्ती निसर्ग-काव्य का मधुर रस प्रवाहित कर पाठक की समग्र चेतना को अभिषिक्त कर देती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०४

सिद्धों और नाथों की परंपरा से आये हुए संख्यामूलक प्रतीक भी कबीर में मिल जाते हैं—

"चौंसठि दीवा जोइ कर, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घरि किसका चानिणा, जिहि घरि गोविंद नाँहि॥"

यहां 'चौंसठ' और 'चौदह' संख्यावाचक प्रतीक हैं जो क्रमशः कलाओं और विद्याओं के लिए व्यवहृत हुए हैं।

कबीर-वाणी में प्रतीकों का सौन्दर्य यदि कहीं देखना हो तो उनके रूपकों में देखना चाहिये जिनमें काव्य-माधुर्य और प्रतीकोत्कर्ष, दोनों एक साथ अभिव्यक्त हुए हैं यथा—

"दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
× ×
कहैं कबीर म ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी॥"

आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिन प्रतीकों को चुना है उनमें सरल व्यावहारिक अभिव्यंजना के साथ कवि की मौलिकता भी निहित है। दैनिक जीवन से उपचित होने के कारण उन प्रतीकों में जो आकर्षण और मोहन है वह सिद्धों और नाथों की बानियों में अप्राप्य है।

जब आध्यात्मिक अनुभवों के दिव्य आल्हाद की अभिव्यक्ति में भाषा की सामान्य शक्तियां जवाब दे देती हैं तो कबीर कदाचित् विवश होकर उन लौकिक व्यवहारों के माध्यम को अपनाते हैं जहां से उनकी अनुभूति का निकट-तम दर्शन हो सके। उनमें प्रेषणीयता अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होती है। जो प्रेम दाम्पत्य संबंधों की तीव्रता में लौकिक रूप धारण करता है वही उस अलौकिक शाश्वत आकांक्षा में परिवर्तित हो जाता है जो उसका परस्पर शक्ति से शान्त एवं निश्चल सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्रेम में दुलहिन और दूल्हा ही विलक्षण नहीं अपितु उनका सम्बन्ध सहज होते हुए भी विलक्षण है। उनके विवाह को देखने के लिए तेंतीस करोड़ देवता और अठासी हजार मुनि उपस्थित हुए हैं—

"सुर तेतीसू कौतिग आये, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी।।"

लेकिन केवल दाम्पत्य प्रतीक आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को प्रकट करने में असमर्थ हैं, अतः कबीर कभी स्वामी-सेवक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग करते हैं—

"मोहि बेचि गुंसाईं
तंन मंन धंन मेरा रामजी के ताईं।।"

और कभी उसे जननी के रूप में भी देखने लगते हैं—

"हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न औगुंण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जौ घाता, तउ न हेत उतारै माता।।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।।"

कबीर के बहुत से आध्यात्मिक प्रतीक लोक-जीवन का बड़ा निकट और सरस परिचय देते हैं। आत्मज्ञानी या ईश्वर-प्रेमी के विभोर होने के लिए एक क्षेत्र है और लोक-रत व्यक्ति के लिए दूसरा क्षेत्र। यहां कभी-कभी दोनों की तुष्टि हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार का अवसर कबीर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों द्वारा विशेषतः रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु वस्तुतः सारा खेल होता प्रतीकों का है। 'झीनी झीनी बीनी चुनरिया' जैसे पदों की प्रतीक-योजना में काव्य का सरस प्रवाह दर्शनीय है। भक्त रूपी प्रिया के लिए परमात्मा रूपी प्रेमी ने जो चुनरी सँवार कर दी है वह कितनी रंगीली और सजीली है, देखिये तो सही—

"चुनरिया हमारी पिया ने सँवारी,
कोई पहिरै पिय की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया,
पंच रंग पटिया पारी।
चाँद सुरूज जामें आँचल लागे,
जगमग जोति उजारी।

बिनु ताने यह बनी चुनरिया,
दास कबीर बलिहारी[1] ॥"

यह चुनरिया हमारे कितने निकट की है किन्तु प्रतीकों के ज्ञान के बिना इसका आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यहां प्रतीक कितने सरल और व्यवहारिक हैं उनसे पाठक या श्रोता का सम्बन्ध सहज ही हो जाता है। इस 'चुनरी' से प्रत्येक मानव का सम्बन्ध है किन्तु प्रतीक रूप में इसने कैसे दो अर्थ दे डाले हैं, यही इसकी सांकेतिकता है।

यों तो कबीर के बहुत से उपमान प्रतीक शक्ति से युक्त हैं और कुछ आलोचक उपमानों में भी प्रतीकता देखने की चेष्टा करते हैं किन्तु वास्तव में उनको प्रतीक नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि उपमान उपमेय के साथ साधर्म्य आदि गुणों के कारण किसी सीमा तक प्रतीक शक्ति धारण करता है किन्तु रूपकातिशयोक्ति जैसे कुछ अलंकारों में ही, क्योंकि वहाँ उपमेय का निगरण हो जाने से, उपमान और प्रतीक का अन्तर मिट जाने से, उपमान ही प्रतीक-पद पर आसीन हो जाता है। कबीर के कूटों में ही नहीं, उलटबाँसियों तक में ऐसे प्रतीकों का प्राचुर्य है:—

"तरुवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा[2]॥"

अथवा

"भेरै चढ़े सु अधधर डूबे निराधार भये पार।
ऊघट चले सु नगरि पहूंते, बाट चले ते लूटे॥
एक जेवड़ी सब लपटांनें, के बाधे के छूटे॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की प्रतीक योजना में बहुत कुछ तो परंपरागत मार्ग हैं किन्तु कुछ प्रतीक उन्होंने अपने दिये हैं जो 'कवि समय' की प्रेरणा न होकर मौलिक उद्भावना का परिणाम है। यह कहा जा सकता है कि कबीर के यौगिक प्रतीकों के लिए एक बना हुआ मार्ग था। उनमें से

---

१. कबीर ग्रन्थावली
२. कबीर ग्रन्थावली

अधिकांश उसी पर चलते रहे हैं किन्तु अपने अर्थ में उनका प्रयोग करके उन्होंने उनको जो शक्ति दी उसको परवर्ती सन्तों ने भी स्वीकार किया। ईश्वर प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिन प्रतीकों की सृष्टि की, चाहे उनका प्रचलन बाद में न रहा हो किन्तु उन्होंने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन अवश्य किया। परवर्ती सूफी और भक्त कवियों तक को उसने प्रभावित किया। कबीर की अनुभूतिमयी शैली से अभिभूत होकर जायसी तो यहां तक पुकार उठे—

"एक जुलाहा तें मैं हारा।"

कबीर के प्रेम-प्रतकों में दाम्पत्य-जीवन बहुत ही निखरा है। पवित्रता, सात्विकता और आध्यात्मिकता उनकी विशेषता है। मिलन और विरह के चित्रों में वासना की दुर्गन्ध कहीं नहीं आती। सूफियों और कबीर के दाम्पत्य-प्रेम में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी कबीर की भारतीयता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में सूफियों ने जहां रतनसेन, पद्मिनी, नागमती आदि नामों को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है वहां कबीर पीव, बहुरिया, राजाराम, दूल्हा आदि से आगे नहीं बढ़े हैं। उनके प्रतीकों पर भारतीय संस्कार है। 'दुल्हिन गावहु मंगलचार' आदि में इनका प्रभाव प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। जहां सूफियों की प्रतीक-योजना संकीर्ण रही। कबीर ने उसके क्षेत्र को व्यापक बनाया। शून्य, गगन, त्रिकुटी, औंधाकुआ, भँवर, गुफा, सूर्य, चन्द्र, गंगा, यमुना, अजया, अनहद आदि से लेकर जुलाहा, बणजारा, कुंभार, कलाल, गुड़िया, डोली, रहट, चरखा आदि तक अपने प्रतीकों का विस्तार कर दिया। आज की प्रतीक-पद्धति देखकर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक प्रतीकों में कुछ अधिक लाक्षणिकता, कुछ अधिक नवीनता होते हुए भी वे कबीर की प्रतीक-श्रृंखला की ही एक कड़ी है।

●

: १२ :

कबीर-वाणी में समाज-चित्रण

विश्व-सत्ता के प्रति मनुष्य की रागात्मक प्रतिक्रिया कला में अभिव्यक्त होती है। काव्य कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है, अतएव मानवीय आशा-आकांक्षाओं, भाव-विचारों और कल्पना-अनुभूतियों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति का माध्यम भी वही है। चिन्ता और भावना के द्वारा काव्य में समाज ही प्रतिफलित होता है क्योंकि मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण समाज-सापेक्ष है।

काव्य कवि की वह देन है जो वह अपने बाहर और भीतर के सम्पर्क से तैयार करता है। 'बाहर' से तात्पर्य चारों ओर के वातावरण से है जिसमें जड़ और चेतन का पूर्ण संनिवेश होता है और 'भीतर' उसके चेतन से सम्बन्धित वह सम्पत्ति है जिसका निर्माण चिन्तन और अनुभूति से होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्पूर्ण कवि-कर्म उस भ्रमर का सा है जो फूल-फूल से मकरन्द लेकर अपने अन्तर के रस में मिला कर अपनी रसना से मधु-रूप में हमें प्रदान करता है। उस मधु की मधुरता में अलि के 'भीतर' और 'बाहर' दोनों की उपादेयता है। इसी तथ्य को हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि कवि सत्य को ऐसे ढंग से प्रकट करता है जिसमें न केवल वस्तु-लोक ही अभिव्यक्त होता है अपितु उसके सम्बन्ध में कवि की मानसिक एवं हार्दिक प्रतिक्रियाओं का अवलोकन भी किया जा सकता है।

कवि कल्पना के हवाई महल को आकाश के कितने ही सूक्ष्म स्तर पर स्थापित करे, समाज से उसका सम्बन्ध बना रहता है। समाज निरपेक्ष काव्य का कोई अर्थ नहीं है। अभिव्यंजनावादी चाहे कितना ही विरोध करें किन्तु समाज की सत्ता काव्य में अविस्मरणीय एवं अनुपेक्षणीय है। जो काव्य जीवन-समस्याओं से उदासीन रहता है निश्चय ही उसका प्रभाव भंगुर होता है और काल-

प्रवाह में बुदबुद-सा विलीन होकर विस्मरण की अतल खाई में खो जाता है। जीवन-रस की संजीवनी से ही साहित्य या काव्य प्राणवान् होता है। इसी कारण कविता रस के साथ-साथ जीवन के प्रति स्पृहणीयता को भी प्रेरित करती है। मानव-जीवन की अविरल धारा में कवि अपने युग का कर्णधार बन कर आता है जिसको न केवल पार जाने वाला ही जानता है अपितु पार जाने की इच्छा रखने वाला भी जानता है। यदि किसी को समाज के मर्मों का अध्ययन या अवलोकन करना हो तो वह किसी उत्कृष्ट काव्य को पढ़ ले। समाज की प्रमुख प्रवृत्तियाँ वृक्ष की छाया की भाँति काव्य में मिल जाती है किन्तु छाया निर्जीव और अशक्त होती है और काव्य सजीव और सशक्त होता है।

यह ठीक है कि साहित्य या काव्य का कारण समाज है, समाज काव्य को उपकरण देता है जिनसे साहित्य की सृष्टि होती है, किन्तु एक बार उत्पन्न होकर वह भौतिक शक्ति के रूप में समाज को न केवल गति देता है, अपितु दिशा भी देता है। वह भविष्य के अन्धकारमय पथ को आलोकित करता हुआ मानव को उस पर चलने की प्रेरणा देता है। काव्य कवि के युग-जीवन का प्रतिरूपण होता हुआ भी कुछ ऐसे सामान्य तथ्य प्रस्तुत करता है जो सार्वभौम एवं सार्वकालिक होते हैं।

कबीर की बाणी अपने मूल रूप में कविता न होते हुए भी कविता से दूर नहीं है। हा, कुछ अंश उसमें ऐसे भी हैं जिनको कविता कहना समीचीन न होगा। हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर प्रमुखतः कवि नहीं थे। वे समाज और उसकी हलचल के प्रेक्षक थे, किन्तु मूक प्रेक्षक नहीं थे। सामाजिक जीवन के नाटक में उन्होंने जो दोष देखे उन्होंने उनकी वाणी को मुखर बना दिया। उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा—कुछ मस्ती में कहा, कुछ क्षुब्ध होकर कहा और कुछ सहानुभूति एवं प्रेमपूर्वक। यह सब कुछ ही काव्य नहीं था, उसका कुछ अंश अकाव्य भी था जो स्वभावत: ठीक भी था। कबीर स्वभाव से सन्त थे, कर्म से साधक और सुधारक थे। वे उस कन्दुक के समान थे जो उछल कर केलि-कौतुक को प्रेरित करती है। वे परस्थितियों से समझौता करने के लिए सामाजिक विषमताओं में क्रान्ति चाहते थे। वे दलित के प्रति सदय और उदार थे और विषमता के प्रति उग्र आक्रोश रखते थे। उनके भावों ने जहां कहीं बौद्धिक धरातल पर सन्तुलित होकर कल्पना के रंगों में अभिव्यक्ति

प्राप्त की है वही कविता का सजीला रूप सामने आ खड़ा हुआ है। समाज-कल्याण कबीर की वाणी की प्रेरणा बना है जो 'हरिजी यहैं विचारिया, साखी कहौ कबीर; भौ सागर मे जीव है, जे कोइ पकड़े तीर' से स्पष्ट है। सच तो यह है कि कविता करना कबीर का लक्ष्य नही था, फिर भी उनकी वाणी में बहुत कुछ कवित्व है। वे स्वयं भी जानते थे कि लोग उनके वचनों का कविता के रूप मे आदर करते थे अन्यथा वे ऐसा क्यों कहते—

"तुम्ह जिनि जानो गीत है, यह निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥"

कबीर ने अपनी अनुभूतियों को, अपने उद्‌गारों को बड़ी सफलता से व्यक्त किया और यही सफलता उनकी वाणी की शक्ति अथवा रचना का गुण है। उनकी वाणी समाज के रंगीन चित्र प्रस्तुत करती है, एक नहीं अनेक, केवल रेखा-चित्र ही नही, सरस रंगीन चित्र भी। गहन सत्यों को, जिस रूप में भी संभव हुआ, उन्होने प्रकट कर दिया। अभिव्यक्ति के लिए उन्हें न तो अलंकार-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता हुई और न किसी काव्य-रीति के परिपालन की। जो सहज में बन सका उसी को उन्होने अपनाया।

यों तो और भी अनेक ईश्वर-प्रेमी या भक्त कवियों के संबंध में भी यह बात कही जा सकती है कि उनका लक्ष्य कविता करना नहीं था, फिर भी उनकी रचना में सुन्दर काव्य का प्रतिपालन हुआ है। जायसी, सूर और तुलसी भी मूलतः कवि नहीं थे। वे तो ईश्वर-प्रेम में विभोर थे। प्रेम के उद्‌-गार उनकी वाणी में प्रस्फुटित होते थे, वही काव्य थे। तीन लोक चौदह खण्डों में प्रेम के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार न करते हुए भी जायसी काव्य-कौशल से उदासीन नहीं है :—

"केहु न जगत जस बेच, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम संवरे दुइ बोल ॥"

और 'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' गानेवाले तुलसीदास भी काव्य-निर्माण के मार्ग में कुछ कम सचेष्ट नहीं है। यह ठीक है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति में भक्ति के प्रामुख्य की छाप लगी मिलती है किन्तु उनकी वाणी में कविता नहीं है, यह कहना अनुचित होगा। जब वे यह कहते हैं—

"कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनूं।
सकल कला सब विद्या हीनूं॥
आखर अरथ अलंकृति नाना।
छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा।
कबित दोष गुन विविध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥"

तो विनय प्रकाशन के साथ-साथ कविता का लक्षण भी प्रस्तुत कर देते हैं और यह कह कर तो वे यह प्रमाणित कर देते हैं कि उन्होंने कविता की है—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होउ अथवा अति फीका॥"

इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि तुलसी आदि भक्त या ईश्वर प्रेमी लोग कविता करना नहीं जानते थे, काव्य-कला से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत कबीर-वाणी से ऐसी प्रतीति नहीं होती कि वे काव्य-कला-विज्ञ थे। सूर, तुलसी आदि भक्तों ने भक्ति के हेतु कविता की थी, वह भी भक्ति का एक साधन थी। लक्ष्य न होते हुए भी कविता उनकी साधना का अङ्ग थी जिसके संबंध में जितने तुलसीदास सतर्क दीख पड़ते हैं उतने सूरदास नहीं हैं, किन्तु कबीर उसके संबन्ध में बिलकुल सतर्क नहीं हैं। परिणाम यह हुआ है कि उनकी भावना ने चिन्तन का कहीं-कहीं तो साथ दिया है और कहीं-कहीं वह एकाकी रह गया है। जहाँ वह एकाकी रह गया है वहीं कवित्व ने उनकी वाणी से किनारा कर लिया है। कबीर समाज की तीखी आलोचना, धार्मिक रूढ़ियों की खरी भर्त्सना और आध्यात्मिक उड़ान एवं दार्शनिक गंभीरता को अपना कर भी भावुक अभिव्यक्तियों में कवि हैं। यह माना जा सकता है कि उन्होंने 'मसि' और 'कागद' छुआ तक भी नहीं था किन्तु वे सत्यानुभूति के गंभीरतम तल तक डुबकियाँ ले चुके थे। गहन होने के कारण ही उनकी अनुभूति तीव्रता से अभिव्यक्त हुई है और उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को अद्वितीय सामर्थ्य के साथ प्रकट किया है।

सच तो यह है कि कबीर की वाणी की प्रतिष्ठा उन मूलभूत प्रवृत्तियों पर है जिससे कवित्व का सनातन शृङ्गार होता है। उनकी वाणी जहाँ हृदय का सहज स्फुरण है वहीं कविता है। उनके सुन्दर रूप को झकझोर देने वाले व्यंग्यों, मनोहर कूटोक्तियों और सरस तथा अद्भुत उलटबाँसियों में काव्य-वीणा के जो सहज तार झंकृत हुए हैं उनसे निःसृत रागों की स्वर लहरियों में अनुभूति की मधुरता का स्पन्दन स्पष्ट है। कबीर की भाषा में चाहे वांछित प्रांजलता का अभाव दिखाई देता हो किन्तु एक प्रौढ़ और सशक्त अभिव्यक्ति का अभाव नहीं है। उनकी इच्छा और अभिव्यंजना में एक अनूठा ताल-मेल है। वे जो चाहते हैं वही कह लेते हैं किन्तु इस सफाई से कि उनकी वाणी पर उनकी चाह का भार नहीं दिखाई पड़ता। उदग्र और प्रखर होते हुए भी उनकी वाणी स्पष्ट है, अनगढ़ होते हुए भी शक्तिमय है और तर्कपुष्ट होते हुए भी कवित्वमयी है। लौकिक कल्पनाओं में हुई उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अनगढ़ शब्दों को पाकर भी बड़ी रंगीली छवि लेकर व्यक्त हुई हैं। आत्मलोक की अनुभूति भी कबीर की अभिव्यक्ति को ऐहिक सम्बन्धों से विदूर नहीं कर सकी है। परिणामतः लोक-जीवन उनकी वाणी में सर्वत्र विकीर्ण दीख पड़ता है। समाज के जो चित्र उनकी वाणी में प्रकट हुए हैं वे चाहे अपनी स्पष्टता के कारण प्रखर हों किन्तु मिथ्या और अतिरंजित नहीं हैं। आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यंजना में कहीं-कहीं ऊहा की प्रबलता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु उसका समाज-चित्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'आँखड़ियों' की 'झाई' और 'जीभड़ियों' का 'छाला' 'कनक-भूधराकार शरीरा' के क्षेत्र से बहुत दूर नहीं किया जा सकता। ऊहा कविता के देश की एक परी है जो भावुकता की उड़नेवाली सहेली है। वह किसी सत्य की प्रतिपादिका नहीं है, केवल संकेतिका है। वह अनुभूति का केवल संकेत देती है, लोक-चित्र प्रस्तुत नहीं करती।

इस भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की वाणी किसी कलाकृति के रूप में हमारे सामने नहीं आ रही, किन्तु कला के स्पर्श से वंचित नहीं है। वह उस समय की उन कुत्साओं को लेकर प्रकट हुई है जो आधुनिक पाठक के हृदय को बड़ी तीव्रता से कचोट डालती हैं। कला का जो कुछ रूप कबीर की कृति में दीख पड़ता है वह उनकी वाणी का गुण है, उनके किसी

प्रयत्न का प्रसाद नहीं है। उनकी वाणियाँ उनकी सहज साधना को काव्य के क्षेत्र में भी सार्थक बनाती हैं। यदि कविता का लक्ष्य जीवन की झाँकी देने के साथ प्रभावित करना भी है तो कबीर सफल कवि हैं किन्तु उनकी समग्र कृति कविता नहीं है और न उसमें किसी कलात्मक प्रयत्न की गवेषणा ही की जा सकती है।

कबीर के प्रादुर्भाव के पूर्व ही भारतीय जीवन के क्षितिज पर भयावह उत्पातों के तूफान छाने लगे थे। यहाँ शकादि अनेक आक्रान्ता आये जिनमें से बहुत से यहाँ के जन-जीवन में घुल-मिल गये और इतने कि आज उनका पता लगाना भी कठिन है। उन्होंने अपनी विशेषताओं को भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार घुला-मिला दिया उससे न केवल भारतीय संस्कृति की उदारता व्यक्त होती है, वरन् उनकी उदारता भी प्रकट होती है। दो संस्कृतियों के स्वस्थ मिलन का जो प्रभाव और परिणाम होता है वही हुआ। इसके विपरीत मुसलमानों का आक्रमण यहाँ तीन कारणों से हुआ—(क) लूट मार के निमित्त, (ख) राज्य स्थापना के लिए और (ग) धर्म प्रचार के लिए। इन तीनों कारणों के साथ जनता के प्रति किसी सहानुभूति और प्रेम का सामंजस्य दुःसाध्य था। नया धर्म कट्टर संगठन की किस सीमा तक पहुंच सकता है इसका अध्ययन हम उन आक्रमणों में कर सकते हैं। तलवार की नोक पर धर्म और भौतिक समृद्धि की लिप्सा के जो खेल हुए उनमें से कुछ तो इतने क्रूर और भयानक थे कि उनके स्मरण से मानवता का सिर कभी उठ नहीं सकता। कुछ शासकों ने भारतीय जनता के समीप आने के प्रयत्न अवश्य किये किन्तु दोनों धर्मों के ठेकेदारों ने बीच की खाई को भरने के स्थान पर गहरा बनाने का प्रयत्न किया।

हिन्दू और मुसलमानों का यह द्वन्द्व एक शाश्वत संघर्ष के रूप में स्थिर नहीं रह सकता था क्योंकि अन्ततोगत्वा नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक सत्ता का प्रसार है। सब हृदय अपने मूल रूप में एक ही प्रकार से स्पन्दित होते हैं। जो लोग हृदय के स्पन्दन को सुनकर सब मनुष्यों में उसकी अनुभूति करते हैं, वे सबके सुख-दुःख को एकसा समझते हैं। वास्तव में वही महात्मा हैं और वही ईश्वर-प्रेमी हैं। ऐसे महात्माओं में कबीर का बहुत ऊँचा स्थान है। सूफी लोगों के प्रयत्न प्रेम-प्रतिष्ठा की दिशा में पहले से ही हो रहे थे किन्तु उनके लक्ष्य में धर्म-प्रचार की भावना भी निहित थी, इसमें सन्देह के

लिए शायद कोई अवकाश नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल ने यह तो कह दिया है कि कबीर ने भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास मात्र दिया था किन्तु यह नहीं कहा कि अव्यक्त की एकता को कबीर ने व्यक्त में भी तो देखा था। अव्यक्त को देखने का माध्यम व्यक्त ही था। कबीर ने अव्यक्त या परोक्ष की एकता पर ही व्यक्त सत्ता को प्रतिष्ठित किया। व्यक्त और अव्यक्त के बीच में जो भ्रम-भेद है कबीर ने उस पर आघात किया और सामाजिक भेद की गुत्थियों को बड़ी सरलता से सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की वह सुदृढ़ आधार-शिला रखी जिस पर आज की धर्मनिरपेक्ष राजनीति का प्रासाद खड़ा है। उन्होने धर्म की परिमितियों को भ्रममात्र कह कर उसको उदार रूप में ग्रहण करने का आदेश दिया। प्रेम का संबंध व्यापक सत्ता से जोड़ कर मनुष्य-मात्र को अन्तर्निहित कर लिया। उन्होंने मानव-एकता और ईश्वर-प्रेम का जो स्वर मुखरित किया तानपूरे की झंकृतियाँ उसे आज भी आव्यक्त कर रही हैं। 'कहै कबीर एक राम जपहु रे भाई, हिन्दू तुरक न कोई' कहकर उन्होंने जिस लक्ष्य की ओर संकेत किया उसमें 'हिन्दू' और 'तुरक' का अभेद स्पष्ट है। सचमुच राम और रहीम का भेद ही हिन्दू और तुर्क का भेद था।

कबीर की वाणी अनेकता के विरोध में एक बड़े भारी संघर्ष का प्रतीक है। हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो संघर्ष था उससे भयानक ज्वालाएँ निकल रही थीं। उनको शान्त करने के लिए कबीर की वाणी ने वारिधारा का काम किया। कबीर का यह प्रयत्न एक अनूठा उपक्रम था जिसमें दो भिन्न संस्कृतियों को मिलाने की चेष्टा थी जिसमें मानवतावाद का स्वर मुखर था। परवर्ती सन्तों के लिए कबीर-वाणी एक अटूट स्रोत सिद्ध हुई। उन्होंने इस मानव-प्रेम से प्रेरणा लेकर 'इतिहास की रक्तधारा' को अनुराग-सरिता में बदलने का अन्यतम प्रयास कर न केवल मानवता को समुज्ज्वल किया अपितु वाणी को सरलतम वेश में भी कमनीय बना दिया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की प्रतिष्ठा में सूफियों के उदार हृदय और सरस प्रयत्नों की प्रशंसा बड़े मुक्त कंठ से की है जो उचित भी है किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर कबीर का पलड़ा इनसे भारी ही सिद्ध होता है। जहाँ कबीर 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कह कर शुद्ध 'मानवतावाद' की प्रतिष्ठा

के निमित्त प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं वहाँ सूफी अपने सम्पूर्ण औदार्य के बावजूद भी 'सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा' के प्रचारक हैं।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही भारत के अनेक धार्मिक सम्प्रदाय अपनी विषम परिस्थितियों में अपने पारस्परिक विरोध को लेकर प्रकट हो चुके थे। एक-दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न में लीन था। वह युग वास्तव में धार्मिक कलह का कालायुग था। वह देश के दुर्दिन और दुर्भाग्य का आह्वान था। देश की विकलता और अशान्ति के उपकरणों में वर्णाश्रम धर्म की विकृतियाँ प्रमुख थीं। कबीर के समय तक इन विकृतियों का बोलबाला रहा। उन्होंने उन्हें बड़े सतर्क और विक्षुब्ध होकर देखा और बोले—

"इक पढहिं पाठ, इक भ्रमैं उदास।
इक नगन निरन्तर, रहै निवास॥
इक जोग जुगुति तन हूंहिं खीन।
ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन॥
इक हूंहिं दीन इक देंहिं दान।
इक करै कलापी सुरापान॥
इक ंत-मंत औषध (प्र) वांन।
इक सकल सिद्ध राखै अपांन॥
इक तीरथ-व्रत करि काय जीति।
ऐसे रांम नांम सूं करै न प्रीति॥
इक धोम घ्यूंटि तन होंहि स्याम।
यूं मुकुति नहीं बिन राम नाम'॥"

तथा—

"आलम दुनी सबै फिरि खोजी, हरि बिनु सकल अयाना।
छह दरसन छयानवै पाखंड, आकुल किनहुँ न जाना॥"

कबीर ने 'वर्णाश्रम' की धज्जियाँ उड़ती देखीं और उनके भी संघर्ष को देखा। इन सबके पीछे उन्होंने मूर्खता व अज्ञानता का आलम्बन देखा। उन्होंने

---

१. कबीर-बीजक, शब्द ४१

ठीक ही समझा कि अनेक भ्रम-वीथियों में भटकने वाले लोगों को पथान्वेषक नहीं कहा जा सकता। वे अज्ञान में लिपटे हुए हैं इसलिए उन्हें सत्पथ दिखाई नहीं पड़ता। जो वेश-भूषा अथवा रहन-सहन की रीति को प्रधानता देकर उन्हीं के पीछे पड़े हुए हैं उनको कोई तात्त्विक लाभ नहीं हो सकता। पंडित को यह विश्वास है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है, बल्कि एक अनादि कर्म-प्रवाह का फल है। उसका भ्रम भंजन करते हुए कबीर कहते हैं कि छूत मायाजन्य है उसी के विध्वंस से छूत का विध्वंस हो जायेगा—

"पंडित देखहु मनमहं जानी।
कहु धौं छूति कहां ते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।
× × ×
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया॥
कहहि कबीर ते छूति बिबरजित जाके संग न माया[1]॥"

कबीर ने ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि के आचरण में मन की शुद्धि के स्थान पर बाह्याचार का प्राधान्य ही देखा। उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपने नित्य-नैमित्तिक आचार को ही सब कुछ समझे बैठा है और कुलीनता के गर्व से विचूर्ण है और क्षत्रिय को अपने जुझारू होने का अभिमान है। कबीर ने दोनों के चित्र प्रस्तुत करते हुए चेतावनी दी है। वे ब्राह्मण का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"पंडित भूले पढ़ि गुन्य बेदा, आप न पांवें नांनां भेदा।
संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ मुकति किनि पाई।
सब में रांम रहै ल्यौ सींचा, इन थैं और कहौ को नींचा॥
अति गुन गरब कै अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई॥'

और क्षत्रिय को वे कहते हैं—

---

१. कबीर-बीजक, शब्द ४१

"खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौं हारैं॥

× × ×

खत्री सो जु कुटंब सूं जूझै, पंचूं मेटि एक कूं बूझै॥
जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा।
हेला करै निसांनैं घाऊ, झूझ परैं तहाँ मनमथराऊ॥"

दुनिया के दीवानापन पर कबीर खीजते हैं और पूजा के आडम्बर पर अपनी विकलता व्यक्त करते हैं। इसी का एक लघु चित्र इस प्रकार दीख पड़ता है—

"रांम राइ भई विकल मति मेरी, कै यहु दुनीं दिवांनी तेरी॥
जे पूजा हरि नाहीं भावै, सो पूजनहार चढ़ावै।
जिहि पूजा हरि भल मांनै, सो पूजनहार न जांनै[१]॥"

× × ×

जिस प्रकार कबीर ने पंडितों के 'आचार' की पोल खोली है उसी प्रकार योगियों के आचार की भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि जनता में सर्वाधिक प्रभाव हिन्दू मत या पौराणिक धर्म का था। इसके बाद ही योगियों की प्रबलता थी। उस समय के योगी अपनी योग की करामातें दिखाने में जितने कुशल होते थे उतने ही 'मैदान' में आ कूदने में भी। कबीर हैरान थे और लोगों से कहा करते थे—"भई यह भी अजब योग है कि महादेव के नाम पर पंथ चलाया जाता है। लोग बड़े बड़े महन्त हो जाते हैं, हाट-बाट में समाधि लगाते फिरते हैं और मौका पाते ही रण-क्षेत्र में भी कूद पड़ते है। भला दत्तात्रेय ने भी कभी मवासियों द्वारा शत्रुओं पर चढ़ाई की थी, शुकदेव ने भी कभी तोप-संग्रह किये थे, नारद ने भी कभी बन्दूक दागी थी? विचित्र हैं ये विरक्त

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २७५

जिनकी सोने की गद्दियाँ जगमगा रही हैं, हाथी घोड़ों के ठाठ लगे हैं, करोड़-पतियों की-सी शान है[1]।"

कबीर के समय में योगी लोग बटुवा, मेखला, मुद्रा, कंथा, कंबल, सिंगी आदि धारण करते थे। वे एक प्रकार के मंत्र का प्रयोग करते थे जिसमें 'तांति' और 'सारि' का उपयोग किया जाता था। कबीर ने योग की आदर्श साधना का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए अपने युग के योगी के वेश को इस प्रकार प्रकट किया है—

"जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,
ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।
तन करि तांति धर्म करि डांडि, सत की सारि लगाइ।
मन कर निहचल आसंण निहचल, रसना रस उपजाइ।
चित करि बटवा तुचा मेंषली, भसमै भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ।
हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यंड काचा॥"

दिखावटी योगियों के आडंबर से कबीर को अत्यन्त क्षोभ होता है। वे सत्य निष्ठा की प्रतिष्ठा चाहते हैं। वेश से तत्त्व सिद्धि नहीं हो सकती। यदि

---

१. देखिये, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १२८-१२९ तथा बीजक, रमैनी ६९ वीं—

"ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥
महादेव को पंथ चलावैं। ऐसो बड़ो महंत कहावैं॥
हाट-बजारे लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी॥
नारद कब बन्दूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया॥
करहि लराई मति कै मन्दा। ई अतीत की तरकस बन्दा॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना॥
थोरा थोरी कीन्ह बटोरा। गांव पाय जस चलै करोरा॥"

परमात्मा फकीरों में मिलता है तो उसी में खोजना चाहिये। वे ऐसे वेश को सहर्ष स्वीकार करते हैं—

"फाड़ि पुटौला धजि करौं, कामलड़ी पहराऊं।
जेहि जेहि भेषां हरि मिलैं, सोइ सोइ भेष धराऊं ॥"

जो मुद्रा लगाकर लोगों को दिखाते हैं वे अवधूत नहीं है, केवल आडंबर भक्त है। योगी तो जगत् से भिन्न होता है—

"अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नादन षंडै धारा।"

× × ×

"ब्रह्म अगनि में काया जारै, त्रिकुटि संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥"

ये योगी शरीर में विभूति लगाते, जटा धारण करते, पंचाग्नि में तपते और चमत्कारों के बल पर जनता को आतंकित रखते थे। अज्ञान और अहंकार के इन पुतलों पर कबीर को क्षोभ होता और उन्हें कोरी-कोरी सुनाने लगते। साधना के अनेक रहस्यों को अधिगत कर लेने के कारण कबीर अपने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उन पर व्यंग्य-प्रहार करते थे। उनकी मान्यताओं का कृतियों से कोई सामंजस्य नही था। वे कुछ मान कर करते कुछ और ही थे और उसका परिणाम भी कुछ और ही होता था। अतएव कबीर ने अपने मत के सार को इस प्रकार प्रस्तुत किया—

"ब्रह्मंडे सो प्यंडे जानि, मांनसरोवर करि असनांन।
सोहं हंसा ताको जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप ॥"

सिहल को सिद्ध पीठ मान कर वहां जाकर सिद्धि प्राप्त करने वालों से कबीर और तो क्या कहते, केवल थोड़े से शब्दों में एक तीव्र व्यंग्य कसकर योगियों पर ऐसा मारा कि जिससे उन्हें जो याद आना था वह तो याद आ ही गया, साथ ही समय की एक हलकी सी झांकी भी देदी—

"कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंहल दीप।
रांम तो घटि भीतरि रहया, जु आवै परतीत ॥"

कबीर ने जैसे चित्र योगियों की दशा के प्रस्तुत किये हैं उनसे कहीं अधिक रंगीन पंडे-पुजारियों के आडंबरों के किये हैं। उनकी साढ़े तीन हाथ की धोती, जनेऊ, लम्बा तिलक और छुआ-छूत की बीमारी—इतनी भयंकर कि लकड़ी भी धोकर जलायी जाती। यह सब कुछ था, किन्तु पेड़े कभी नहीं धोये जाते थे।

चन्द्रग्रहण के समय पानी का घड़ा खराब हो सकता था, बनी हुई रोटियां दूषित हो सकती थीं किन्तु धन-धान्य, वस्त्रादि? ये सब कुछ कैसे खराब हो जाते? इनके विसर्जन करते समय छटी की याद आ जाती। पंडितों की अपनी मान्यताएं थीं, शुद्धता का उनका अपना आदर्श था। ब्राह्मणों के संबंध में 'आठ कनौजिया नौ चूल्हे' की कहावत चरितार्थ तो तब भी होती होगी अन्यथा कबीर को यह न कहना पड़ता—

"**कहु पांडे सुचि कवन ठांव,**
जिहि घरि भोजन बैठि खांऊ।
माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे।
जूठा आंवन जूठा जांनां, चेतहु क्यूं न अभागे।
अंन जूठा पांनी पुनि जूठा, जूठा बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अन परोस्या, जूठे जूठा खाया।
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा।"

इस प्रकार कबीर ने समाज के आचरण के विषय में बड़े सजीव एंव मार्मिक चित्र चित्रित किये हैं। एक और उद्धरण देखिये जिसमें माता-पिता के प्रति पुत्र के व्यवहार का खाका खींचा गया है—

"**जारि बारि करि आवै देहा, मूंवां पीछै प्रीति सनेहा।**
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूंवां पित्र ले घालैं गंगा॥
जीवत पित्र कूं अंन न ख्वावैं, मूंवां पाछै प्यंड भरावैं।
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मूंवां पीछैं देहि सराध॥
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कउवा खाइ पित्र क्यूं पावैं[1]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३५६ ✓

इस पद में कबीर ने न केवल समाज की वस्तु स्थिति की ही एक झांकी दी है वरन् अज्ञान और मूर्खता पर कर्कश प्रहार भी किया है।

लोग माला फेरते है और अनाचार सोचते हैं और करते हैं। ऐसी माला किस काम की ? जिनका मन वासनाओं से फिर गया है उनको माला फेरने की आवश्यकता नहीं है। कबीर माला जपने वालों के इस रूप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"माला पहरें मनमुखी, ताथैं कछू न होइ।
मन माला कौं फेरतां, जुग उजियारा सोइ[1] ॥"

अपने युग की भावना और आचरण में संगति न देख कर कबीर को क्षोभ होता था। उन्होंने इस असामंजस्य को देख कर कहा—

"सेवैं सालिगरांम कूं, माया सेती हेत।
वोढें काला कापड़ा, नाँव धरावैं सेत[2] ॥"

मूर्ति-पूजा और तीर्थ-व्रत आदि का कबीर के समय में दौर-दौरा था। इनमें एक ओर भ्रम का आधार था तो दूसरी ओर भेद-भाव का प्रचार। कबीर के व्यंग्य से तराशी हुई प्रस्तर-पूजकों के भ्रम की एक मूर्ति और उसका परिणाम देखिये—

"पांहण केरा पूतला, करि पूजें करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूडे काली धार[3] ॥"

और जप, तप, तीर्थ एवं व्रत में केवल अाँध-विश्वास देखकर उन्हें कहना पड़ा—

"जप तप दीसें थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निराश[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

लोग लंबे केश रख कर या उन्हें मुड़ा कर किसी लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते, किन्तु कबीर ने अपने युग में इन दोनों को देखा। उन्हें इसमें थोथेपन के सिवा और कुछ न दिखायी पड़ा। उन्हें इनका सम्बन्ध मन से न दीखकर केवल बाह्याचार से ही दीख पड़ा। कबीर ने इस चित्र के साथ-साथ एक संदेश भी दिया—

"मन मेंवासी मूंडि ले, केसौं मूंडे कांइ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीयां नांहिं[1] ॥"

ढोंग और आडम्बर को कबीर ने कहीं नहीं छोड़ा है। बनारस के संतों के ढोंग को लक्ष्य करके जो चित्र कबीर ने खींचा है, उसे देखिये—

"ऐसे संत न मोकौं भावहिं, डाला स्यों पेड़ा गटकावहिं।
बासन मांजि चरावहिं ऊपर, काठी धोइ जलावहिं।
बसुधा खोदि करहिं दुइ चूल्हे, सारे माणस खावहिं॥
ओई पापी सदा फिरहिं अपराधी मुखहु अपरस कहावहिं।
सदा सदा फिरहिं अभिमानी, सकल कुटंब डुबावहिं[2] ॥"

पूजा को लोगों ने अपने धर्म में सम्मिलित किया और उसमें पावनता की भावना का समावेश किया, फिर भी लोगों ने उसे भ्रष्ट कर दिया और उसका सम्बन्ध माँस और मद्य से कर दिया। कबीर ने ऐसे पूजाचार के बड़े तीखे किन्तु सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। 'पापी पूजा बैस कर, भखैं मांस मद दोय' तथा 'सकल वरण एकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहिं' में शाक्तों के पूजा-विधान की एक आंगिक झांकी दी गयी है।

कबीर के सामने ऊँच-नीच को मापने का माप-दण्ड वर्ण नहीं थे वे उसे आचरण से मापते थे। उन्होंने अनुभव किया था कि उस समय ब्राह्मण भी शाक्त होते थे जो जीव-हिंसा करते और अभक्ष्य खाते थे। इसके विपरीत चांडालों में भी ऐसे वैष्णव भक्त मिल सकते थे जो ऐसी चीजों से परहेज करते

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ट २८२

हुए अहिंसा का पालन करते थे। कबीर ने इस स्थिति का चित्र अपने निर्णयात्मक उपदेश के साथ एक पंक्ति में खींच दिया है—

"साकत बांभण मति मिलैं, वैष्णो मिलै चंडाल।"

लोग छापा और तिलक लगा कर ही अपने को वैष्णव समझने लगते थे। वे न केवल दूसरों को ही धोखा देते थे वरन् अपने को भी धोखा देते थे। कबीर ने बड़े कौशल से ऐसे वैष्णव का चित्र खींच कर उसे भर्त्सनात्मक उपदेश देते हुए कहा—

"वैष्णव भया तो का भया, बूझा नहिं विवेक।
छापा-तिलक बनाय कर, दग्ध्या लोक अनेक॥"

कबीर सत्य और अहिंसा के पुजारी थे और उनके समय में समाज में असत्य और हिंसा का बोल-बाला था। लोक में भक्षक और भक्ष्य की स्थिति भेद-दृष्टि से उत्पन्न होती है। इस दृष्टि को मिटाये बिना अहिंसा-वृत्ति का उदय होना असंभव था। कबीर ने एक ओर तो बकरी की निरीहता और दूसरी ओर उसके खाने वालों की निर्दयता बड़े विस्मय और खेद के साथ देखी और उन्होंने इन दोनों का रूप-चित्र प्रस्तुत करके हिंसकों को चेतावनी देते हुए कहा—

"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिन का कवन हवाल॥"

वह बात कबीर ने सामान्य तर्क के धरातल पर कही थी, किन्तु उन्होंने तो काजी तक को जीव-हिंसा करते हुए देखा। उन्होंने देखा कि काजी मस्जिद में पहुँच कर तो 'खुदा की एकता' की घोषणा करता है और जब खाने के लिए बकरी मारता है तब उसको भुला देता है। इस भूल का कारण उन्होंने 'स्वाद' में देखा और शीघ्र ही काजी, मस्जिद, वध्य और वधिक के साथ धर्म-दर्शन और उसकी शोच्यता का एक मार्मिक चित्र इस साखी में खींच डाला—

"कबीर काजी स्वाद बस, ब्रह्म हतै तब दोय।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यों सांचा होय॥"

कबीर धर्मों की तह में घुसे और जब उन्हें उनमें दूषण भरे मिले तो उन्होंने उनको निःसंकोच भाव से व्यक्त भी कर दिया। तुर्की धर्म (इस्लाम) का एक हिंसा-पूर्ण आंगिक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई।।
जाको दूध धाइ कर पीजै, ता माता कौं बध क्यूं कीजै।
लहुरै थकै दुहि पीया खीरौ, ताका अहमक भखै सरीरौ[1]।।"

इसी प्रकार कबीर ने मुल्ला की 'अजां' और 'शेख की हज' की व्यंग्यात्मक झाँकियां प्रस्तुत की है। खुदा की सर्वव्यापकता को मुल्ला और शेख ने भुला दिया है। वह घट-घट व्यापी है, इस बात को वे नहीं सोचते। इसी कारण कबीर को कुछ कहना पड़ा। कबीर ने एक चित्रात्मक प्रश्न में मुल्ला से पूछा—

"महजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या तेरा साह बहरा है।"

अरे भाई क्या तू नहीं जानता कि—

"चिउटी के पग नेउर बाजे, सो भी साहब सुनता है।"

अतएव तेरा पुकारना व्यर्थ है। और, हाँ भाई शेख, तुम काबा किसलिए जाते हो ? क्या तुम किसी को खोज रहे हो ? जिसको तुम खोज रहे हो उसकी स्थिति सन्तोष में है—

"शेख सबूरी बाहरा, क्यों हज करबै जाइ।"

ये हैं कबीर की वाणी में मिलने वाले कुछ रूढ़ियों और अन्ध-मान्यताओं के चित्र जो कहीं रेखा-चित्र हैं और कहीं व्यंग्य-चित्र, कहीं रंगीले हैं और कहीं रूखे, कहीं अधिक उभरे हुए और स्पष्ट हैं तथा कहीं सांकेतिक। इनमें तत्कालीन समाज का कितना तथ्य संचित है इसको तो इतिहास ही जानता है किन्तु ये हमारे युग तक को बड़ी निकटता और सफाई से अभिव्यक्त करते हैं इससे इनकी तत्कालीन ईमानदारी में किसी संशय की आवश्यकता नहीं है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३९

इनमें किसी एक धर्म या व्यक्ति पर छींटाकशी नहीं हुई है अपितु कबीर के फाग-क्षेत्र में जो भी आ गया है उसको उन्होंने बिना रँगे नहीं छोड़ा। कबीर की कटूक्तियां तो तीव्र हैं ही, परन्तु उनके व्यंग्य भी बड़े तीखे हैं जिनका परिणाम न केवल तिलमिलाहट में व्यक्त होता हैं वरन् लक्ष्य के गूंगेपन में भी। यही व्यंग्य की सार्थकता और सफलता है।

कबीर के कुछ चित्रों में प्रहार हैं और वे भी बड़े कठोर। एक इसी प्रकार का चित्र देखिये—

"हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छूवन न देई।
वेश्या के पांयन तर सोवे यह देखो हिन्दुवाई॥
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गा मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहें घर मे करें सगाई।
हिन्दुवन की हिन्दुवाई देखी, तुरकन की तुरकाई॥"

कबीर की वाणी में बाह्याचार के चित्र कटु हैं किन्तु नारी के चित्र तो कहीं-कहीं 'भदरंग' ही नहीं विकलांग भी हो गये हैं। वस्तुतः कबीर नारी के विरोधी नहीं थे किन्तु सिद्धों ने नारी को साधना का सहज अंग मानकर जिस अनाचार को जन्म दिया था, उससे कबीर को बड़ी घृणा थी। विद्वानों ने कबीर वाणी में नारी-निन्दा का कारण निवृत्तिमूलक भावना को माना है और यह ठीक भी है कि कबीर की कृति में कनक और कामिनी साधना-पथ की सबसे बड़ी बाधा हैं, वे दुर्गम घाटियाँ हैं। जहाँ कबीर के समय के निर्बाध विलासों ने उनकी वैराग्य-भावना को दृढ़ किया वहाँ उन्होंने नारी के रूप में नारकीय दृश्यों का भी अवलोकन किया। नारी का काममूलक रूप न केवल साधन का बाधक है वरन् सामाजिक मार्यादाओं का भी प्रबल विघातक है। कबीर की समदृष्टि में नर-नारी में कोई भेद नहीं है। दोनों में अभिन्नरूप से एक ही पारमार्थिक सत्ता का आवास है—

"जेती औरति मरदां कहियै, सब में रूप तुम्हारा।"

इसके अतिरिक्त कबीर ने पतिव्रता की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। वह लौकिक दृष्टि से सामाजिक शील की प्रतिनिधि है और आध्यात्मिक दृष्टि से उसका प्रेम जीवात्मा के उस प्रेम का प्रतीक है जो परम प्रिय परमात्मा के सान्निध्य के लिए

विरहाकुलता के रूप में दिखलाया जाता है। कबीर ने सती नारी को 'संत' और 'सूरमा' की कोटि में रखा है—

"संत सती औ सूरमा, इन पटतर कोउ नांहि।
अगम पंथ को पग धरैं, डिगैं तो कहाँ समांहि॥"

पतिव्रता और सती नारी की उल्लसित प्रशंसा के कारण कबीर पर लगाये हुए नारी-निन्दा के आरोप का स्वतः ही परिहार आंशिक रूप में तो हो ही जाता है।

कहना न होगा कि कबीर की वाणी में नारी दो रूपों में व्यक्त हुई है—एक तो 'काली नागण' के रूप में जिसने समग्र विषयियों को खा डाला है, और दूसरे पतिव्रता एवं सती स्त्री के रूप में। इस रूप में वह महान् गरिमामयी है। ये दोनों रूप नारी के शाश्वत रूप हैं। उनको जिस प्रकार कबीर ने देखा था उसी प्रकार हम भी देखते हैं। इस शाश्वत नारीत्व पर ही कबीर का ध्यान गया है और जैसाकि उनका स्वभाव है नारीत्व के दुर्बल पक्ष पर ही उनके आघात हुए हैं किन्तु उसका सबल पक्ष भी उनके लक्ष्य में है।

यह ठीक है कि कबीर के युग में नारी को बहुत हेय और तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता था। विकास और क्रीड़ा की वस्तु नारी की कहानी के साथ ही उसके उत्पीड़न और दुर्भाग्य की कहानी भी है जो संसार के अन्य भागों की सहस्रों वर्षों से दलित, पीड़ित एवं संत्रस्त नारी की कहानी से भिन्न नहीं है।

इससे यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर ने नारी का जो चित्र खींचा है उसमें उज्ज्वल पक्ष का अभाव न होते हुए भी मलिन और हेय पक्ष ही प्रमुख बन गया है।

कबीर की वाणी में खिंचे हुए चित्रों का सम्यक् अवलोकन करने से पाठक इस निष्कर्ष पर सरलता से ही पहुंच सकता है कि कबीर की वाणी का स्वभाव लोकप्रियता था अन्यथा उनके प्रतीकों और दृष्टान्तों में सामान्य जीवन के चित्र ही इतने अविरल एवं उभरे हुए न मिलते। कुम्हार, जुलाहा, चाक, चरखा, करघा, माली, कलियाँ, ढेकुली आदि शब्द उनकी वाणी के सहज प्रतिनिधि हैं।

उनसे उनका निकट का संबंध है। कबीर ने एक आध्यात्मिक संकेत के साथ जुलाहे के घर का एक सजीव दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"गई बुनावन माहो। घर छोड्यो जाइ जुलाहो।
गजी न मिनियै तोलि न तुलियै, पांच न सेर अढ़ाई॥
जौ करि पाचन बेगि न पावै, झगरू करै घर आई।
दिन की बैठ खसम की बरकस, इह बेला कत आई॥
छूटे कूंडे भीगै पुरिया, चल्यौ जुलाहो रिसाई।
छोछी नली तंतु नहीं निकसै, नतरु रही उरझाही।
छोड़ि पसारई हारहु बपुरी, कहु कबीर समुझाही[1]॥"

इसी प्रकार कबीर ने अन्य सामाजिक चित्र भी अपनी वाणी में सजाये हैं जिनसे उस समय के रीति-रिवाज और प्रथाओं पर प्रकाश पड़ता है। जगात की प्रथा प्राचीन है और वह कबीर के समय में भी थी। कबीर ने उसका संबंध यमराज से जोड़कर अपने को एक व्यापारी के रूप में व्यक्त किया है। इससे एक ओर कबीर की साधना का ज्ञान होता है और दूसरी ओर समय की प्रथा-विशेष का। यह ठीक है कि कबीर ने बहुत-सी बातें दूसरों की-सी ही कही हैं, फिर भी अपने ढंग से ही कही हैं, अपने समय की प्रथाओं और रीतियों में लपेट कर कही हैं। उन्होंने समाज के चित्र प्रस्तुत किये हैं किन्तु अपनी वाणी में, उन्मुक्त शैली में। कबीर की भक्ति को जगात के साथ देखिये—

"रे जम नांहि नवै व्यौपारी, जे भरैं जगाति तुम्हारी।
बसुधा छांडि बनिज हम कीन्हों, लाद्यौ हरि कौ नांऊं।
रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि कै टांडै जांऊं।
जिनकै तुम्ह अगिवानीं कहियत, सो पूंजी हंम पासा।
अबै तुम्हारौ कछु बल नांहीं, कहै कबीरा दासा[2]॥"

उस समय व्यापार के अपने नियम थे जिनसे व्यापार में सुविधा होती थी। व्यापारी लोग एक साथ व्यापार के लिए निकलते थे और प्रायः एकसी

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८१-८२
२. कबीर ग्रंथावली, पद २५४, पृष्ठ १७४

वस्तुओं का एक साथ व्यापार करते थे। कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो अलग होकर भिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे, उनको लाभ या सफलता नहीं मिलती थी। लौंग, सुपारी, परमल, कस्तूरी आदि के व्यापारी अच्छे समझे जाते थे। कबीर का एक चित्र देखिये जिसमें उन्होंने व्यापार के ढंग और व्यापार की वस्तुओं के आवरण में आध्यात्मिक साधना का संकेत दिया है—

> **"तब काहे भूलो बनजारे, अब आयो चाहे संगि हमारे।**
> **जब हंम बनजो लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी।**
> **जब हंम बनजो परमल कसतूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी।**
> **अमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ-लाभ करि मूल गंवाया।**
> **कहै कबीर हंम बनज्या सोई, जाथें आवागमन न होई॥"**

आजीविका के अनेक साधनों में कृषि और व्यापार प्रधान थे। कुछ लोग सरकारी नौकरी करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ऊँचे पदों पर तो उस समय मुसलमान लोग ही थे किन्तु छोटे-छोटे पदों पर प्रायः हिन्दू ही थे जिनमें कायस्थ लोग प्रधान थे। खेती-बाड़ी का काम बहुधा नदियों के तट[1] पर होता था और सिंचाई का प्रधान साधन ढेकुली या 'रहट' था। ढेकुली में एक बल्ली, रस्सी, मटके के अतिरिक्त 'पाटी', 'चाठा' आदि की भी आवश्यकता होती है। एक आदमी भरे मटके को ढोलने वाला होता और एक पानी लगाता है। कबीर ने सिंचाई की इस प्रक्रिया को हठयोग की प्रक्रिया में फिट करके एक रूपक तैयार किया है। देखिये—

> **"द्वादस कूंवा एक बनमाली, उलटा नीर चलावै।**
> **सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि बाड़ी पावै।**
> **ल्यौकी लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।**
> **सत की पाटि सुरति का चाठा, सहज नीर मुकलाया।**
> **त्रिकुटी चढयो पाव ढो ढारै अरध उरध की क्यारी।**
> **चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं, गुर मुषि बीज बिचारी[2]॥"**

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १४
२. कबीर ग्रन्थावली, पद २१४

कृषि कर्म में जितना महत्त्व बुवाई का है उससे कहीं अधिक सिंचाई और रखवाली का है। इसके पश्चात् कटाई और सिलाई (उँछाई) होती है। फिर अन्न-राशि घर लायी जाती है। इसी को कबीर ने अपने एक रूपक में इस प्रकार दिखलाया है—

"कबीरा प्रेम कूल ढरै, हंमारै रांम बिना न सरै।
बांधि लै धोरा सींचि लै क्यारी, ज्यूं तूं पेड भरै॥
काया बाड़ी मांहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहुं न सोवै काज संवारै, पाणतिहारी माती।
सेझै कूंवा स्वाति अति सीतल, कबहूं कुबा बनहीं रे।
भाग हमारे हरि रखवाले, कोइ उजाड़ नहीं रे।
गुर बीज जमाया कि रखि न पाया, मन की आपदा खोई।
औरैं स्यावढ करैं षारिसा, सिला करै सब कोई।
जौ घरि आया तौ सब ल्याया, सबही काज संवारया[1]॥"

भारत में मदिरा बनाने और बेचने वाले को कलाल कहते आये हैं। मदिरा यहां प्रायः गुड़ से बनायी जाती है। मदिरा किस प्रकार बनती है और पीने वाले पर उसका क्या प्रभाव होता है, इस बात को कबीर अच्छी तरह जानते हैं। मदिरा की निर्माण-प्रक्रिया कबीर को एक रूपक की सामग्री प्रदान करती है जिसमें वे अपनी साधना इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौं जप तप देउ दलाली।
एक बूंद भरि देइ रांम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली॥
काया कलाली लांहनि करिहूं, गुरु सबद गुड़ कीन्हां।
कांम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां।
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी।
नीझर झरै अमीं रस निकसै, तिहि मंदिरावल छाका।
कहै कबीर यहु बास बिकट अति, ग्यांन गुरु ले बांका[2]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २१६
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १५५

इस पद की प्रथम पंक्ति में आया हुआ 'दलाली' शब्द युग-प्रथा की सूचना दे रहा है । दलाली की प्रथा न जाने, कितनी प्राचीन होगी किन्तु वह कबीर के युग में थी इस का प्रमाण इस शब्द से मिल जाता है। यह शब्द हमारे अनुमान के सामने एक बात और लाता है और वह यह कि उस समय 'शराब' कदाचित् सबको सुलभ न होगी। दलाल उसे सुलभ बना सकता होगा

इस प्रकार कबीर की वाणी से उस समय के सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी कुछ रचनाएं तो वस्तुतः ऐतिहासिक मूल्य रखती हैं। उस समय कुल-बधुएं तक पनघट पर पानी भरने जाती थीं। किसी नदी, सरोवर (बावड़ी) या कुएँ से पानी लाया जाता था। इनमें से कुएँ से पानी भरना कठिन समझा जाता था। एक रूपक में इसका संकेत इस प्रकार मिलता है—

"दूभर पनिया भरया न जाई,
× ×
ऊपरी नीर ले ज तलि हारी,
कैसें नीर भरै पनिहारी[1] ॥"

इसी प्रकार कबीर का एक रूपक तुंबी के बाजे के बनाने के तरीके को सामने ला देता है। उसमें जिन जिन उपकरणों की आवश्यकता होती थी, हम यहाँ देख सकते हैं—

"जंत्री जंत्र अनूपम बाजै × × ।
× × ×
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै[2] ॥"

कबीर के समय में पूंजी को ब्याज पर उठाया जाता था और सूदखोर एक-एक के सवा-सवा करते थे। ऋण के लिए कागज लिखना पड़ता था। उसका भुगतान बहुत कठिन होता था। कबीर ने कर्म-सिद्धान्त के साथ-साथ

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १४०
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १६५

गुरु द्वारा दिये हुए नाम की महिमा पर प्रकाश डालने के लिए ऋण के रूपक का उपयोग किया है—

"मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारै, कलतर बढ़ै सवाया।।
बड़ै बौहरै सांठो दीन्हौं, कलतर काढ्यौ खोटै।
चार लाख अरु असी ठीक ै, जनम लिख्यौ सब चोटै।।
अबकी बेर न कागद कीरयौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै।
पूंजी बितड़ि बंदि लै देहै, तब कहै कौंन कै छूटै।।
गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा[1]।।"

उस समय के प्रचलित संस्कारों का भी कबीर ने अपने रूपकों में वर्णन किया है। विवाह-संस्कार किस प्रकार से सम्पन्न होता था, इसका एक चित्र रूपक में देखिये—

"मैं सासने पीव गौंहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नांई।
पंच जना मिलि मंडप छायौ, तीनि जना मिलि लगन लिखाई।।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथैं हलद चढ़ाई।।
नांनां रंगैं भांवरि फेरी, गांठि जोरि बाबै पति ताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धरयौ सगौ भाई।।
अपनें पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूं सर रचि मरिहूं, तिरौं कंत लै तूर बजाई[2]।।"

इस पद से कबीर के समय में प्रचलित सती-प्रथा का भी परिचय मिलता है। सती स्त्री चिता चुनवा कर मृत पति को लेकर उसमें भस्म हो जाती थी। उस समय तुरइ आदि बाजे बजाये जाते थे।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १०८
२. कबीर ग्रन्थावली, पद २२६

जिस प्रकार आजकल महकमा बन्दोबस्त खेतों की नाप-जोख करवाता है उसी प्रकार कबीर के समय में गांव का मुखिया जो 'गांव का ठाकुर' कहलाता था किसानों के खेत नपवाता था। यदि कोई किसान अपना खेत बढ़वा लेता था तो उसे दण्ड दिया जाता था, उसकी पिटाई होती थी। पटवारी का काम कायस्थ लोग करते थे। कबीर वाणी में कायस्थ जाति का व्यवसाय मुंशीगिरी बतलाया गया है। गांव के दूसरे हाकिम लोग 'महतो' और 'दीवान' होते थे। इनका सम्बन्ध दंड-विधान से था। उस समय किसानों को बांध-बांध कर पिटवाया जाता था। किसान गांव छोड़कर भाग जाते थे। खेत आदि का विवरण कागजों में लिखा जाता और मालगुजारी का लेखा जोखा भी कागजों में होता था। बकाया मालगुजारी का कागज 'खत' कहलाता था। कबीर के एक रूपक में इन सब बातों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

"अब न बसूँ इहिं गांइ गुसांई।
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम।
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसैं जु पंच किसानां।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इंद्री कह्या न मानैं हो रांम।
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै॥
जोरि जेवरी खेति पसारैं, सब मिलि मोकौं मारैं हो रांम।
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरो दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारैं हो रांम।
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसानां भाजि गये है, जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा॥
अबकी बे बकसि बन्दे कौं, सब खत करौं नबे।[1]॥"

समाज में पर्दे की प्रथा थी। सब स्त्रियां पर्दा नहीं करती थीं। संभवतः स्त्रियां अपने पतियों से भी घूंघट निकालती थीं। बहुत-सी स्त्रियां अब भी घर के लोगों के सामने अपने पति से घूंघट रखती हैं। सती स्त्री अपने पति

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पद २२२

से पर्दा नहीं करती थी और कदाचित् वह दूसरों से भी पर्दा करना आवश्यक नहीं समझती थी—

"घूंघट काढ्यां सती न कोई ।"

संक्षेप में यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर ने अपने युग के कुरूप ढाँचे को अपनी वाणी में चित्रित कर दिया है। यों तो उन्होंने कुछ भलाइयों को भी प्रसंगतः सामने ला रखा है किन्तु उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बुराइयों पर ही अधिक रही है। वे समाज के सुधार में विश्वास करते हैं, बुराइयों का निवारण चाहते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि बुराइयों पर रहती है। उनकी वाणी के कुछ स्वर वेद-कुरान आदि के विरोध में उठे हुए दीखते है, किन्तु कबीर के 'वेद कतेब कहो क्यों झूठा, झूठा जो न विचारै'—इन शब्दों से इस विरोध का परिहार हो जाता है। वे वेद-कुरान आदि के न तो विरोधी हैं और न निंदक। वे तो वास्तव में उनका अनर्थ करने वालों को फटकारते हैं, उनके अविवेक एवं अन्धविश्वास को बुरा बतलाते हैं। जो वेद-कुरान पढ़कर भी विषम दृष्टि लिये फिरते हैं, जो ब्रह्म और खुदा की एकता का प्रचार करते हुए भी भेदाचरण से पीड़ित हैं, वे तो उनकी भर्त्सना करते हैं। यदि वेद और कुरान पढ़-पढ़कर जीवन बिता दिया और प्रेम का आचरण न सीखा तो उनका पढ़ना व्यर्थ है और यदि प्रेमाचार सीख लिया तो वेद-कुरान के न पढ़ने पर भी उनके पढ़ने का सुफल मिल गया। इसीलिए कबीर ने कहा—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"

इस प्रकार कबीर की वाणी में हमें वर्ण-भेद की विकृतियों, निम्न वर्णों और वर्गों के जीवन की वेदना तथा पीड़ित मानवता की पुकार का सही रूप-चित्र मिल जाता है। इसी के साथ कवि की उस विशाल आत्मा की दृढ़ता और समग्रता का भी परिचय मिल जाता है जो इन सब विषमताओं के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध थी।

कबीर के समय तक भारतीय समाज बुरी तरह झिंझोड़ा जा चुका था। अब मुसलमानों के शासन में शूद्रों के सामने एक विकल्प था और वह था धर्म-

परिवर्तन जिसे स्वीकार कर वे अनायास ही सम्पूर्ण मानव अधिकारों के भागी हो सकते थे। धर्म-परिवर्तन की सैंकड़ों वर्ष पहले से चली आती हुई लंबी प्रक्रिया को देखते हुए उसकी गति जो मन्द रही उसका एक कारण था शूद्रों में आत्म-विश्वास का जागरण और अपने लिए उन सभी मानवीय अधिकारों की माँग जो अभी तक सवर्णों की बपौती बने हुए थे। निःसन्देह शूद्रों और दलितों में आत्मविश्वास को प्रोज्ज्वल करने वाले महात्माओं में कबीर का आसन बहुत ऊँचा है। इसी कारण कबीर-वाणी में जन-जीवन का विस्तार समाहित है। उपयुक्त पंक्तियों में केवल उसकी झलक दिखाने का यत्किंचित् प्रयास है। यह स्मरणीय है कि काव्य में समाज का चित्र सदा दर्पणवत् नहीं होता, अतः सामाजिक परिस्थितियों को सीधे-सीधे उसमें ढूंढ़ना व्यर्थ होगा। कबीर वाणी में समाज का जो चित्र सीधे रूप में ग्रहण हुआ है, वही सब कुछ नहीं है प्रत्युत उनके आध्यात्मिक रूपकों और उलटबासियों के अनगढ़ किन्तु मोहक सौन्दर्य में भी समाज के विभिन्न स्तरों और व्यापारों के चित्र सन्निहित है।

पुनः यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर-वाणी में समाज-चित्रण काव्यत्व की सीमा के अन्तर्गत ही हुआ है। यद्यपि उनकी प्रखर प्रतिभा और तीखी अभिव्यंजना के कारण कहीं-कहीं उसकी सीमाओं का उल्लंघन भी हुआ दीख पड़ता है, पर उससे साहित्य और धर्म के क्षेत्र में ऐसा महान् युगान्तर हुआ जिसने भारतीयों के सांस्कृतिक इतिहास को नई गति और नई दिशा प्रदान की। दलित एवं पीड़ित समाज से प्रेरित होकर तथा विषमता से आहत जीवन की मर्म पुकारों से उच्छ्वासें लेकर कबीर के अन्तर से जो आवेगमय फूत्कारें निकलीं उनमें वे अक्खड़ एवं अनगढ़ से प्रतीत होते हुए भी मानवीय संवेदना से पूर्ण हैं। जहाँ वे सहानुभूति से कराह उठते हैं वहाँ उनकी वाणी को करुणा-भरी 'मृदुल अभिव्यंजना' का श्रेय प्राप्त है और जहाँ वे मन की तरंगों में लहराकर प्रेम और स्नेहवश भेद-लोक से ऊपर उठकर किसी को समझाते, और किसी को सहलाते हुए बोल उठते हैं वहाँ उनकी वाणी की सरसता का आस्वादन किया जा सकता है। लौकिक और अलौकिक प्रेम की सीमाओं में जीवन के जो चित्र कबीर ने प्रस्तुत किये हैं वे मादक और मनोहर हैं। जिसको इस रस की मादकता ने एक बार भी लुभा लिया है, वह यह कहने के लिए विवश हो जाता है—'छुटता नहीं मिठास यह मुंह से लगा हुआ'।

●

: १३ :

कबीर की प्रेम-साधना

१. प्रेम क्या है ?

प्रेम कबीर का सर्वस्व है। वे उसे निराला मानते हैं। वह भाव-भक्ति से अभिन्न है। प्रेम की सरिता लौकिक होते हुए भी अलौकिक है और अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। प्रेम का आश्रय लौकिक ही होता है, किन्तु दिव्य प्रेम के संसर्ग से वह अलौकिक बन जाता है। दिव्य प्रेम वह प्रेम है जो अव्यभिचारी होने से अनाविल एवं पावन है। वह तो 'हज़ारी कपड़ा'[1] है जिसमें किसी मल का नाम भी नहीं है।

जो संबंध कामी और काम एवं तृषित और तृषा में होता है वही प्रेमी और प्रेम में होता है।[2] जिसके बिना प्रेमी एक क्षण भर भी न रह सके वही सच्चा प्रेम है। उसी को अविभक्त एवं एकनिष्ठ प्रेम कहते हैं। कबीर अपने प्रेम को 'नारदी प्रेम' कहते हैं, जिसमें हृदय और प्रेम दोनों डूब जाते हैं।

प्रेम का रंग ऐसा रंग है जिसकी समता कोई दूसरा रंग नहीं कर सकता, जो न कभी फीका पड़ता है और न जिस पर कोई दूसरा रंग ही चढ़ सकता है। इससे और सब रंग छूट जाते हैं।[3] यह प्रेम भव-संतरण के लिए अलौकिक तरी है। इसका सार कबीर के मत से 'रा' और 'म' मात्र में सन्निविष्ट है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५०–१३

२. कबीर ग्रंथावली, पद ३०७

३. कबीर ग्रंथावली, पद २१५

वे इसी प्रेम-कल्लोलिनी के पावन कूल पर ढुलकने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं। ऐसा प्रेम अलौकिक, अकथनीय एवं स्वसंवेद्य है :—

"अकथ कहांणीं प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥"

कबीर मनुष्य-जन्म की सफलता एवं सार्थकता प्रेम के सम्बन्ध से ही मानते हैं। जिसमें क्षीण होने की तनिक भी प्रवृत्ति हो, ऐसे प्रेम को कबीर प्रेम नहीं मानते। प्रेम तो दिन-दूना रात चौगुना होता है। वह तो दिन-दिन नवल ज्योति से ज्योतिर्मय होता चला जाता है :—

"दास कबीर पल प्रेम न घटई।
दिन दिन प्रीति नई[1] ॥"

प्रेम कोई बाहरी वस्तु नहीं है जो किसी किसान के खेत में मिल सकती हो या किसी बनिये की दुकान पर इसका मूल्य चाँदी-सोने के सिक्कों से नहीं चुकाया जा सकता। कोई रत्न-राशि इसका मूल्य चुकाने के लिए उपयुक्त नहीं है। ऐसी बात नहीं कि इसे राजा ही खरीद सकता हो, प्रजा का कोई दीनजन न खरीद सकता हो। रुचि और प्रवृत्ति से यह किसी के लिए भी सुलभ है। जो इसे खरीदना चाहता है उसे अपना सिर देना पड़ता है :—

"प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
"राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ[2] ॥"

यह 'सिर' जीव का अहंकार है जो प्रेम के मार्ग में भीषण अन्तराय है। यह अहंकार जीव का स्वभाव है। प्रेम के पथ पर चलने के लिए अहंकार का निवारण प्रेम-साधना की प्रथम सीढ़ी है। प्रेम-का निर्वाह 'सिर देकर' भी करना चाहिए। जब तक इससे प्रेम सिद्ध होता है तब तक प्रेम-पथिक की कोई हानि नहीं है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३०४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-२१

**"सिर साटै हरि सेबिये, छांड़ि जीव की बांणि ।
जे सिर दीयां हरि मिलै, तब लगि हांणि न जांणि[1] ।।"**

'अहंकार' के मल को दूर करके ही प्रेम की पावनता सिद्ध होती है। अहंतामय प्रेम कोरा दंभ है जिसे कबीर 'फूस' व 'कजोड़ा' का नाम भी देते है जो स्वयं तो दहनीय है ही, साथ ही अपने आश्रय का भी विनाश करके छोड़ता है। इसको दूर करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से (प्रच्छन्न रूप से नहीं) राम कहना आवश्यक है[2]। स्वार्थ का बलिदान, अहंकार का परित्याग, इच्छाओं का विनाश, एवं आशाओं का दमन—ये सब परिष्कृत प्रेम के निषेधात्मक स्वरूप के समवेत अङ्ग हैं। जगत अपने स्वार्थ में लीन हैं, किन्तु प्रेमी का स्वार्थ प्रेम है। वह प्रिय स्वार्थी होता है। वह प्रेम की वेदिका पर कायिक आशाओं तक की बलि दे देता है[3]।

प्रेम करना कायर का काम नहीं है। इसके लिए साहस और वीरता की आवश्कता है। प्रेम के समरांगण में आशाओं का संहार करना होता है। सबको भुलाकर ही प्रिय का स्मरण होता है। स्व-विस्मृति में ही प्रिय-स्मृति का दिव्यावास है। प्रिय के गहन-स्मरण में ही उसकी रूप-माधुरी का विनिवेश है। अपने को भुलाने पर ही प्रिय प्रसन्न होता है, तभी उसका दर्शन मिलता है[4]।

प्रेम का मार्ग जितना सरल दीखता है, उतना ही कठिन भी है। जो सहज मार्ग से चला जाता है, जो प्रेम के सिवा और किसी की चिन्ता नहीं करता, उसके लिए प्रेम-पथ बहुत सरल है; किन्तु जो उस पथ पर विचलित हो उठता है, जो उस पर स्थिर नहीं रह सकता उसके लिए वह असि-धारा के समान कराल है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-३१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-३९
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-२३,२४

"भगति दुहेली रांम की, जैसि खांडे की धार।
जे डोलै तो कटि पड़ै, नहिं तो उतरैं पार[1] ॥"

कबीर का प्रेम कोरा भाव नहीं है, वह ज्ञान से विरहित नहीं है। वह चेतन का वाहन है। उसी पर सवार होकर चेतन ज्ञान की कृपाण लेकर काल से समर करता है :—

"कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार[2] ॥"

प्रेम एक ऐसी द्यूत-क्रीड़ा है जिसकी हार और जीत, दोनों प्यारी हैं; दोनों मधुर हैं। जीत हो तब तो कहना ही क्या! और हार हो तो भी कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं है! हार, भला किससे ? प्रिय से ही न!! यदि प्रेम की बाजी में, परब्रह्म की सेवा में सिर जाता है तो जावे, कबीर को चिन्ता नहीं। इसीलिए वे बड़े साहस से कह उठते है—

"जे हारया तौ हरि सवां, जे जीत्या तो डाव।
पा ब्रह्म कूं सेवतां, जे सि जाइ त जाव[3] ॥"

२. प्रेम-पंथ : विघ्न और साधन

प्रेमी-जन—जब तक प्रिय से परिचय नहीं तब तक प्रेम-दंभ है। प्रिय ही से प्रेम लक्ष्य बनता है और वही पथ-निर्माण का कारण बनता है। प्रेम-संबंध की सार्थकता प्रिय-परिचय से बतलाते हुए कबीर कहते हैं :—

"जब लगि पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि[4] ॥"

प्रेम-पदार्पण उतना कठिन नहीं जितना प्रिय-परिचय :—

"हथ लेवा हौंसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछांणि[5] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-२५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-२७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-३०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४७-२४
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४७-२४

प्रेम की स्थिति 'सार-पासे' के खिलाड़ी की सी होती है। प्रेम उसका 'पासा' है और शरीर 'सार' है। जब तक अनुभवी गुरु इस खेल को सिखाता नहीं है तब तक 'दाँव' बनता नहीं है। कबीर गुरु को प्रेम के पथ का प्रदर्शक मानते हैं :—

"पासा पकड़या प्रेम का, सारी किया शरीर।
सतगुर दांव बताइया, खेलै दास कबीर[1]॥"

राम-प्रेमी साधु-सन्त प्रिय (राम) की खोज को सरल बनाते हैं। सच तो यह है कि कबीर साधु-संतों को ही प्रेम-सिद्धि का आधार मानते हैं। जिस प्रिय को अनेक प्रयत्न करने पर भी कबीर नहीं खोज पाते, उसको प्रिय-सरीखे प्रेमी साधु लोग अनायास ही मिला देते हैं :—

"कबीर बन बन में फिरा, कारणि अपणें रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम[2]॥"

कबीर प्रेम के क्षेत्र में जितना आदर अपने प्रिय का करते हैं, उतना ही राम-प्रेमी साधु-सन्तों का भी करते हैं। यदि प्रिय कबीर के कल्याण का लक्ष्य है, तो साधु-जन उनको उस लक्ष्य तक पहुंचाने वाले हैं :—

"मेरे संगी दोइ जणां एक बैष्णों एक रांम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम[3]॥"

कबीर प्रेम-मार्ग के पथिकों की खोज में हैं। वे ऐसे साथियों की खोज में हैं जो उनके साथ चलने के इच्छुक हों, जो उनके प्रेम-पथ के सहचर बनना चाहते हों। वे पथ जानते हैं या नहीं, कबीर को इसकी चिन्ता नहीं, वे तो केवल ऐसे व्यक्ति चाहते हैं जिनमें इस पथ पर चलने की चाह हो। कबीर इस पथ को प्रथित करना चाहते हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४-३२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-४

"हम घर जाल्या आपणां लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालों तास का, जे चलैं हमारे साथि[1] ॥"

वे जैसे प्रेमियों की खोज में हैं उनको वैसे मिल नहीं रहे हैं। काश ! उनको प्रेमी मिल जाय ! फिर तो सारा विष अमृत बन जायगा, दु:ख आनंद में बदल जायगा :—

"प्रेमी ढूँढ़त मै फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमीं कौं प्रेमीं मिलै, तब सब विष अमृत होइ[2] ॥"

वे ऐसा प्रेम-वीर नही चाहते जो घायल न हो, क्योंकि वे स्वयं घायल हैं; अतएव वे अपनी पीड़ा को समझने वाला प्रेमी चाहते हैं। ऐसे ही प्रेमी प्रेम को दृढ़ करने में सहायता कर सकते हैं :—

"सारा सूरां बहु मिलैं, घायल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै, तब राम भगति दिढ होइ[3] ॥"

कामादि का त्याग—प्रिय-मिलन इतना सरल भी नहीं जितना सरल दुनिया वाले शायद सोचते हों। यदि हरि हँसी-खेल में ही मिल जावे तो कोई कष्ट क्यों सहे ? प्रिय मिलना उतना ही कठिन है जितना काम, क्रोध एवं तृष्णा का परित्याग कठिन है। इसलिये भ्रम में पड़े हुए लोगों को कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं :—

"हांसी खेलै हरि मिलै, तौ कौण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान[4] ॥"

राम-रसायन, जिसको कबीर प्रेम-रस भी कहते हैं, पीने में बड़ी मधुर है; किन्तु पीने के लिए उसका मिलना दुर्लभ है। यह तो एक ऐसी मदिरा है

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-१३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-१२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-११
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०-३०

जिसके लिए सिर का बलिदान करना होता है, 'आपा' मिटाना पड़ता है। यों तो कलाल की भट्टी पर कितने ही पीने वाले आ बैठते हैं, पर समस्या तो यह है कि आसव-पान का अवसर सब को नहीं मिलता; यह सौभाग्य तो केवल उन्हीं को मिल पाता हैं जो अपना सिर अर्पित कर देते हैं :—

"राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल॥
कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ[1]॥"

कबीर प्रेम का प्याला पीने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार हैं। उनको न तो कोई भय है, न हिचक। कोई वेष उन्हें लजा नहीं सकता; वे अपने प्रियतम से मिलने के लिए आतुर हो रहे हैं :—

"फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलें, सोइ सोइ भेष कराउं[2]॥"

प्रिय-मिलन के पथ में अभिमान भयंकर विघ्न है। भला एक म्यान में दो तलवारों का रहना और एक खंभे से दो हाथी का बँधना कैसे संभव हो सकता है। इस मन से दो का संबंध कैसे निभ सकता है? यह कैसे हो सकता है कि इस मन में अभिमान भी बना रहे और प्रियतम का प्रेम भी? अभिमान और प्रियतम की संगति नहीं है :—

"खंभा ऐक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि[3]॥"

'अहंकार' और 'ममता' बुरी बला हैं। ये प्रेम और प्रेमी दोनों का नाश करने वाले हैं। प्रेमी को प्रगति बनाकर ममता उसका गला घोंट डालती है। अतएव प्रेम के पथिक के लिए कबीर की यह चेतावनी है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-२,३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११-४१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-४२

"मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैंखड़ा, मेरी गल की पास[1] ॥"

प्रेम के पथिक को वासनाओं का विसर्जन करना होता है। जब तक मन आशाओं का परित्याग नहीं कर देता, जब तक वह वासनाओं से मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह निर्मल और पावन नहीं होता। प्रेम के निर्वाह के लिए मन की निर्मलता परमावश्यक है। प्रेम जैसी पवित्र वस्तु अपावन स्थल में नहीं रह सकती। मलीन मन जीव का पावन परमात्मा से संयोग नहीं हो सकता। इसी भाव की ओर कबीर इस प्रकार संकेत करते हैं:—

"धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ[2] ॥"

चित्त की चिन्ता और इन्द्रियों का प्रसार मिटा देने पर सहज ही में प्रिय मिलन हो जाता है। जब तक मन चारों ओर भागता रहता है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर लोलुप होकर दौड़ती रहती हैं तब तक प्रेम, सच्चे प्रेम का उदय नहीं हो सकता। इस कारण कबीर उपदेश देते हैं:—

"चिंता चिति निवारिये, फिरि बूझिये न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ[3] ॥"

कुल-मर्यादा एवं लोक-लज्जा—प्रेमी कुल-मर्यादा के साथ नहीं चल सकता और न वह लोक-लाज की पाश में बँधा रह सकता है। कुल और लोक को छोड़कर ही वह अपने पथ पर चल सकता है। ये दोनों प्रेम के अन्तराय हैं। सभी प्रेमियों ने इस बंधन को तोड़ा है। जिस प्रकार कबीर ने उसी प्रकार तुलसीदास और मीरा आदि ने भी इस बंधन के तोड़ने की बात कही है। कबीर कुल के पीछे लगे हुए व्यक्ति को फटकारते हुए कहते हैं:—

"दुनियां के धोखै मुवा, चलै जु कुल की कांणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धरया मसांणि[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७-६१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८-२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-४६

वह प्रिय किसी कुल का नहीं है; इसलिए उससे मिलने के लिए कुल-गौरव का विचार नहीं करना चाहिए। कुल छोड़कर ही उस 'परम प्रिय' से मिलना संभव है। उससे मिलने पर कुल को गौरव ही मिलता है। फिर प्रिय-मिलन-मार्ग में तू 'कुल' का विघ्न क्यों डाल रहा है। ध्यान रहे कि—

"कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ[1]॥"

समता—इस मार्ग में छल-कपट नहीं निभ सकता क्योंकि ये समता के बाधक हैं। इनसे विषमता का उद्भव होता है जिससे प्रेम का मार्ग धुंधला ही नहीं, नष्ट होता है। यही कारण है कि कबीर समदर्शिता का उपदेश देते हुए कहते हैं:—

"आपा पर सम चीन्हिये, दीसै सरब समांन।
इंहि पद नरहरि भेटिये, तूं छाड़ि कपट अभिमान रे[2]॥"

विश्वास—विश्वास से प्रेम दृढ़ होकर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। प्रेम विश्वास की भूमि है। विश्वास-बिना प्रेम उसी प्रकार नहीं ठहर सकता जिस प्रकार बालू की भींत नहीं ठहर सकती। विश्वास ही प्रेम और प्रिय की स्थिति का प्रमाण है। जहाँ विश्वास है वहाँ प्रिय है:—

"जिनि गाया बिसवास सूँ, तिन राम रह्या भरपूर[3]॥"

गुणगान—जिस प्रकार प्रेमी प्रिय की ओर आकृष्ट होता है उसी प्रकार क्या प्रिय प्रेमी पर मुग्ध नहीं होता? अवश्य होता है, इस लौकिक तथ्य ने दिव्य प्रिय के प्रेमियों ने भी उसमें आकर्षणशीलता की कल्पना कर डाली। आसुरी वृत्तियों का निवारण एवं दैवी संपत्ति के संग्रह से वह प्रिय अपने प्रेमी से प्रसन्न होता है, वह उस पर रीझ जाता है। प्रिय के गुणों का वर्णन अमृत से

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-४५
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५९-२१

भी मधुर होता है। इससे दो लाभ हैं—उसके मधुर आस्वादन से तृप्ति होती है और मनोवृत्तियों का शमन होता है। मन प्रिय में लीन होता है :—

"कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अंमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ[१] ॥"

सुरति—प्रेम-रस के अविरल पान के लिए कबीर सुरति का सहारा लेते हैं। प्रेम-रस गहरे कुएं में है, वहाँ से वह निकले कैसे, मिले कैसे ? उसका उपलाभ ही तो प्रेमियों के समक्ष एक समस्या है। मन के संयोग से 'सुरति' प्रेम-रस के उपलाभ के निमित्त 'ढीकुली' का काम करती है :—

"सुरति ढीकुली लै जल्यौ, मन नित ढीलनहार।
कँवल कुवाँ में प्रेम रस, पीवै बारम्बार ॥"

राम-प्रेमियों को कबीर का उपदेश यह है कि स्थूल मनोवृत्तियों को ध्यानपूर्वक सूक्ष्म करते चले जावें। मन की यही सूक्ष्मता राजाराम को मुग्ध करती हैं। परिणाम यह होता है कि रामेतर सब भाव मन के क्षेत्र से निकल जाते हैं। मन के वृत्त की राम ही परिधि और उसका राम ही केन्द्र बन जाता है। ऐसी दशा में मन राममय हो जाता है :—

"नांन्हां काती चित्त दे, महँगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ[२] ॥"

स्वामी और सेवक, प्रिय और प्रेमी का एकमत होना, उनके मन का मिल जाना और उनकी प्रकृति का एक हो जाना ही प्रेम का मूल रूप है। प्रेमी का चातुर्य प्रिय को मुग्ध नहीं कर सकता। उसके मन की सरलता और एकता ही प्रिय का वशीकरण होती है। कबीर मनको इस प्रकार पछाड़ देने का आदेश देते हैं जिससे 'आपा' नष्ट हो जावे। अहंकार तभी मिट सकता है जब मन की सत्ता न हो। उसी अवस्था में प्रेमी प्रियमय हो सकता है। ऐसा ही

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-३१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७-५८

प्रेमी अमर प्रेमी है। मन के बांधने के लिए प्रेम एक रस्सी का काम करता है और प्रेम में बंधा हुआ मन ही प्रिय के पास पहुँचाया जा सकता है :—

"प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बाँधू।
तहां लै जांउ जहां मेरौ माधौ[1] ॥"

प्रेम के निभाने के लिए मन का प्रियमय (रागमय) होना अनिवार्य है; क्योंकि प्रियमय न होने की दशा में प्रेम प्रेममय नहीं होता, वह प्रेम कपट मात्र है। प्रेम में वह शक्ति है जो प्रेमी को प्रिय बना देती है :—

"भ्रिंगी कीट रहै ल्यौ लाइ,
ह्वै लंलीन भ्रिंग ह्वै जाइ ॥"

निष्कामता एवं अनन्यता—कबीर सकाम प्रेम और निष्फल प्रेम दोनों का एक ही अर्थ करते हैं। काम से प्रेरित होने पर प्रेम की पवित्रता बाधित होती है, क्योंकि जहां काम है, जहाँ इच्छा है वहाँ मन की सत्ता है और मन के रहते हुए प्रेमराज्य की स्वतंत्रता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। ऐसी दशा में प्रिय और प्रेमी का एक होना, दोनों का मिलना संभव नहीं है क्योंकि अन्यत्र कहा जा चुका है कि प्रिय की प्रकृति के अनुरूप प्रकृति बनने पर ही प्रेम का निर्वाह हो सकता है ; 'केर-बेर' का प्रेम नहीं निभ सकता। अतएव सकामता को हेय बतलाते हुए कबीर कहते है :—

"जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव[2] ॥"

प्रेम में निष्कामता का अभिप्राय अनन्यता है। निष्काम प्रेमी ही अनन्य प्रेमी होता है। प्रेमी की आँखों में प्रिय-गुण ही सर्वोत्तम दीख पड़ते हैं, किन्तु वे उसके मोहनमंत्र मात्र है। उनसे वह कुछ सिद्धि की कामना नहीं करता। फलेच्छा की दशा में प्रिय के गुण पीछे रह जाते हैं और फल सामने आ जाता है। इसी कारण कबीर प्रियविहीन स्वर्ग को भी ठुकरा देते हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २१३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९-१०

"होजग तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ[1] ।।"

वे आशा और मन को एक साथ जलाकर खाक कर देना चाहते हैं जिससे प्रेम-राज्य निष्कंटक बन जावे :—

"आसा का ईंधण करूं, मनसा करूं बिभूति।
जोगी घेरी फिल करौं, यौं बिननां वै सूति[2] ।।"

जगत् के सभी लोग स्वार्थ के सगे हैं, स्वार्थ लेकर सब सबका सम्मान करते है, जहाँ निस्वार्थ आदर-भाव हो तो समझना चाहिये कि वहाँ हरि-प्रेम है।

सकामता को मिटाने वाला एवं अनन्यता के मूल को दृढ़ करने वाला विश्वास है। जब तक प्रिय में विश्वास मूलबद्ध नहीं होता तब तक सकामता और अनन्यता प्रेमी को घेरे रहती हैं। विश्वास के दृढ़ होते ही प्रेमराज्य में प्रिय का एक छत्र राज्य होता है। इसी विश्वास की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं :—

"जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकों तन मन सौंपिया, सो कबहूं छांड़ि न जाइ[3] ।।"

इस विश्वास के दृढ़ होने से समर्पण के भाव का उदय होता है और तब प्रेम समर्पण की आनन्द लहर में कह उठता है :—

"मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागत है मेरा।।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९-७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८-३

३. प्रेम की कसौटी

प्रेम की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि अनन्त का योग होने से हृदय में प्रेम का प्रकाश होता है जिससे संशय का सहसा निवारण हो जाता है :—

"प्यंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत[1] ॥"

प्रेम-घन के बरसने से अंग-प्रत्यंग सरस हो उठते हैं :—

"बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग[2] ।"

प्रेम-रस एक ऐसा रस है जिससे भीतर-बाहर सर्वत्र सरसता छा जाती है—

"कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ[3] ॥"

हरि-प्रेमी का मन स्थिर हो जाता है। वह जहाँ जाता है उसे वहाँ सुखानुभूति होती है :—

"राम चरन जाकै रिदै बसत है, ता जन कौ मन क्यूँ डोलै ॥
× × ×
जहां जहां जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै[4] ॥"

हरि-प्रेमी का मोह-ताप मिट जाता है। वह एक दिव्य शीतलता का अनुभव करता है। कुटिलता और चंचलता छोड़कर मन सरल हो जाता है। वह अविभक्त रूप से स्थिर होकर एक में लीन हो जाता है। यही प्रेम का सबसे बड़ा फल है :—

"कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ[5] ।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४-३३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४-३४
४. कबीर ग्रन्थावली, पद ३७२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३४

प्रेम का क्षेत्र पर-हीन है। वहाँ तो 'स्व' का साम्राज्य है। जब 'पर' 'स्व' में विलीन हो जाए तो समझिये कि प्रेम परिपक्व है :—

"जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और[१]॥"

प्रेम की एक पहिचान यह भी है कि वह अपने राज्य में विजातीय तत्त्वों को नहीं रहने देता। इच्छाओं के रहते हुए प्रेम पनप नहीं सकता। जहाँ प्रेम रहता है वहाँ अन्य इच्छाएँ नहीं रहतीं, किन्तु प्रेम की प्यास कभी बुझती नहीं है। वह तो नित्य नवीन बनी रहती है—

"काया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर[२]॥"

यह प्यास दिव्य तृषा है जिससे विषयो के प्रति विरक्ति हो जाती है और प्रेमी प्रेम के प्यालों की मांग करता हुआ निरन्तर उत्कंठित रहता है। उर्दू शायर के शब्दों में वह यही पुकारता रहता है—

"भर भर जाम पिला मोरे साक़ी।
बना दे मतवाला, तू ला, ला, ला॥"

जब प्रेम हृदय में घर कर लेता है तब विषयों से विकर्षण हो जाता है :—

"जब अंतर हरिजी बसै, तब विषिया सूं चित नांहिं[३]।"

प्रेमी के श्वास-श्वास में प्रिय रहता है। प्रेमी और प्रिय में इतनी अभिन्नता रहती है कि उनमें कोई 'अन्तर' नहीं होता :—

"राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ[४]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७-१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१४

हरि-प्रेम के उदय होने पर जगदाकर्षण समाप्त हो जाता है। इस आकर्षण को समाप्त करने के लिए एक ओर तो जगत् की युक्तियाँ (व्यवहार) रामबाण का काम करती हैं और दूसरी ओर राम का प्रेम। अतएव राम-प्रेमी ही जग का मोह तोडकर इससे दूर भागता हुआ दीख पड़ेगा, दूसरा कोई नहीं। राम-प्रेमी छिपाये नहीं छिप सकता—

"जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छांनां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ[1]॥"

अन्तःकरण में प्रेम के उदय के साथ ही उसका सौरभ वाणी से स्फुटित हो उठता है। हृदय में प्रकाश हो उठाता है और वाणी से मधुरता रसित हो निकलती है—

"प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुखि कसतूरी महमहीं, बांणी फूटी बास॥"

पावन प्रेम का स्वरूप दिव्य है, अतएव वह लौकिक वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता।

प्रेम की आवश्यकता—कबीर प्रेम को जीवन की एक आवश्यकता मानते हैं, किन्तु प्रेम से उनका आशय झूठे के प्रति प्रेम से नहीं है, साँचे के प्रति प्रेम से है। संसार झूठा है। इस मिथ्या के मोह में मनुष्य सत्य को भूल जाता है। उसे यह स्मरण नहीं रहता कि सांसारिक वस्तुएँ सेमल के फूल के समान दो-चार दिन की हैं, उनसे प्रेम करना व्यर्थ है। इससे ध्वनि निकलती है कि 'सत्य-प्रेम' एक आवश्यकता है। वही जीवन का सार है।

प्रेम मन का बन्धन और आकर्षण है। मन को उस व्यापक एवं चिरन्तन सत्य तक पहुंचाने का मधुरतम साधन प्रेम ही है। जो मन का बन्धन है वही मन का मधुरतम रस है। कबीर प्रेम के कूल पर बिहार करते हैं क्योंं उसमें उन्हें राम-रस जो मिलता है। प्रेम के बिना राम-रस की प्राप्ति सम्भव नहीं है और राम के बिना वे सर्वस्व व्यर्थ समझते हैं। उन्हें राम में अविचल विश्वास

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१६

है इसलिए वे किसी अनिष्ट की आशंका ही नहीं कर सकते। वे बड़ी निष्ठा से कह देते हैं—

"भाग हमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे।"

कबीर के मत से रति दो प्रकार की प्रतीत होती है—एक तो विषय-रति और दूसरी हरि-रति। दूसरी को ही वे प्रेम कहते हैं। दोनों का अन्तर स्पष्ट है। यह तो सभी जानते हैं कि जगत कहने-सुनने में ही काल के गर्त में विलीन होता चला जाता है। विषय दृष्टि पर पर्दा डाल देते हैं जिससे काल गोचर नहीं होता और प्रेम काल के प्रति निर्भय बना देता है:—

"कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल[1]॥"

कबीर की प्रेम-दृष्टि अचूक है। वे जानते है कि कौन प्रेम करने योग्य है और कौन नही है? जो लोग संसार में आसक्त हैं उनसे प्रेम की बातें करना भी व्यर्थ है, किन्तु जो असीम और अनन्त परमात्मा के दीवाने हैं उनके सामने तो हृदय खोल ही देना चाहिए। परमात्मा की शरण में पहुंचकर ही सांसारिक आघातों से रक्षण हो सकता है। कबीर लोकासक्त लोगों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार लोहा घन और अहरन के बीच में गहन आघात सहता है इसी प्रकार संसार-आसक्त मनुष्य भी दुखी होता है अतएव उसे अपनी रक्षा के लिए भगवच्छरण में जाना चाहिए—

"कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अन्तर खोलि॥
कबीर केवल राम की, तूं जिनि छाड़ै ओट।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं, घणीं सहै सिर चोट[2]॥"

कबीर संसार से प्रेम करना भूल समझते हैं क्योंकि संसार व्यर्थ है। यदि उन्हें कुछ सार्थक दीखता है तो हरि-प्रेम। इस संसार का प्रत्येक प्राणी

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६-४६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-५०, ५१

कसाई के द्वार पर बँधे हुए उस पशु के समान है जिसकी आयु के कुछ क्षणमात्र शेष हैं। फिर ऐसे भंगुर लोक से प्रेम करना किस काम का! प्रेम की सार्थकता और सफलता परमात्मा के संबंध से है जो चिरन्तन सत्य और सर्वशक्तिमान् है:—

"कबीर हरि सूँ हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बाँध्या बार खटीक कै, ता पसु किती एक आव[१]॥"

कबीर काल के प्रति बड़े सतर्क हैं। वे अपने या दूसरों के सामने काल का दृश्य प्रस्तुत करके ऐहिक आसक्ति से विमुख होने या करने का प्रयत्न करते हैं। परमात्मा के सिवा यमराज के ऊपर किसी का अंकुश नहीं है और कबीर की दृष्टि में भवसागर में यमराज का सा घोर अत्याचार किसी दूसरे का नहीं है। इस यमात्याचार से मुक्ति देने वाला एक मात्र परमात्मा है। इसीलिए कबीर दीनतापूर्वक विनय करते हैं:—

"कबीर करत है बीनती, भौसागर कै तांईं।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जमं कूं बरजि गुसांईं[२]॥"

प्रेम-जीवन का मूल तत्त्व है जो आदि मानव में भी था और आज हम में भी है। ऐसी बात नहीं है कि प्रेम मानव, मानव को ही करता है, वरन् मानव मनुष्येतर प्राणियों और वस्तुओं तक को प्रेम करता देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि वह सबसे अधिक अपने आपको प्रेम करता है इसीलिए कदाचित् 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की बात चल निकली है, किन्तु यह देखने में आया है कि मनुष्य कभी-कभी दूसरे के लिए अपना बलिदान कर देता है। यही प्रेम की वेदिका है। प्रिय के लिए प्राणों का उत्सर्ग प्रिय-मिलन के प्रयत्न में, प्रिय-रक्षा में या प्रिय-अभाव की असह्यता में किया जाता है। बलिदान की कहानियों से विश्व का इतिहास भरा पड़ा है। अनेक भारतीय सतियों के चरित्र प्रेमोत्सर्ग के इतिहास हैं। देश के मान और गौरव की रक्षा के लिए अनेक देश-भक्त बड़े उत्साह और साहस से हँसते-हँसते अपने प्राणों का विसर्जन कर देते हैं। कुछ

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७५-२७

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५-५

लोग आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव की रक्षा के लिए ही प्राण निछावर कर देते हैं। देश-विदेश के इतिहासों में ऐसे उदाहरण भरे-पड़े हैं।

यह प्रेम दो रूपों में दिखाई देता है। एक तो लौकिक प्रेम और दूसरा आध्यात्मिक प्रेम। लौकिक प्रेम जगत् के व्यक्तियों या पदार्थों के प्रति होता है और आध्यात्मिक प्रेम आत्मा या परमात्मा के प्रति होता है। प्रेम एक ऐसा तत्त्व है जो दूरस्थ को समीप लाता है और अपनी 'परम-दशा' में 'भेद' मिटाकर अभेद उत्पन्न करता है। समाज की एकता का सूत्र प्रेम ही है। रहीम ने प्रेम की व्याख्या एक दोहे में इस प्रकार की है:—

"प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम-सरूप।
एकहि ह्वै द्वै में लसें, ज्यों सूरज अरु धूप॥"

प्रेम को हरि-रूप कहकर रहीम ने न केवल प्रेम और हरि का अभेद प्रतिपादित किया है अपितु प्रेमी और प्रिय का एकत्त्व भी सिद्ध कर दिया है। प्रेमी का प्रेम प्रिय से अभिन्न तभी बन सकता है जब स्वयं प्रेमी प्रिय से अभिन्न हो। इस अभेद की प्रतिष्ठा के लिए शारीरिक अभेद की आवश्यकता नहीं है, केवल भेदक वृत्तियों का विलय अभेद को सम्पन्न कर देता है। इसी को योगियों ने 'योग' कहा है जो 'चित्तवृत्ति का निरोधमात्र' है।

प्रेम की व्याप्ति स्वयं सिद्ध है। इस दृष्टि से वह 'ब्रह्म रूप' है। ब्रह्म को एक प्रकार से 'अप्रत्यक्ष सिद्धि' कह सकते हैं किन्तु प्रेम 'प्रत्यक्ष सिद्धि' है उसकी सत्ता नास्तिकों तक को अभिभूत करती है। जिस प्रकार मनीषियों ने ब्रह्म को अनेक रूपों में देखा और निरूपा है उसी प्रकार मर्मज्ञों ने प्रेम को भी नाना प्रकार से प्रशस्त किया है। काव्य, महाकाव्य, कथा, वार्ता, इतिहास आदि में प्रेम का गुण-गान मिलता है। लोक-गिरा प्रेम-माधुर्य से तृप्त नहीं होती। अपनी-अपनी शक्ति और मति से लोगों ने प्रेम की व्याख्या की है और कर रहे हैं किन्तु क्या उनमें से एक भी पूर्ण कही जा सकती है? कभी नहीं। जिस प्रकार ब्रह्म-निरूपण में शिथिल वेदों ने 'नेति-नेति' कहकर छुट्टी ली वैसे ही लोग अपनी-अपनी कह कर चलते जा रहे हैं। वे सब असत्य कह गये या कह रहे हैं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जो कुछ कहा गया है उसको पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

प्रेम का फल---वैसे तो प्रेम अपने आप में स्वतः ही एक फल है। अनन्य प्रेमी प्रेम के सिवा और कुछ नहीं चाहता। सब प्रयत्नों और साधनों का लक्ष्य प्रिय-मिलन है और प्रिय-मिलन प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रेमी केवल यही चाहता है कि मुझे प्रियतम को देखने का अवसर मिले, उसकी सेवा करने का अवसर मिले---ऐसा अवसर जिसमें विरह के कोई अवकाश न हों।

प्रिय का दर्शन मात्र सुखद होता है, उसके परिचय मात्र से आत्मा निर्मल होजाती है, इसीलिए वह प्रेमी प्रिय का अविरल दर्शन चाहता है---

"पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मां, तार्थे सदा हजूरि[1] ॥"

किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि कबीर का प्रिय 'पूर्ण' है। संभवतः उसी के परिचय में समग्र दुख को दूर करने की क्षमता है।

शरीर प्रेम से प्रकाशित हो जाता है संशय मिट जाता है और परिणाम-स्वरूप सुख का उदय होता है। प्रिय की कमनीयता अनन्त योग की साधिका बनती है---

"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्य जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत[2] ॥"

प्रम का प्रकाश प्रेमी के अन्तर को प्रकाशित एवं उज्ज्वल कर देता है और प्रेमी की वाणी से प्रेम की सुगंध फूट निकलती है, उसका गुण-कीतर्न प्रेमी का सहज स्वभाव बन जाता है।

"प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुखि कस्तूरी महमहीं, बांणी फूटी बास[3] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४-३५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१४

प्रेम के गर्भ से प्रेमी के अन्तर में प्रिय प्रकट होता है और प्रेमी का उससे साहचर्य हो जाने से सांसारिक मोह-पाश टूट जाती है और ऐहिक दाह मिट जाने से प्रेमी अविरल सुख में निवास करता है—

"हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निसि बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप[1]॥"

प्रेम-निष्ठा की स्थिति में भक्त को हरि-जैसा प्रिय कोई दूसरा नहीं प्रतीत होता है। काया को कंचन बनाने के निमित्त 'हरि-प्रेमी' अदभुत रसायन है। इसके क्षणिक संचार मात्र से समग्र काया कंचन बन जाती है और उसके सारे दूषण दूर होकर वह निर्मल हो जाती है—

"सबै रसाइंण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ[2]॥"

हरि-प्रेमी का एक फल यह भी है कि मनुष्य आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। शरीरिक धर्म से निवृत हो जाने के कारण उसे मृत्यु का सामना नहीं करना पड़ता। इसीलिए कबीर ने कहा है—

"करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार[3]।"

हरि-प्रेमी विषय-वासना से पीड़ित नहीं होता। जिस काम से तीनों लोक पीड़ित हैं, जिस से कोई नहीं बच पाता उसके चंगुल में हरि-भक्त कभी नहीं आता। काम के मधुर विष का प्रभाव हरि-प्रेमी पर नहीं होता। यह हरि-प्रेम की बड़ी भारी अमोघता है[4]।

इस प्रकार एक प्रेम-लता का फल अनेक रूप में अभिव्यक्त होता है। अन्तर में प्रकाश हो जाता है, काया पाप-पुण्य एवं दोषों से मुक्त हो जाती हैं, संशय मिट जाता है, मन निर्मल और शान्त होकर स्वस्थ हो जाता है तथा चंचलता और भय मिट कर, मनुष्य जीवन-मरण से मुक्त हो जाता है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७-८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-१८
४. देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८-१,२.

प्रेम का अभाव—प्रेम का अभाव दुख का कारण है। जहां प्रेम-रस नहीं वहाँ कुछ नहीं। हरि-प्रेम के बिना मानव-जीवन व्यर्थ है। जीवन की सार्थकता प्रेम से ही है—

"जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम[1] ॥"

प्रेम ही आवागमन को सार्थक बनाता है। वह मानव-जीवन का सार है। जिसने प्रेम का स्वाद नहीं लिया उसने संसार में आकर कुछ नहीं किया। जिस प्रकार सूने घर में जाना व्यर्थ है उसी प्रकार प्रेम के बिना संसार में आना व्यर्थ है—

"कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव[2] ॥"

प्रेम से कबीर का तात्पर्य भगवत्प्रेम से है। एक ओर पूर्ण होने के कारण भगवत्प्रेम ही अनन्य हो सकता है। जहाँ भगवान् के प्रति प्रेम-अनन्यता नहीं है वहाँ प्रेम-व्यभिचार है। जो मनुष्य एक परमात्मा को छोड़ कर 'अनेकों' को प्रेम करता है वेश्या के पुत्र के समान उसकी कोई गति नहीं है। सुगति पाने के लिए एकनिष्ठता अनिवार्य है[3]।

राम के प्रेम के बिना किसी को स्थैर्य प्राप्त नहीं होता, हर कोई अस्थिरता का अनुभव करता है और कोई दुखों से ऊब कर यहाँ रहना नहीं चाहता। भक्ति के बिना दुख और अस्थिरता की पीड़ा मिट नहीं सकती। कबीर इस संबंध में अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहते हैं—

"सबकूं बूझत में फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थैं होइ[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६-१७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१-८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६-२२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-३

इस दुनियाँ से ऊबकर सब जाना चाहते हैं किन्तु कहाँ ? राम के परिचय के बिना जाना उचित नही है। अपरिचित को लौटने के सिवा और कोई चारा नहीं है। यहाँ से पीछा छुड़ाने के लिए हरि-भक्ति अनिवार्य है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

> **"चलौ चलौ सबको कहै, मोहि अंदेसा और।**
> **साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगे किस ठौर[1] ॥"**

इन्द्रियों के विषय प्रेम को बिगाड़ते हैं और प्रेम-भ्रष्ट होने से हरि रूपी हीरा हाथ से निकल जाता है। फिर व्यर्थता के सिवा जीवन में और कुछ हाथ नहीं आता—

> **"भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरै स्वादि।**
> **हीरा खोया हाथ थैं, जनम गंवाया बादि[2] ॥"**

भक्त को प्रेम के संबंध से हर कहीं सुषमा दृष्टिगोचर होती है किन्तु प्रेमहीन नगर भी भक्त को ऊजड़ प्रतीत होता है। सच तो यह है कि प्रेमी का जीवन ही प्रेम है। वह हरि-प्रेम के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। कबीर इसी प्रकार के प्रेमी हैं। हरि-प्रेम उनका सर्वस्व है और हरि-प्रेमी ही उनका परिवार और समाज है—

> **"पुर पाटण सू बस बसै, आंनंद ठांयें ठाइ।**
> **रांम सनेही बाहिरा, ऊँजड़ मेरे भाइ[3] ॥"**

जो राम के प्रेमी नहीं है कबीर उनको चेतावनी देते हैं कि वे निश्चिंत न रहें। वे मोह-निद्रा से उठ बैठें क्योंकि उनके सिरहाने काल खड़ा है, वे यहाँ रह नहीं सकते—

> **"काल सिहांणैं यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत।**
> **रांम सनेही बाहिरा, तूं क्यूं सोवै नच्यंत[4] ॥"**

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४०-१८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७३-३

प्रेमहीन मनुष्यों की बड़ी दुर्गति होती है। कबीर ऐसे लोगों से दूर रहने का आदेश करते हैं क्योंकि ऐसे लोग भगवान को भूल कर भौतिक सुखों के पीछे पड़े रहते हैं। वे स्वयं तो डूबते ही हैं अपने साथ वालों को भी ले डूबते हैं—

"जे नर भये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये।
आपण देही चरवा पांनीं, ताहि निंदै जिनि गंगा आंनीं।
आपण बूड़ै और कौं बोड़ै, अगनि लगाइ मंदिर में सोवै[1]॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर को हरि-प्रेम का अभाव बहुत अखरता है। प्रेम के बिना वे मानव जीवन को व्यर्थ मानते हैं। प्रेमहीन मनुष्य न केवल अपना अनिष्ट करते हैं अपितु दूसरों का भी अनिष्ट करते हैं। प्रेम का अभाव भय का कारण बनता है। मृत्यु का भय वहीं पीड़ित करता है जहाँ हरि-भक्ति नहीं है। हरि-भक्ति में इतनी सरसता और शक्ति है कि उससे जंगल में मंगल का उदय होजाता है।

प्रेम-विरह—यों तो सभी सन्त-कवि 'प्रेम' के लिए प्रसिद्ध हैं, किन्तु आध्यात्मिक प्रेम-क्षेत्र में ही विशेष रूप से। कबीर का प्रेम-क्षेत्र बहुत व्यापक है। वे विश्व के कण-कण को प्रेम-सिक्त देखते हैं। सत्य और अहिंसा ने कबीर को प्रेम की अमोघ शिक्षा दी है। उनकी साम्य-भूमिका प्रेम पर ही आधारित है। उन को प्रेम की शिक्षा मूलतः पीड़ित समाज ने दी थी। भक्तों के संसर्ग ने उसे आध्यात्मिकता और सूफियों के संसर्ग ने आध्यात्मिकता के साथ साथ तीव्रता भी प्रदान की। विनय की अनेक भूमिकाएँ कबीर के प्रेम-विरह में संनिविष्ट हैं। विरह की स्थिति में कबीर का प्रेम अनूठा उत्कर्ष प्राप्त करता है। विरह के अनेक उदाहरणों से वे अपनी विविध अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। प्रेमी के अनेक आदर्श उनकी विरहानुभूतियों को साकार बना कर आस्वाद्यता प्रदान करते हैं। 'बिरह कौ अंग' ऐसी अभिव्यक्तियों से आपूर्ण है। विरहासक्ति कबीर के 'प्रेम' की एक ऐसी अवस्था है जो उनको भक्तों और सूफियों दोनों से जोड़ देती है। उनके माधुर्य के सागर में भारतीय भक्ति की ऊँची लहरें और

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १४४

सूफी-विरह की गहराई, दोनों एक साथ दीख पड़ती हैं। कबीर की वाणी में जो विरह-रस हमें मिलता है उसके रंगोपकरण तो अवश्य ही भारतीय हैं चाहे मात्रा और प्रकार के कारण मिश्रण भले ही सूफी ढंग का हो।

कबीर अविभाज्य एवं अविकल प्रेम के समर्थक हैं जो व्यापक और असीम है और जिसमें प्रेमी और प्रिय का भेद विलीन हो जाता है। इस प्रेम की सिद्धि कबीर को विरह-क्षेत्र में होती है। जिस प्रकार दो विन्दुओं के बीच खिची हुई रेखा में दोनों की एकता सिद्ध होती है उसी प्रकार कबीर के विरह-क्षेत्र में प्रिय और प्रेमी की एकता सिद्ध होती है।

"वासुरि सुख नां रैंणि सुख, नां सुख सुपिनै मांह।
कबीर बिछुट्या रांम सूं, नां सुख धूप न छांह[1]॥"

इस साखी से स्पष्ट है कि राम के साथ कबीर का मानसिक मिलन सदैव रहता है। कबीर के मन में प्रस्तुत रह कर राम अपने अस्तित्व से उसको विभोर कर देते हैं। यहीं 'दूरि सो नियरे' की उक्ति चरितार्थ होती है।

इसमें सन्देह नहीं है कि कबीर ने 'लीला-भाव' के अभाव में 'आरोप' का आश्रय लिया है। 'मैं राम की बहुरिया' में उनकी यही आरोप-भावना स्पष्ट है। कबीर की विरह-भावना यों तो अनेक स्थितियों में प्रकट हुई है किन्तु विरहिणी की स्थिति में उसका उत्कर्ष विशेष रूप से द्रष्टव्य है। विरह की अनेक अवस्थाओं का अपने में आरोप करके कबीर ने विरहिणी का जो रूप व्यक्त किया है उसका प्रतिबिम्ब बिहारी आदि अनेक रीतिकालीन कवियों की नायिकाओं में भी देख सकते है। कबीर के परवर्ती सूफी कवियों की विरहोक्तियों में तो कबीर की अभिव्यक्तियों की झलकियाँ बड़ी स्पष्ट हैं। हो सकता है कि कबीर के पूर्ववर्ती सूफियों की अभिव्यक्तियां भी इसी प्रकार की रही हों और उसी धारा में कबीर, जायसी आदि भी बहते चले गये। कबीर की आध्यात्मिक विरहिणी की जो दशा है उसको जायसी की नागमती नहीं पहुँच सकी है। कबीर की एक साखी विरहिणी की दयनीय दशा को इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८४

"अंषड़ियां झांईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि[1] ॥"

यहाँ ऊहा विरह की आसक्ति और तीव्रता को व्यक्त करती हुई विश्वसनीयता की सीमा का उल्लंघन नहीं करती जबकि जायसी के शब्दों में वह उस सीमा का उल्लंघन करती हुई प्रकट होती है—

"कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई, रकत-आंसु घुंघुची बन बोई[2] ।"

दोनों कवियों के विरह-निवेदन में एक अन्तर यह भी दीख पड़ता है कि एक विरह के प्रभाव को विरहिणी में देखता है और दूसरा विरहिणी के इधर-उधर भी।

"अंषड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जाणें दुखड़ियां।
सांई अपणै कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियां[3] ॥"

विरह में आँखें रोते रोते लाल हो जाती हैं, यह तथ्य है। देखनेवालों को क्या पता कि विरह में रोते रोते वे लाल होगयी हैं। वे तो यही समझते हैं कि शायद दुखने आगयी हैं। यह है कबीर का विरह-वर्णन। जायसी की नागमती की दशा कुछ और ही है—

"जेहि पंखी के निअर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात[4] ॥"

इस दोहे में विरह की प्रखरता अविश्वसनीय बन गयी है। नागमती की विरहाग्नि से पक्षी जल जाते हैं और वृक्ष सूख जाते हैं। इस उक्ति में कल्पना की उड़ान है किन्तु आधार का अभाव है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९-२९
२. पद्मावत, नाग. वि. खंड, दोहा १८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९-२५
४. जायसी-ग्रन्थावली, नागमती, विरह खण्ड, दो. १८

इतना अन्तर होते हुए भी कबीर आदि सन्तों और सूफी कवियों की बहुत सी उक्तियाँ तुला में रखी जा सकती हैं। कबीर और जायसी की वाणी में विरहिणी की दशा को देखिये—

"नैन चुवहिं जस महवट नीरू[1]—"

नागमती के लोचनों से तो मानों महावट हो रही है किन्तु कबीर विरहिणी के नेत्रों से निर्झर बहा देते हैं—

"नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम[2]।"

प्रेम-पीड़ा मधुर होते हुए भी उसके सहने की भी कोई सीमा होती है। दर्शन के लिए विरहिणी इतनी व्यग्र है कि दुर्बल होते हुए भी वह उत्कंठा से उठती है किन्तु गिर पड़ती है। फिर विवश होकर उसके मुख से केवल यह निकलता है—

"मूवां पीछे देहुगे, सो दरसन किहि काम[3]।"

रात दिन बाट देखते देखते बीतते हैं, विरह व्याकुलता बढ़ जाती है और हृदय बुरी तरह तड़पता है—

"कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ[4]॥"

अन्त में विवश होकर विरहिणी के मुख से यह फूट पड़ता है—

"कै बिरहनि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ[5]॥"

पीड़ा की दशा में नारी की यही बड़ी स्वाभाविक उक्ति है। दर्शन के अभाव में उसके लिए मृत्यु ही विकल्प है, जिसे वह प्रिय के हाथों से चाहती है।

---

१. पद्मावत, पृष्ठ १७६
२. कबीर ग्रन्थांवली, ६-२४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०-३५

विरह की अनुभूति कबीर केवल माधुर्य-भाव से ही नहीं करते अन्य संबंध-भावनाएं भी उन्होंने प्रस्तुत की है, पुत्र और दास आदि के रूप में भी वे अपने को रख कर अपनी स्थिति की अनुभूति करते हैं। अपने और परमात्मा के वियोग में कबीर ने जो दशा देखी है उसको एक साखी में उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ[1]॥"

दास कबीर अपने प्रभु से वियुक्त नहीं रहना चाहते। वे अति दुखी हैं क्योंकि वे अपने स्वामी से अलग हैं। संसार के लोग इस वियोग का अनुभव नहीं करते। वे खाकर सुख से सोते हैं किन्तु जिसे लोग सोने के लिए रात कहते हैं कबीर उसमे भी जगते रहते हैं, और वियोग के दुख का अनुभव करते हुए कहते हैं—

"सुखिया सब संसार है, खायै अरु सौवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रौवै[2]॥"

गीता में संयमी की दशा का भी ऐसा ही निरूपण है—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।"
—गीता।

कबीर का आध्यात्मिक प्रेम अनेक रूपों में प्रकट होता है। कहीं उनके हृदय से दाम्पत्य भाव का उदय होता है तो कहीं दास्य भाव का। वे परमात्मा को पिता और माता के रूप में स्वीकार करके अपने को बालक की स्थिति में प्रकट करते हैं। पिता के रूप में तो न जाने कितने भक्तों ने परमात्मा की भावना को है किन्तु जननी के रूप में भी उसकी भावना में कबीर ने आनन्द लिया है। 'हरि जननी मैं बालक तोरा, काहेन अवगुन बकसहि मोरा' में कबीर ने हरिको जननी रूप में स्वीकार करके अपने अपराध को स्वीकार किया है जिस के साथ उन्होंने दैन्य-प्रकाशन एवं क्षमा-याचन भी किया है। यों तो शंकर ने

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०-३१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११-४५

अपने स्तोत्र में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' आदि में परमात्मा के प्रति अनेक भावों को प्रदर्शित किया है किन्तु कबीर की भक्ति में परमात्मा के जननी रूप की स्तुति अपने ढंग की है।

कबीर की प्रेमानुभूति के दो क्षत्र स्पष्ट हैं: एक तो वह क्षेत्र है जिसमें वह परमात्मा को सगुण के रूप में देखते प्रतीत होते हैं और दूसरा वह जिसमें उनका प्रेम निर्गुण में संनिविष्ट दिखायी पड़ता है। यह ठीक है कि कबीर निर्गुणोपासक है किन्तु उनका निर्गुण प्रेम कहीं कहीं सगुण प्रेम-परंपरा की धारा में बहा चला गया है जो स्पष्टतः भारतीय भक्ति-परंपरा का प्रभाव है किन्तु कबीर के प्रेम में—

> "सुरति ढीकुली लै जल्यौ, मन नित ढीलनहार।
> कंवल कुवां में प्रेम रस, पीवै बारंबार॥"

ऐसे भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जो निर्गुण के क्षेत्र के हैं। ऐसे स्थलों पर प्रेम का कोई आलंबन स्पष्ट नहीं है। 'कंवल-कुवां' में मिलनेवाला प्रेम-रस लोक-सामान्य नहीं है। यह वह प्रेम-रस है जो साधना से विशेष संबंध रखता है और जिसमें भावना का स्थान गौण है। भारतीय भक्ति में भावना की प्रधानता की उपेक्षा नहीं की गयी। यद्यपि साधना भी भक्ति का एक अनिवार्य और अटूट अंग है किन्तु भावना के ऊपर उसका सिक्का कहीं नहीं जमाया गया। कबीर-बाणी में उपर्युक्त उदाहरण जैसे और भी बहुत से उदाहरण मिलते है जिनको हम सूफी-प्रभाव से प्रजनित कह सकते हैं किन्तु ऐसे उदाहरणों का अभाव नाथ-वाणी में भी नहीं है। अतएव कबीर की यह प्रेम-परंपरा अभारतीय नाम से इंगित नहीं की जा सकती। इसमें सन्देह नहीं है कि नाथों की साधना के साथ जिसमें प्रेम का भी समावेश हो चुका था, सूफियों की प्रेम-साधना ने कबीर को किसी अंश तक प्रभावित किया; किन्तु कबीर ने इन पंथों और सम्प्रदायों में से सार लेकर अपने ढंग से प्रेम की परंपरा को प्रवाहित किया जो संतमत में आज तक चली आ रही है।

कबीर के इस प्रेम में, उनकी आध्यात्मिक प्रेम-साधना में, अहिंसा का स्थान बहुत ऊँचा है। उनका ईश्वर-प्रेम जीव-मात्र के प्रेम से सरसित है। मानव ही नहीं पशु-पक्षियों की रक्षा भी उनके आध्यात्मिक-प्रेम का एक अंग है। वे जहाँ मानव मात्र के प्रेमी हैं वहाँ जीव मात्र के प्रेमी भी हैं। कबीर का प्रेम वस्तुतः विश्व-प्रेम के नाम से अभिहित किया जा सकता है जिसमें वर्ण, वर्ग, देश आदि का भेद विलीन हो जाता है।

●

: १४ :

भाषा, शैली और कवित्व

बहुधा यह सुना जाता है कि कबीर कवि नहीं थे, उनकी कोई भाषा नहीं थी और उनकी अभिव्यक्ति अटपटी थी। कदाचित् ऐसी उक्तियों से कबीर के साथ न्याय नहीं होता। कबीर की वाणी में कुछ ऐसे स्थल हैं (और वे थोड़े नहीं हैं) जो पाठक को रसविभोर कर देते हैं। यहीं पर कविता है और यहीं पर वाणी का सहज प्रवाह है। ऐसे स्थलों पर कबीर की भाषा के सम्बन्ध में लोगों को कोई शिकायत नहीं रहती। जहाँ मस्ती है, जहाँ मादकता है वहीं उनके सहज उद्‌गार हैं जिनमें अनुभव की गहरी चोट और कल्पना की लोक-गति है।

कबीर की वाणी में उनका व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि उसको भुलाकर उनकी रचनाओं का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सरलता, स्पष्टता निर्भीकता और अनुभूति से संपुटित संत कबीर कभी आत्मरत् और कभी लोक-चिन्तक दीख पड़ते है। लोक की विद्रूपताओं को देख कर जब कभी वे क्षुब्ध हो उठते हैं तभी उनके वाक्‌प्रहारों की बौछार होने लगती है और वे हमें आलोचक दीख पड़ते है किन्तु जब वे अनुभूतियों के सहज उद्‌गारों में बहते दीख पड़ते है वहाँ वे रसिक और कवि हैं। उनकी कविता का गुण सरलता और मस्ती है। फिर भी कबीर को वही पा सकता है जो उनकी अनुभूतियों में प्रवेश करने की शक्ति रखता हैं अन्यथा 'रहस्य' की भूलभुलैयों में पाठक अपने को खो बैठ सकता है।

भाषा—आलोचकों का कहना है कि कबीर की भाषा अटपटी है और वह इसलिए कि पढ़े-लिखे नहीं थे ; उनकी भाषा परिष्कृत नहीं हो सकी थी। इसीसे कुछ लोग कबीर की भाषा को काव्य की भाषा नहीं मानते। जो कबीर

को एक महान् सार-संग्रही के रूप में देखते हैं वे 'संसकिरत जैसे कूपजल, भाषा बहता नीर' को नहीं भुला सकते। उस समय के रवैये को देख कर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओं को सौप दिया था जिनमें से किसी में भी अपने शुद्ध और स्वतंत्र व्यक्तित्व की झलक नहीं मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी में उस समय बहुत साम्य था उसी प्रकार राजस्थानी, ब्रजभाषा या गुजराती में भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोक-भाषाओं की प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगी थीं किन्तु उनके बीच में कोई विभाजन रेखा खींचना संभव नहीं था। इस साम्य के कारण एक भाषा-भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था। कबीर की भाषाओं में अनेक भाषाओं का जो पुट मिलता है उसका एक विशेष कारण यह भी था।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए उनकी भाषा पर साहित्यिक 'पालिश' नहीं है। शब्दों में कुछ अधिक ध्वन्यात्मक अंश है, कुछ अधिक खींचतान और कुछ अधिक टूट-फूट है, किन्तु वह प्रयत्नज नहीं है जैसी कि बिहारी के शब्दों में दीख पड़ती है अथवा जैसी कि कहीं-कहीं केशव ने कर डाली है। शब्दों में जो खिचाव, तनाव या फैलाव आया है सहज स्वाभाविक है। कबीर क्या करते ? उनकी ही वाणी में नहीं, सामान्य लोक-भाषा में भी, ऐसे ही उच्चारण चल पड़े थे। ढोला मारूरा दूहा में भी ऐसे ही बहुत से उच्चारण मिल सकते हैं। लोक-काव्य के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें शब्दों के चालू उच्चारण ही अधिक मिलते हैं। कबीर की भाषा केवल उनके घर में नहीं बनी थी, वह उनके आस-पास के सम्पर्क से निर्मित हुई थी। अतएव यदि खड़ी बोली के युग में उसमें कोई भ्रन्श दीख पड़ता है तो कबीर वाणी का दोष नहीं है। उस समय की लोक-भाषा की प्रवृत्तियों की कसौटी पर कबीर की भाषा अधूरी नहीं उतरती।

ऊपर यह संकेत किया गया है कि कबीर-वाणी में अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं। उसका एक प्रमुख कारण तो बता ही दिया गया है। दूसरा कारण यह था कि कबीर घूमने-फिरने वाले साधु थे। अपने विचारों को वे देश के कोने-कोने तक पहुंचा देना चाहते थे। अतएव उन्होंने स्थान-स्थान की भाषा से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने भावों को एक ऐसी भाषा में व्यक्त किया

जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा में अनेक स्थानों और भाषाओं की शब्दावली का मेल-मिलाप हो गया।

स्वर्गीय श्री सूर्यकरण पारीक ने ना० प्र० पत्रिका के एक लेख—'राजस्थानी हिन्दी और कबीर' में लिखा है—"कबीर ने जिस भाषा में रचना की है, वह उस काल की प्रचलित साहित्य-भाषा है जो किसी प्रान्त विशेष की बोलचाल की भाषा नहीं थी बल्कि साहित्य-रचना के लिए समस्त उत्तर भारत में प्रयुक्त होती थी। बहुपर्यटनशील होने के कारण और सिद्धान्ततः संकुचित प्रान्तीयता और क्षुद्र मतमतान्तरों के विरोधी होने के कारण कबीर ने इसी व्यापक देश-भाषा को साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त समझा, यह युक्ति, संगत भी है। फिर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जब अनुसंधान करते हैं तो प्राचीन हिन्दी के प्रायः सभी ग्रन्थों में उस व्यापक साहित्य-भाषा का रूप मिलता है।" पारीक जी के ये शब्द मेरी बात की पुष्टि करते हैं।

इनके अतिरिक्त एक बात और भी है जिससे कबीर की भाषा में अनेक देशों या स्थानों की शब्दावली दृष्टिगोचर होती है। वह बात यह है कि कबीर की शिष्य-मंडली में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग सम्मिलित थे और अब तक कबीर-पंथी लोग देश के हर भाग में मिल जाते हैं। उन्होंने कबीर वाणी को यथाशक्ति ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया फिर भी उनकी अपनी अपनी भाषा का प्रभाव किसी न किसी रूप में परोक्षतः आ ही गया। कबीर वाणी में भाषा की जो अनेक रूपता मिलती है उसका एक कारण यह भी हो सकता है किन्तु केवल परोक्ष कारण क्योंकि मध्यकालीन भारत में 'गुरु' की मान्यता ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के समान थी। उसकी वाणी साक्षात् ब्रह्मवाक्य थी। कोई शिष्य उसको बदलने का हौसला नहीं कर सकता था। फिर भी अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की वाणी पर चढ़कर कबीर-वाणी ने कुछ न कुछ रूप तो बदला ही होगा, चाहे अज्ञान में ही सही।

'बोली हमारी पूरब की' कह कर अपने आध्यात्मिक संकेत से कबीर ने कुछ विवाद प्रस्तुत कर दिया है। कबीर की बोली को अहमदशाह ने बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर के आसपास की हिन्दी भाषा माना है। कुछ

लोगों के मत से यह भोजपुरी का ही एक रूप है किन्तु जो भाषा बीजक में सुरक्षित है उसमें भोजपुरी का कोई रंग नहीं दिखलायी देता । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसमें अनेक बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण देख कर उसे सधुक्कड़ी कह डाला है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर से कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि कबीर की भाषा सधुक्कड़ी ही नहीं अपितु सन्ध्या भाषा की परम्परा में थी उस भाषा की परम्परा में जिसका श्रीगणेश सिद्धों की गिरा से हुआ था ।

कबीर की भाषा को सन्ध्या भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्ध्या भाषा के प्रवर्तकों का जो लक्ष्य था उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था । जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे । सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी । यह ठीक है कि कबीर ने कुछ शब्दों को अपने अर्थ भी दिये किन्तु सैद्धान्तिक परिष्कार की दृष्टि से । 'सहज' जैसे शब्द अपने अर्थ में रूढ़ होकर जिन विकृतियों की ओर संकेत करने लगे थे कबीर भोले लोगों को उनसे मुक्त कराना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने ऐसे शब्दों को अपने अर्थ दिये। कुछ शब्दों को उन्होंने अपने अर्थ इसलिये भी दिये कि अपने रूढ़ार्थ में वे दुरूह थे जैसे 'माया' । कबीर ने 'माया' की जो व्याख्या की वह जिस प्रकार शिक्षित व्यक्ति को सुबोध थी उसी प्रकार अशिक्षित को भी । शंकर ने माया का जो अर्थ किया था कबीर ने उसे विकास दिया ।

इस प्रकार कबीर ने भाषा को रूढ़ियों से मुक्त करके नूतन प्रकाश दिया । शब्दों ने अपने अर्थ बदले और अर्थों ने अपनी विकृतियां बदलीं । फिर कैसे कह सकते हैं कि कबीर-वाणी में योगियों की संध्या भाषा का स्वर था । कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा केवल तभी कहा जा सकता है जबकि उसमें किसी हेयता की भावना न की जाये । साधु का सम्पर्क सबसे और सबकी वाणी से होता है । वह अपने भावों और विचारों से सबको लाभान्वित करना चाहता है, इसलिए उसकी भाषा सबकी भाषा होती है और कबीर की वाणी में भी यही गुण है तो उसे 'सधुक्कड़ी' कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं है ।

रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ीबोली'[१] बतलाया है किन्तु 'रमैनी' और 'सबद' में वे काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली'[२] का भी पुट मानते हैं। वे अनुमान करते हैं कि कबीर को यह भाषा नाथपंथियों से मिली होगी जिनके पंथ का प्रचार राजस्थान और पंजाब की ओर ही अधिक रहा और जिन्होंने मुसलमानों को भी अपनी 'बानी' सुनाने के उद्देश्य से उसमें दिल्ली के आसपास की खड़ीबोली का भी सम्मिश्रण कर दिया। इस कृत्रिम भाषा का रूप व "ढाँचा कुछ खड़ीबोली लिए राजस्थानी का था जहाँ परम्परागत साहित्य की भाषा का 'ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था"।[३] इस मत को श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी अपने 'कबीर साहित्य की परख' में स्वीकार किया है[४]।

मैं इस मत का समर्थक नहीं हूँ। किसी रचना की भाषा को सिद्धान्तों से जोड़ना युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् यह कह देना कि कबीर की भाषा नाथपंथियों से प्रभावित है इसलिए कि दोनों के सिद्धान्त ही नहीं भाव तक मिलते हैं, उचित नहीं है। यदि बच्चन और उमर खैयाम के भाव मिलते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चन की भाषा पर भी उमर खैयाम का प्रभाव है। यदि ऐसा ही है तो वैष्णव धर्म का प्रभाव कबीर पर बहुत अधिक लगता है। फिर कबीर की भाषा को रामानन्द की भाषा से दूर कैसे कर दिया जाये। सच तो यह है कि कबीर की भाषा न तो सिद्धों की भाषा है, न नाथपंथी योगियों की और न रामानन्द की। कबीर ने अपनी भाषा का प्रयोग किया है जिस पर उनके देशाटन, उनकी शिष्य-मंडली और उनकी सहज साधु-वृत्ति का बहुत प्रभाव है। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर की कोई अपनी भाषा न थी, वे भाषा के मर्म की उपेक्षा करते हैं। भाषा अपनी ही होती है किन्तु प्रयत्नों के भार से वह कृत्रिम हो जाती है। कबीर ने जो भाषा अपनायी वह उनके समय की प्रचलित भाषा थी जिसका प्रचलन व्यापक होने से उसमें सब

---

१. देखिये, रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६८
२. देखिये, रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६८
३. देखिये, रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २२
४. देखिये, परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २१५-१६

भाषाओं के शब्द प्रतीत होते हैं। वे शब्द आज भिन्न-भिन्न भाषाओं के जान पड़ते हैं। कबीर के समय में कदाचित् उनमें इतना भेद नहीं रहा था, अनेक लोगों की रसनाओं से रसित हो कर कालक्रम से ही यह भेद आ गया प्रतीत होता है।

कबीर की जो वाणी हमारे सामने आ चुकी है और उसमें जो तात्पर्य निहित है उससे यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कबीर ने कभी 'कृत्रिम भाषा' पर भी विचार किया होगा। वे सीधे-सच्चे मनुष्य थे ; दंभ और आडम्बर उनको प्रिय नहीं थे। फिर वे किसी कृत्रिम भाषा को कैसे स्वीकार कर सकते थे। अतएव उनके मुख में जो शब्द भी आ गये होंगे, भाव और अर्थ की अनुकूलता के सम्बन्ध से उन्हीं का प्रयोग कर दिया होगा। निस्सन्देह उन्होंने अपने पूर्वजों के शब्दों, मुहावरों या प्रयोगों को भी लिया है किन्तु इसलिए कि वे उनके आसपास चक्कर लगाते रहते थे, प्रचलित थे। कबीर की भाषा को ध्यानपूर्वक देखने पर उसमें स्थायित्व प्रतीत होता है, कृत्रिमता नहीं दीखती। एक इतने बड़े क्रान्ति-पथिक से किसी कृत्रिमता की आशा कदापि नहीं की जा सकती। जो भाषा बिहार से गुजरात तक और पंजाब से दक्षिण तक बोली जाती थी और जिसे कबीर जानते और बोलते थे, उसी को हम कबीर की रचनाओं में पाते हैं। अनेक भाषाओं या बोलियों के शब्द होने पर भी कबीर की भाषा मिश्रित भाषा नहीं कही जा सकती और न वह कोई रूढ़ काव्य-भाषा ही थी। वह सहज स्वाभाविक बोलचाल की भाषा थी।

आधुनिक साहित्यिक जागरण के साथ ही कबीर की भाषा के सम्बन्ध में भी निरन्तर चर्चा चलती आ रही है किन्तु अब तक कोई एक मत स्थापित नहीं हो पाया है। जहाँ उनकी भाषा में विविध भाषाओं और बोलियों की शब्दावली और रूपावली को देखकर कुछ आलोचक यह कह देते हैं—"भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है"[1], वहाँ कुछ इतना तक कह देते हैं—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २६

उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नज़र नहीं आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर, 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय,' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मोहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता[1]।"

कबीर चुटकियाँ भरने में बड़े कुशल हैं। वे इस क्षेत्र में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। कबीर के जैसे व्यंग अच्छे-अच्छे साहित्यकार नहीं कर पाते। उनकी शैलो की विशेषता यह है कि उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। इसी गुण पर रीझकर आलोचक कबीर को कवि कहने में नहीं हिचकते।

शैली—कबीर ने अपने समय के साधु-समाज में प्रचलित शैली को ही अपनाया है। उसमें स्पष्टता, वक्रता, व्यंग्यात्मकता और प्रेषणीयता है। कबीर का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब वीरगाथाओं की शैलियाँ मुरझा रही थीं और धर्मगुरूओं की बानियों का प्रचलन बढ़ रहा था। छन्दों में दोहा, चौपाई, और 'पद' की धूम थी। विद्यापति ठाकुर ने अपनी पदावली से पदों का महत्त्व द्विगुणित कर दिया था। सिद्धों की चलायी हुई इस पद-परंपरा को नाथों ने निभाया और सन्तों तथा भक्तों ने आगे बढ़ाया। कबीर अपने दोहों को 'साखी' और 'पदों' को सबद कहते थे। रमैनियों में कई चौपाइयों के बाद दोहा का प्रयोग किया गया है। रमैनियों के अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं जैसे सतपदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैणी, दुपदी रमैणी, अष्टपदी रमैणी, बारहपदी रमैणी आदि।

कबीर की 'बानी' को तानपूरे का साहित्य कह सकते हैं क्योंकि उनकी रमैनियों और उनके 'सबदों' में राग-रागनियाँ मिलती हैं। राग-रागनियों की

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ २१६

सरसता के साथ-साथ उनकी रचना जन-साधारण के निकट पहुँचने की क्षमता रखती है। उसमें न शब्दाडम्बर है, न पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न। प्रतीकों से अपने भावों को सुबोध बना कर वे उन्हें सामान्य मानव की निधि बना देते हैं। वे प्रतीकों को जीवन से चुनते हैं जिनसे उनकी वाणी में सरलता और सुबोधता के साथ आत्मीयता आ जाती है। छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान—सब कुछ होते हुए भी वे स्वाभाविक और अयत्नज हैं। उनकी सहजोक्तियों में अलंकार, छन्द और रस—सब उनके भावों का अनुगमन करते हैं। उनके सम्बन्ध में कबीर की कोई पूर्वयोजना नहीं होती। वे काव्यगत् रूढ़ियों को न तो जानते थे और न मानते ही थे। अनुभूति का उद्रेक होने पर जो उद्गार निकलते थे वे समर्थ और आकर्षक होते थे। उनके छन्दों में चाहे क्षिप्रनर्तन की शक्ति न हो, भले ही वे ढीले हों और उनके अलंकार संख्या में चाहे थोड़े ही हों, भले ही उनमें इतनी झंकृति न हो, किन्तु वे अपने प्रयोजन से भ्रष्ट नहीं होते, अपनी सुषमा को नहीं खोते। उनके अलंकार उनकी अलौकिक अनुभूतियों के पैरों को भी इसी धरा पर रखते हैं।

कबीर को कहने का ढंग आता है जो निराला है। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसी को कहते हैं, अपने ढंग से कहते हैं, उपयुक्त अवसर पर कहते हैं और ज़ोर से कहते हैं। वे सबको एक लकड़ी से हाँकना भी जानते हैं और यह भी जानते हैं कि किसको किस समय छेड़ना चाहिये। यह बात उनके 'सम्बोधनों' से स्पष्ट हो जाती है। ऐसी बात नहीं है कि वे शाक्त को ही कोरी-कोरी सुनाते हैं, प्रत्युत पांडे, पुजारी, योगी, मुल्ला, काज़ी, शेख़ और अवधूत तक को नहीं छोड़ते। यह है उनकी निष्पक्षता जिसके वे भारी समर्थक हैं। वे जिस प्रकार प्रजा को सुनाते हैं, उसी प्रकार राजा को भी सुना देते हैं। उनको इस बात की चिन्ता नहीं कि पंडित बुरा मानेगा या काज़ी बुरा मानेगा और यह है उनकी निर्भीकता। वे जो देखते हैं वह कह डालते हैं छिपाते कुछ नहीं हैं, यह है उनकी आलोचनात्मक स्पष्टता।

उनकी आलोचना निराधार नहीं है, उसमें तर्क-शक्ति है। जो आधार शास्त्र नहीं दे सकते, वह कबीर की गहन अनुभूतियाँ उनकी आलोचना को प्रदान करती हैं। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि कबीर की तर्क-शैली विचित्र है, शास्त्रीय नहीं, आनुभूतिक है। वह उन लोगों पर बड़ा असर करती

है जिनके हृदय से वे अन्धविश्वास, पाखंड, दंभ, छलना, प्रवंचना एवं अभिमान का बहिष्कार करना चाहते हैं। कबीर के तर्कों में जितना मस्तिष्क का बल है उससे अधिक अनुभूतियों का। इसीसे उनकी शैली में अकाटयता और आकर्षण, दोनों एक ही साथ हैं।

कबीर का अनुभव बहुविध था। उनका समागम व्यापक था, अनेक साधु-सन्तों के साथ उनका सत्संग होता रहता था। इसलिए उन्हें सुनने को बहुत कुछ मिला था, सब कुछ मिला था, सब प्रकार की सामग्री मिली थी जिसका उपयोग भी उन्होंने अपने ही ढंग से किया था। वे बहुश्रुत संत थे यह ठीक है किन्तु सबकी सुनकर भी वे ग्रहण वही करते थे जिसके लिए उनको उनके मस्तिष्क और हृदय की स्वीकृति एक साथ मिल जाती थी। वे सुनी हुई बात को बुद्धि से तोल कर अनुभूति से परिष्कृत करते थे और तब कहीं उसका प्रकाशन करते थे। उनकी प्रायः सभी वाणियों पर यह छाप लगी मिलती है।

इन सब बातों के कारण कबीर की वाणी ने जो शक्ति संचित की हैं उसने उसे सुन्दर कवित्व प्रदान कर दिया है। कविता किसी यंत्रालय में तैयार नहीं होती। उसका अपना वातावरण, अपनी भाव-भूमि और अपनी अभिव्यंजना होती है जो व्यक्तियों के सम्बन्ध से बदलती दीख पड़ती है। इसी का नाम शैली है। अनेक प्रयत्न करने पर भी शैली अनुकरणीय नहीं होती। व्यक्तित्व शैली में सदैव विद्यमान रहता है। कबीर की शैली में भी उनका व्यक्तित्व बड़े महत्त्व का है अन्यथा ऐसी बातें कौन नहीं कह सकता, किन्तु इससे भी बढ़ कर बात यह है कि कबीर की शैली का कोई अनुकरण नहीं कर सकता। इस दृष्टि से यदि कबीर की शैली में 'अपनापन' है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि यह 'अपनापन' न होता तो कबीर को कवि कहना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता।

अब तक न जाने कितने लोगों ने यह कहा है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, योगी थे, भक्त थे, सुधारक थे, साधक थे और सब कुछ थे, फिर भी कबीर की गणना कवियों में होती चली आ रही है। आज भी किसी की यह हिम्मत नहीं हुई है कि साहित्य के इतिहास से कबीर का नाम हटा दे अथवा

कवियों की गणना में उन्हें भुला दे। कबीर को किसी विशेष शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से देखने वालों को उनकी साधना में 'अटपटापन' भले ही लगे किन्तु उन्हीं की दृष्टि से देखने वाले को उसमें एक अनूठा 'चटपटापन' मिलेगा। कबीर के बुद्धिवाद के लिए जिन लोगों के मन में तनिक भी सम्मान और उनकी विवेकिता के प्रति कुछ भी आदर है वे उनको कोरा 'प्रयोगी' कहने की भूल नहीं कर सकते। उनके प्रयोगों में जिस प्रकार किसी सीमा तक मौलिकता है उसी प्रकार एक मार्जित प्रशस्त पथ भी है।

क्या कबीर कवि थे? यह भी एक प्रश्न है। किन्तु क्या वह कवि नहीं थे? यह भी एक प्रश्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर साधक हैं, वे अध्यात्मवादी हैं किन्तु उनके इसी रूप में उनकी समाजवादिता भी तो दीख सकती है। यदि उनको प्रधानतया कवि रूप में नहीं देख सकते तो क्या उनको अपनी खुली आँखों से समाज को देखने वाला भी नहीं कह सकते? यह ठीक है कि वे कविता के लिए कविता नहीं करते किन्तु क्या वे समाज की दुर्गति पर करुणा-दृष्टि नहीं डालते? क्या वे उसे प्रेरणा और आशा नहीं देते? क्या वे सामाजिक कुत्साओं और रूढ़ियों पर क्षुब्ध होकर डाँट-फटकार से काम नहीं लेते? क्या वे अपने साथियों के कल्याण की कामना नहीं करते? यदि लोक-कल्याण उनकी वाणी का लक्ष्य है, यदि वह समाज को आनन्द की ओर प्रेरित करती है, यदि उसमें प्रभावित करने की क्षमता है तो वह अवश्य ही किसी अंश तक कविता के लक्ष्य की ओर जा रही है।

वे समाज को अपने सामने पहले लाते हैं और कविता को पीछे। कबीर की अनुभूति बड़ी व्यापक थी। वह जीवन और जगत् की होते हुए भी अलौकिक और अलौकिक होते हुए भी जीवन और जगत् की थी। जैसा इन्होंने लिखा है, वैसा शायद तुलसी भी न लिख पाते यदि वे कबीर की ही परिस्थितियों में होते। कविता भावों का वह स्रोत है जो समाज द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति के अन्तर से उमड़ती है और अपने ढंग से पुनः समाज को प्रेरणा देती है। कविता अपने और समाज के लिए लिखी जाती है। उसका कोई लक्ष्य होता है, कोई उद्देश्य होता है; उसके बिना कविता हो ही नहीं सकती। कविता जीवन का शाब्दिक प्रतिरूपण है। इसीलिए इसमें इतना सौन्दर्य, माधुर्य और लालित्य होता है। जो कवि जीवन में सरसता आदि गुण नहीं

देख सकते, वे कविता के सरस लक्ष्य की सिद्धि भी नहीं कर पाते । हाँ, जीवन की सरस झाँकी अनेक दृष्टियों से की जाती है, किन्तु उनसे जीवन का स्वरूप नहीं बदल जाता । जो कविता कविता के लिए ही होती है वह मनुष्य के लिए बन्धन बन जाती है । वह मनुष्य की मुक्ति के लिए नहीं होती, उससे मनुष्य प्रेरणा नहीं पा सकता । मानव के अन्तःकरण का समाज से सम्बन्ध होता है । घर में हो या वन में वह दूसरों की अपेक्षा रखता है । सूरज, तारे, चाँद, आकाश, वायु, लता, सुमन आदि उसके जीवन और समाज को निरन्तर सजाते रहते हैं । कवि लोक-जीवी होता है ; वह लोक से पृथक् नहीं रहता और न रह सकता है । वह स्व-निर्भर होता हुआ भी लोक के लिए रहता है । यदि वह इस तरह से न रहे तो अपने लिए भी नहीं रह सकता । उसे सामाजिक पारस्परिकता से बड़ा बल मिलता है ; उसकी शक्ति के संचय का स्रोत ही पारस्परिकता है । अतएव कविता की पारस्परिकता से बड़ी घनिष्ठता है ।

मनुष्यों की पारस्परिकता का सुचारु निर्वाह ही धर्म है । इसके अनेक नियम हैं । इन्हीं से समाज का संचालन होता है । समाज में गुणों के साथ दोष भी हैं, फिर भी मनुष्य समाज ही में रहता है । उससे नाराज होता हुआ भी उसे चाहता है । कबीर समाज का परिष्कार चाहते हैं । वे समाज की अनेकों बुराइयों से खिन्न एवं अप्रसन्न हैं ; उन्हीं के निवारण के लिए वे सुधारक का रूप भी धारण करते हैं ।

समाज की रक्षा प्रत्येक सामाजिक का कर्तव्य है, उसका सहज प्रवाह प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है । 'मनुष्य सबके और अपने लिए बना है'—ऐसा दृष्टिकोण प्रत्येक सामाजिक का रहता है ; प्रत्येक सुधारक भी इस भाव से प्रेरित होता है । कबीर ने केवल आत्म-प्रशंसा या स्व-यश के लिए कविता नही की । वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित हुए हैं । उनकी रचना व्यवहार-कौशल की शिक्षा एवं 'शिवेतरक्षति' के लिए हुई है । उनका अनुभव इतना विशाल और गूढ़ था कि आत्मोल्लास के साथ-साथ उन्होंने समाजोन्नति भी की । 'साहित्य ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम है। उसकी अवहेलना असम्भव है । सूर, तुलसी, केशव आदि से तुलना करने पर कबीर को उस श्रेणी में चाहे न रक्खा जाय, फिर भी कबीर कवि थे । उनकी रचना उच्च कोटि की है । वह सीधा हृदय को प्रभावित करती है । उनकी

भाषा बोल-चाल की भाषा है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं किया, अपितु अलंकार उनके अनुभव-पुष्ट व्यक्तिकरण में स्वतः ही आ गये हैं। उनकी रचना एक ऐसा बाण है जो लक्ष्य पर पहुँचने के लिए है।

कबीर को कुछ लोग दबी जबान से कवि कहते हैं और कुछ तो उन्हें कवि बिल्कुल मानते ही नहीं। कदाचित् वे कबीर-ग्रन्थावली या अन्य किसी ऐसे ही ग्रन्थ में आई हुई कबीर की रचनाओं के ऊपर अपना मत आधारित करते हैं—उन रचनाओं के ऊपर जिनका, न जाने कितनी पीढ़ियों तक मौखिक अस्तित्व रहा, जिनका न जाने कितनी जिह्वाओं पर उलट-फेर हुआ, जिनकी भाषा बदलने से अर्थ का अनर्थ और सरल का कठिन अर्थ हो गया है। इतनी शताब्दियों के पश्चात् ग्रन्थों में आई हुई, इतनी ज़बानों और कलमों के आघातों से परिवर्तित भाषा को हम मुक्त कंठ से कबीर की भाषा नहीं कह सकते हैं, हाँ, भाव कबीर के हैं ; किन्तु भाषा के फेर में कहीं-कहीं वे भी फिर गये हैं। कबीर का अध्ययन करने वाला वह विद्यार्थी है जो भाषा के अनेक परिवर्तनों से परिचित है। कबीर का आलोचक वह आलोचक है जो सतर्क, किन्तु सहृदय होकर कबीर को देखता है। जो कबीर की दृष्टि में दृष्टि डालकर देख नहीं सकता, जो अपनी गति से कबीर के पास तक नहीं फटक सकता, जिसका मस्तिष्क कबीर के मस्तिष्क से छत्तीस की स्थिति में है, वह व्यक्ति कबीर के रस का आस्वादन कैसे कर सकता है, वह विद्यार्थी कबीर का अध्ययन कैसे कर सकता है, और वह आलोचक कबीर पर समालोचना कैसे लिख सकता है ?

कबीर कवि थे या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए हमें समन्तात् निरीक्षण करना चाहिए। सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि कवि की क्या योग्यता होती है ? उसकी क्या तैयारी होती है ? साहित्य के अध्येता के लिए यह प्रश्न कुछ कठिन नहीं है। प्राचीनों ने 'कविर्द्रष्टा' कहकर इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। वह देखता है अपनी आँखों से, वह देखता है समाज की आँखों से भी ; और तभी समाज उसके साथ रहता है, समाज को उसके प्रति सहानुभूति होती है और तभी समाज उसके गुणों का गान करता हुआ उसका अनुकारी होता है, यदि कवि की ये दोनों आँखें (अपनी और समाज की) बन्द हैं तो समझिये कि कवि ने देखा नहीं, उसे कवि कहलाने का अधिकार नहीं। ऐसी अवस्था में यदि उसे बल मिल सकता है तो कला से। स्मरण रखने की

बात है कि कला अनुभूति और कल्पना के बिना प्राणहीन शरीर के सदृश है, उस शव के सदृश है जो चोवा-चन्दन से चर्चित है, जिसका नाना प्रकार से अलंकरण किया गया है। उसे केवल शव कहा जा सकता है मानव नहीं, सजीव नहीं। कला यदि कविता का रूप धारण करना चाहती है, अनुभूति से विहीन होकर, द्रष्टा की सी दृष्टि से रहित होकर ऐसा नहीं कर सकती।

कबीर के पास दृष्टि है, पहले अपनी, इसके पश्चात् समाज की, किन्तु कबीर समाज की सामान्य दृष्टि से देखते हुए भी अपनी-सी ऊँचाई से देखते हैं। वे अपने अनुभव को अपनी अटपटी बोलियों से अपने पुष्टतम व्यक्तिकरण से सर्वसाधारण के पास पहुँचते हैं। यदि सर्व-साधारण कबीर का अनुभव नहीं रखते तो कबीर का दोष नहीं, कबीर के अनुभव का दोष नहीं, कबीर की कविता की क्षमता का दोष नहीं; दोष किधर है जानने वाले जानते हैं।

कबीर की अनुभूति कल्पनाओं से पुष्ट है, भावनाओं से रसित है। रसीली पुष्ट अनुभूतियाँ लेकर यदि वे सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त करते हैं तो कुछ तो इसलिए कि उन्हें सब लोग समझें और कुछ इसलिए कि उनके पास मार्जित शब्दावली नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं कि उनके पास प्रौढ़ और पुष्ट व्यक्तिकरण नहीं है। साधारण व्यक्ति भी अनेक बार अपने शब्दों से, अपनी साधारण भाषा से, सुनने वालों को इतना प्रभावित कर देते हैं। यही काव्य-कला है। इसी को कवित्व-शक्ति कहते हैं। कवि को कविता की सामग्री विश्व से मिलती है और उसी से वह अनुभूति निचोड़ कर समाज को देता है। यही कवि-कर्म की विशेषता है। कवि सामान्यतम परिस्थिति से भाव लेकर इस रूप में अर्पित करता है। कबीर जिस सरलता से अपने भाव प्रस्तुत करते हैं उसी में उनकी कला है। जिस सहज का कबीर गुण-गान करते हैं वह उनकी उक्ति और भाषा में झलकता है। यही कबीर का मर्म है।

कबीर का विद्यार्थी जब तक कबीर की कला और मर्म को नहीं जानता तब तक वह कबीर की रचनाओं को चाहे जितनी बार पढ़े वह उन्हें हृदयंगम नहीं कर सकता। उनकी ऊबड़-खाबड़ भाषा को देखकर विद्यार्थी को बहक नहीं जाना चाहिये। हमें इतिहास से दूर नहीं हट जाना चाहिए। कबीर की भाषा को आज की भाषा की कसौटी पर नहीं परख सकते। भूल न जाना चाहिये कि

कबीर उस युग के कवि हैं जब भाषा चोला बदली रही थी, छंद बदल रहे थे और अपभ्रंश अपना अधिकार पुरानी हिन्दी को सौंप रही थी। इसलिए कबीर की भाषा को दूषित ठहराने से पूर्व उनकी परिस्थितियों, समय की माँगों का अध्ययन करना आवश्यक है। जब लल्लूलाल जी तक की भाषा में आज के आलोचक को 'पंडिताऊपन' की गंध आती है तो कबीर की भाषा में उसे क्या गंध आनी चाहिए अनुमानगम्य है।

कहना न होगा कि साधारण अनुभूति के साधारण व्यक्तिकरण को कविता नहीं कहा जाता। कविता वह जीवन-तत्त्व है जिसमें साधारण अनुभूति को भी असाधारण व्यक्तीकरण का बल मिला होता है। जिसमें भावना और कल्पना के पुट से सरसता का सन्निवेश किया जाता है। कबीर की साधारण अनुभूति में असाधारण भावना और असाधारण अनुभूति में साधारण कल्पना की शक्ति है। यह तथ्य कबीर की उक्तियों, उनकी रचनाओं की असाधारणता का द्योतक है। जहां व्यक्तिकरण अनुभूति का पूरा साथ देता है वहीं सुन्दर कविता का उदय होता है। अतएव वे जिस समय अनुभूति से परिपूर्ण होकर, भावना से सिहर कर व्यक्तिकरण करते हैं तो 'राम मेरे दूल्हा, मैं राम की बहुरिया' की सुन्दर शब्द-योजना उनके कवित्व को सरसता और कोमलता से सजा देती है। कवि कल्पना की खोज में जितना आयास करता है, उसके काव्य का मर्म उतना ही धुंधला पड़ जाता है। जहाँ कवि की कल्पना ऊंची, किन्तु स्पष्ट और सरल होती है अर्थात् उसमें कवि की स्वाभाविक शक्ति ओतप्रोत रहती है, वहाँ कविता का माधुर्य और लालित्य आस्वादन करने योग्य होता है। परम सिद्ध कवियो की भाँति कबीर अपने काव्य में हमें इसी प्रकार की छटा दिखलाते हैं—जिस में सरस पाठक और मनस्वी चिन्तक साथ-साथ डूब जाते हैं—

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

यह साखी उनके इसी प्रकार के कवित्व, इसी प्रकार की माधुरी और इसी प्रकार की छटा में लाकर पाठक को डुबो देती है।

कबीर समय के पीछे चलने वाले लोगों में से नहीं थे। उन्होने सिद्धों और नाथों के साम्राज्य का एक अनुशासित नागरिक होकर उन्हीं के दृढ़ दुर्ग

पर आक्रमण किया और विजय भी प्राप्त की और एक ऐसी क्रान्ति को जन्म दिया जो न केवल धर्म के इतिहास में ही याद रहेगी, वरन् भारतीय राजनीति के इतिहास में भी अमर रहेगी।

कबीर ने सच्चे कवि की भाँति सदैव सत्य का प्रतिपादन किया है—उस सत्य का, उस अनुभूति तथ्य का जिसमें अनेक कवि अनेक बार विप्रकृष्ट हो जाते हैं। कबीर के समान सत्य की अभिव्यक्ति बहुत थोड़े ही कवि कर पाते हैं। उनकी सत्याभिव्यक्ति सीधा प्रभाव करने के कारण कटु-सी प्रतीत होती है। इसी कारण कई आलोचकों ने उनकी वाणी पर कटु होने का आक्षेप भी किया है और इसकी कटुता का कारण उन्होंने कबीर की अशिक्षा में खोजा है। मेरी समझ में यह उनका भ्रम है। कबीर पूर्ण शिक्षित थे, यदि शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता नहीं है। क़बीर जो कुछ दीख पड़ते हैं, उसका कारण उनका 'सत्याग्रह' था —वह सत्याग्रह जिसके भारतीय इतिहास में अनेक पहलू दीख पड़ते हैं। बौद्ध और जैन सत्याग्रह अपने ढंग के सत्याग्रह थे। हरिश्चद्र का सत्याग्रह अपने प्रकार का था। राम और भरत का सत्याग्रह अपने ढंग का अनूठा था। महर्षि दयानन्द ने एक अपूर्व सत्याग्रह की नीव डाली, किन्तु महात्मा गांधी का सत्याग्रह जिसकी आभा दिग्दाहों और दुर्दिनों में होकर भी अविरल रुप से विकसित होती रही, आधुनिक परिस्थितियों में समन्वित रूप से अनूठा सिद्ध हुआ। कबीर का सत्याग्रह भी अद्‌भुत ही था। उसका रूप आलोचकों को जैसा दीख रहा है वह या तो उनको स्पष्ट नहीं है और यदि है तो उसके अतिरिक्त, उन परिस्थितियों में, कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता था। वह रूप समय का माँगा और परिस्थितियों का दिया हुआ था। कबीर की कविता सत्य के अनेक पहलुओं में से पूर्ण सत्य की ओर ले जाने का उपक्रम करती है। यदि हम उसके किसी एक पहलू को देख कर ही अपना मत स्थिर करने लगते हैं तो यह कबीर की कविता का दोष नहीं, दोष तो हमारी संकीर्ण बुद्धि का है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर की कल्पनाएँ स्वतः पूर्ण हैं। जहाँ उनके छंद अनेक स्थानों पर रबड़-छंद का पद पाने के अधिकारी हैं वहाँ उनकी कल्पनाएं उनकी अनुभूति के सुन्दर आरोप हैं। इन्हीं में कबीर का प्रतीकवाद अपना अनूठा रूप संवारता है।

कबीर की कविता में प्रतीक-योजना—जिस प्रकार सूर ने क्षेत्राभाव की पूर्ति उपमानों से की है, उसी प्रकार कबीर ने अपने काव्य के अभाव का निवारण प्रतीकों द्वारा किया है। कबीर के प्रतीक इतने अमोल हैं, जितने किसी अलंकारी के अलंकार शायद ही होते हों। जिस 'लाल' की लाली' में कबीर अपनी सत्त को डुबो कर 'लाल' बन जाते है, तो पाठक को 'लाल' की विचित्रता पर विस्मित होना पड़ता है। जब कबीर अपनी आध्यात्मिक विरह-वेदना को व्यक्त करने बैठते हैं तब भी 'प्रतीक' माधुर्य का सुन्दर साज सजा कर कबीर की परिचर्या के लिए प्रस्तुत होते हैं।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि कबीर अपने प्रतीकों के महत्त्व को 'ऊहा' की फूँक से उड़ा देते हैं, जैसे—

"लेखनि करूँ करंक की, लिखि-लिखि राम पठांउँ।"

आलोचकों का यह आरोप सत्य नहीं है। मै तो यह समझता हूं कि ऊहा से कबीर के प्रतीक बड़े शक्तिशाली हो गये है—इतने शक्तिशाली कि वे स्वयं बुद्धि के पास आ जाते है। साहित्य का इतिहास कबीर के प्रतीक प्रयोग को न केवल परम उपकृत होकर याद रक्खेगा, वरन् वे पथ-प्रकाश के रूप में आधुनिक प्रतीकवादी के समक्ष सदैव प्रस्तुत रहेंगे। वीरगाथा काल की रूप और घटनामयी कविता को ले कर हिन्दी साहित्य ने जिस प्रकार अपना जन्म ग्रहण किया था वह कदाचित् इतने महत्त्व का नहीं है, जितना उसके अंक में इन प्रतीकों का प्रादुर्भाव और पोषण है। आधुनिक हिन्दी कविता का रहस्यवाद और छायावाद कबीर के प्रतीकों को बड़ी श्रद्धा से देखता होगा, यह मिथ्यानुमान की बात नहीं है।

ध्यान रहे कि प्रतीकों का प्रयोग अनेक प्रयोजनों से होता है। कहीं गोपनीय को छिपाये रखने के लिए, कहीं सूक्ष्म भावों और अध्यात्म तत्वों तक पहुचने के लिए और कहीं व्यक्तीकरण को सरल बनाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग होता है। कबीर ने अन्तिम दो प्रयोजनों से प्रतीकों का प्रयोग किया है। अपनी योग-विषयक उक्तियों में भी कबीर ने प्रतीकों का प्रयोग किया है जिनके द्वारा अनेक कायिक तत्त्वों और प्रक्रियाओं को समझाने का प्रयास है। कबीर ने प्रतीक-योजना का आश्रय भाव-व्यक्तीकरण और व्यवहार-व्यक्तीकरण, दोनों

रूपों में किया है। कबीर की भाषा जैसी भी है, प्रतीकों से पुष्ट है। बुद्धि और अभ्यास से पुष्ट प्रतीक-प्रयोग मानव-समाज को मिलता है। यही भाषा के उद्भव और विकास का रहस्य है। मूर्ति-कल्पना और पूजा के मूल में भी यही प्रतीकवाद काम करता है। कबीर ने निर्गुण राम और हरि (गोविंद आदि) की व्याख्या भी अनेक प्रतीकों के सहारे ही की है।

यों तो भावना पर सधी हुई प्रतीक-योजना व्यावहारिक भी हो सकती है, किन्तु जब प्रतीक किसी परोक्ष-सत्ता अथवा सूक्ष्म निगूढ़ भाव के लिये प्रयुक्त होता है तब उसका प्रयोग गूढ़ एवं रहस्यमय होता है। रहस्यवाद और छाया-वाद की सृष्टि प्रतीकों के बल पर ही होती है। व्यावहारिक प्रतीक अलंकारों का काम करते हुए उपमानों के रूप में व्यक्तिकरण को सरल बनाते हैं। कबीर अपने लौकिक प्रतीकों से आध्यात्मिक आचरण की ओर भी संकेत करते हैं, यथा—

> **"नांन्हां काती चित्त दे, मंहगे मोलि बिकाइ।**
> **गाहक राजा राम है और न नेड़ा आइ॥"**

इसी प्रकार—

> **"खंभा एक गइंद द्वै, क्योंकर बांधसि बारि।**
> **मानि करै तो पीव नहिं, पीव तो मान निबारि॥"**

यों तो भक्ति-काव्य में प्रतिक-प्रयोग की धारा बहती रही, किन्तु रीतिकाल में घनानन्द ने प्रतीक-योजना को एक नया रूप देकर भाव-मूर्तीकरण की नींव डाली जिसका उल्लास-विलास प्रसाद की कविता में देखते ही बनता है। छाया-वाद के कवियों ने फिर तो प्रतीक-योजना को परम्परा के रूप में ग्रहण किया।

जिस रचना में जीवन की सरसता हो, जिसमें अनुभूतियों की गहरी नींव और कल्पनाओं की ऊँचाई हो, जिसमें सहज अलंकृति और सरल व्यक्ती-करण हो, जहाँ जन-साधारण की भाषा में परोक्ष लक्ष्य हो, उस रचना को यदि कविता न कहा जाये तो, मेरी समझ में नहीं आता कि उसे क्या कहा जाये?

: १५ :

एकता के पथ पर

यह बिल्कुल ठीक है कि परिस्थितियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, किन्तु यह भी ठीक है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व के बल से परिस्थितियों का सामना करता है और उनको यदि सहसा बदल नहीं देता तो उनमें क्रान्ति अवश्य पैदा कर देता है। कबीर एक ऐसे महापुरुष थे जिनका निर्माण, जिनके व्यक्तित्व का विकास परिस्थितियों के कारण हुआ। उन्होंने परिस्थितियों की भूमि में क्रान्ति का जो बीज बोया उसे 'एकता' का इतिहास कभी भुला नहीं सकता।

समाज, लोक-व्यवहार और धर्म ने कबीर को विकल कर दिया था। उनके समय में जितना विक्षोभ बाह्य वातावरण में था, उतना ही उनके अन्तर में था। बाहर की करारी चोटों को उनका सुकुमार अन्तर विकलतापूर्वक सह रहा था। इससे वे शान्ति चाहते थे और इसी कारण वे उसकी खोज में लग गये। संघर्ष सदैव अद्वैत के अभाव की दशा में होता है। जहाँ द्वैत होगा वहाँ संघर्ष की सम्भावना होगी। यही कारण था कि कबीर ने अद्वैत का आश्रय लेकर शान्ति के पथ पर प्रस्थान किया। वे जिस प्रकार अन्तर्लोक में एकता की प्रतिष्ठा करने के लिए आतुर थे उसी प्रकार बाह्य लोक में भी। वे इस बात को भली भाँति जानते थे कि पूर्ण शान्ति अन्तर और बाहर का समझौता चाहती है। यह समझौता उन्हें अद्वैतमार्ग में ही मिल सकता था, इसलिए उन्होंने इसी को अपनाया।

कबीर की भीतरी एकता आध्यात्मिक या दार्शनिक प्रयास है। उनकी दृष्टि में भीतर और बाहर कुछ भेद नहीं है। जो भीतर है वही बाहर है। जिस प्रकार सरोवर में पड़े हुए घड़े के भीतर भी जल होता है और बाहर भी। घड़े

के फूटने पर जल, जल में मिल जाता है, उसी प्रकार इस शरीर के भीतर भी आत्मा है और बाहर भी। वह सर्वव्यापक तत्त्व आत्म-तत्त्व है। उसी को ब्रह्म भी कहते हैं। वह विश्व में है और विश्व उसमें है। प्रत्येक घट में वही समाया हुआ है। साधनावस्था में 'तूं' और 'हूँ' का भेद भले ही रहता हो, किन्तु सिद्धावस्था में 'तूं' और 'हूँ' एक हैं—

"तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न 'हूं'।
बारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित 'तूं'॥"

जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। हम सब मे है और सब हम में हैं। हमसे अलग और कोई नहीं है। इस एकता की खोज कबीर अपने गम्भीर ज्ञान-गीतों से करते हैं।

ज्ञान के क्षेत्र में कबीर अद्वैतवादी पथिक है। ब्रह्म के सिवा उन्हें किसी की सत्ता मान्य नहीं है और वह ब्रह्म भी तो उनसे अलग नही है। 'मैं सब में हूँ और सब मुझ में हैं,' यह कह कर वे अपनी सत्ता की सर्वव्यापकता प्रकट करते हैं और 'सोहं हंसा एक समान' कह कर वे आत्मा और परमात्मा की एकता को प्रस्तुत करते हैं।

जो कुछ है वह सत्य है, वह झूठ नहीं है, किन्तु जैसा दीख रहा है वह झूठ दीख रहा है। उसे कबीर 'अंजन' कहते हैं। यह सम्पूर्ण प्रसार अंजन का ही है। आने-जाने वाला 'अंजन' है। निरंजन इससे भिन्न है। वह घट-घट में समा रहा है। झूठ से सम्पर्क रखने वाला भी झूठा है। सत्य 'अलक्ष्य' है। वह दिखाई नहीं पड़ता। सत्य स्थिर रहने वाला है। वह न घटता है न बढता है और न उसमें विकार ही होता है। जिसमें विकार होते हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होता है वह असत्य है। सत्य एक है और एकरूपता ही उसकी कसौटी है। वह इस नाम-रूपात्मक जगत् से भिन्न है, यद्यपि समग्र जगत् उसी में भासित होता है।

जो सदा एक रूप रहता है वह सत्य ब्रह्म है। उसमें न हानि होती है न वृद्धि। वह सर्वत्र ओतप्रोत है। उसी में अनेकता का आरोप है। उसका न कोई रूप है न रङ्ग है। वह पुष्प-गन्ध से भी सूक्ष्म अनुपम तत्त्व है। वह अजर

श्रौर श्रमर है । वह श्रनाद्यन्त है श्रौर पिण्ड श्रौर ब्रह्माण्ड से पृथक् है क्योंकि पिण्ड श्रौर ब्रह्माण्ड साद्यन्त हैं । पिण्ड श्रौर ब्रह्माण्ड ससीम हैं क्योंकि वे सरूप हैं । जहाँ रूप है वहाँ भेद है, श्रनेकता है । यह रूपात्मक जगत् भी श्रनेकतामय है । इसकी सीमाएँ नानात्व से बनी हुई हैं । नानात्व नाममय है । श्रतएव जो कुछ भासित हो रहा है वह नाम रूपात्मक जगत् है । जो रूपात्मक है वह विकार-मय है श्रौर नश्वर भी है । श्ररूप का कोई भेद नहीं हो सकता श्रौर न कोई नाम ही ।

श्रनेक नाम-रूप वाले श्राभूषणों का कारणभूत स्वर्ण सदा एक रूप है । श्राभूषणों के नाम-रूप बनने-बिगड़ने वाले हैं, श्रतएव नाम-रूफात्मक श्राभूषण सत्य नहीं हैं, किन्तु उनका कारणभूत कंचन सत्य है जिसको पाकर कुण्डल, कंकण श्रादि नाम वाले भूषण रूपवान् होते हैं। जल से ही हिम बनता है श्रौर फिर वही सूर्य के ताप से गल कर जल हो जाता है । हिम सत्य नहीं है, सत्य तो जल है । हिम तो केवल कहने, सुनने या देखने के लिए होता है, किन्तु जल तो इनके बिना भी जल है ।

"देखण के सब को भले, जिसे सीत के कोट ।
रवि के उदै न दीसहीं, बँधै न जल की पोट ॥"

इससे कबीर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नाम-रूपात्मक जगत् 'ब्रह्म' के श्राश्रय से भासित होता है श्रौर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है । ब्रह्म श्रौर जगत् का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए कबीर 'जेबरी-साँप' का उदाहरण देते हैं । यहाँ 'जेबरी' का रूप नहीं बदलता । वह वस्तुरूप में सर्प नहीं हो जाती। भ्रम के कारण ही वह सर्प-सी प्रतीत होती है । यहाँ सर्प की प्रतीति रज्ज्वाश्रित है । रज्जु सत्य है श्रौर सर्प मिथ्या है ।

"गुणातीत जस निरगुण श्राप, भ्रम जेबड़ी जग कीयौ साँप ।"

इस प्रकार ब्रह्म को एकमात्र सत्य बतलाने के लिये कबीर कहीं 'कनक-कुण्डल' का, कहीं 'जल-हिम' का श्रौर कहीं 'जेबड़ी-सर्प' का दृष्टान्त देते हैं जो एक ब्रह्म ही की सत्ता सिद्ध करते हैं । जगत् की प्रतीति उसी सत्य के श्राश्रय से होती है । रूप का श्राभास उसी ब्रह्म में हो रहा है जो घट-घट में समाया हुश्रा है—

'सब घटि अंतरि तूंही व्यापक, धरै सरूपै सोई।'

यदि कबीर के दृष्टिकोण से सर्प-विषयक प्रतीति की गवेषणा करें तो उसका आधार रज्जु है। रज्जु के बिना सर्प की प्रतीति हो ही नहीं सकती। इस प्रतीति का कारण भ्रम है, रस्सी का नहीं, अपना—अपनी बुद्धि का। बुद्धि का भ्रम ज्ञान का आवरण करता है। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि द्वैत की प्रतीति सत्य के आश्रय से है। असत्य के उदय का कारण भ्रम है। संशय के मिटने पर सत्य एक ही रहता है।

"कासूं कहूं कहन कौं नाहीं, दूसर और जनां।
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिये, आप दवासूं सोई॥
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै। × × × ॥"

असत्य की प्रतीति अज्ञान के अन्धकार में होती है। अज्ञान सत्य को छिपाता है और ज्ञान उसे प्रकाशित करता है। जगत् अज्ञान के कारण प्रतीत होता है और ब्रह्म-सत्य ज्ञान से प्रकाशित होता है। ब्रह्म-सत्य गोचर नहीं है।

"अंधियारै दीपक चहिये तब बस्त अगोचर लहिये।
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई॥"

कबीर का वह एक सत्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, क्योंकि सत्य असत्य का विषय नहीं हो सकता। असत्य का विषय असत्य ही हो सकता है। जिसकी प्रतीति असत्य इन्द्रियों से होती है वह जगत् भी असत्य है। जगत् रूपात्मक है। उसमें विकार होते रहते हैं। जहाँ विकार होते है वहीं रूप होता है। ब्रह्म-सत्य अरूप और अगोचर है। वह अरचित, अविगत और निराधार है। न वह दूर है न समीप है, न वह शीतल है न सन्तप्त है, न वह पुरुष है न स्त्री है और न वह देश है न काल है। एक वही है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। रक्त और चर्म की बनी हुई काया से आत्मा भिन्न है। वह आत्माराम विश्व में रम रहा है। इस प्रकार अद्वैत पथ के पथिक कबीर ब्रह्म को सत्य और अद्वैत तथा द्वैत (जगत्) की प्रतीति को मिथ्या एवं भ्रममात्र मानते हैं। जो भ्रम-निशा को समाप्त कर देता है उसी को मिथ्या नानात्व के पर्दे के पीछे एक सत्य का अनुभव होता है। इसीलिये वे द्वैत-दर्शकों को चुनौती देते हुए पूछते हैं :—

"अरे भाई दोइ कहाँ, सो मोहि बतावौ।
बिचही भरम का भेद लगावौ॥"

ये पंक्तियाँ द्वैत का सारा भार अज्ञान के सिर पर डालकर कबीर के अद्वैत (ऐक्य) का डङ्का बजा रही हैं।

यह अज्ञान मन की उपज है। जब तक मन विकृत रहता है तब तक अज्ञान रहता है और अज्ञान के विनाश के बिना संसार की प्रतीति होती रहती है। जो भ्रम-निशा का विनाश कर देता है, ज्ञान की ज्योति से जिसका अज्ञान ध्वस्त हो जाता है, संसार उसी को सूझता है। उसका सत्यासत्य रूप ज्ञानी को ही दिखाई पड़ता है। अपने सत्य रूप में यह नाम-रूपात्मक प्रपंच एक ही दिखाई देता है। इस प्रपंच के आभासित होने का मूल कारण संशय है। इसके निवारण के लिये ज्ञान-दीपक चाहिए। अगोचर सत्य ज्ञान-लोक में ही प्रकट होता है। उस सत्य का दर्शन बाह्य लोचनों से नहीं होता। वह तो अन्तर्लोचनों से ही दिखाई देता है। उसका दिव्य दर्शन मन-मुकुर में होता है। जो दर्शन चाहता है वह मन-मुकुर को माँजता रहता है। जब दर्पण मलिन हो जाता है तब सत्य रूप आत्मा का दर्शन सम्भव नहीं होता। केवल मलिन पदार्थ के दर्शन होते हैं और एक रूप सत्य आँखों से ओझल होकर अनेक-रूप असत्य प्रतिभासित होता है।

इस संशय, भ्रम आदि का कारण कबीर माया में देखते हैं। यह मल स्वरूप है, अंजन है। अंजन आता-जाता है, किन्तु सत्य निरंजन है। वह सर्व-व्यापक है। वह न कहीं आता है न जाता है। सूक्ष्मता की दृष्टि से वह अणुतम से भी अणुतर है और महत्ता की दृष्टि से सब से महान् है। इसी सत्य की, जिसको दर्शन में 'ब्रह्म' संज्ञा भी दी गई है, माया नाम की शक्ति है। यह बड़ी विषम और समझ से बाहर है। इसके शिकार से कोई बचा नहीं है। इसने बड़े-बड़े पण्डितों को पछाड़ दिया है। किसी को निकट नहीं छोड़ा है। इसीसे कबीर ने भक्ति के स्वर में कहा है:—

"तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे, कोई न छोड़्या नेड़ै।
× × ×
कहै कबीर कछु समुझि न परई, विषम तुम्हारी माया॥"

माया की विषमता स्पष्ट होती हुई भी उसका रहस्य समझ में नहीं आता। समझ में आए भी तो कैसे ? ब्रह्म की माया जो ठहरी। उसकी सूक्ष्मता जितनी विस्मयजनक है उतनी ही विशालता भी। वह अपनी अभिव्यक्ति महानतम रूप में करती है। वही नाम रूपात्मक जगत् है। माया अपने कारण रूप में सत्य से अभिन्न है, किन्तु कार्यरूप में झूठी; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बाजीगर (कारणरूप) सत्य है, किन्तु उसकी बाजो (कार्यरूप) झूठी होती है। माया का काम भुलावे में डालना है—यह एक ठगौरी है जो बड़ी रहस्यमयी है। इसी के कारण जगत् के अनेक सम्बन्ध भासित हो रहे हैं। नहीं तो कौन किसका पुरुष, कौन किसकी नारी ? कौन पुत्र ? कौन पिता ? किसकी मृत्यु ? किसका सन्ताप ? इस मायामय जगत् की प्रतीति उसी समय तक होती है जब तक मायापति (उस ठग) का ज्ञान नहीं है। जब ठग का ज्ञान हो जाता है तो 'ठगौरी' से मुक्ति हो जाती है :—

"हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई।
हरि कै वियोग कैसे जीऊँ मेरी माई॥
कौन पुरिष को काकी नारी ?
अभि-अंतरि तुम्ह लेहु बिचारी॥
कौन पूत को काकौ बाप।
कौन मरै कौन करै सन्ताप॥
कहै कबीर ठग सौं मन माना।
गई ठगौरी ठग पहिचाना॥"

यह माया बड़ा हित दिखाकर मोहित करती है। इसके प्रभाव से सारा ज्ञान-ध्यान कपूर हो जाता है। यह इतनी पीछे लगती है कि छुड़ाये नहीं छूटती। जितनी इसे छुड़ाइये उतनी ही लिपटती है। माया ही आदर और मान है। वही, जप, तप और योग है। जल, थल और आकाश में सर्वत्र माया व्याप्त है। सब लोग माया के बन्धन से बँधे हुए हैं। जहाँ माया नहीं है वहीं ब्रह्मज्ञान है।

जिस प्रकार 'ठगौरी' ठग का भोग नहीं है, उसी प्रकार माया शुद्ध-बुद्ध आत्मा का, ब्रह्म का भोग नहीं है। 'ठगौरी' को केवल दर्शक भोगता है, किन्तु कोई दर्शक उसे पूर्ण रूप से नहीं भोग पाता। सब उस जादू के खेल को और

देखने की, और भोगने की लालसा लेकर जाते हैं। उसी प्रकार जग-जीव माया को भोगते हैं, किन्तु इस भोग से किसी की तृप्ति नहीं होती। प्रत्येक भोगी अतृप्त ही जाता हुआ दीखता है—

"कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग ।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ।।"

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या माया-जन्य भ्रम (अज्ञान) का अत्यन्ताभाव है ? अन्धकार में प्रकाश का अत्यन्ताभाव होने पर क्या प्रकाश की सत्ता मानी जा सकती है ? क्या भस्मावृत अग्निकरिणका में अग्नि का अत्यन्ताभाव मानना उचित है ? फिर यह भी एक प्रश्न है कि ज्ञान और अज्ञान में सत्य कौन है ? यदि अज्ञान सत्य है तो ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहने का कोई अभिप्राय नहीं दीख पड़ता। यदि अज्ञान 'असत्' है तो उससे ज्ञान का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। इसमें कपिल मुनि का यह वचन, कि असद्वस्तु से सद्वस्तु का उद्भव नहीं माना जा सकता, प्रमाण है। अन्धकार से प्रकाश का प्रादुर्भाव कभी नहीं हो सकता। यह ठीक है कि किसी स्थल के प्रकाश से ओझल हो जाने से वहाँ अँधेरा हो जाता है, किन्तु अन्धकार के आवरण से प्रकाश नहीं हो सकता। यह तो प्रायः देखने में आता है कि दुर्दिन में दृष्टि-पथ पर मेघावरण के कारण किसी-किसी स्थान पर दिन में भी अन्धकार हो जाता है, परन्तु किसी अँधेरी निशा में मेघों के छा जाने से प्रकाश नहीं हो जाता। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि सत् का विनाश नहीं हो सकता और असत् का भाव नहीं हो सकता। इस विषय में गीता का वाक्य प्रमाण है:—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

शास्त्र प्रमाण है कि ज्ञान सत् है और अज्ञान असत्, अतएव ज्ञान का कभी विनाश नहीं हो सकता और अज्ञान की कभी सत्ता नहीं हो सकती।

ज्ञान के ऊपर माया का आवरण आ जाने से ही अज्ञान का चमत्कार दिखाई पड़ता है। माया सूक्ष्म शरीर तक के साथ लगी रहती है और इसी के विकारों के कारण पुनर्जन्म लेना पड़ता है। माया के कारण ही मन चंचल और विकृत होता है। जब तक मन में विकार रहते हैं, तब तक संसार से पीछा नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है, तब उसका निर्मल आत्मा में विलय होजाता

है। माया के प्रभाव से स्वरूप-विस्मरण की दशा ही बन्धन की दशा है। जब ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का अँधेरा दूर हो जाता है तो माया का बन्धन भी टूट जाता है। यही मुक्ति की दशा है।

कबीर की माया तत्त्वतः शङ्कर की माया से अभिन्न है। उसे कबीर ने ब्रह्म-माया भी कहा है और अपनी भी। काम, क्रोध, मोह आदि माया के अनेक अङ्ग हैं। सत्त्व, रज और तम माया के तीन गुण हैं और पंचतत्त्व माया के ही अवयव हैं। रूप, वेश, छद्म, पाप, पुण्य आदि में माया की ही परम्परा है। बड़े-बड़े तपस्वियों, मुनियों और ऋषियों में भी इसका संचार है। इस माया ने नारद जैसे भुनि तक को निगल लिया था। यह ब्रह्मा के घर में ब्रह्माणी और शिव के घर में पार्वती होकर बैठी है। जो माया से लगाव रखते हैं उनको यह तंग करती है और जो इसको लातों से कूट-पीट कर रखते हैं, उनकी यह दासी बनी रहती है।

कबीर की उक्तियों से यह प्रकट हो जाता है कि जो माया अज्ञान की दशा में जीव का पीछा नहीं छोड़ती, वही ज्ञान के प्रकाश में प्रभावहीन हो जाती है। माया के दो काम दीख पड़ते हैं :—एक तो यह कि वह अपने प्रभाव से, अपने पर्दे से आत्मा के स्वरूप को छिपाती हैं और दूसरे अपने नाना रूपों के प्रसार से भ्रान्त जीव को मोहित करके घुमाती है। अनेकता भ्रम से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान एवं विवेक के लोचनों में अनेकता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है—

"कथता बकता सुरता सोई।
आप बिचारै सो ग्यांनी होई॥"

कबीर एकरूप सत्य को निर्विकार मानते हैं। मेघ के कारण रवि का दृष्टि से ओझल हो जाना रवि की विकृति नहीं है। जिस दृष्टि से यह जगत् दिखाई पड़ता है वह भी माया है और यह जगत् भी। सच तो यह है कि माया ही माया में उलझती है। इसीलिए कबीर कहते हैं:—

"झूठैं झूठ रह्यो उरझाई।"

इस मिथ्या की प्रतीति को कबीर मन का भ्रम मानते हैं जो मन के निर्मल होने पर दूर हो जाता है। उसी निर्मल मन में आत्मा की अनुभति होती

है। 'मैं-तैं' और 'तैं-मैं' का भेद दूर होकर शुद्ध ज्ञान-दृष्टि से ही आत्मा का रूप सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

इस प्रतीयमान द्वैत से अद्वैत सत्य किसी प्रकार बाधित नहीं होता। अनेक वर्ण की अनेक गायों में रहने पर भी दूध एक ही रहता है। उसी प्रकार इस दृश्यमान नानात्व में एक ही सत्य, एक ही आत्मा का प्रकाश है। जिस प्रकार अनेक वेश एक नट को अनेक रूपों में प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार एक ही आत्मा को अनेक पंचतत्त्व के पुतले अनेकशः प्रकट करते हैं:—

"भेष अनेक एकधूं कैसा, नाना रूप धरैं नट जैसा।"

सब शरीरों में समाया हुआ आत्म-तत्त्व केवल कहने-सुनने के लिये अनेक—जैसा प्रकट होता है, वास्तव में ऐसा है नहीं। जैसे अनेक घड़ों में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब की अनेकता घड़ों के फूटने पर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शरीरों के निपात के पश्चात् आत्मा का आरोपित विच्छेद नष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि सीमाएँ शरीर की हैं, आत्मा की नहीं। शरीर के नष्ट होने पर वे सीमाएँ भी नष्ट हो जातीं हैं। इसी को लोग मरना कहते हैं। इस जीने-मरने से आत्मा की एकता बिल्कुल भी प्रभावित नहीं होती।

कबीर जीवन-मरण को भ्रम-जन्य मानते हैं। माया ने पंचतत्त्वों को उत्पन्न करके उनके संयोग से भ्रम का पुतला तैयार कर दिया है। जब तक उन तत्त्वों का संयोग रहता है तब तक वह पुतला दिखाई देता है, किन्तु जब वे तत्त्व वियुक्त हो जाते हैं तो अपने-अपने रूप में मिल कर पुतले के रूप को समाप्त कर देते हैं। यह रूप समाप्त हो जाता है किन्तु उसमें व्याप्त सत्य कभी समाप्त नहीं होता:—

**"मांटी मांटी रही सामाइ, पवनैं पवन लिया सँगि लाइ।
कहै कबीर सुनि पंडित गुंनी, रूप मुवा सब देखैं दुनीं॥"**

इस जीवन-मरण की प्रतीति उसी समय तक होती है जब तक मन रहता है। मन ही शरीर की प्रतीति का कारण है और यह मन जब सहजरूप हो जाता है तो उसी में ब्रह्म की प्रतीति होती है:—

**"तन नाहीं कब जब मन नांहि।
मन परतीति ब्रह्म मन मांहि॥"**

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस रूपात्मक जगत् का कर्ता कौन है ? क्या इसको ब्रह्म ने बनाया है या माया ने ? कबीर दोनों को इसका कर्ता मानते हैं। जब वे भावावेश में होते हैं और भक्ति के स्वर में बोलते हैं तो इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म की रचना मानते हैं :—

"जिनि ब्रह्मण्ड रच्यौ बहु रचना, बाब बरन ससि सूरा।
पाइक पंच पुहमि जाके प्रगटे, सो क्यों कहिये दूरा॥"

× × ×

कभी-कभी वे इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का वेश कहते हैं। उस समय भी वह ब्रह्म की ही रचना ठहरता है :—

"मांटी एक भेष धरि नांनां ; सब में एक ही ब्रह्म समानां।"

कुछ और स्पष्ट रूप से कबीर कहते हैं कि सर्वत्र ब्रह्म ही की सत्ता है। अनेक रूपों को वही धारण करता है। माया-मोहित लोग विषयों में भूलकर अहङ्कार करने लगते हैं :—

"सब घटि अन्तरि तूंहीं व्यापक, धरै सरूपै सोई।
माया मोहे अर्थं देखि करि, काहे कूं गरबाना॥"

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो यह है कि सब रूपों को ब्रह्म धारण करता है और दूसरी बात यह कि उसकी माया मोहित करती है। धारण करने का तात्पर्य यह है कि रूप ब्रह्म से भिन्न होता हुआ भी ब्रह्म ही में प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि भ्रम-सर्प रज्जु से भिन्न होता हुआ भी रज्जु में ही प्रतीत होता है। सर्पत्व का आरोप रज्जु में है, उसी प्रकार जगत् का आरोप ब्रह्म में है। इस रूपात्मक जगत् की प्रतीति माया-मोहित जीव को ही होती है, माया-मुक्त को नहीं। इससे स्पष्ट है कि जगत् के जिस कर्तृत्व का आरोप ब्रह्म में किया जाता है वह वास्तव में माया का है। माया का सम्बन्ध भी कबीर ब्रह्म से ही मानते हैं। जो माया में लिप्त हैं उनको माया के ही रूप दिखाई पड़ते है, ब्रह्म नहीं दिखाई पड़ता; किन्तु जो माया से मुक्त हैं उन्हें आत्मस्वरूप या ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, माया नहीं दिखाई पड़ती। माया अपने निकटवर्ती को मोहित करके उसकी दृष्टि से सत्य को छिपाती है। सत्य के छिपने

से ही नानारूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है। माया की करामात से कबीर परिचित हैं। इसी से वे चेतावनी देते हैं:—

"कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियाँ दे बांह।
नारद से मुनिवर मिले, किसौ भरोसौ त्यांह॥"

ज्ञान-दिवाकार के प्रकाश से जब भ्रम-निशा का निवारण हो जाता है और माया से मुक्ति मिल जाती है तब ब्रह्म की परमज्योति का दर्शन होता है और जीवन-मरण से मुक्ति मिल जाती है:—

"भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा।
मृतक उठ्या धनक कर लीयैं, काल अहेड़ी भागा॥"

इस स्वप्निल संसार को सत्यवत् प्रदर्शित कर देना माया का ही काम है। अनेक रूपों को माया ही बनाती है और माया ही बिगाड़ती है, अतएव जगत्-कर्तृत्व माया में निहित है, ब्रह्म में नहीं—

"माया मोहि मोहि हित कीन्हा, ताथैं मेरो ग्यान ध्यान हरि लीन्हां।
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपिन समांन।
सांच करि नरि गांठि बांध्यौ, छाड़ि परम निधांन।
× × ×
भांनै घड़ै संवारैं सोई, यह गोब्यन्द की माया॥"

इस प्रकार कबीर अनेकता को मिथ्या सिद्ध करके एकता का प्रतिपादन करते हैं। यह है उनकी आध्यात्मिक एकता, जिससे कभी-कभी लोगों को भ्रम भी हो जाता है। इसका अध्ययन करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर का लक्ष्य हृदयलोक से निकल कर ज्ञानलोक में ले जाना है। वे भावाना को आधार बनाकर ज्ञान-शिखर पर आरोहण करते हैं। इसकी पुष्टि कबीर के इस वाक्य से हो जाती है—

"तारण तरण जबै लग कहिये,
तब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में,
कहै कबीर मन मांनां॥"

भावना-लोक में कभी-कभी 'द्वैत' की झलक दिखाई पड़ती है किन्तु वास्तव में ऐसी बात है नहीं। शब्दों के कारण जो 'द्वैत' भावना में प्रविष्ट-सा लगता है वह लौकिक अभिव्यक्ति का दोष है। सच तो यह है कि कबीर का भाव एकता का प्रतिपादक है। भाव के बिना अन्तर्वर्ती भी दूर है। भाव-साधना ही 'दूर' को निकट लाती है और वही एकता प्रतिष्ठित करती है। इसी भावना में होकर कबीर उस अनुभव-पद पर पहुँचते हैं जहाँ से वे कह उठते हैं:—

"हमहीं आप कबीर कहावा ; हमहीं अपनां आप लखावा।"

जब कबीर इष्ट या आत्मा (परमात्मा) को अन्तर में देखने की बात करते हैं तब उससे ध्वनित होता है कि वे वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का सन्देश देते हैं। उनकी उलटी गङ्गा बहाने का यही तात्पर्य है। अन्तवृत्ति की दशा में ही ध्यान-योग सम्भव होता है। ध्यान की गम्भीर दशा में ही ध्याता, ध्यान और ध्येय एक हो जाते है। यह ध्यान-योग ब्रह्म को अन्तर में ही लाकर छिपा देता हो, ऐसी बात भी नहीं है। जिस परमात्मा का वे अर्न्तदर्शन कर सकते हैं उसका बाह्य दर्शन भी कर सकते हैं। लाल की जिस लाली से सब कुछ लाल हो रहा है, उससे भला उनका अन्तर क्यों न लाल हो ? यह है कबीर का आत्म-दर्शन (ऐक्य-दर्शन), भीतर और बाहर की एकता, जिसका प्रमाण उनकी यह साखी है:—

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

हाँ, तो कबीर द्वारा प्रतिपादित एकता का दूसरा साधन योग है। यह एकता शरीर के अन्तर की एकता है, मन की एकता है। मन कोई एक चीज़ नहीं है। अनेक बिखरी हुई वृत्तियों का रूप ही मन है। वृत्तियों के एकीकरण से ही मन की एकाग्रता सिद्ध होती है और एकाग्र मन ही एकाकार होता है। वही निर्वृत्तिक कहलाता है। मन की एकाग्रता आनन्ददायिनी होती है और उसकी चंचलता दुखदायिनी होती है:—

"जे मन लागै एक सूं तौ निरबाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ॥"

शरीर रूपी मन्दिर की मनरूपी ध्वजा है, जो विषय-पवन के झोकों से फहराती है। इस ध्वजा की विचित्रता यह है कि इसके चलायमान होने से देवालय भी चल उठता है। इस प्रकार मन देह के ध्वंस का कारण बनता है :—

"काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ॥"

यह चंचल मन मदगल गज से भी अधिक प्रबल है। इसका वश में करना सरल नहीं है। 'दिले दीवाना बड़ी मुश्किल से काबू में आता है'। सुख-दुख, एक-अनेक आदि के मूल में यही मन रहता है। जो चंचल होकर बन्धन का कारण बनता है वही मन निश्चल होकर मुक्ति का कारण बनता है। इसी दृष्टि से गीताकार ने—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:' कहा है और इसी भाव को लेकर कबीर कहते हैं :—

"मन गोरख मन गोबिंदौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ॥"

यदि विचार की आँखों से देखा जाय तो यह समस्त प्रपञ्च ही मन का है। जहाँ मन नहीं है वहाँ अहङ्कार कहां रह सकता है और जहां अहङ्कार नहीं है वहां भेद-दृष्टि कहां रह सकती है? सच तो यह है कि माया का आवास ही यह मन है। कामादि भी मन के ही अंकुर हैं।

कबीर ने इस ध्वंसक मन को शिव बनाने का मार्ग योग और भक्ति में देखा है। यद्यपि कबीर जप, तप, योग आदि के बाह्याचारों को अङ्गीकार नहीं करते, परन्तु उसके कुछ अङ्गों को वे तत्त्वत: स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्राणायाम पर विशेष बल न देते हुए भी सुषुम्ना के मार्ग की बड़ी प्रशंसा की है जिससे प्राणायाम का महत्त्व प्रतिपादित हो जाता है। 'मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले राखी रस मइया' आदि शब्दों से कबीर मन के निग्रह के लिये 'पवन' की बात करते हैं। यही प्राणायाम की बात है। 'चन्द सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे' कहकर कबीर प्राणायाम के साथ सुषुम्ना के मार्ग को खोलने आदि की ओर सङ्केत करते हैं। सुषुम्ना के पथ से ही मन दरीबे में बैठ कर स्थिर होता है और उसी पथ से सहजावस्था प्राप्त होती है। सारा संशय भाग जाता है और आनन्द-रस का उदय होता है :—

"सुषुम्न नारी सहज समानीं।"

अथवा

"मनवां जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा॥"

अनेक प्रतीकों द्वारा कबीर ने सुषुम्ना के मार्ग की प्रशंसा की है। इसी मार्ग की बदौलत शिव-शक्ति का संयोग होता है। इसी मार्ग से पहुँचा हुआ मन कैलाश पर विराजमान शिव के दर्शन करता है। अमृत के देश, 'औंधा कुंआ' का यही पथ है। इसी पथ से पनिहारिन अपना घड़ा भरने जाती है। उल्टी गङ्गा के प्रवाह में भी सुषुम्ना का मार्ग सहायक होता है। इस मार्ग के खुलने के साथ ही सर्पिणी जगती है और इसी से व्योम में चढ़कर वह शक्ति रूप से शिव से मिलती है:—

"नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया।

× × ×

सहजि सुषमना कूल भरावैं, दह दिसि बाड़ी पावैं॥

× × ×

ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवैं राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गङ्गा नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई॥

× × ×

प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिन जागी।"

कबीर सबसे अधिक बल ध्यान और समाधि पर देते हैं। ध्यान मन की एकाग्रता चाहता है। ध्यान के पथ से ही समाधि-नशा प्राप्त होती है। इसी को वे 'सहज' या 'शून्य' दशा भी कहते हैं। इस दशा में जो आनन्द प्राप्त होता है उसे कबीर 'सहज नीर' कहते हैं। इसको वे मन के मटके में भरते हैं:—

"ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया॥"

ध्यान और समाधि की दशा को कबीर ने क्रमशः 'सुरति' और 'निरति' नाम दिया है। आत्म-ध्यान ही का दूसरा नाम 'सुरति' है। 'सूरति' मन की

सूक्ष्म दशा है। यह आत्म-दर्शन का मार्ग है। काल का निवारण 'आत्म-दर्शन' से ही सम्भव है। इसीलिए कबीर का कहना है:—

"कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जाणें जाल ;
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल।"

सुरति की चरम परिणति निरति में होती है। इसी को योग की शास्त्रीय भाषा में समाधि में ध्यान की परिणीत कह सकते हैं। कबीर की 'निरति' समाधि की निराधार अवस्था है। यही परम योग की दशा है और यही 'शून्य' दशा है। परम शून्य में विराजमान परम शिव का यही आवास है:—

"सुरति समांणीं निरति मैं, निरति रही निर धार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभु दुवार॥"

'शून्य' की दशा व्यापक 'ऐक्य' की दशा है, निरञ्जनत्व की दशा है। शून्य और निरंजन के एकीभाव को कबीर ने इस प्रश्न के द्वारा स्पष्ट कर दिया है:—

"कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कछु आहि कि सुन्यं ?"

यहाँ 'सुरति'—'निरति' शब्दों का थोड़ा विवेचन कर लेना इसलिए आवश्यक समझा जा रहा है कि विद्वानों ने अनेक व्याख्याएँ देकर इनको घपले में डाल दिया है। विवेक की दृष्टि में सब अर्थ सीधे या फेर से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं। प्रायः विद्वानों ने 'सुरति' का अर्थ 'स्मृति' किया है। उनका मत है कि 'सुरति' स्मृति का अपभ्रंश है, अतएव वे स्वरूप-स्मरण को ही 'सुरति' कहते हैं। डा० बड़थ्वाल ने 'सुरति' का एक अर्थ 'आशा' भी बतलाया है जो उचित नहीं दीख पड़ता। कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति स्वरति से मानकर उसका अर्थ 'आत्मरति,' 'आत्मप्रेम' या 'आत्मासक्ति' करते हैं। इस लेख के लेखक को 'स्मृति' और 'आत्मरति' दोनों अर्थ मान्य हैं जो थोड़े-से हेर-फेर से एक ही भाव के द्योतक हैं। इन दोनों अर्थों में से 'सुरति' का एक सामान्य अर्थ निकलता है और वह है 'स्वरूप-ध्यान'। आत्मरति या स्वरूप-ध्यान के आगे की अवस्था 'निरति' है। 'निरति' में कोई आसक्ति या ध्यान नहीं रहता। सुरति मन के बँधे रहने की दशा है और निरति मन के विलय की।

कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति 'श्रुति' (Hearing) से करते हैं। इस सम्बन्ध में कबीर के एक पद की ये दो पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"(क) कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई।

× × ×

(ख) मुई सुरति बाद अहङ्कार, वह न मुवा जो बोलणहार॥"

(क) पंक्ति में 'सुरता' का अर्थ स्पष्टतः 'श्रोता' (सुननेवाला) है। (ख) पंक्ति में 'सुरति' शब्द आया है जिसका अर्थ 'श्रवण' (Hearing) है। 'सुरता' और 'सुरति' शब्दों के रूप और अर्थ से 'सुरति' शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रुति' से मान लेने में कोई अड़चन नहीं दीख पड़ती। योग में 'श्रुति' (Hearing) का विशेष स्थान है। मन का शब्द से गहन सम्बन्ध है। शब्द मन को खींचकर स्थिर करता है। मन-कुरंग के लिए शब्द वीणा का काम करता है। शब्द के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। शब्द की स्थिति शरीर के भीतर भी है और बाहर भी। योगी लोग शरीर के भीतर होने वाले 'शब्द' को सुनने का अभ्यास करते हैं। बढ़ते हुए अभ्यास के साथ वे सूक्ष्मतर शब्द में मन को लगाते चले जाते हैं। शब्द की सूक्ष्मता के साथ-साथ मन भी सूक्ष्म होता जाता है। शब्द अपनी सूक्ष्मतम अवस्था में मन के साथ विलय को प्राप्त हो जाता है। यह दशा 'निरति' अवस्था है। जहां तक 'श्रुति' और 'मन' रहते हैं, कबीर के शब्दों में उस दशा को 'सुरति' कह सकते हैं। इस अन्तर्वर्ती नाद को योग की भाषा में 'अनाहत' नाद कहते हैं जिसे कबीर 'अनहद नाद' या 'अनहद बागे' कहते हैं। 'अनहद नाद' अपने सूक्ष्मतम रूप में तल्लीन मन को भी ले डूबता है। यह सहजावस्था है। इसमें मन और नाद का, 'श्रोता' और 'शब्द' का अन्तर मिट कर 'ऐक्य' की प्रतिष्ठा होती है।

मन को बाँधने का एक और मार्ग भक्ति है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भक्ति भी एकता की प्रतिष्ठा करती है। 'जाति-पांति मानैं नहिं कोई, हरि कौं भजै सो हरि का होई' आदि वाक्य किसी न किसी रूप में एकता के प्रतिपादक ही सिद्ध होते हैं। कहा जाता है कि भक्ति में द्वैत की भावना रहती है, किन्तु अपने गहनतम रूप में वह साधक (भक्त) को साध्य (परमात्मा) में मिलाती है। भक्त के लिये उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता और भाव-

विभोर भक्त के मुख से ही 'जित देखौं तित कृष्णमयी री' आदि शब्द फूट पड़ते हैं। इसलिए कबीर ने ठीक ही कहा है :—

"आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्यां सब जाइ।
अकथ कहांणी प्रेम की, कह्यां न को पत्याइ ॥"

कपट और अभिमान द्वैत की ऊँची ध्वजा है और इनका परित्याग भक्ति की पहली शर्त है। सबको समान दृष्टि से देखने और अपने पराये के भेद को मिटा देने पर ही भगवान् से भेंट होती है :—

"आपा पर सम चीन्हिये, दीसै सरब समान।
इहि पद नरहरि भेटिये, तूं छांड़ि कपट अभिमान रे ॥"

भक्ति अनेकता को मिटाती है। जहां एकता नहीं है वहां अवश्य ही अन्तर होगा, 'तेरा-मेरा' होगा। यह 'तेरा-मेरा' अपने और जगत् के बीच में तथा अपने और परमेश्वर के बीच में होगा। 'मैं सबनि में औरनि मैं हूँ सब' कहकर कबीर ने न केवल अपने और जगत् के बीच के भेद को ही मिटा दिया, वरन् अपनी और ईश्वर की एकता भी सिद्ध कर ली। कबीर की मान्यता है कि किसी आशा को लेकर भक्त भगवान् से नहीं मिल सकता। 'मिलने' से कबीर का तात्पर्य एक होना है। आशा इस एकता को बाधित करती है :—

"जब लग है बैकुण्ठ की आसा।
तब लग नहिं हरि चरन निबासा ॥"

इच्छा को कबीर द्वैतमूलक मानते है और आत्मा के सिवा कोई दूसरी वस्तु उन्हें स्थिर नहीं दिखाई देती, अतएव जगत् की किसी भी वस्तु की इच्छा व्यर्थ है :—

"का मांगूं कछु थिर न रहाई ; देखत नैंन चल्या जग जाई।"

जब तुलसीदास जैसे सगुणोपासक ने—

"सियाराममय सब जग जानी ; करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।"

अथवा

"जगमहिं देखहिं निज प्रभुहिं, कासन करहिं विरोध।"

आदि वाक्यों से विरोध का उन्मूलन करके एकता के भाव की प्रतिष्ठा की है तो कबीर जैसे निर्गुणोपासक के लिए यह कार्य क्या कठिन था ? तथ्य

तो यह है कि कबीर ने आत्मोपासना द्वारा भक्ति को सचमुच 'भक्ति-योग' बना दिया है। उनकी भक्ति में साधक और साध्य, उपासक और उपास्य का अन्तर नहीं है। दोनों निरन्तर और अभिन्न हैं, एक हैं। कबीर परमात्मा के उपासक हैं इसलिए अपने भी हैं क्योंकि उनके आत्मा और परमात्मा में अभेद है, एकता है। कबीर की एकता के इस प्रतिपादन ने उनकी भक्ति धारा को भी 'अद्वैत-वाहिनी' बना दिया है।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी कबीर के 'एकत्ववाद' ने अपना झण्डा फहराया था। धर्म के भेद से राम और रहीम में भी अन्तर माना जाता था, अतएव धर्म हिन्दू और मुसलमान, दोनों के बीच भेद का कारण बन गया था। कबीर ने कहा कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों एक ही पिता की सन्तान हैं, एक ही कर्ता ने उनका सृजन किया है। राम, रहीम, केशव, करीम आदि नाम एक ही सत्य के हैं :—

"हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।
× × ×
हमारै राम रहीम करीम केसो, अलह राम सति सोई॥"

हरि-कीर्तन और अजां, मन्दिर और मसजिद तथा पूर्व और पश्चिम का भेद एक शक्ति, एक सत्य को दो में नहीं बाँट सकता। इसी प्रकार अनेक नाम या धर्माचार उस सर्वव्यापक सत्य को मन्दिर या मसजिद में सीमित नहीं कर सकते। जो ये कहते हैं कि खुदा मसजिद में है या राम मन्दिर में है, उनका भ्रम कबीर एक प्रश्न से ध्वस्त कर देते है :—

"तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूँ ठां राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांहीं, तहां काकी ठकुराई॥"

वेष-भूषा मौलिक एकता को कैसे नष्ट कर सकती है ? धर्म के जो चिह्न हम लोगों ने मान लिये हैं वे कृत्रिम हैं, हमारे बनाये हुए हैं। जनेऊ और सुन्नत मनुष्य की मौलिक एकता को विभक्त नहीं कर सकते। इसीलिये कबीर चेतावनी देते हैं :—

"कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिन्दू तुरक न जानैं भेऊ।"

कबीर को कोई वेश मान्य नहीं है, क्योंकि उसे वे भ्रमजात् मानते हैं। अलक्ष्य आत्मा इस वेशाचार से भिन्न है :—

"कबीर यहु तो एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेख॥"

एकता को नष्ट करने वाली चीज़ मिथ्याचरण, छल या कपट है। वे कहते हैं कि स्वामी के प्रति सत्याचरण का ही निर्वाह हो सकता है, क्योंकि उसके साथ मिथ्याचरण टिक नहीं सकता है। दुनिया वालों के साथ आपका आचरण सरल एवं निष्कपट होने से ही आप स्वामी के प्रति भी निष्कपट रह सकते है। केशों के कारण मनुष्य की सरलता और सत्यता में बाधा नहीं आनी चाहिए क्योंकि केशों के बढ़ाने या मुड़ाने से सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है :—

"सांई सेती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ।
भावै लम्बे केश करि, भावैं घुरड़ि मुड़ाइ॥"

पंचवक्ता नमाज़ और देवालय में मूर्ति-पूजा, दोनों का कबीर की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। हरि की पूजा हृदय में होनी चाहिए मन्दिर में नहीं। भला ब्रह्मदेव का मन्दिर हृदय से अच्छा कौनसा हो सकता है ? जो इस रहस्य को नहीं समझता है वह भूला हुआ है। आशोन्मुख अविवेकी मनुष्य ही पत्थर पूजता है और झूठे मनुष्य को ही पंचवक्ता नमाज़ पढ़ने की आवश्यकता होती है। जो आदमी एक ओर नमाज़ पढ़ता है और दूसरी ओर जीव-हिंसा करता है, वह भ्रान्त नहीं तो क्या है ? नमाज़ के वक्त खुदा की जिस रोशनी की बात कही जाती है, जो सब में समाई हुई बताई जाती है, वह जीव-हत्या के समय कहाँ चली जाती है ? तब वह एक दो में कैसे विभक्त हो जाता है ? दो विरोधी बातें कहने वाला आदमी कबीर की दृष्टि में झूठा है, अतएव वे कहते हैं:—

"कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं सांचा होइ॥"

जिस प्रकार समाज में हिन्दू-मुसलमान, राम-रहीम और मन्दिर-मस्जिद का भेद फैला हुआ था, वैसे ही ऊँच-नीच और पण्डित-जोगी का भेद भी फैला हुआ था। पण्डित अपने को 'जोगी' से ऊँचा समझता था और जोगी पण्डित से अपने को भिन्न। कबीर के समय में जोगियों का एक वर्ग था, एक सम्प्रदाय था

जिसमें अवर्ण लोग ही प्रायः सम्मिलित होते थे और ब्राह्मण लोग उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस भेद को देखकर कबीर को वेदना होती थी। वे कहते थे कि लोग कितने नासमझ हैं जो पण्डित और जोगी में व्यापक एक ही ब्रह्म या आत्मा को नहीं देखते और भ्रम से भेद देखते है। क्या कहीं एक ही तत्त्व में भी भेद हो सकता है? इसीलिए उन्हें कहना पड़ा :—

"व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै को पण्डित को जोगी ?"

उन्होंने देखा कि जिस प्रकार वेश-भूषा और सम्प्रदाय मानवीय मौलिक एकता को नहीं बिगाड़ सकते उसी प्रकार 'राम और रहीम' या 'माला' और 'तसबीह' के नाम का अन्तर भी मानवता के ऐक्य को विकृत नहीं कर सकता। वेद और कुरान में यह सामर्थ्य नहीं है जो मानवीय उत्पत्ति की एकता को ध्वस्त कर दे। नारी भी अपने मौलिक रूप में पुरुष से भिन्न नहीं है। ब्राह्मण और शूद्र में किस बात का भेद है? क्या इनमें तात्त्विक एकता नहीं है? क्या इनके चर्म और मांस में कोई अन्तर है? यदि अन्तर नहीं है तो भेद क्यों? इसी कारण उन्होंने क्षोभ से कहा :—

"ऐसा भेद बिगूचन भारी।
बेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौंन पुरिष कौंन नारी॥
एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपन्ना, कौंन ब्राह्मन कौंन सूदा॥"

इसके अतिरिक्त हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित अवतारवाद की भावना और मूर्तिपूजा भी धार्मिक क्षेत्र में गहरी खाई खोदती जा रही थी। इस्लाम में 'बुतपरस्ती' के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और न वह 'अनेकदेववाद' को ही स्वीकार करता है। कबीर इन दोनों चीजों को सामाजिक एकता का ध्वंसक मानते थे। उन्होंने कहा कि सत्य व्यापक और स्वतन्त्र है। उसको परिमितियों से आवद्ध नहीं किया जा सकता। वह कैसा है? यह कौन कह सकता है? वह जैसा है वैसा है। वह अज और अविगत, अनादि और अनन्त है। वह लोक और वेद से ही भिन्न नहीं, संसार से भी भिन्न है। वह शीत और ताप के परिणाम से मुक्त एवं देश और काल की सीमाओं से परे है। कोई रूप और भेद उसमें नहीं ठहरता। अवतार मानकर लोग उसे नन्द-नन्दन कह देते हैं। वे अपने को

श्रौर दूसरों को धोखा मात्र देते हैं। जिसका नन्द-नन्दन था वह नन्द कौन श्रौर किसका था ? जब धरणी श्रौर श्राकाश दोनों नहीं थे तब यह नन्द कहां था ?

"लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काको रे ?
धरनि श्रकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहां थौ रे ?'

इससे स्पष्ट है कि कबीर 'श्रवतारवाद' का खण्डन करके सामाजिक एकता की रक्षा करने में दत्त-चित्त थे।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना श्रनुचित नहीं कि कबीर ने 'एकता' के सम्बन्ध में समाज, भावना श्रौर चिन्ता के क्षेत्र में एक श्रभूतपूर्व क्रान्ति को जन्म दिया। उन्हें श्राश्चर्य हुश्रा कि 'राम' श्रौर 'रहीम' का नाम-भेद हिन्दू श्रौर मुसलमान का भेद पैदा करके दोनों में विरोध का विकास करता है। श्रतएव उन्होंने दोनों को बड़े श्राश्चर्य श्रौर क्षोभ से ललकार कर सचेत किया कि राम-रहीम, ईश्वर-श्रल्लाह एक ही परमात्मा के नाम है। श्रनेक नामों के श्रन्तर्गत एक ही तत्त्व के उपासक विरोधी नहीं हो सकते। दोनों में समाया हुश्रा भिन्नता का भाव केवल मात्र उनकी मूर्खता है। श्रनेक धर्मों को विरोध का कारण नहीं बनाना चाहिए। धार्मिक वेश-भूषा कृत्रिम है, व्यर्थ है, श्रतएव हिन्दू-मुसलमान श्रादि का वेश-भूषा सम्बन्धी भेद भी वास्तविक नहीं है। श्रनेक धर्मों के मानने वाले श्रनेक मार्गों से जाने वाले एक ही गन्तव्य स्थल के पथिक हैं। वे एक ही बाप के बेटे हैं, श्रतएव उनमें विरोध का प्रश्न ही कहां उठता है? मन्दिर श्रौर मस्जिद उस व्यापक श्रौर स्वतन्त्र सत्य का श्रावास नहीं बन सकते। जो इनको उसका श्रावास मानते हैं वे भूल करते है। परमात्मा न वेद में है, न कुरान में, न मन्दिर में है न मस्जिद में, न दाढ़ी में है न चोटी में श्रौर न माला में है न तसबीह में। वह प्रत्येक जीव के पास है। जो विवेक के लोचनों से उसे देखता है उसी को वह मिलता है। उसका कोई स्थान नहीं है श्रौर न कोई मूल्य ही है। जो सिर देकर उसे खरीदता है, जो मरकर जीता है, उसी को वह मिलता है। श्राध्यात्मिक क्षेत्र में इन्होंने चिन्ता-धारा को एक पथ पर लाने का प्रयत्न किया जिससे 'एकेश्वरवाद' श्रौर श्रनेकेश्वरवाद में समझौता हो सके। जिस प्रकार चिल्ला-चिल्ला कर कीर्तन करने को उन्होंने मिथ्या श्रौर व्यर्थ बतलाया, उसी प्रकार मस्जिद पर चढ़कर दी गई 'श्रज़ान' को भी व्यर्थ बतलाया। श्रवतारवाद

का खण्डन करके उन्होंने राम और कृष्ण को 'ब्रह्मदेव' का आसन दिया। इसी हेतु उन्हें कहना पड़ा:—

"नां जसरथ घरि औतारि आवा ; नां जसवै ले गोद खिलावा।
बांवत होइ नहीं बलि छलिया ; धरनी वेद न लेन उधरिया ॥"

अवतारवाद के खण्डन से उन्होंने 'मूर्तिपूजा' को भी समाप्त कर दिया। उन्होंने भोले या मूर्ख लोगों को सहजरूप में समझाते हुए कहा:—

"लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति मुँहि छार ॥"

उन्होंने कहा कि मूर्ख लोग पत्थर पूजते हैं, जिसका कोई लाभ नहीं। क्या अच्छा होता कि वे अपनी 'घर की चक्की' को पूजते जिसका पिसा हुआ खाते हैं।

ये सब प्रयास कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा के लिए ही किये थे। कौन नहीं जानता कि कबीर सुधारक थे ? सुधारक भी साधारण कोटि के नहीं, बड़ी ऊँची कोटि के। विश्व ने ऐसे बहुत कम सुधारक पैदा किये हैं। ऐसा कौन-सा क्षेत्र था जिसमें कबीर के सुधार का पदार्पण न हुआ हो ? महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का जितना प्रचार किया था उनके अनुयायियों द्वारा उतनी ही अधिक उसकी प्रतिक्रिया हुई। कबीर ने बुद्ध की आवाज़ को एक बार फिर से बुलन्द किया। सब जीवों में एक ही आत्मा का प्रसार देखने वाले कबीर की एकता की भावना हिंसा के आघातों से व्यग्र हो उठी थी। उन्होंने मांस-भक्षियों को फटकारा और इतने जोर से कि केवल सेबड़े ही नहीं थर्रा गये वरन् मस्जिद के काजी और मुल्ला भी कांप गये। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर सामाजिक एकता चाहते थे, किन्तु समाज को वे निष्कलङ्क भी बनाना चाहते थे। उनकी सामाजिक एकता की भावना में पशु-पक्षियों का प्रेम भी सम्मिलित है।

जाति-पांति के ढकोसलों और ऊँच-नीच की दरारो को कबीर ने एक ही साथ मिटाने का प्रयत्न किया। सब से आदि और अन्त, आगम-निर्गम, सृजन तत्त्व आदि को सामने रख कर उन्होंने भेदों की खाई को मिटाने की पूरी चेष्टा

की। ब्राह्मण के गर्व को खर्व करते हुए कबीर ने कहा कि 'ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहिचानता है'। इस प्रकार सब क्षेत्रों में कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा करने के लिए अटूट प्रयत्न किये। धर्म, जाति, समाज, भक्ति, ज्ञान, योग—कोई भी तो ऐसा क्षेत्र न रहा जिसमें उनकी शिथिलता दीख पड़ती हो। इस 'एकता' के परम पुजारी ने उसकी रक्षा के लिये यदि मध्य मार्ग से उलटी गङ्गा बहाकर अद्वैत के आवास में प्रश्रय लिया तो उचित ही था। कबीर मानों कह रहे हैं—

"कबीर इस संसार को, समझाऊँ कै बार ।
पूंछ ज पकड़े भेद की, उतरया चाहे पार ॥"

●

: १६ :

मानववाद एवं साम्यवाद

महात्मा कबीर का नाम प्राचीन भारत की उन इनी-गिनी विभूतियों में अगरिणत किया जा सकता है जिन्होंने मानव-बन्धुत्व और ईश्वर-पितृत्व की पुकार से एकता के आदर्श की प्रतिष्ठा की। अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए महात्मा कबीर ने ऐहिक और पारमार्थिक दूरी को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक अन्तर को दूर करने का सतत् प्रयत्न किया। जिनके कण्ठ की मधुरता और कर्कशता में, जिनके परिग्रह और परित्याग में, जिनके अनुराग और विराग में केवल एकता का मूल मंत्र सुन पड़ता हो ऐसे साधु को कोरे दार्शनिक दृष्टिकोण से देखना उचित न होगा। जिनको कबीर का महामंत्र सीखना है, जिनको शांति की चरम व्यवस्था करनी है जो ऊँच-नीच के भूत को भारत से भगाना चाहते हैं और जो समाज को धर्म और नीति के व्यावहारिक पथ पर चलाना चाहते हैं, उन्हें कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण का अनुशीलन बड़ी गम्भीरता से करना चाहिये।

कबीर उन साधुओं में से नहीं थे जिनके मन की आँखों में आत्मश्लाघा ही घूमती है और न वे उन संत-महन्तों में से ही थे जो दम्भ के बल से प्रभुता प्राप्त करना चाहते हैं। वे तो उन महापुरुषों में से थे जिनके हृदय की प्रत्येक कोर में 'भेद' खटकता है। इस भेद को वे सिद्धांत और व्यवहार—जीवन के किसी पक्ष में देखना नहीं चाहते थे। उनको विश्वास था कि 'मानव' की सर्वोच्चता उस समय तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक वह अभेद दृष्टि से 'समता' पर आसीन 'एकता' की परम देवी को सिद्ध न करले। इस देवी के मन्दिर की ओर कबीर एक सामान्य व्यक्ति की भांति नहीं आये थे, उन्हें उनके संस्कारों ने प्रेरित किया था। समाज की कटुताओं ने उन्हें इस ओर आने को विवेश किया था। कितनी बार उन्होंने मानव-भ्रष्ट स्वरूप पर अनुपात नहीं किया था, कितनी

बार उन्होंने उसके अंध विश्वासों पर उसकी भर्त्सना नहीं की थी और कितनी बार उन्होंने मानव के कोमल हृदय की विनाशकारिणी कर्कशता पर साश्चर्य दु:ख व्यक्त नहीं किया था ।

कबीर की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का पूर्ण प्रयोग व्यावहारिक पक्ष में भी किया । शंकर का जो 'अद्वैतवाद' उनके 'मायावाद' का प्रश्रय पाकर भी उनको द्वैतमयी माया का अपहरण न कर सका उसी को अपना 'अमोघास्त्र' बना कर महात्मा कबीर ने युग-युग से बढ़े आते हुए 'भेद' के मूल का उच्छेदन करने के लिए यह निक्षेप किया । उनकी प्रगति की सफलता उनके 'मत और पंथ' दोनों से सिद्ध होती है ।

क्या अच्छा होता कि महात्मा गांधी के युग में महात्मा कबीर भी होते और क्या ही अच्छा होता कि उनकी गिरादेवी सफलता और सार्थकता के भव्य गुरु मन्दिर में प्रतिष्ठित होती ! तो क्या अछूत 'भेद' को इसी प्रकार देखते रहते! क्या फिर भी मुल्ला और पुजारियों के दंभ का ऐसा ही बोलबाला होता! नहीं, शायद कभी नहीं । यदि उनके आदर्श जन-मन में प्रतिष्ठित होते तो टांकियों की धारों से आत्मदेव की अखंडता खडित न होती, चोटी और दाढ़ी से मानव-बन्धुत्व भ्रष्ट न होता, सेवा नीचकरी न होती और अहिंसा के 'बिल' धारासभाओं में न रक्खे जाते ।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक महात्मा कबीर पहले सामाजिक थे, पीछे कुछ और । वे समाज की एकता के पुजारी और अखंडता के सच्चे प्रहरी थे। वर्ण और जाति-पांति का जो घुन सामाजिक व्यवस्था के सुचक्र में लग रहा था, उसको निकाल फेंकने का उन्होंने अदम्य प्रयत्न किया । वे व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न इकाइयों के रूप में देखना स्वीकार न कर सके । व्यक्ति को सामाजिक इकाई का अभिन्न अंग मान कर ही उन्होंने तत्कालीन भ्रांत जगत का पथ प्रदर्शन किया । वे अपनी रचना में जीवन के जिस किसी पक्ष का निदर्शन करते हैं, उसी से सामाजिक एकता की प्रतिध्वनि निकल पड़ती है । हिन्दु मुसलमानों की जातीय संकीर्णता पर प्रहार करते समय उनकी वाणी की अधिधारा से वही मौलिक एकता झंकृत हो उठती है । अहिंसा के मर्म वाक्यों में भी उसी अभिन्न एवं अखंड विश्व की पुकार है ।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजिक उपद्रवों के कारण मूल रूप में सिद्धान्त बनते हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धान्त समाज में जब आदर्श रूप प्रतिष्ठित हो जाते है तो उनसे एकता की कमर टूटे बिना नहीं रह सकती। वही सिद्धान्त जब कुछ और उग्र हो जाते हैं तो समाज क्षय-ग्रस्त हो जाता है। कबीर ने सबसे पहले इसी रोग का निदान किया और रोगियों का उपचार करते हुए पुकारने लगे—

"हम सब माँहि सकल हम माँहीं, हम थे और दूसरा नाहीं।"

इस प्रकार कबीर ने एकता-मूलक समता का प्रचार किया। यदि उन्हें हिन्दुओं के अनेकेश्वरवाद से सन्तोष न हो सका तो मुसलमानों के एकेश्वरवाद से भी तृप्ति न मिल सकी, क्योंकि अनेकेश्वरवाद से जिस प्रकार समाजिक एकता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार एकेश्वरवाद से भी नहीं होती। ईश्वरीय एकता वैयक्तिक अनेकता को अप्रमाणित एवं असिद्ध नहीं कर सकती। इसीसे उन्होंने एकेश्वरवादियों को सुनाकर कहा—

"मुसलसान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घटि-घटि रह्यौ समाई।"

कबीर ने अपने खुदा की घट-घट में प्रतिष्ठा करके सब घटों को एकता-सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। उस घट-घट वासी को कबीर ने अविजातीय ही प्रमाणित किया। पीछे 'हम थे और दूसरा नाहीं' में यही प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक भेद उस घट-घट वासी की एकता को खंडित नहीं कर सकते। व्रत, उपवास, नमाज आदि के हिन्दु, मुसलमान आदि रूपों में समाज का खन्डन नहीं हो सकता क्योंकि व्रतादि समाज के मूल तत्त्व नहीं हैं। इसलिए कबीर ने कहा है—

"राखूं व्रत न मुहर्रम जाना, तिसही सुमिरूं जो रहै निदाना।

× ×

ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछांण्यां तो क्या दूजा।"

झगड़ा तो उसी समय तक हैं जब तक एक और अनेक का भ्रम है। नहीं तो—

"एक निरंजन सूं मन लागा, कहै कबीर भरम सब भागा।"

हो सकता है कि कुछ लोग इसे कबीर का सिद्धांत ही मानते रहें, किन्तु तथ्य तो यह दीख पड़ता है कि 'निरंजन' की व्यापकता कबीर के व्यावहारिक प्रेम की व्यापकता से भिन्न नहीं है। यही अभिन्नता वसुधैव कुटुम्बकम् के मानने वालों का लक्ष्य रहती है। इसीके सम्बन्ध में रहीम का मत है—

"प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एकहि ह्वै द्वै में लसे, ज्यों सूरज अरु धूप॥"

कबीर की भक्ति में, चिन्तन में, व्यवहार में, और उनकी वाणी में सवर्त्र प्रेममयी समता और अखंड एकता निहित है। वही कबीर का जीवन है, वही आदर्श वही व्यवहार है और वही लक्ष्य।

आज के राजनीति शास्त्र में साम्यवाद का एक नियत अर्थ लगाया जाता है; तथा यह आधुनिक मान्यता है कि साम्यवाद में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है, वर्गभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवादियों का यह विश्वास है कि संसार में प्राचीनकाल से दो वर्ग चले आ रहे हैं—एक शोषक वर्ग है और दूसरा शोषित। एक अव्यापार, अनाचार एवं अन्याय के मार्ग से अपने लिए सुख और वैभव की अर्जना करता रहा है और दूसरा श्रम करता हुआ भी पर-मुखापेक्षी होकर भोजन, वस्त्र और आवास के लिए कष्ट सहता रहा है। एक के पास पूंजी रही है, जिससे दूसरे के श्रम को खरीदता ही नहीं रहा, अपितु छीनता रहा है। उसने उसका उचित मूल्य नहीं चुकाया। श्रमिक या मजदूर इच्छा न होते हुए भी धनिकों की इच्छा का खिलौना रहा है। मानव की इस प्रकार की दुखास्था चिरकाल से चली आ रही है। साम्यवाद ने इस विषमता के मिटाने का निश्चय किया है। रूस ने साम्यवाद की प्रतिष्ठा और विश्व में उसके प्रचार और प्रसार का प्रयत्न भी किया है। राजनीतिज्ञों तक का कहना है कि साम्य-वाद का लक्ष्य बुरा नहीं है किन्तु जिन साधनों का साम्यवादी प्रयोग करते हैं वे प्रायः क्रूर एवं नृशंस हैं। यह ठीक है कि साम्यवाद समाज को एक स्तर पर लाना चाहता है किन्तु वह शान्तिमय साधनों का प्रयोग नहीं करता। सिद्धि के निमित्त साम्यवाद की आतुरता ही क्रूरता और नृशंसता का कारण बनती है। साम्यवादी अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए रक्तपात करने में भी नहीं हिचकता। यह ठीक है कि साम्यवाद के सिद्धान्तों में रक्तपात का समावेश कदापि नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता है।

रूस की बात छोड़िए, चीन और तिब्बत में जो कुछ हुआ है उसमें कितना रक्तपात हुआ है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन काल में भी साम्य की दिशा में प्रयास हुए थे। सर्वेभवन्तु सुखिना सर्वेसन्तु निरामया आदि वाक्यों में साम्यवाद नहीं तो साम्य की प्रवृत्ति अवश्य झलकती है। महात्मा बुद्ध के प्रयत्न अधिकांशतः साम्यमूलक थे। सिद्ध और नाथों की वाणियों में भी साम्य के प्रचार की स्पष्ट प्रवृत्ति है किन्तु कबीर ने साम्य की जो भूमिका प्रतिष्ठित की वह अधिक दृढ़ थी। उसमें धर्म का बहिष्कार नहीं है किन्तु धर्म का गलित एवं ध्वंसकारी रूढ़ रूप भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर धर्म को व्यक्तिगत साधना मानते हैं, वह किसी जाति या वर्ग की साधना नहीं है। व्यक्तिगत होते हुए भी कबीर का धर्म मानवधर्म-मात्र है उसमें मनुष्य मनुष्य की समता स्वीकार की गई है और परमात्मा का पितृत्व राम-रहीम के अभेद में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कबीर का साम्य-वाद अभिव्यक्त सत्ता को पूर्ण प्रभुता प्रदान करता हुआ मानव-एकता सिद्ध करता है और वह एकता या समता, ब्रह्म और जीव के अभेद तक जा पहुँचती है। ईश्वर के पितृत्त्व और राम-रहीम की एकता मानवबंधुता और एकता सिद्ध करती हुई जाति-धर्म भेद के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती। उसमें रक्तपात तो दूर की बात रही, मानसिक हिंसा तक के लिए कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और सत्य के पुजारी कबीर ने साम्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने उपायों का प्रयोग किया है।

संसार की नश्वरता, मानव शरीर की भंगुरता और आत्मा की अमरता एवं एकता दिखलाकर कबीर समतल भूमि पर निकट लाना चाहते हैं। राजमद को प्रकम्पित करते हुए, कायाबल के अभिमान को गिराते हुए, निर्बल को दृढ़ आश्वासन देते हुए, कबीर कहीं भय, कहीं भर्त्सना और कहीं भक्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं। अभिव्यक्त सत्ता की शक्ति को मनुष्य के सामने लाकर कबीर मानवीय आशा-निराशा, गर्व-अभिमान आदि को चूर्ण करते हुए कहते हैं—

"सांई सूं सब होत है, बन्दे थैं कुछ नांहि।
राई थैं पर्वत करै, पर्वत राई मांहि[1]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-१२

और बल के अभिमान में लिपटे हुए मानव को सतर्क करते हुए निर्बल के प्रति सहानुभूति पैदा कराने के लिए वे कहते हैं—

"निर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की श्वांस सों, सार भसम ह्वै जाय ॥"

इस प्रकार कबीर के साम्यवाद की ये विशेषताएँ हैं—

१. इसमें परमात्मा एक अन्तिम और सर्वोच्च शक्ति है तथा वह सबमें और सब उसमें हैं।
२. राम और रहीम में कोई भेद नहीं है। वर्ग और वर्ण का भेद कृत्रिम है, वह मौलिक और स्वाभाविक नहीं है, अतएव इसको मान्यता नहीं देनी चाहिए।
३. मनुष्य-मनुष्य में ही अभेद नहीं है अपितु मनुष्य और परमात्मा में भी अभेद है।
४. कबीर के साम्यवाद के सत्य और अहिंसा प्रमुख तत्त्व हैं और वह प्रेम की शिक्षा देता है।

: १७ :

कबीर की उलटबांसियाँ

भाषा अभिव्यंजना का एक साधन है। जो शब्द भाषा में प्रयुक्त होते हैं वे नाम, रूप, भाव या क्रिया के प्रतीक होते हैं। बहुत से पुराने शब्द और शब्द-रूप नये शब्दों और शब्द-रूपों के लिए अपना स्थान रिक्त करके धीरे-धीरे समय की धारा में विलीन एवं तिरोहित हो जाते हैं। जो शब्द प्रचलित होते हैं वे अपना नियत अर्थ द्योतित करते हैं। एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी होते हैं और कभी-कभी यह भी दिखायी पड़ता है कि कई शब्दों का एक ही अर्थ होता है। ये सभी शब्द अपने मौलिक रूप में प्रतीक हैं और उनका प्रयोग अभिप्राय-विशेष में ही होता है किन्तु जिन शब्दों को साहित्य में प्रतीक नाम से अभिहित किया जाता है उनका उपयोग प्रायः गुण, धर्म, क्रिया अथवा भाव की अभिव्यक्ति के लिए ही किया जाता है। भाषा एक प्रतीकात्मक उपायमात्र होते हुए भी प्रतीकों का उपयोग आध्यात्मिक अभिव्यंजना के क्षेत्र में अधिक आवश्यक हो जाता है। वस्तु जगत् की अभिव्यंजना बड़ी सरल होती है क्योंकि वस्तुओं के लिए शब्द नियत हैं किन्तु भाव-लोक की अभिव्यक्ति दुरूह होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अन्तर्लोक को अपने-अपने ढंग से देखता है और अपनी अनुभूति को अपने शब्दों में व्यक्त करने का उपक्रम करता हुआ लोक भाषा से संबंध रख कर भी उसके अर्थ को छोड़ देता है। वह अपना अर्थ भाषा को देकर तोष लाभ करता है। धार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना सामान्य बोध को कुछ अपरिचित-सी लगने का यही कारण है। इन्हीं परिस्थितियों में 'रहस्य-वादी अभिव्यक्ति' को जन्म मिलता है। छायावाद और रहस्यवाद से संबंधित आधुनिक कविताएँ इतनी सरल नहीं हैं जितनी यथार्थवादी या दूसरी कविताएँ क्योंकि उनमें पाठक या श्रोता को कवि के अर्थ तक पहुँचने की आवश्यकता होती है और वहाँ तक न पहुँचने की दशा में अन्यार्थ या अनर्थ को ही जन्म मिलने की गुंजाइश रह जाती है।

जब कविता के क्षेत्र में ऐसी परिपाटी हो जाती है तब समाज के लोग उसके अर्थ को समझने में अधिक कठिनता का अनुभव नहीं करते क्योंकि वे अपरिचित अर्थों से परिचित होने लगते हैं। अभिव्यक्ति की परिपाटी से शैली को जन्म अवश्य मिलता है किन्तु अर्थ को व्यवहृति न मिलने से शब्द प्रतीकमात्र बने रहते हैं। भाषा के इतिहास में प्रतीकों का अपना स्थान है किन्तु यह बतलाना कठिन है कि किस शब्द में प्रतीक-शक्ति है। कोई भी शब्द प्रतीक बन सकता है किन्तु उसकी योग्यता प्रयोक्ता के हाथों में निहित रहती है। वह जितनी चाहे उतनी शक्ति अपने प्रिय शब्द को दे सकता है। यदि उपयुक्त संगति शब्द को नहीं मिल पाती तो उसको अर्थ-द्योतन की समुचित शक्ति भी नहीं मिल पाती। उदाहरण के लिए इस पंक्ति को ही ले सकते हैं—

"अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि'[1]।"

यहाँ पर शब्दों को उपयुक्त संगति प्राप्त हुई है अतएव 'अगनि', 'नीर', 'कंदू' आदि की शक्ति अमोघ है। आध्यात्मिक विरह के कारण मन की समस्त वासनाएँ जल जाती हैं, इस भाव को कबीर ने प्रतीक-योग से व्यक्त किया है। सामान्य ढंग से कहने में उक्ति में वह प्रभाव न आता जो अब है। कोई शब्द अपने सामान्य अर्थ से अपनी सफलता सिद्ध नहीं कर सकता। प्रत्येक शब्द अपने-अपने संकेत से सुसज्जित है और प्रत्येक संकेत का एक-दूसरे से संबंध भी है। यही शब्द-शक्ति कहलाती है जो काव्य का अपरिहार्य अगं है।

प्रतीकों में प्राय: संकेत होते हैं, किन्तु उनसे किसी ध्वनि का निकल पड़ना भी असंभव नहीं है। जहाँ ध्वनि प्रमुख हो जाती है वहाँ कवित्व उत्कृष्ट हो जाता है। प्रतीक-परंपरा प्राचीन काल से ही चली आती है। पीछे प्रतीक के संबंध में यह तो बताया ही जा चुका है कि प्राचीनतम साहित्य ने प्रतीक को अपनाया था। इसके लिए वेदों तक का इतिहास देखा गया है किन्तु इससे प्रतीक का प्रागैतिहासिक अस्तित्व भी सिद्ध होता है। अवश्य ही वेदों से पूर्व भी लोक-भाषा में प्रतीक का व्यवहार रहा होगा। लोक-प्रचलन के उपरान्त ही ऐसी चीजें साहित्य में अपना घर बनाती हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११-५

कबीर की उलटबाँसियाँ प्रतीक-परिवार की सहेलियाँ हैं। कबीर के अनेक विचार उलटबाँसियों में ही अभिव्यक्त हुए हैं। जिस प्रकार वेदों में ज्ञान निहित है उसी प्रकार उलटबाँसियों में भी कबीर का ज्ञान संचित हुआ है। उलटा वेद कहकर कबीर ने उनको महत्त्व दिया है। यह शैली कबीर ने ही प्रारम्भ की हो ऐसी बात नहीं है। हमारे आदितम साहित्य में इस शैली का प्रयोग मिल जाता है। इसकी प्राचीनता का संबंध वेदों से बड़ी सरलता से जोड़ सकते हैं। ऐसी उलटी उक्तियों का वेदों में अभाव नहीं है।

'अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत,'[1] **'चत्वारि शृंगात्रयोऽस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'**[2], **अथवा 'इदं वपुर्निर्वचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः'**[3] आदि वाक्यावलियों ने उलटबाँसियों के स्रोत की ओर संकेत किया है।

डा० त्रिगुणायत ने ऋग्वेद में एक और उदाहरण इसी प्रकार का खोजा है—

'क इमं वो नृण्य माचिकेत, वत्सो मातृजनयति सुधाभिः' ।[4]

अर्थात् वन आदि में अन्तर्हित अग्नि को कौन जानता है? पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओं को हव्य द्वारा जन्म देते हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद से भी एक उदाहरण दिया है—

---

१. बिना पैरोंवाली पैरोंवाली से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते—ऋग्वेद २-१-१५२-३

२. इस बैल के चार सींग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ हैं; यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है—ऋग्वेद ३-४-५८-३

३. हे मनुष्यो! यह वपु निर्वचन है क्योंकि इसमें जल स्थिर है और नदियाँ बहती हैं—ऋग्वेद ४-५-४७-५

४. ऋग्वेद (१-१-७-१५) सूत्र ६५

'ईह ब्रवीतु य ईयङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः। शीर्ष्णः क्षीरे दुहते गावो अस्य वव्रिं बसाना उदकं पदापुः।'[1]

उपनिषदों ने इस शैली को और भी आगे बढ़ाया है। उनमें आत्मा के संबंध में ऐसी अनेक उक्तियाँ समाविष्ट हुई हैं जो उलटी प्रतीत होती हैं किन्तु अनुभवगम्य सत्य से पूर्ण हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् एक ऐसी विचित्र शक्ति का परिचय देता है जिससे आश्चर्य होता है। वह (आत्मा) "बिना हाथ-पैरों का होता हुआ भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होता हुआ भी सुनता है।"[2] लगभग इसी भाव को कठोपनिषद् में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

"आसीनो दूरं व्रजति शयानो यातिसर्वतः[3]।"

अर्थात् वह स्थित हुआ भी दूर जाता है और शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। इसी आशय को ईशोपनिषद् ने कुछ भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है—

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः[4]॥"

अर्थात् "वह चलता है और नहीं भी चलता, वह दूर है और निकट भी है और वह सबके भीतर भी है तथा बाहर भी है। वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है।"[5]

उलटी बातें कहने की पद्धति ने 'अद्भुत' के आश्रय से धर्म में ही नहीं आगे चलकर साहित्य में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की। आध्यात्मिक मनीषियों ने

---

१. हे विद्वन्! जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित-रूप को जानता हो, वह बतलावे; उसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं—अथर्व ९-९-५

२. श्वेता० उप० ३-१९

३. कठोप० १-२-२१

४. ईशोपनिषद्, मं० ५

५. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'—ईशोप०, म० ४

विभावनात्मक वर्णनों के सहारे सत्य के अनेक पहलुओं को तो प्रकाशित किया ही, साथ ही उसमें एक सरसता का पुट भी दिया। इसी कारण उपनिषदों की बहुत-सी अध्यात्मोक्तियाँ किसी अंश तक सरसता की अभिव्यंजना भी करती हैं। यों तो ब्राह्मणों में भी बहुत से ऐसे स्थल आये हैं जो वैदिक संहिताओं और उपनिषदों के बीच कड़ी का काम किये बिना नहीं रहते, फिर भी उनका वह महत्त्व नहीं है जो उक्त विभावनात्मक वर्णनों का है।

इन सब वर्णनों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—विभावनात्मक वर्णन और विरोधाभास। ये दोनों वास्तव में एक ही असिलता की दो धाराएँ हैं—

"अपाणिपादो जनवो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः"[1]

इस में 'विभावना' है। यहाँ कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति कही जाती है। 'स्वाभाविकत्व' और 'कारणान्तर' भेद से विभावना भी दो प्रकार की होती है। विभावना का प्रतिरूप विरोधाभास है जो विरोध से भिन्न होता है क्योंकि उसमें विरोधी गुण सहस्थ नहीं होते, केवल विरोध का आभास होता है। वस्तुतः विरोध नहीं होता। विभावना और विरोधाभास, दोनों से वर्ण्य का उत्कर्ष प्रकट होता है। इनके अतिरिक्त असंगति, अधिक, विषम एवं विशेषोक्ति के द्वारा भी वर्ण्य का महत्त्व प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार की परंपरा धार्मिक अभिव्यक्तियों में आगे भी चलती दिखायी पड़ती है किन्तु उसका अभिप्राय बदलने लगता है। तांत्रिकों और वज्रयानी सिद्धों ने उलटी बात कहने की शैली को बहुत बड़ा प्रोत्साहन दिया। इसका विशेष कारण उनकी गोपन प्रवृत्ति थी। वे अपनी साधना-संबंधी बातें लोक में प्रकट करना उचित नहीं समझते थे। तांत्रिकों ने अपनी गोपन-प्रवृत्ति का संकेत इन शब्दों में किया है—

"प्रकाशात् सिद्धि हानिः स्यात् वामाचारगतो प्रिये।
अतो वामपथे देवी गोपयति मातृ जारवत्॥"

—विश्वसारतंत्र

---

१. श्वेता० उप० ३-१९

बौद्ध धर्म में तो उलटबाँसियों के प्रयोग बहुत पहले से मिलते रहे हैं। 'धम्मपद'[1] की ये गाथाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं—

"मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ।।" (क)
"मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच सोत्थिये।
वेय्याघ पञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ।।" (ख)

इनको पढ़-सुनकर किसी को भी आश्चर्य हो सकता है किन्तु इन गाथाओं का अर्थ प्रतीकों में छिपा हुआ है। उसके खुलने पर आश्चर्य का निवारण हो जाता है। बौद्ध-धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों में ऐसे प्रयोगों का और भी विकास हुआ है। चर्यापदों में ऐसे कितने ही प्रयोग मिलते हैं। काण्हपा की एक उक्ति देखिये—

"मारि शासु नणन्द घरे शाली।
माअ माहिआ कान्ह भइल कपाली[2] ।।"

अर्थात् घर में सास, ननद एवं साली को मार कर माँ को मारा और काण्हपा कपाली हो गया।

इसी प्रकार कुक्कुरीपा ने कच्छपी का दोहन करने और मगर द्वारा वृक्ष की इमली के खाये जाने की बात कही है—

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ।
रुखेरतेन्तलि कुम्भीरे खाअ[3] ।।"

---

१. धम्मपद: पकिण्णवग्गो ५-६

(क) "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचरसहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"

(ख) "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"

२. चर्यापद, ११

३. चर्यापद, २

और ढेण्ढेणपा की उक्ति में भी कुछ कम उलटापन नहीं है। यहां बैल ब्याता है और गाय बाँझ रहती है और पिटा (पीठक) तीनों समय दुहा जाता है—

"बलद बिम्राम्रल गविम्रा बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे[1] ॥"

ऐसी उक्तियों के साथ सिद्धों ने गर्वोक्तियाँ या चुनौतियाँ भी जोड़ रखी हैं, जैसे करोड़ों में से कोई विरला योगी ही इस बात को समझ सकता है, अथवा ढेन्ढणपा के इस गीत को कोई-कोई ही समझ पाता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गोपन-प्रवृत्ति के कारण सिद्धों की रचनाओं में एक विचित्र शैली को प्रोत्साहन मिला था जिसको विद्वानों ने 'सन्ध्या' या 'सन्धा' भाषा कहा है। इसका अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न संभाल कर 'संकेत' संभालते हैं जो प्रतीकमात्र होते है। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क में होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कहीं से कहीं पहुँच सकता है संयोग या वक्ता की सहायता ही श्रोता को उसके पास पहुँचा सकती है।

इस प्रकार की प्रतीक-शैली की परंपरा नाथों की वाणियों में भी अवतरित हुई किन्तु उनकी प्रवृत्ति सिद्धों-जैसी नहीं थी। सिद्ध लोग अपनी साधना का रहस्य हर किसी को प्रकट नहीं होने देना चाहते थे, कारण कि उनकी अपनी दुर्बलताएँ थीं। इस गोपन-प्रवृत्ति ने उनकी चमत्कार-प्रवृत्ति को भी प्रेरित किया और वे संकेत-शैली का प्रयोग गोपन-क्षेत्र से बाहर भी करने लगे। इस प्रकार सिद्धों की वाणी में दो प्रकार की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है—गोपन-प्रवृत्ति तथा चमत्कार-प्रवृत्ति। यद्यपि सिद्धों की मूल प्रवृत्ति गोपन की है। नाथों में गोपन-प्रवृत्ति का आग्रह नहीं दीख पड़ता किन्तु दूसरी प्रवृत्ति उनकी वाणी में छिप नहीं सकी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथों की सिद्धि-दुन्दुभि ने लोक को चमत्कृत कर दिया था। शायद ही ऐसी कोई वस्तु थी जो लोक-दृष्टि में बाबा गोरखनाथ की शक्ति से बाहर की रही हो। यह सब पंथ-प्रतिष्ठित चमत्कारिता थी।

---

१. चर्यापद, ३३

गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने अपनी साधना की अनेक बातों को पहेलियों में समझाया है जिनमें उलटी बातें होने से कुतूहल बढ़ाने की चेष्टा स्पष्ट है। एक ऐसा उदाहरण देखिये—

"थंभ विहूणी गगन रचीलै तेल विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पति आया तब द्यौस नहीं तहाँ राती॥"

अर्थात् गोरखनाथ कहते हैं कि यदि मेरे वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाये और उसके अनुसार आचरण किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि गगन में किसी खंभे और तेल-बत्ती के बिना ही ज्ञान का शुभ्रालोक हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गोरखनाथ अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए कई बार उलटबाँसियों का सहारा ले लेते हैं। एक तो उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति स्वतः ही रहस्यमयी हो जाती है, दूसरे उनकी चमत्कार-प्रवृत्ति एवं परंपरा की प्रेरणा भी उलटबाँसियों को जन्म देती है। एक स्थान पर गोरखनाथ की उलटबाँसी देखिये—

"डूंगरि मंछा जलि सुसा, पाणी में दौं लागा।
अरहट बहै तृसालवां, सूलै कांटा भागा[1]॥"

अर्थात् पानी में अग्नि लगी हुई है, मछली पहाड़ पर है और खरगोश जल में है। प्यासों के लिए रहँट बहने लगी है और शूल से निकल कर काँटा नष्ट हो गया है।

एक दूसरे स्थान पर 'गजेन्द्र चींटी की आँख में प्रवेश करता है, बाघिन गाय के मुख में ब्याती है और बाँझ बारह वर्ष की अवस्था में प्रसव करके निकम्मी हो जाती है।'[2]

और भी आश्चर्य की बात देखिये—"नाथ अमृतवाणी बोलता है, कम्बल बरसता है और पानी भीगता है। पड़वे को गाड़कर उसमें खूंटे को बाँधो,

१. देखिये, गोरखबानी (प्रयाग), पृष्ठ ११२, पद २०

२. चींटी केरा नेत्र मैं, गज्येन्द्र समाइला।
गावड़ी के मुष में, बाघला बिवाइला ॥—गो० बा० (प्रयाग), पृष्ठ १२९, पद ३४

दमामा चलता है और ऊँट बजता है। कौए की डाल पर पीपल बैठा है, चूहे के शब्द से बिल्ली भाग रही है। बटोही चलता है, बाट थकती है, डोकरी के ऊपर खाट लेटी है। कुत्ता घुस गया है और चोर भूंक रहे हैं······घड़ा नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। लकड़ी में पड़कर स्वयं चूल्हा जल रहा है और रोटी अपने पकाने वाले को खाती जा रही है। कामिनी जलती है और अंगीठी तापती है।······बहू सास को जन्म देती है और नगर का पानी कुएँ को जाता है और गोरखनाथ 'उलटी चर्चा' का गान करता है।"[1]

इस प्रकार की शैली का एक युग रहा दीख पड़ता है क्योंकि जैन मुनियों ने भी उसको अपनाया है। आवश्यकता और परंपरा, दोनों ने 'उलटी चर्चा' को प्रेरणा दी थी। अपने एक पाहुड़ दोहा में जैन मुनि रामसिंह भी ऐसी ही अटपटी बात कहते हैं—

"उब्बस बसिया जो करइ, बसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासुण पाउण पुण्णु॥"

—पाहुड़ दोहा (करंजा), १९२

अर्थात् जो ऊजड़ को बसाता है और जो बसे हुए को उजाड़ता है, हे योगी! उस व्यक्ति की बलिहारी है; उसको न पाप होता है न पुण्य।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सिद्धों और नाथों की वाणी से कबीर की वाणी का अटूट संबंध रहा है। इन्ह के गोला-बारूद से कबीर ने इन्हीं के गढ़ पर चढ़ाई की है। इसलिए भाषा और शैली तक में इन्हीं का अनुकरण है, इन्हीं की छाप है। यद्यपि सिद्धों की भाषा कबीर की भाषा से बहुत भिन्न है फिर भी भाषा की जो प्रवृत्ति है वह कबीर की भाषा में मिलती है किन्तु गोरखनाथ की भाषा तो कबीर के बहुत निकट की प्रतीत होती है।

---

१. नाथ बोलै अमृतवाणी वरिषैगी कंवली भीजैगा पांणी।
गाडि पडरवा बांधिले षूंटा, चलै दमामा बाजिले ऊंटा॥
× × × ×
नगरी को पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गोरख गावै॥
—गो० बा०, पृष्ठ १४१-४२, पद ४७

कबीर ने अपनी साधना का एक बहुत बड़ा अंश गोरखनाथ की साधना से भी ग्रहण किया है।

इसमें तो कोई सन्देह भी नहीं है कि गोरखनाथ योगी थे। उन की योग-साधना वज्रयानियों की योग-साधना से भिन्न थी। वज्रयानियों ने योग-चर्या को शारीरिक क्रिया-प्रक्रियाओं में आबद्ध कर रखा था, किन्तु नाथ-सम्प्रदाय में एक अध्यात्म तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए हम देखते हैं कि गोरखनाथ की योग-साधना में शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना गया है और शिव नाथ-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने गये हैं। अतएव यह न भुला देना चाहिये कि गोरखनाथ का उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि रहा है चाहे उसमें चमत्कारों की कितनी ही प्रधानता रही हो। "उन्होंने अपने बहुत से आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली या उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों में दिये हैं जोकि सर्व-सामान्य जनता के हेतु बोधगम्य नही हैं और जब तक उस रहस्यात्मक शैली का परिचय प्राप्त न हो तब तक उलटबाँसियों और उन विचित्र रूपकों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता।"[1] इन उलटबाँसियों और रूपकों के अनेक उदाहरण कबीर आदि संतों की बाणी में दृष्टिगोचर होते हैं।

इस विवेचन से कबीर की उलटबाँसियों की परंपरा का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु 'उलटबाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक अंधकार में है और न अभी तक यह पता चल सका है कि इस शब्द का प्रचलन कब से हुआ है। गोरखबानी में 'उलटी चरचा' का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'उलटी' शब्द हमारे बहुत काम का है। हो सकता है कि कहीं इसीके आसपास हमारा विवेच्य शब्द 'उलटबाँसी' छिपा हो। कुछ लोगों ने इसे 'विपर्यय' अथवा 'उलटी' मात्र नाम भी दिया है। इन शब्दों से 'उलटबाँसी' के भीतर छिपा हुआ उद्देश्य तो प्रकाशित हो जाता है, किन्तु इसके उत्तरार्द्ध की छाया हाथ नहीं आती। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' में इस शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इसे एक स्थान पर 'उलटा' एवं 'अंश', इन दो[2] शब्दों

---

१. दुर्गाशंकर मिश्र—भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, पृष्ठ ६१

२. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५१

से मिलकर बना कहा है। यहाँ 'उलटा' शब्द तो सार्थक है, किन्तु 'अंश' से 'बाँसी' कैसे बना होगा, यह बात कुछ अधिक दूर खिंची हुई लगती है।

श्री चतुर्वेदी जी का एक दूसरा अनुमान और है। वेक हते हैं—"उलटबाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बाँस' शब्दों द्वारा निर्मित मान कर भी किया जा सकता है, जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्व भाग अथवा अंग) उलटा या विपरीत ढंग का पाया जाये।"[1]

मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटवाँ-सी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से संबंधित। पहले शब्द 'उलटवाँ' का अर्थ 'उलटी हुई' है और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटवाँ-सी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होनेवाली उक्ति'। उलटबाँसियों में उलटी बातें कही गई हैं, इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद'[2] आदिक प्रयोग इस अर्थ का भी समर्थन करते हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटवास' शब्द से। 'परमपद' या अध्यात्म-लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे संबंधित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हें और उन अनुभूतियों को व्यक्त करनेवाली वाणी लोक-दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्तव में वह उलटी नहीं होती। इस शब्द में 'बा' के ऊपर तो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।

इस व्युत्पत्ति से हमारी दूसरी समस्या नहीं सुलझ पाई। इस शब्द का प्रयोग कब से होने लगा, हमारे सामने यह एक प्रश्न है। इस शब्द को हम कबीर से पहले का नहीं मान सकते। यह शब्द कबीर से पहले का नहीं हो

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५२

२. देखिये, कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४१, पद १६०

सकता क्योंकि पहले का होने पर कबीर की वाणी में कहीं न कहीं इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता। जब इस शब्द का प्रयोग कबीर वाणी में भी नहीं मिलता तो अवश्य ही इसका जन्म कबीर के बाद में हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की वाणी में जिसने इसका अभिप्राय समझा हो। बहुत संभव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योंकि बाद के संतों ने भी इसका प्रयोग नहीं किया।

जो हो इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर की उलटबाँसियाँ सिद्धों की परंपरा की उलटबाँसियाँ नहीं हैं। अधिकांशत: उनमें औपनिषदिक परंपरा की उलटबाँसियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यंजना है और जिनमें कहीं-कहीं प्रेम और दर्शन का भी सुमिलन हुआ। इस शैली का इतिहास तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का परिचय देता है—आनुभूतिक अभिव्यंजना की प्रवृत्ति, चमत्कार-प्रवृत्ति एवं गोपन-प्रवृत्ति।

आनुभूतिक अभिव्यंजना की प्रवृत्ति वेदों से ही चली आ रही है। धीरे-धीरे इसका विकास भी होता रहा है। धर्म की सत्प्रवृत्ति के रूप में धार्मिक प्रभाव के उत्कर्ष में इसका बहुत बड़ा योग रहा है। कबीर-वाणी में इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है :—

"एक अचंभा देखा रे भाई,
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥
पहलै पूत पीछै भई माइ,
चेला कै गुरु लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर ब्याई,
पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ॥
बैलहि डारि गूंनि घरि आई,
कुत्ता कूं लैगई बिलाई ॥
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल,
बहुत भाँति जड़ लागे फूल ॥
कहै कबीर या पद कौं बूझै,
ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै[1] ॥"

१. कबीर ग्रंथावली, पद ११

ये उक्तियाँ कबीर की गहरी अनुभूति का परिचय देती हैं। इनको पढ़ने और समझने से ऐसा नहीं लगता कि कबीर कुछ छिपाना चाहते हैं और न ऐसा ही लगता है कि कबीर को अपने ज्ञान का गर्व है। जहाँ गर्व-सा लगता है वहाँ भी वास्तव में गर्व नहीं है। उनकी गहन अनुभूति जब उद्गीर्ण होती है तब वह किन्हीं भी शब्दों में निकल पड़ती है और उद्गारों की गहनता का प्रभाव भाषा पर ही नहीं श्रोता या पाठक पर भी पड़ता है। निम्नलिखित उदाहरण आनुभूतिक उद्गारों की गहनता और उनके प्रभाव को व्यक्त करता है—

"कैसे नगरि करौं कुटवारी,
चंचल पुरिष बिचषन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ,
बछरा दूहै तीन्यूं सांझ॥
मकड़ी घरि मांषी छछिहारी,
मांस पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया,
मींडक सोवै सांप पहरइया॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै,
कहै कबीर कोई बिरला बूझै[1]॥"

इस पद को पढ़-सुनकर सिद्ध ढेण्ढेणपा की उक्ति[2] का स्मरण आ जाता है। जिस प्रकार वहाँ गर्वोक्ति या चुनौती थी, उसी प्रकार यहाँ भी दीख पड़ती है किन्तु दोनों पदों की अन्तिम पंक्तियों की ध्यानपूर्वक तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चर्यापद में चुनौती की प्रवृत्ति है जबकि कबीर के पद में सत्य की दुरूहता की ओर संकेत किया गया है।

ऐसी बात नहीं है कि कबीर-वाणी में गर्वोक्ति की गंध नहीं आती, अवश्य आती है और वह भी उलटबाँसियों और कूटों में प्रधानता से, किन्तु वे गर्वोक्तियाँ हैं

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ८०
२. देखिये, चर्यापद ११

नहीं क्योंकि वे गर्व से प्रेरित नहीं हैं। वास्तव में वे प्रेरित हैं सत्य से और उनमें उसी की प्रखरता है, उसीका तेज है। उसीके कारण उनमें गर्व की गंध प्रतीत होती है। जिस प्रकार सत्य में अविनय नहीं होता उसी प्रकार भय भी नहीं होता। विनय और अभय, दोनों ही कबीर-वाणी के भूषण हैं। इसी से उनके अभय में अविनय नहीं है और न उनके विनय में भय है। इसका मुख्य प्रमाण हैं उनकी उलटबाँसियाँ जिनमें गोपन-प्रवृत्ति का अभाव है।

सिद्धों की उलटवाँसियों में गोपन की प्रवृत्ति होने से भय और आशंका प्रमाणित हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं थी कि सिद्धों की दुर्बलता दूसरों को ही दुर्बलता प्रतीत होती थी क्योंकि वे उनकी साधना के रहस्य को नहीं समझते थे वरन् सिद्ध भी अपनी साधना की दुर्बलताओं को समझते थे। इसीलिए अपने बहुत से रहस्यों का उद्घाटन नहीं करना चाहते थे और गोपन को भी इसीलिए प्रोत्साहित किया गया था। गोपन की प्रवृत्ति ही तांत्रिकों की उलटबाँसियों के मूल में है। तांत्रिक लोग भी अपनी साधना के प्रत्येक पक्ष को, उसके गुण-दोष को समझते थे। फलतः वे नहीं चाहते थे कि वह सर्वबोधगम्य हों। इसीसे उनके सम्प्रदाय में गोपन-शैली का प्रचलन हुआ।

उलटवाँसियों के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति चमत्कार-प्रवृत्ति रही है जिसका प्राद्म्भिक स्वरूप 'अद्भुत' के संचार के लिए प्रकट हुआ था। उपनिषदों तक में इसी 'अद्भुत' की झाँकी दिखाई देती है। बाद में 'अद्भुत' चमत्कार में परिणत होने लगा। सिद्ध और तांत्रिक ही नहीं, जैन और नाथ तक भी चमत्कार-प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। परिणाम यह हुआ कि भाव या प्रभाव के लिए नहीं वरन् भ्रम में डालने के लिए भी उलटवाँसियों-जैसी रचनाएँ प्रयुक्त होने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि नाथों ने गोपन से कहीं दूर उलटबाँसी को चलाया, जिसमें आध्यात्मिक रहस्य भी निहित था किन्तु उनके कूटो में चमत्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट है। कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार संतों तक की वाणी में हो जाता है और तो और कहीं-कहीं तो कबीर-वाणी तक में इसकी झलक मिल जाती है जिसकी सत्ता कबीर के जैसे सरल और स्पष्ट व्यक्तित्व में एक आश्चर्य की बात है।

कबीर की उलटबाँसियों में कभी-कभी 'बूझै' अथवा 'बूझहु' तथा 'बिचारै' जैसे शब्दों के प्रयोगों से उनके सही मूल्यांकन में बाधा हो सकती है

और उनके संबंध में अनेक मत बनाये जा सकते हैं। मर्म-ज्ञान के अभाव में कोई उनकी भाषा को 'सन्ध्या' या 'संधा' भाषा कह सकता है, कोई उनको कूट संज्ञा दे सकता है और कोई पहेली या मुकरी तक कह सकता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा है कि 'आभिप्रायिक वचनों के समान दीख पड़ने के कारण वे कभी-कभी विविध पहेलियों के रूप धारण कर लेती हैं।'[1] एक उदाहरण देखिये—

"एक सुहागिन जगत पियारी,
सगले जीव जंत की नारी[2]।"

देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ के पीछे कोई चीज़ छिपी हुई है जो प्रसंग या रूढ़ अर्थ से ही प्रकाश में आ सकती है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि कबीर ने पारिभाषिक शब्दों की पैंठ लगा कर अपनी उक्तियों को कूट बना दिया है और इस भ्रम से उन्हें 'दृष्टिकूटों' की परंपरा में रख दिया जाता है—

"गज नव गज दस गज इक्कीस, पुरी आये कतनाई।
साठ सूत नव कंठ बहत्तर पाटु लगो अधिकाई[3]॥"

क्या वास्तव में ये पंक्तियाँ इन पंक्तियों की परंपरा में निभ सकती हैं?

"हरिरिपु अनुज बास कोबा (रा) तल दए सरीर हमारा।
खटपद वटुरथु सुअअरि धनि सोदर सुअ कर धारा[4]॥"

अथवा सूर के इस कूट के साथ रख सकते हैं?

"ऊधो इतनो मोहिं सतावत।
कारी घटा देखि बादर की दामिनि चमकि डरावत।
हेमसुतापति को रिपु व्यापै दधिसुत रथ न चलावत।
अंबू-खंडन-शब्द सुनत ही चित चकृत उठि धावत॥

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५६
२. कबीर ग्रंथावली, (परिशिष्ट), पृष्ठ २८०, पद ८४
३. कबीर ग्रंथावली, (परिशिष्ट), पृष्ठ २८१, पद ५६
४. विद्यापति की पदावली, पद ३८५

कंचनपुर-पति को जो भ्राता ते सब बलहिं न आवत ।।
शंभू-सुत को जो वाहन है कुहकै असल सलावत ।
यद्यपि भूषण अंग बनावत सोइ भुजंग होइ धावत ।।
सूरदास विरहिन अति व्याकुल खगपति चढ़ि किन आवत'[1] ।।"

विद्यापति-पदावली और सूरसागर के अवतरणों को देखकर तथा उन्हें कबीर की उक्त पंक्तियों के साथ तोलने पर भेद समझ में आ सकता है। पदावली और सूरसागर के उद्धरणों में भाव के ऊपर बुद्धि का आसन जमा हुआ है किन्तु कबीर की उक्ति में बुद्धि के तल पर भाव की धारा सी बह रही है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं है कि कबीर की जिन उक्तियों को कूट-परंपरा में रखा जाता है वे वास्तव में उनमें फिट नहीं बैठती। यह ठीक है कि उनके शब्दों में एक पारिभाषिक अर्थ अवश्य निहित है जो 'नव गज, दस गज' आदि से प्रकट होता है किन्तु वह मानसिक व्यायाम कराने के लिए नहीं है, अनुभूति की समीचीन अभिव्यक्ति के लिए है। अभिव्यक्ति की ओर कबीर का ध्यान रहा है, वह अपेक्षित हो गयी है ; बस उसमें कूट का इतना सा लक्षण आ गया है। कबीर की शुद्ध उलटबाँसी का लक्षण इससे भिन्न है। (१) उसके वाच्यार्थ में विरोध निहित रहता है और उसका परिहार संकेतित अर्थ से होता है। (२) साथ ही उससे किसी अलौकिक तथ्य का प्रकाशन होता है। इस निकष पर 'नव गज' आदि को शुद्ध उलटबाँसी भी नहीं कहा जा सकता।

वैसे कबीर के समय में कूटों का भी बहुत प्रचलन था। आठवीं शताब्दी से ही मानसिक व्यायामों को प्रोत्साहन मिलने लग गया था और अभिव्यक्ति सरल शैली को छोड़ कर वक्रता के क्षेत्र में उतर आयी थी। कूटों की मूल प्रेरणा धर्म की गोपन-प्रवृत्ति से आगे साहित्य तक में पहुँच गयी थी। भागवत में कूटों का अभाव नहीं है। सिद्धों की तो पहले ही चर्चा की जा चुकी है। 'चमत्कार' का उल्लेख करते हुए नाथों के संबंध से भी कूट शैली की ओर

---

१. देखिये, सूरसागर, दशमस्कन्ध, अध्याय ४७

संकेत किया जा चुका है। विद्यापति ने ही नहीं, जैन कवियों ने भी कूटों को बहुत प्रोत्साहन दिया। हिन्दी-कवियों ने बाद में तो कूटों या दृष्टकूटों को बुद्धि की परीक्षा का एक माध्यम ही बना लिया जिससे सूर ही नहीं, तुलसी तक अछूते न बच सके। शृंगारी कवियों की वाणी में गोपन की प्रवृत्ति के कारण भी कूटोदय हुआ। कबीर के आस-पास विद्यापति जैसे शृंगारी कवियों की वाणियाँ भी गूंजती थीं और नाथों की वाणियाँ भी। कबीर का लक्ष्य न तो कविता करना था और न चमत्कृत करना। कबीर की वाणी में शृंगार भी उद्वेलित हुआ है किन्तु शृंगार के लिए नहीं, वरन् शान्त के लिए जिसमें कई स्थलों पर अद्भुत का पुट भी लगा हुआ है। अतएव जिन स्थलों पर कबीर-वाणी में कूट-लक्षण मिलते हैं वहाँ भी उनका लक्ष्य 'कूट' नहीं है। कबीर अपनी अनुभूति के लिए अपनी वाणी को दासी बनाने की चेष्टा नहीं करते, वरन् उसके प्रकाशन के निमित्त वह स्वयं दासी बन जाती है। वह 'स्वतंत्र दासी' है इसलिए उस पर कबीर का अंकुश भी नहीं है और न शायद उसपर अंकुश रखने की उन्होंने चेष्टा ही की है। इसी कारण उनकी वाणी को आलोचना के 'सर्वोक्ति', 'रबड़ छन्द' आदि अनेक प्रहार सहने पड़े हैं।

कूटों और पहेलियों के अतिरिक्त कबीर के समय में 'मुकरियाँ' भी प्रचलित थीं। अमीर खुसरो की मुकरियाँ इसका प्रमाण हैं। कबीर ने कुछ बातें मुकरियों के ढंग की भी कही हैं जिनको न तो हम उलटबाँसी कह सकते हैं, न मुकरी ही। एक उदाहरण देखिये—

> "कुअटा एक पंच पनिहारी,
> टूटी लाजु भरै मतिहारी।
> **कहु कबीर इक बुद्धि बिचारी,**
> **नाऊ कुअटा ना पनिहारी[1]॥"**

यह मुकरी तो इसलिए नहीं है कि इसका उद्भव विनोद की भावना से नहीं हुआ। पहेली और मुकरी में प्रतीकोपयोग होते हुए भी वह 'उलटबाँसी' के मर्म को धारण नहीं कर सकती। पहेली और मुकरी में एक बौद्धिक समस्या

---

१. कबीर ग्रंथावली, (परिशिष्ट), पद ११

होती है किन्तु यहाँ एक रहस्य है जो 'एक कुअटा', 'पंच पनिहारी', 'लाज' (रस्सी) आदि प्रतीकों के पीछे निहित है।

अतएव प्रतीकों के प्रयोग के कारण हमें कबीर की उलटबाँसियों को उनकी अन्य सभी प्रकार की कृति से अलग करके देखना होगा। जहाँ साधनात्मक अथवा अध्यात्मविषयक अनुभूति नहीं है अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है वहाँ हमें उलटबाँसी की खोज नहीं करनी चाहिये। जहाँ 'मूसा हस्ती सो लड़ै',[1] 'उलटि मूसै सापणि गिली',[2] अथवा 'चींटी परबत उषरायां ले राख्यो चौड़े'[3] आदि उक्तियाँ हैं वहीं उलटबाँसियाँ भी हैं क्योंकि इनमें साधनात्मक अनुभूति के साथ-साथ ऐसी प्रतीक-पद्धति है जिसमें विरोधाभास है।

रचना की दृष्टि से भी कबीर की उलटबाँसियाँ कई प्रकार की हैं। एक प्रकार की तो वे 'उलटबाँसियाँ' हैं जो पूरी रहस्यमयी हैं। जैसे—

"है कोई जगत गुर ग्यांनीं, 'उलटि बेद बूझै।
पांणीं में अगनि जरै, अंधरे कौं सूझै॥
एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागलि गर फांदियाँ, बटेरैं बाज जीता॥
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां[4]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १६१
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १६१
३. कबीर ग्रन्थावली, पद १६१
४. कबीर ग्रंथावली, पद १६०

इसके विपरीत नीचे के पद को देखिये—

अवधू अगनि जरै कै काठ।

× × ×

जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बांधनहारा बांध्या।
बांध्या मुकता मुकता बांध्या, तिहि पारब्रह्म हरिलांधा।।

× × ×

अंमृत समांनां विष मैं जांनां, बिष मैं अमृत चाख्या।
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समांनां।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटांनां[1] ।।"

'इस पद में 'उलटबाँसियों' की लहरें सी उठती दीख पड़ती हैं। कुछ बात कहकर मानों रहस्यात्मक प्रतीकों द्वारा कबीर खुले रहस्य को पाठक या श्रोता के समक्ष रख देते हैं।

इस प्रकार कबीर की उलटवाँसियाँ रचना के विचार से दो प्रकार की हैं—पूर्णपद उलटबाँसी और अंशपद उलटबाँसी। पूर्ण-पद उलटबाँसी की एक दो पंक्तियों को कबीर दूसरी प्रकार भी प्रयुक्त कर लेते हैं किन्तु ये पंक्तियों की धारा को बाधित नहीं करती। अंशपद उलटबाँसियों में दो शैलियों का मिलन, और कभी-कभी तीन-तीन चार-चार शैलियों का मिलन तक दिखायी देता है।

विषय की दृष्टि से कबीर की उलटबाँसियों के पाँच भेद कर सकते हैं—संसार से संबंधित, आत्मा-परमात्मा से संबंधित, योग से संबंधित, प्रेम-साधना से संबंधित तथा संदेश से संबंधित।

इन विषयों को लेकर कबीर ने जो प्रतीक-मार्ग ग्रहण किया वही सर्वोत्तम था। पीछे भाषा के संबंध में प्रतीक के क्षेत्र और शक्ति की चर्चा की जा चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि यदि कुशलता से काम लिया जाये तो शब्दों का अपव्यय भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रतीक शब्द अनुभूति के

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १७४

चित्र प्रस्तुत करने में भी बड़े सहायक होते हैं। इसीसे कबीर को सूक्ष्म अनुभूतियों के व्यक्त करने में भी सफलता मिली है। यह दूसरी बात है कि वे दुर्बोध हो गयी हैं। दुर्बोधता का कारण भी प्रतीक ही हैं। सामान्य लोक और जीवन से शब्दों को उठाकर कबीर ने उन्हें अव्यक्त भावों की सेवा में नियोजित किया है। उनकी सेवा में कोई दूषण नहीं है किन्तु सेवक-सेव्य के संबंध को समझने की क्षमता तो होनी ही चाहिये। कबीर लोक-जीवन का पूर्ण अनुभव कर चुके थे और यहीं से उन्होंने अपने शब्दों को चुना और उनमें संकेतों के प्राण भरकर अव्यक्त और अलौकिक को लोक-कल्पना के समक्ष प्रस्तुत किया।

वैसे तो कबीर की वाणी का प्रमुख आधार ही प्रतीक हैं किन्तु उलटबाँसियों के तो वे अनन्याश्रय हैं जिनमें अनेक अबंकार झंकृत हुए हैं। यों तो अनेक अलंकार उलटबाँसियों को सुशोभित कर रहे हैं किन्तु जो रत्न बनकर उनको प्रभावित कर रहे हैं वे हैं विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति और अधिक। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब विरोधमूलक अलंकार हैं। उलटबाँसी में किसी न किसी विरोधमूलक अलंकार का होना आवश्यक है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. विभावना—

"बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
× × ×
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पटताला॥
बिनां चोलनैं बिना कंचुकी, बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या, जांनैगा जन कोई[1]॥"

२. असंभव—

"बैल बियाय गाय भई बांझ,
बछरा दूहे तीनों सांझ[2]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १५६
२. कबीर ग्रंथावली, पद ८०

३. असंगति—

"आगमि बेलि अकास फल ।
अणब्यावण का दूध[1] ।।"

४. अधिक—

"जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाय ।
देवल बूड़ा कलस सूं, पंखि तिसाई जाय[2] ।।"

५. विषम—

"आकासे मुखि औंधा कुआं, पाताले पनिहारि[3] ।"

६. विरोध और विशेषोक्ति का संकर—

"ठाढ़ा सिंह चरावै गाई[4] ।"

कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि उलटबाँसियों में अनिवार्य रूप से रूपक-शैली होती है, यह भ्रम है । उलटबाँसी में रूपक हो सकता है । किन्तु वह अनिवार्य नहीं है । उदाहरण के लिए हम नीचे लिखी उलटबाँसी को ले सकते हैं—

"पहले पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लैगई बिलाई[5] ।।"

इसमें रूपक-शैली का कोई आग्रह नहीं दीख पड़ता । यह पहले ही बताया जा चुका है कि उलटबाँसी अनिवार्यतः विरोधमूलक एवं प्रतीक-प्रधान होती है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७-७
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६-४५
४. कबीर ग्रंथावली, पद ११
५. कबीर ग्रंथावली, पद ११

जिस प्रकार यह कहा जाता है कि सूरदास का विषय-क्षेत्र संकुचित है उसी प्रकार कुछ आलोचक कबीर के विषय-क्षेत्र को भी दार्शनिक एवं समाज की आलोचना से संबंधित कहकर संकीर्ण कह देते हैं किन्तु जिस प्रकार सूर के उपमानों से दोष का परिहार हो जाता है उसी प्रकार कबीर के उपमानों से भी हो जाता है। मनोलोक और अध्यात्म-लोक की अनुभूतियों को प्रतीकों में भरकर कबीर ने जो करामात दिखाई है उसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। जायसी और तुलसीदास जैसे दिग्गजों ने भी शब्दान्तर से कबीर की अनेक उक्तियों को दुहराया है।

समाज के संबंध में अपनी गहन अनुभूतियों की अभिव्यंजना कबीर ने अनेक स्थलों पर की है अथवा यह कह देना अनुचित न होगा कि दर्शन और प्रेम की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को कबीर ने सामाजिक पहलू से समझाने की चेष्टा की है। एक उदाहरण देखिये—

"सुरत ढींकुली लेज ल्यौ मनसा ढोलन हार।
कँवल कुआ में प्रेम रस पीवै बारंबार[1] ॥"

इस साखी में ढींकुली यंत्र का चित्र प्रस्तुत करते हुए 'सुरत', 'लय', 'मन', 'कमल कूप' और 'प्रेम रस' का संबंध भी प्रकट कर दिया है। एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति को सामने ला रखा है और दूसरी ओर सामाजिक व्यापार की एक छोटी-सी झाँकी प्रस्तुत की है। ऐसी झाँकियाँ कबीर की उलटबाँसियों में बहुत आई हैं और उनमें अपना रंग और अपना मर्म है।

"कैसे नगरि करौं कुटवारी आदि" पद को देखकर यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि कबीर की उलटबाँसियों का एक-एक प्रतीक अपने मर्म के लिए अनिवार्य है। प्रतीकों के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना संबंधी अनुभूतियों के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। "इस पद में कबीर किसी ऐसे नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हैं जहाँ का पुरुष तो चंचल स्वभाव का है, किन्तु उसकी नारी बुद्धिमती है और

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८-२

जहां की विचित्रता इस बात में देखी जाती है कि वहां पर प्रत्येक दिन सियार सिंह के विरुद्ध लड़ाई छेड़ा करता है, किन्तु स्वभावतः कृतकार्य नहीं हो पाता।" इससे नगर, पुरुष और नारी का रहस्य उद्घाटित हो जाने से हम मानव, मन और मनसा (कामना) तक जा पहुँचते हैं। फिर 'स्याल' को 'जीव' रूप में और 'स्यंघ' को काल रूप में प्रकट होने में देर नहीं लगेगी। इस प्रकार कबीर अपनी उलटबाँसियों में कभी-कभी जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर भी दृक्पात करने लगते हैं। जीवन और जगत् के पारखी और अन्तर के अनुभवी शोधी कबीर ने सामान्यतः अपनी सभी उक्तियों में बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटबाँसियों में उनका जो अटूट सामंजस्य हुआ है वह हिन्दी साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तर-कालीन सन्तों के लिए कबीर ने एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।

उलटबाँसियों की परंपरा आगे भी चलती रही और कबीर की उलट-बाँसियों के अनुकरण में अन्य संतों ने भी रचनाएँ कीं और उन्होंने उनका अपनी-अपनी इच्छा से नामकरण किया। सुन्दरदास[1] ने उनको 'विपर्यय' कहा, शिवदयाल ने उन्हें 'उलटी बात' नाम दिया, और तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीति' कहा। बँगला भाषा में भी ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जो विशेषतः गोरख-पंथ से संबंधित है और उसके पद्यों को 'गोरखधंधे' की संज्ञा मिली। 'उलटा मंत्र' और 'उलटा बाउल' नाम भी बंगाल में ऐसी ही कृतियों के लिए प्रयुक्त हुए। उलटी बात कहने की पद्धति लोक-काव्य और लोक-जीवन तक में अपना घर कर गयी है और 'गधा न कूदा कूदी गौन' जैसी अनेक कहावतें प्रयोग में आ रही हैं।

---

१. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १८१

: १८ :

कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण

आधुनिक प्रगतिवाद से परिचित पाठक कबीर से प्रगतिशीलता का संबंध सुनकर चौंक सकते हैं किन्तु लेखक कबीर को इस प्रगतिवाद से कदापि संबंधित नहीं करना चाहता जिसने मार्क्स आदि से प्रेरणा ली है और जो प्रगति के नाम पर अड़कर बैठ गया है। प्रगति का तात्पर्य प्रेरणा या गति से संबंध रखता है। कबीर के समय में जो स्थिति थी वह किसी प्रेरणा या गति की अपेक्षा रखती थी; अतएव कबीर ने अपने युग को जो प्रेरणा दी उसमें किसी मार्ग पर चलने का संकेत, उपदेश और आग्रह था। इसीसे कबीर की वाणी में प्रगतिशीलता के लक्षण मिलते हैं।

आज के प्रगतिवाद ने जो वेश-भूषा धारण कर रखी है उसको कबीर के समय में देखना व्यर्थ है। कबीर का युग आज के युग से भिन्न था, उसकी अपनी परिस्थितियाँ थीं। फिर भी कबीर की प्रगतिशील वाणी का जो लक्ष्य था वही लक्ष्य आधुनिक प्रगतिवाद के स्वर में भी निहित है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक प्रगतिवाद ने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग या साधन न अपना कर अपने लक्ष्य को भी भुला दिया है और शायद वह साधन को ही लक्ष्य मान कर भ्रान्त हो गया है।

प्रारम्भ में प्रगतिवाद 'प्रगतिशील' शब्द की स्थापना के साथ जिस रूप में अविर्भूत हुआ था उस जैसा ही कुछ रूप कबीर की वाणी में मिल सकता है। आधुनिक प्रगतिवाद कुछ सामाजिक सिद्धान्तों की धारा पर पनप कर पुष्ट हुआ, इसमें तो संदेह करने की कोई बात नहीं है। अपने मौलिक रूप में इसका लक्ष्य स्वस्थ था, जिसमें समाज के विकलांग के उपचार की भावना थी। पतित को उठाना और प्रगति को गति देना इसकी साधना का प्रधान लक्ष्य था। समय

उस साधना और लक्ष्य की माँग कर रहा था। इसी की पूर्ति के लिए कुछ युग-मनीषियों ने, कुछ साहित्य-सेवियों ने उन लोगों के उत्साह में अपना योग दिया जो किसी राजनीतिक सिद्धान्त से प्रेरित हुए थे।

कबीर भी ऐसे ही युग में उत्पन्न हुए थे जो अपनी रूढ़ियों में घुट रहा था और जिसकी स्थापनाओं और मान्यताओं में दंभ और अंधविश्वास का खोखलापन निहित था। कबीर अन्दर और बाहर का सामंजस्य चाहते थे वे नहीं चाहते थे कि लोग करें कुछ और कहें कुछ। इसीलिए उन्हें कहना पड़ा—

"कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, हरि क्यूं साचा होइ[1] ॥"

कोई धर्म झूठ बोलना नहीं सिखलाता है और जो झूठ बोलना सिखलाता है, वह धर्म नहीं है। धर्म का आचरण से कोई संबंध अवश्य है किन्तु जिससे आचरण का समझौता नहीं वह कैसा धर्म! जो प्रार्थना सत्य को झूठ के गर्त में धकेलती है वह कैसी प्रार्थना! इसीलिए कबीर कहते हैं—

"साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज।
यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज[2] ॥"

उस समय जो संघर्ष समाज में चल रहा था उसकी भयंकरता को कबीर भलीभाँति समझ चुके थे और वे उसके कारणों को भी खोज चुके थे। मार्क्स ने तो 'भौतिक अर्थवाद' में सामाजिक संघर्ष के कारणों की खोज की, किन्तु कबीर ने संघर्ष के कारणों में धर्म-विविधता को प्रमुख ठहराया। इसीलिए उन्होंने एक 'प्रगतिमय पंथ' का सुझाव दिया—

"कहै कबीरा दास फकीरा, अपनीं राह चलि भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई[3] ॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-५
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६-५८

कबीर ने उन आचारों की निन्दा की जिनमें धर्म की कोई प्रकृति निहित नहीं है और जहाँ प्रदर्शन को ही धर्म मान लिया गया है—

> "करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
> जांणें बूझै कुछ नहीं, यौंहीं आंधां रूंड[1] ॥"

जिस वर्णाश्रम धर्म ने महात्मा बुद्ध को अहिंसात्मक क्रान्ति की ओर प्रेरित किया था उसी ने कबीर को भी किया, किन्तु कबीर के युग में धर्मांधता के साथ धर्म-विविधता बढ़ कर कराल हो गयी थी। इस्लाम ने भारत में कबीर के समय में जो स्थिति प्राप्त करली थी, बुद्ध के समय किसी विदेशी धर्म ने वैसी स्थिति प्राप्त नहीं की थी। इसलिए यहाँ के प्राचीन धर्मों के लिए उसके साथ समझौता करना एक समस्या थी; फिर भी समझौता अनिवार्य था। इसलिए कबीर को हल प्रस्तुत करते हुए कहना पड़ा—

> "इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा।
> नकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसी गंग दिवाजा ॥
> तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूंठां रांम खुदाई।
> जहां मसीति देहुरा नांहीं, तहां काकी ठकुराई ॥
> हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरू कनराई।
> अरध उरध दसहूं दिस जित तित, पूरि ह्या रांम राई[2] ॥"

विविध धर्मों में धार्मिक कट्टरता जितनी कठोर थी उतनी ही भयंकर भी थी। उस कठोरता और भयंकरता को मिटाने में अवश्य ही तत्कालीन प्रगति निहित थी। उन अंधविश्वासों और रूढ़ियों को मिटाने में भी प्रगति निहित थी जो मानव को मानव से मिलने में बाधा डाल रही थी। जितना भयंकर हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव था उतना ही भयंकर ब्राह्मण और शूद्र का भेद-भाव भी था। यह भेद-भाव समाज को न केवल दुर्बल बना रहा था वरन् गतिहीन भी कर रहा था। इससे न केवल समाज का एक अंग दुर्बल एवं निश्चेष्ट हो रहा

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८-५

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६-५८

था प्रत्युत दूसरा अंग भी स्वाभाविक रूप से दुर्बल हो रहा था। इसके घातक प्रभाव को कबीर की आँखे बड़ी करुणा और क्षोभ से देख रही थीं। उन्होंने न केवल वरंमन्य ब्राह्मण को ही फटकारा बल्कि हेयता की भावना से पीड़ित शूद्र को भी जगाया और कहा—

"एक बूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा।
एक जोति थें सब उतपनां, कौंन बांम्हन कौंन सूदा[1] ॥"

जो लोग वर्ण और आश्रम के बाह्याचार या वेश को महत्त्व देकर उनकी प्रकृति को भूल बैठे थे उनको कबीर ने आड़े हाथों लिया। इसके अतिरिक्त घिसीपिटी मान्यताओं के निवारण के लिए और कोई चारा भी नहीं था। मूंड मुड़ा कर संन्यासी बनने वालों को कबीर ने फटकारा और कहा—

"केसों कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूंडिए, जामैं बिषै बिकार[2] ॥"

इतना ही नहीं, नासमझों को कारण भी बताये और केशों की बात को आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा कि केशों के मुंड़ाने से कोई लाभ नहीं है। केश मुंड़ाने से कोई मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता क्योंकि संन्यास वेश से संबंधित नहीं है, मन से संबंधित है। जब तक मन को नहीं मूंडा जायेगा, उसे वश में नहीं किया जायेगा, तब तक संन्यास सार्थक नहीं हो सकता। यह समस्त दूषण मन में भरे हैं और इन्हीं को दूर करने के लिए संन्यास लिया जाता है, केश मुंड़ाने के लिए नहीं। इसलिए वे केश मुंड़ाने वालों को समझा कर कहते हैं—

"मन मैंवासी मूंडि ले, केसौं मूंडै कांइ।
जे कुछ किया सुं मन किया, केसौं कीया नांहि[3] ॥"

इसी प्रकार बहुत से लोग 'मूर्ति-पूजा' को ही धर्म मान बैठे थे। वे नहीं समझते थे कि उनका श्रम व्यर्थ हो रहा था। जड़ की उपासना में कबीर को

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६-५७
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१२
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१३

मूर्खता के सिवा किसी तत्त्व का दर्शन नहीं हो रहा था। पत्थर-पूजा अज्ञान-प्रेरित आशाओं की वृद्धि करती है जिनकी सफलता की कोई संभावना दिखायी नहीं देती। भला उस पत्थर से किसी सहानुभूति की क्या आशा की जा सकती है, जो जन्म भर पूजने पर भी उत्तर नहीं देता। फिर प्रस्तरपूजक पानी को भी व्यर्थ क्यों खोता है—

"पाहन कूं का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुषी, यौंही खोवै आब[1] ॥"

मत की भ्रांति के निवारण से ही शीलता आती है, शालिग्राम की सेवा से शान्ति नहीं मिलती। इसमें न तो सहानुभूति है और न कोई शक्ति है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

"सेवै सालिगरांम कूं, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनैं नहीं, दिन दिन अधकी लाइ[2] ॥"

इसी समय कबीर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि अंधविश्वासियों ने ईश्वर की सत्ता केवल मंदिर-मस्जिद में ही मान रखी थी। मैं समझता हूँ कि कबीर को यह मानने में कोई अपत्ति न होती कि परमात्मा मंदिर-मस्जिद में भी है किन्तु वे यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं थे कि वह केवल मंदिर-मस्जिद में ही है। इसके अतिरिक्त मंदिर-मस्जिद का भेद-भाव भी दोनों धर्मों के बीच की खाई को पाटने वाला नहीं था। यही विचार कर कबीर ने कहा—

"कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ[3] ॥"

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही परमात्मा की खोज करने लगे तो बाहरी भेद-भाव मिट जायेगा और मन को एकाग्रता और शान्ति प्राप्त होगी। इसी आशय से उन्होंने काजी को संबोधन करते हुए कहा—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४-३
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४-६
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४-११

"पढ़ि ले काजी बंग निवाजा।
एक मसीति दसौं दरवाजा॥
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार जगत गु येही।
उहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां ही रांम इहां रहिमांनां[1]॥"

जो लोग अपने आचरणों को नहीं सँभाल पाते क्या वे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ? यह प्रश्न किसी भी विचारक के सामने आ सकता है। कबीर ने देखा कि लोग एक ओर तो धर्म की दुहाई देते हैं, पूजा का नाम करते हैं और दूसरी ओर मांस-मदिरा का खुल कर प्रयोग करते है। इन आचरणों का मन से संबंध है। जो लोग भक्ष्याभक्ष खाते हैं वे अवश्य ही इन्द्रिय-लोलुप हैं, इच्छाओं के शिकार हैं और मनोभ्रम से पीड़ित हैं। निस्सन्देह वे पापी हैं और धर्म की आड़ में पाप करते हैं। उनको सुना कर वे बोले—

"पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ[2]॥"

ऐसे लोग न केवल दूसरों को भ्रम में डालने का प्रयत्न करते हैं वरन् स्वयं भी भ्रम में पड़े हुए हैं। धर्मसमन्वय का ढोंग करके कुछ ऐसे धर्म भी उस समय प्रकट होने लगे थे जो दूसरों को धोखा देकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए एकत्र होते थे। कबीर ने ऐसे धर्मों की भी ख़बर ली—

"सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरिदासनि की भ्रांति करि, केवल जमपुर जांहि[3]॥"

इच्छाओं के दास, वासनाओं से पीड़ित साधु-नाम-धारियों की वेश-भूषा को देख-देख कर भी कबीर को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने देखा कि उनका वेश तो साधुओं का सा था और आचरण असाधुओं के से। वे खा-पीकर मस्त रहते

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०७-६१
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४३-१३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४३-१४

थे और चैन की वंशी बजाते थे। ऐसे साधुओं की कबीर ने बड़ी भर्त्सना की—

"स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया खूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तो मेल्ही मूंदि[1]॥"

इतना ही नहीं कबीर ने ऐसे लोगों की असाधुता और धूर्तता की भी भर्त्सना की। उन्होंने कहा—

"कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
बांहरि दीसै साध गति, मांहैं महा असाध[2]॥"

वे लोग वेश-भूषा से साधु दीख पड़ते थे किन्तु मन से कुछ और ही थे। वे मीठा बोलते थे किन्तु थे पक्के धूर्त। इसलिए कबीर ने उनके संबंध में सचेत किया और समझाते हुए कहा कि वे उज्जवल वेशधारी एवं मधुरभाषी लोग बड़े पतित एवं कुकर्मी हैं और दूसरों को धोखा देकर कुछ भी अनिष्ट कर सकते हैं। अतएव वे अविश्वसनीय हैं—

"उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान।
धोरै बैठि चपेटसी यूं ले बूड़ै ग्यांन[3]॥"
"जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाइ दिखाइ करि, ऊंडै देसी आंणि[4]॥"

इन सब बातों के अतिरिक्त कबीर की प्रगतिशीलता इस बात में निहित थी कि वे उन लोगों को भी चेतावनी देकर तथा संभाल कर सुमार्ग पर लायें जो धन, धाम और धरा के ऐश्वर्य में मदविह्वल होकर मानव को भूल बैठे थे, जो मानव को तुच्छ एवं हेय समझते थे। इस पथ को प्रशस्त करने में कबीर को यहाँ की वैराग्य परंपरा से बड़ी सहायता मिली, किन्तु उस युग में इस पथ

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१५
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४९-१
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४९-२
४. कबीर ग्रंथावली, पष्ठ ४९-३

को कबीर के पद-चिन्हों ने ही विशेष रूप से प्रशस्त किया। नीचे लिखी साखियों से कबीर के दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है—

"कबीर कहा गरबियौ, ऊंचे देखि अवास।
कालिह परयुं भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामै घास[1]॥"
"कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड।
हैंवर ऊपरि छत्रसिरि, ते भी देबा खड[2]॥"
"यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्योहार कौं, झुठे रंगि न भूलि[3]॥"

इस प्रकार कबीर का वाणी चाहे आधुनिक प्रगतिवाद के कटहरे में ठीक न बैठती हो किन्तु वह प्रगतिशीलता के सम्पूर्ण गुणों से जो उस समय अपेक्षित थे, विभूषित है। यदि आज का तथाकथित प्रगतिवाद कुछ सिद्धान्तों का पिछलग्गू बन कर किसी अखाड़े में उतर आया है तो यह उसकी प्रेरणा का दोष नहीं है, वरन् उसके मोड़ का—उसके रवैये का दोष है जिसको अपना कर उसने अपने मौलिक अर्थ को, अपने लखनऊ-अधिवेशन की घोषणा को भुला दिया है। कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण साम्य के परिवेश में सुशोभित है किन्तु कबीर नये अर्थ में न तो प्रगतिवादी है और न उनके दृष्टिकोण में आधुनिक साम्यवाद का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। आज प्रगतिवाद ने साम्यवाद से जो गठबंधन किया है उसमें वह अपने को खो बैठा है। साम्यवाद स्वतः बुरा नहीं है किन्तु साधन और लक्ष्य का समझौता न होने से उसमें बुराइयों का समावेश होरहा है। इसलिए प्रगतिशील दृष्टिकोण ऐसे साम्यवाद का अवलम्ब लेकर प्रगति की भूमिका पर नहीं ठहर सकता। यही कारण है कि प्रगतिवाद आज फैशन बन कर रूढ़ियों की स्थापना कर रहा है जिसमें समय की पुकार की उपेक्षा है।

प्रगतिवाद का एक गुण यह होना चाहिये कि वह संकीर्णता का परित्याग करके मनुष्य की उदार भावनाओं को प्रोत्साहन दे किन्तु आज के प्रगतिवादी

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१-१०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१-११
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१-१३

साहित्य से ऐसे सैकंड़ों उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनसे उसकी संकीर्णता प्रभावित होती है। यों तो प्रगतिवाद प्रारंभ से ही साहित्य में साहित्यिक लक्ष्य लेकर अवतरित नहीं हुआ था किन्तु जिन सिद्धान्तों के आग्रह से वह साहित्य में उतरा था वे प्रगति के पथ से हट कर एक क्षेत्र विशेष में बंध गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्रगतिशीलता की दुहाई समाज और साहित्य, दोनों क्षेत्रों में देते हुए आये थे उनमें से बहुतों को तो उसके बनते हुए रूप को देख कर निराशा ही हुई। इसीसे उन्होंने तथाकथित प्रगतिवादियों का साथ छोड़ दिया क्योंकि वे प्रगतिवाद के उद्देश्य के समर्थक थे, उसको किसी अखाड़े में ला खड़ा करने के समर्थक नहीं थे। उनका सामाजिक लक्ष्य उदार था और उसके साथ वे साहित्य का उदार समझौता चाहते थे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की प्रगतिशीलता में मूलत: कोई साहित्यिक लक्ष्य निहित नहीं था, किन्तु भाषा के संबंध में अपना मत देकर उन्होंने उसे लोकानुकूल बनाने की जो चेष्टा व्यक्त की है उसमें उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। 'संस्कृत जैसे कूप जल भाषा बहता नीर' कह कर कबीर ने अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिस प्रकार बुद्ध और महावीर ने जन-भाषा को समाहृत किया था उसी प्रकार कबीर ने भी जन-भाषा को सम्मानित किया था। जन-भाषा को आदर देने में कबीर के लक्ष्य की उदारता स्पष्ट है।

यह तो पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्रगतिवाद अपने उदार रूप में समाज के लिए प्रेरणा लाया है। उसने समाज की विकलता के कारणों का निवारण करके साहित्य के द्वारा समाज को आगे बढ़ाने की चेष्टा व्यक्त की है और सामाजिक संघर्ष के कारणों को द्वन्द्वात्मक अर्थवाद में देख कर समस्या के हल की ओर भी दृक्पात किया है। इस लक्ष्य की ओर निस्सन्देह मार्क्स की प्रेरणाओं का महत्त्व नहीं भुलाया जा सकता। लक्ष्य की अच्छाइयाँ जितनी मोहक है उन्हीं के फलस्वरूप प्रगतिवाद ने साहित्य में इतनी प्रगति भी करली अन्यथा साहित्य में कोई भी सिद्धान्त कला की उपेक्षा करके पनप नहीं सकता। तथाकथित प्रगतिवादियों के दुराग्रह से प्रगतिवाद न केवल अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो गया अपितु एक राजनीतिक अखाड़ेबाजी में भी सम्मिलित हो गया है। आज प्रगतिवाद जिस क्षेत्र में आगया है उसमें कबीर के प्रगतिशील

दृष्टिकोण को खींचना व्यर्थ होगा। कबीर किसी सामाजिक अखाड़े के मल्ल नहीं थे। वे एक सन्त थे और वह भी सच्चे अर्थ में।

कबीर ने समाज में विषमता देखकर जो व्याकुलता प्रकट की उसमें करुणा और क्षोभ, दोनों का समावेश है। वे समाज को वर्गों में विभक्त नहीं देखना चाहते थे और रूढ़ियों तथा अन्धमान्यताओं ने तत्कालीन समाज में जो विकलता पैदा करदी थी, वे उसको दूर कर देना चाहते थे। समाज का अंगभंगीकरण दूर होकर वह स्वस्थ बने, इसी के प्रति कबीर की कामना और चेष्टा थी और यही उनकी प्रगतिशीलता थी। कबीर जैसा कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति सामाजिक कुंठाओं में ऊबना पसंद नहीं कर सकता। रूढ़ियों की सड़ाँद में दम घुटने से ऐसा व्यक्ति न केवल स्वयं निकल भागने का उपक्रम करता है वरन् दूसरों को भी निकाल भगाने की चेष्टा करता है। वे ऐसे साधुओं के बीच में अपने को बड़ा घुटा हुआ अनुभव करते थे स्वामित्व तो चाहते थे किन्तु स्वामी (गुरु) के गुण नहीं रखते थे और जो लोभ, काम, वासना आदि से पीड़ित थे। अतएव उनके संबंध में उन्होंने इतना कहा है जितना शायद कोई दूसरा नहीं कह सकता था। देखिये—

> "इही उदर कै कारणें, जग जाँच्यौ निस जाम।
> स्वामी-पणौं जु सिरि चढयो, सरचा न एको काम[1]॥"
> "कलि का स्वांमीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
> दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करतां जाइ[2]॥"
> "कलि का स्वांमीं लोभिया, पीतलि धरी षटाइ।
> राज दुवारां यौं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ[3]॥"
> "स्वांमीं हूणा सीत का, पैकाकार पचास।
> रांम नांम कांठै रह्या, करै सिषां की आस[4]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५-२
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६-७
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६-६
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५-४

इन शब्दों ने उन लोगों के दंभ और पाखंड की कलई खोल दी है जो मन को वश में करने के स्थान पर उसको और ढील देते हैं, आशा और तृष्णा के त्याग के स्थान पर उनको और बढ़ाते हैं और जो पचासियों सेवकों की सेवा से अपनी विलास-भावना को उत्तेजित करते हैं। कहने के लिए तो उनके कंठ में राम-नाम भी रहता है किन्तु उसके स्वस्थ प्रभाव से वे वंचित हैं। उसका प्रभाव तो उन लोगों के अंतर पर होता है जो शुद्ध मन रखते है और जो आशा, तृष्णा आदि से मुक्त हैं। उन्होंने अपने समय का एक चित्र-सा खींच दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने उत्तरकांड में कलियुग के वर्णन में अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कबीर भी कर चुके थे। कबीर के युग में सीधे सच्चे मनुष्यों को कोई पूछता भी नहीं था और आदर होता था ऐसे मनुष्य का जो लोभी, लालची और मसखरा होता था। कबीर अपने युग की इस दुर्बलता को न पचा सके और कडुवी वाणी में बोल उठे—

> "कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
> लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ[1]॥"

इसी प्रकार कबीर को उन लोगों को देख कर भी क्षोभ हुआ जो कमर भर पानी में नहा कर मुक्ति की कामना करते थे। कैसे उपहास की बात है कि लोगों ने मुक्ति को इतना सस्ता समझ लिया था कि पानी में नहा कर और राम रटकर ही उसको उड़ा लेना चाहते थे। कबीर को उनके प्रयत्नों की व्यर्थता पर खीझ पैदा हुई और कहने लगे—

> "तीरथ करि करि जग मुवा, डूंधै पांणीं न्हाइ।
> रांमहि रांम जपंतड़ां, काल घसीटयां जाइ[2]॥"

सच तो यह है कि यथार्थवादी कबीर ने अपने समय की किसी दुर्बलता को अछूता नहीं छोड़ा, किन्तु उन दुर्बलताओं में से अधिकांश धर्म के किसी न किसी पहलू से संबंध अवश्य रखती थीं। हम यह अन्यत्र देख चुके हैं कि वैष्णव

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६-८
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३७-१८

धर्म के प्रति कबीर की बड़ी श्रद्धा थी किन्तु उपेक्षा वे उसकी दुर्बलता की भी नहीं कर सके। वे जानते थे कि वैष्णवों की भक्ति-साधना में कुछ विशेषताएँ हैं किन्तु यदि छापा-तिलक लगा कर ही कोई वैष्णव बन बैठा है और उसमें विवेक नहीं है तो दुखों से मुक्ति नहीं हो सकती। इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए उन्होंने वैष्णवों के भी कान खोल दिये—

> **"बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बिबेक।**
> **छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक[1] ॥"**

दंभ और पाखंड साधारण लोगों में या मूर्खों में ही होता हो, ऐसी बात नहीं है वरन् बड़े बड़े पीर और महन्त लोग भी उनसे मुक्त नहीं हैं। ये लोग यात्रियों से मुख से भी नहीं बोलते, उनका अहंकार इस सीमा पर पहुँच जाता है। कबीर की यथार्थवादी प्रकृति इस तथ्य को भी छिपा नहीं सकती और वे एक हल्के व्यंग्य से कारण की ओर संकेत करते हैं—

> **"हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।**
> **मीरां मुझ में क्या खता, मुखां न बोलै पीर[2] ॥"**

ऐसे ही अनेक उद्धरण कबीर की वाणी से दिये जा सकते हैं जिनसे कबीर की यथार्थवादिता और प्रगतिशीलता का संकेत मिल जाता है। चाहे कबीर के दृष्टिकोण में आज का प्रगतिवाद भले ही न मिले किन्तु आधार-भूत भावनाएँ ऐसी ही थीं।

यहाँ यह नहीं भुलाया जा सकता कि प्रगतिवाद की आधारभूमि यथार्थ में निहित होती है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जो प्रगतिवाद विकसित हुआ उसका मूल बीज यथार्थवाद में दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवाद का संबंध देश-काल की रीति-नीति और उनके संबंध में कवि या लेखक की प्रतिक्रिया से है। यथार्थवादी साहित्यकार समकालीन जीवन की भूमिका का पर्यटक होता है। वह विषमता के कणों का ध्यानपूर्वक संकलन करके और

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८५-६

उनमें अपनी प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का पुट देकर जो अवलेह तैयार करता है, साहित्यालोचक उसी को 'यथार्थवाद' की अभिधा प्रदान करता है। जब यथार्थवादी अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कटुता के धरातल पर करने लगता है तब वह कभी-कभी अति 'उग्र' हो जाता है। इस धरातल पर वह सामाजिक कुत्साओं और विषमताओं की बड़ी कटु आलोचना करता है—इतनी कटु कि वह निन्दा के क्षेत्र से भी दो क़दम आगे बढ़ कर भर्त्सनाओं में प्रवेश कर जाता है।

कोई भी कवि अपने युग की आलोचना में प्रवृत्त हो सकता है और उसमें उसकी प्रतिक्रिया भी समाहित हो सकती है। तुलसीदास के 'कलियुग-वर्णन' में समय की झाँकी और उनकी अपनी प्रतिक्रिया, दोनों का पुट है। वह समय की झाँकी भी अच्छे-बुरे, दोनों पक्षों को लेकर नहीं की गयी, वरन् कवि की दृष्टि दोष-दर्शन पर ही रही है अतएव उस स्थान पर तुलसीदास का दृष्टि-कोण यथार्थवादी है, किन्तु उसमें भी उनका लक्ष्य आदर्श पर निहित अवश्य रहा है जिसका अनुमान पूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकता है, केवल 'कलियुग-वर्णन' से नहीं।

इस दृष्टि से कबीर तो कुछ और भी बढ़े-चढ़े यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश-काल की दुर्बलताओं को समाज में तांडव नृत्य करते देख कर न केवल करुणा व्यक्त की है, वरन् क्षोभ भी व्यक्त किया है और समाज की उन दुर्बलताओं को उन्होंने बड़ी हेय दृष्टि से देखा है। उनकी वे कटु निन्दा और कहीं-कहीं तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहाँ वे निन्दा से भर्त्सना पर उतर आते हैं वही वे अति उग्र हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उस भर्त्सना के पीछे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण भी छिपा हुआ है। फिर भी वे कटु आलोचक हैं, अति उग्र हैं, इस तथ्य से आँखें नहीं मोड़ी जा सकतीं।

यथार्थवादी जब समाज के दुर्बल पक्ष को सामने लाकर रूढ़ि-खंडन और प्रगति की रेखाओं से चित्र प्रस्तुत करता है उनमें किसी पथ का संकेत भी मिल सकता है जिसका लक्ष्य सामाजिक प्रगति होता है। ऐसे ही चित्रों में प्रगति-शील दृष्टिकोण उभरता है। जब लेखक या कवि का दृष्टिकोण किसी आदर्श

की ओर प्रेरित होता है तो वहाँ आदर्शोन्मुख यथार्थ की सीमाएँ निर्मित हो जाती हैं। इन सीमाओं के निर्धारण में किसी मान्यता का योग रहता है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि आदर्श की स्थापना में साहित्य अतीत से प्रेरणा लेता है किन्तु वह नये माँपदण्ड भी प्रस्तुत कर सकता है। प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में जिस आदर्श को प्रतिष्ठित किया है उसको उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास से लिया है किन्तु 'श्रद्धा' में नारी का जो रूप प्रकट हुआ है वह आदर्शवाद और प्रगतिवाद का एक समझौता दीखता है।

कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण में यथार्थवादी कटुता तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं आदर्शवादी प्रस्ताव भी हैं। यह ठीक है कि कबीर किसी ऐसी मान्यता के पक्ष में नहीं हैं जिसके संबंध में कोई दो मत हों। कबीर के आदर्श की रेखाएँ यद्यपि उनकी अपनी बनायी हुई ही अधिक हैं और वे इस दृष्टि से कि 'विविध' को विधिवत् 'एक' करने में उनका अपना प्रयत्न है। उन्होंने अनेक धर्मों में से सार लेकर जो पंथ तैयार किया है वही कबीर-पंथ है और उसी में हमें उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण आदर्श के साथ मिल-बैठा दीख पड़ता है। वे आचरण के संबंध में भी कुछ सीमाएँ नियत करते है जो अवश्य ही आदर्श की सीमाएँ हैं और वे किसी भक्त या सन्त के आचरण की ओर इंगित करती हैं। जयदेव, नामदेव आदि भक्त कबीर के आदर्श हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी वाणी में उन्हीं का प्रकाशन करते हैं।

यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि जहाँ यथार्थवादी की भाँति कबीर ने समाज की दुर्बलताओं का भंडा फोड़ा है वहाँ प्रगतिवादी की भाँति समस्या के नये हल की ओर भी संकेत किया है और वह हल धर्म की परिधियों से अलग नहीं होता। फिर भी कबीर का धर्म किसी भी साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर रहने की सदैव चेष्टा करता है। वह मानवमात्र का धर्म बनाने का अधिकारी है क्योंकि उसमें सार-संग्रह है। उसमें उन मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया गया जिनको 'अतिवाद' के नाम से हेय समझा जाता है। 'अतिवाद' का विसर्जन ही तो कबीर के पंथ को 'मध्य मार्ग' कहलाने की योग्यता प्रदान करता है।

यहाँ भी कबीर का प्रगतिपरक दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी प्रगतिशीलता की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने ईश्वर की जो कल्पना की है वह किसी भी धर्म में सम्मान पाने के योग्य है। यह बात दूसरी है कि आज का प्रगतिवाद; जिसने साम्यवाद की नयी परिमितियों में धर्म की ही उपेक्षा नहीं करदी, अपितु ईश्वरवाद को ही अपदस्थ कर दिया है, उसको स्वीकार न करे।

कबीर ने सब धर्मों को एक धरातल पर लाने के लिए ही नहीं वरन् एक बनाने के लिए जो प्रयत्न किये उन सबका संबंध ईश्वर से है। इसी प्रकार मानवमात्र में एकता लाने के उपक्रम में भी उन्होंने ईश्वर को ही प्रतिष्ठित किया है।

अतएव सामाजिक समता एवं एकता के समग्र प्रयत्नों के परिवेश में ईश्वर की एकता का अनन्य योग है और इस भावतल पर भी कबीर की प्रगतिशीलता आदर्शवाद का पल्ला पकड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य के आचरण का अंतिम माँप-दण्ड समाज नहीं, ईश्वर बन जाता है। उस ईश्वर में कबीर न केवल मनुष्य का पितृत्व देखते हैं अपितु अन्य प्राणियों का पितृत्व भी देखते हैं। अतएव कबीर-वाणी में मानव-व्यवहार एवं आचरण का क्षेत्र मनुष्य समाज ही नहीं अपितु निखिल चेतन विश्व है, यद्यपि कबीर लता, वृक्षादि के प्रति भी कोमल भावनाओं की अभिव्यंजना करते हैं। इस दृष्टि से कबीर की सहानुभूति मानव-समाज से आगे बढ़ कर समग्र प्राणि-लोक को अपना लेती है जबकि आधुनिक तथा कथित प्रगतिवादी मनुष्यमात्र को भी नहीं अपना सकता। आज का प्रगतिवादी सामाजिक अभेद-भाव की केवल घोषणा करता है और वह भी भेद-दृष्टि से किन्तु कबीर व्यापक अभेद की सिद्धि अभेद-दृष्टि से करते हैं। प्रगतिवाद वर्गवाद के उच्छेदन का बीड़ा उठा कर भी वर्गवादी है किन्तु कबीर की प्रगतिशीलता में वर्गवाद के लिए कोई अवकाश नहीं हैं। कबीर की प्रगतिशीलता में मानवतावाद की मूल प्रेरणा है और उनका मानवतावाद ईश्वरवाद पर आधारित है। आज प्रगतिवाद मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहा है। इसका कारण है उसका अनीश्वरवाद की ओर झुकाव। मानवतावाद की प्रतिष्ठा अभेद-दृष्टि के बिना नहीं हो सकती और भेद-दृष्टि उस समय तक नहीं मिट सकती जबतक कि उस पर किसी एकता का आरोप न हो।

आधुनिक विज्ञान स्पुतनिक और राकेट के आविष्कार से किसी भी चमत्कार को रूप दे सकता है किन्तु वह दृश्यलोक के भेद को अभी तक तो नहीं मिटा पाया है और उसकी गतिविधि से ऐसा कोई संकेत भी नहीं मिल रहा कि वह मानव को एक सूत्र में बांध सकेगा। एकता का भाव लाने के लिए जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसका मार्क्सवाद और आधुनिक प्रगतिवाद; दोनों में अभाव है और जबतक वह प्रेरणा नहीं है तब तक कोई 'वाद' प्रगति के लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। भौतिक प्रगति चमत्कार की किसी सीमा तक पहुँच सकती है। किन्तु वह मानववाद की प्रतिष्ठा नहीं कर सकती। क्या विश्वराज्य से मानववाद सुरक्षित हो जायेगा, ऐसी संभावना के लिए कोई आधार नहीं दिखायी पड़ता। मानववाद की पुष्टि और रक्षा एकत्ववाद में ही संभव है और मानववाद के बिना कोई वाद सदर्थ में प्रगतिवाद नहीं कहला सकता। यदि यह भी मान लिया जाये कि एकत्ववाद भावना की सृष्टि है तो भी उसकी अच्छाई को भुलाया नहीं जा सकता।

कबीर का ईश्वरवाद जिस अद्वैतवाद पर टिका हुआ है उसने एकेश्वरवाद को भी आत्मसात् कर लिया है। अतएव कबीर का ईश्वरवाद, भावना के माध्यम से ही सही, मानवमात्र को अपने से संबंधित करके एकत्व की प्रतिष्ठा करता है। वही ईश्वरवाद ज्ञान के क्षेत्र में भी सकल सृष्टि का विलय-केन्द्र बन कर एकता का मूलाधार बन जाता है। यह ईश्वरवाद कोई नई उद्भावना नहीं है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में और सामाजिक संबंध से उसके उपयोग में नवीनता अवश्य है। उपयोग ही नहीं, प्रभाव भी तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिमूलक रहा, यह कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण की बहुत बड़ी विशेषता है।

अन्त में यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि मनुष्य केवल बुद्धि-लोक में जीवित नहीं रह सकता, वह प्रायः भाव-लोक का निवासी है। करुणा, कोप, लोभ, मोह, क्षमा, स्नेह, भय आदि भावों से उसका अटूट संबंध है। कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण का संबंध बुद्धि और भावना, दोनों के समन्वय से है। आज का विज्ञान चाहे लाख प्रयत्न करे वह मनुष्य से उसकी भाव-सम्पत्ति का अपहरण नहीं कर सकता। चाहे वह हीरोशीवां को क्षण भर में ध्वस्त करदे और चाहे चन्द्रलोक का राज्य प्राप्त करले, किन्तु हँसना-रोना उसको नहीं छोड़

सकता। प्रेम के लिए कम समय मिलने पर भी वह प्रेम को भुला नहीं सकता और प्राणों पर बीतने पर वह निर्भय भी नहीं रह सकता। इससे स्पष्ट है कि केवल बुद्धि-पक्ष मनुष्य की पूर्णता को सिद्ध नहीं कर सकता। दोनों ही पक्षों से पूर्ण मानव की सिद्धि होती है। कबीर ने इन दोनों पक्षों को ही अपना कर मानव-जीवन की कल्पना की है। इसमें सन्देह नहीं कि वे ज्ञान-ज्योति को महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वे भाव-स्नेह को भी समुचित गौरव प्रदान करते हैं। वे मनुष्य का कल्याण ज्ञान और प्रेम के वियोग में नहीं, वरन् संयोग मानते हैं। यह मान्यता भले ही प्राचीन ही हो किन्तु समाज के साथ जिस प्रकार उन्होंने इसको संयुक्त किया है उसी में उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता का महत्त्व भरा है।

●

: १९ :

कबीर का रहस्यवाद

'रहस्यवाद' शब्द अंग्रेज़ी के 'मिस्टिसिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी में मिस्ट शब्द का प्रयोग उस धार्मिक अभिप्राय के लिए होता है जो सामान्य पाठक की दृष्टि में नहीं आता। यह अर्थ उन्हीं लोगों को बोधगम्य होता है जिनको आध्यात्मिक अन्तर्ज्योति प्राप्त है। सबसे पहले बँगला ने मिस्टिसिज्म शब्द के अर्थ को अनुवाद-रूप में ग्रहण किया। बहुत दिनों तक वह अर्थ अपने मूल रूप में प्रचलित रहा। बाद में जब हिन्दी ने भी इसे अपनाया तो दो नामों के अन्तर्गत—एक रहस्यवाद और दूसरा छायावाद। हिन्दी में छायावाद को भिन्न अर्थ दे दिया गया जो किसी अंश में 'रोमांटिसिज्म' के अर्थ को धारण करता है। इस प्रकार हिन्दी में ये दो शब्द दो काव्य-धाराओं के लिए प्रचलित हो गये।

आलोचना के क्षेत्र में कुछ दिन तक तो इन दोनों शब्दों की बड़ी छीछा-लेदर हुई। इनके भिन्न-भिन्न अर्थ देने के लिए अनेक दिशाओं में आलोचकों की दिमाग़ी कसरतें हुईं और अनर्थ की सीमा यहाँ तक पहुँची कि अस्पष्ट अर्थवाली कविता ही रहस्यवादी कविता कह डाली गयी। इस संबंध में और कुछ न कह कर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह आलोचना का 'अतिवाद' था। धीरे-धीरे रहस्यवाद की प्रकृति को समझा गया और पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपने-अपने मत देकर विचार-परम्परा को प्रोत्साहित करने के साथ दृढ़ भी किया। रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ सामने आयीं और अपने-अपने ढंग से वे सभी ठीक-सी लगती हैं, फिर भी उनमें पूर्णता का अभाव है और किसी भी परिभाषा में पूर्णता की आशा करना तो संभव है किन्तु पूर्णता की खोज करना व्यर्थ है अन्यथा 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' का कोई अभिप्राय ही नहीं रहता।

रहस्यवाद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर साहित्यालोचकों ने अपने-अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है :—

"ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्य-वाद कहलाता है ।"—रामचन्द्र शुक्ल

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है । जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल संबंध जोड़ना चाहती है, और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता । जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव से ओतप्रोत हो जाती हैं । जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त-तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाती है । एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है । यही दिव्य संयोग है । आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन ।"—डा० रामकुमार वर्मा

"रहस्यवाद ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन है । × × × जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है ।"— डा० गोविन्द त्रिगुणायत

"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है । वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वामत्क सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ संबध रखती है । इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और इसमें 'अहम्' एवं 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है ।"— परशुराम चतुर्वेदी

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है । वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य, दोनों का समन्वय रस में हुआ था

और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित था। रहस्यवाद सच्चा भी हो सकता है और मिथ्या भी।"—'प्रसाद'

इस प्रकार साहित्य-मनीषियों ने रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ दी हैं जो घूमफिर कर एक ही मूल बिन्दु पर पहुँचती हैं। प्रायः सभी ने आत्मानुभूति की एक विशेष स्थिति को रहस्यवाद से संबंधित किया है, किन्तु प्रश्न तो यह है कि 'रहस्यवाद' दर्शन के क्षेत्र की वस्तु है या साहित्य के क्षेत्र की? कुछ आलोचकों ने प्राचीन और आधुनिक नाम से रहस्यवाद के दो नाम करके उनका संबंध क्रमशः दर्शन और साहित्य से जोड़ा है। यह संबंध अयुक्त दीख पड़ता है। रहस्यवादी काव्य-धारा के रूप और उसकी प्रकृति को देख कर प्राचीन और आधुनिक नाम से भेद दिखलाने में तो कोई बुराई नहीं दीख पड़ती, किन्तु रहस्यवाद को दार्शनिक और साहित्यिक, दो नामों से भिन्न-भिन्न बलताना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि दर्शन का एक विशेष रूप अनुभूति में उतर कर तथा विशेष अभिव्यक्ति पाकर ही तो वह 'रहस्यवाद' की अभिधा धारण करता है। इससे उसका संबंध एक ओर तो चिन्तन की विशेष धारा से है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति की धारा या परम्परा से है जिसका संबंध साहित्य से अवश्य बनता है। जिसको बहुत से लोगों ने साहित्यिक रहस्यवाद कहा है उसके पीछे भी कोई दर्शन अवश्य है, इसलिए रहस्यवाद को दर्शन से मुक्त नहीं कर सकते, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि जल में विलीन नमक को उससे पृथक् नहीं कर सकते। फिर भी जलगत् नमक वही है जो मिलने से पूर्व अपनी सत्ता जल से पृथक् रखता था। इसी प्रकार विशेष अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति में आने से पूर्व दर्शन अपनी पृथकता रखता है और जैसे ही उसे वह अभिव्यक्ति प्राप्त हो जाती है वह रहस्यवाद से उसी प्रकार भिन्न नहीं रह सकता जैसे अभिव्यक्ति विशेष उससे अलग अपना रूप नहीं संवार सकती। जैसे जल के बिना नमक सूखा रहता है उसी प्रकार साहित्य के बिना दर्शन भी सूखा रहता है किन्तु जब दार्शनिक सत्य अनुभूति में उतर कर साहित्यिक सरसता प्राप्त कर लेता है तो वह रसमय हो जाता है और उसका आनन्द परिवृद्ध हो जाता हैं। यह ठीक है कि दर्शन की परिणति ब्रह्मानंद में होती है किन्तु साहित्य की परिणति भी तो रसमें होती है जो ब्रह्मानन्द सहोदर होता है। सहोदर शब्द साहित्यानन्द और दर्शनानन्द के भेद को स्पष्ट कर देता है किन्तु उससे दोनों की समन्वयशीलता भी प्रकट होती

है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने दर्शन और साहित्य का समन्वय रस में देखा था।

जिसको ऊपर 'रहस्यवाद' कहा गया है वह रहस्य और वाद से अपने संबंध के स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। अनुभवियों की जानकारी है कि जिस प्रकार इस सृष्टि के अन्तर में अनेक रहस्य निहित हैं उसी प्रकार इस मानव अन्तर में भी। जिन तथ्यों के संबंध में मनुष्य का ज्ञान नहीं है वे सब उसके रहस्य हैं। कभी-कभी ऐसी बातें, जिनकी हम आशा नहीं करते, किसी विशेष युक्ति से अथवा सहसा प्रकाश में आकर हमें विस्मित कर देती हैं और हमें रहस्योद्घाटन के रूप में उपलब्ध होती हैं। जिस साधना का संबंध इन रहस्यों से होता है, वह रहस्य-साधना कहलाती है। जब तथ्यों का उद्घाटन भौतिक रूप में होता है तब वे विज्ञान से संबंधित कहे जाते हैं और जिस चिन्तन-परंपरा से जड़ और चेतन तत्त्व की एकता की गवेषणा की जाती है वह दर्शन कहलाती है किन्तु ऐसे भी तथ्य हैं जिनका संबंध साधना या भावना से होता है।

विज्ञान अपने प्रयोगों से जिस परिणाम पर पहुँचता है उसीमें भौतिक तथ्यों का उद्घाटन निहित है। उसकी सिद्धि उसे क्षणिक भौतिक सुख प्रदान करती है और कभी-कभी वह भ्रष्ट योगी की भाँति अपनी साधना का कवच भी बन जाता है। दर्शन दृश्य से परे अदृश्य की भी मीमांसा करता है। जिस प्रकार भौतिक तथ्यों की शोध की प्रक्रिया में अनेकता एकता के परिवेश में आती जा रही है उसी प्रकार चिन्तन भी अनेकता को एकता के रूप में देखने की चेष्टा करता रहा है। इसी चेष्टा के परिणामस्वरूप चिन्तकों को जो सिद्धि प्राप्त हुई है उसको अद्वैतसिद्धि कहा गया है और दर्शन को अद्वैतदर्शन नाम दिया गया है।

दार्शनिक व्यक्त और अव्यक्त, अनेक और एक के संबंध को देखकर एकता की सिद्धि प्राप्त करके आनन्द विभोर हो जाता है। आनन्द की इस प्रक्रिया का यथातथ्य निरूपण भारत की पारिभाषिक शब्दावली में 'अद्वैत दर्शन' कहलाता है किन्तु जब अद्वैत दृष्टि भावना या साधना के पथ से अनुभूति पर खुलती है तब वह रहस्य-साधना कहलाती है। काव्य जब इस अनुभूति को प्रकट करने की

चेष्टा करता है तो उसे एक विशेष शैली भी अपनानी पड़ती है। जबतक पाठक या श्रोता उस प्रकार की अनुभूति और शैली से परिचित नहीं होता तबतक उसके समक्ष प्रस्तुत अभिव्यक्ति एक रहस्य का रूप धारण किये रहती है। साहित्य या काव्य की यह धारा या शैली विशेष रहस्यवाद कहलाती है। अतएव संक्षेप में यह कह सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा (जिसमें समग्र सृष्टि समाहित है) की अभेदानुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति विशेष होने पर भी जबतक वह एक विशेष रूप में काव्य में नहीं उतरती तबतक उसे रहस्यवाद की संज्ञा नही मिल सकती। यह कहना कुछ विशेष समीचीन नहीं दीख पड़ता कि "जो ज्ञान के क्षेत्र में 'अद्वैतवाद' कहलाता है वही भावना के क्षेत्र में 'रहस्यवाद' कहलाता है क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का संबंध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमें शब्द का अपना अर्थ और अपना संकेत होता है।

अतएव रहस्यवाद ज्ञान और भक्ति दोनों से भिन्न है। ज्ञान और भक्ति का संबंध अभिव्यक्ति की पद्धति से नहीं है। कोई भी विचार या भाव साहित्य में समावेश प्राप्त कर सकता है किन्तु एक विशेष शैली में अवतरित होकर उसको विशेषता मिल जाती है। आध्यात्मिक एवं अलौकिक अनुभूति लौकिक शब्दावली में उसी प्रकार व्यक्त नहीं हो सकती जिस प्रकार कोई लौकिक अनुभूति क्योंकि लौकिक अनुभूति को व्यक्त करने में लौकिक शब्द समर्थ होते हैं और अलौकिक अनुभूति को प्रकट करने में वाणी को अपनी विवशता स्वीकार करनी होती है। फिर भी प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेकर वह अपना काम चलाती है और एक प्रकार से अनुभूति का भार ढोती है जो अभिव्यक्ति से स्पष्ट होता है। विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्य-वाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिक वाद न होकर वस्तुत साहित्यिक 'वाद' है जिसका लक्षण है प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति। अतएव रहस्यवाद की सृष्टि के संबंध में ये शब्द ठीक ही दीख पड़ते हैं कि "जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजा कर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"[1]

---

१. डा० गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ २३६

इससे स्पष्ट है कि रहस्यवाद का संबंध वैयक्तिक अनुभूति एवं प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति-शैली से है। इसलिए वह ज्ञान और भक्ति से भिन्न दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक अनुभूति तो भक्ति में भी हो सकती है किन्तु विशेष अभिव्यक्ति के कलेवर में अनुभूति से प्राणवान् होता है। वह अनुभूति और वह शैली! यही तो रहस्यवाद की साहित्यिक पहिचान है।

भावना और साधना के दो क्षेत्रों में आकर अनुभूति भी द्विधा हो जाती है और दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होने वाली अनुभूति रहस्यवाद के दो रूप प्रस्तुत करती है—एक भावात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। अद्वैत तत्त्व की अनुभूति जब प्रेम के क्षेत्र में होती है तो उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना में भावात्मक रहस्यवाद अपने रूप को संवारता है और जब साहित्यक अनुभूति विशेष साधना के क्षेत्र में होकर काव्य में अभिव्यक्त होती है तब भी उसकी शैली में विशेषता आ जाती है और उस दशा में साधनात्मक रहस्यवाद प्रस्तुत होता है। रहस्यवाद के इन दोनों रूपों में दो प्रकार की पद्धतियां दिखाई पड़ती हैं—प्रेममार्गी सूफ़ियों की एवं सिद्ध-नाथों की।

यह तो पहले कहा जा चुका है कि रहस्यवाद की भूमिका में अद्वैतवाद निहित है और उसके भी दो पक्ष हैं—"आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता। दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। यद्यपि साधना के क्षेत्र में सूफियों और पुराने ईसाई भक्तों, दोनों की दृष्टि प्रथम पक्ष पर ही दिखाई देती है पर भावक्षेत्र में जा कर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उसकी छवि का अनुभव करते आये हैं।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी की योरुपीय कविता के क्षेत्र में भी 'सर्ववाद' का पुनरुत्थान हुआ जिसमें ब्रह्म और जगत् की एकता का भी आभास मिलता है। शैली और यीट्स की वाणियों में इस प्रकार के सर्ववाद की झलक देखी जा सकती है। रवीन्द्र बाबू के काव्य में भी वह स्वर सुनाई पड़ता है। पश्चिमी

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी का रहस्यवाद, त्रिवेणी, पृष्ठ ५९

आलोचकों की मान्यता है कि 'वहां के काव्यगत सर्ववाद का सम्बन्ध लोक-सत्तात्मक भावों के साथ है।' पश्चिम के कुछ लोगों का यह मत भी है कि "रहस्यवाद न अनुभव है, न प्रवचन, न मन की कोई क्रिया और न कोई कर्मकांड। हमारी कोई भी इन्द्रिय, कोई भी शक्ति इस रहस्यवाद की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकती। जब मन एकान्ततः निवृंत्ति हो जाता है तो उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। उस समय उसको जो अनुभूति होती है वह उन अनुभूतियों से भिन्न होती है जो सामान्यतः मनोगम्य हैं।"[१] प्लाटिनस की मान्यता भी कुछ इसी प्रकार की है। उसका कहना है कि "अपने भीतर रहस्यवादी को एक दिव्य पूर्णता की अनुभूति होती है जिसमें वह आनन्द-मग्न हो जाता है। उस अवस्था में आनन्द के सिवा अन्य सभी लौकिक अनुभूतियों का लोप हो जाता है। वह अवस्था उसके लिए अनिर्वचनीय होती है और जब तक उसमें वह रहता है उसके संबंध में वह कुछ कह नहीं सकता। जब वह अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त होता है तब भी वह अपनी दिव्य अनुभूति को लोक-भाषा में व्यक्त नहीं कर पाता और जो कुछ वह कहता है उसकी अंशाभिव्यक्ति मात्र होती है और सामान्य बोध-शक्ति उसको ग्रहण करने में अपने आपको असमर्थ पाती है।"

रहस्यवाद के संबंध में योरुप और भारत के दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से जो कुछ कहा है, उसमें बहुत भिन्नता नहीं है और इसमें भी कोई मत-भेद नहीं है कि पश्चिम और पूर्व के रहस्यवादियों की भाषा जो हो सो हो, उनकी उक्तियों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसका कारण है एक ही विश्व-सत्ता की प्रेममय अनुभूति की अभिव्यक्ति, परन्तु इसको तो पश्चिम के विद्वान् भी मानने लगे हैं कि रहस्यवाद का जन्म भारत में ही हुआ था। अतएव बॉगन का यह निष्कर्ष न तो अनुचित है और न अविचारपूर्ण है कि "विश्व को रहस्यवाद की सबसे पहली झाँकी भारत ने दी।"[२] 'डा० राधाकृष्णन का कहना है कि वेद रहस्यवादी कविता के अनेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, फिर भी रहस्यवादी सिद्धान्तों की परम्परा का प्रारम्भ उपनिषदों से माना

---

१. Dion opp. Vol. 1., p. 722.

२. देखिये, 'मिस्टसिज़्म इन दी उपनिषदस', पृष्ठ ६

जाता है। अनेक लब्धख्याति विद्वान् रहस्यवाद के जन्म का सम्बन्ध कृष्ण के उदय से जोड़ते हैं क्योंकि भक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन सबसे पहले भगवद्-गीता में ही मिलता है किन्तु यह अनुमान प्रमाणिक नहीं माना जाता क्योंकि गीता का समय निश्चित रूप से उपनिषदों से बाद का है। सच तो यह दीख पड़ता है कि भक्ति मार्ग कृष्ण से पूर्व भी मान्यता प्राप्त कर चुका था क्योंकि छान्दोग्य[1] उपनिषद् के अनुसार स्वयं कृष्ण ने रहस्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए ऋषि आंगिरस की सहायता ली थी। फिर भी यह मानना ठीक है कि कृष्ण के ग्रन्थों में भक्ति-मार्ग को बड़ी प्रेरणा मिली। गीता को उपनिषदों का सार बतलाया जाता है; अतएव उसके मूल में उपनिषद् निहित हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की तीन धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) औपनिषदिक रहस्यवाद, (२) मध्यकालीन रहस्यवाद और (३) आधुनिक रहस्यवाद। इन तीनों धाराओं में थोड़ा-थोड़ा भेद अवश्य दिखायी पड़ता है। "उपनिषदों का रहस्यवाद उन मनुष्यों का रहस्यवाद था जो आश्रमों में रहते थे किन्तु मध्यकालीन रहस्यवाद वह रहस्यवाद था जिसने अपने को मानवता के उत्थान में व्यावहारिक रूप से लगाया। यह अन्तर सर्वांशतः ठीक नहीं दीख पड़ता है।"[2] यहाँ यह और कहा जा सकता है कि मध्यकालीन रहस्यवाद में भी गंभीरता का अभाव नहीं मिलता। फिर भी मध्यकालीन रहस्यवाद के दो रूप खपते हैं—सूफी-रहस्यवाद तथा सन्त-रहस्यवाद। मध्यकालीन सूफियों की चेष्टाएँ प्रायः आत्मा को परमात्मा में विलीन करने की ओर रहीं जबकि सन्तों ने जिस प्रकार समुद्र में बूंद को समाते देखा उसी प्रकार बूंद में समुद्र को समाते हुए भी देखा।[3]

आधुनिक आलोचकों में से बहुत से रहस्यवाद का मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना को मानते हैं और कहते हैं कि वह भारत से बाहर की वस्तु है। प्रसाद ने अपने 'रहस्यवाद' नामक निबंध में यह स्पष्ट कर दिया है कि सूफियों का अनलहक़वाद सेमेटिक धर्म-भावना के अनुकूल नहीं है। वे कहते हैं—"रहस्य-

---

१. देखिये, छान्दोग्य उपनिषद् ३-१७-६

२. देखिये, 'मिस्टिसिज्म इन दी महाराष्ट्र'

३. देखिये, कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७-३-४

वाद (अनलहक़वाद) सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध है एवं ईसा, मंसूर और सरमद आर्य-अद्वैत-भावना से प्रभावित थे।" उपनिषदों के ऋषियों से आरंभ होकर सिद्धों और सन्तों तक आनन्द-रस की साधना की एक धारा चलती रही। सगुण भक्त सूर और तुलसी भी इस धारा के प्रभाव से अछूते न रह सके, किन्तु इनमें आनन्द मिश्रित रूप में ही प्रकट हुआ। संतों ने राम की बहुरिया बनकर तथा चंडीदास एवं विद्यापति आदि ने भागवत से संकेत लेकर तथा महारास (आत्मा-परमात्मा का मिलन) की वीथी के लिए विरह-वेदना प्रशस्त करके जो गीत गाये उनमें शुद्ध आनन्दवाद का स्वर क्षीण हो गया। फिर भी तुकनगिरि एवं रसालगिरि आदि की रहस्यवादी लावनियों में सिद्ध परंपरा वाली अद्वैतानंद की धारा बहती रही।

जैसाकि अन्यत्र कहा जा चुका है भारत में दो प्रकार का रहस्यनाद चलता रहा—एक तो भावात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। भारतीय योगमार्ग किसी भी विकास-क्रम में जटिल अभ्यासों और अलौकिक सिद्धियों को अपनाये रहने से साधनात्मक रहस्यवाद को ही प्रेरित करता रहा है। तांत्रिक और रासायनिक प्रक्रियाओं तथा सिद्धियों की अभिव्यक्ति भी साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत ही रही है। स्थूल और सूक्ष्म के भेद से भावात्मक रहस्यवाद को भी दो प्रमुख श्रेणियों में रख सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल भूत-प्रेत की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना, तथा परमपिता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना को स्थूल रहस्यवाद के अन्तर्गत रखते हैं और अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलनेवाली भावना से वे सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती मानते हैं। 'रहस्य-भावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिए कोई नया तथ्य या सिद्धान्त नहीं उपस्थित कर सकती। किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता। जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा उसी कोटि की उससे उद्भूत रहस्य-भावना होगी।''[1]

पीछे यह भी कहा जा चुका है रहस्यवाद भक्ति से भिन्न है। भक्ति से हमारा तात्पर्य है वैष्णवों की सगुणोपासना से। समष्टिरूप में उक्त सगुणो-

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ २०९

पासना रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं कही जा सकती, किन्तु श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण-भक्ति को जो रूप मिला उसमें कृष्ण प्रेममूर्ति बन गये और भक्त लोगों ने उनको जगत् के संबंध से देखने के बजाय, अपने ही संबंध से देखना प्रारंभ कर दिया। उनका प्रेम एकान्त भाव और रूप-माधुर्य पर आश्रित हो गया और भगवान् की भावना प्रियतम के रूप में की जाने लगी। वैष्णव भक्ति-मार्ग में इसको 'माधुर्य भाव' कहते हैं। भारतीय भक्ति सामान्यतः 'परम-प्रेमरूपा' होने से 'माधुर्य भाव' का प्रचार यहाँ अधिक न हो पाया। मध्यकाल में सूफियों की देखा-देखी कुछ कृष्ण-भक्त इस भाव की ओर प्रवृत्त हुए जिनमें मीराँबाई प्रमुख हैं। बाद में तो चैतन्य महाप्रभु, नागरीदास, नज़ीर आदि अनेक कृष्ण भक्तों ने प्रियतम कृष्ण की रूप-माधुरी का छक कर पान किया और रहस्यवादी काव्यधारा को आगे बढ़ाया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी रहस्यवादी धारा बहती जारही है। वह अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना के लिए प्रशस्त है। वर्तमान हिन्दी का अद्वैत रहस्यवाद अपने स्वाभाविक विकास का सूचक है। उसमें "अपरोक्ष, अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से संबंध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।"[1]

पीछे हम प्राचीन और आधुनिक नाम से रहस्यवाद के दो भेदों की ओर संकेत कर चुके हैं। प्राचीन के अन्तर्गत हम औपनिषदिक रहस्यवाद तथा मध्यकालीन रहस्यवाद का समावेश कर सकते हैं। वास्तव में औपनिषदिक रहस्यवाद एक दर्शन के भीतर ही अंकुरित मिलता है परन्तु रहस्यवाद के रागात्मक रूप के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। वेदान्त-संबंधी अनेक दार्शनिक धाराएँ आत्म की लौकिक और पारलौकिक सत्ता के विषय में जो मत प्रस्तुत करती हैं उनका संबंध मस्तिष्क से ही अधिक है, हृदय से नहीं। योग का लक्ष्य इन्द्रियों और मन के वशीकरण द्वारा शुद्ध चेतन के साथ एकाकार होना है,

---

१. प्रसाद—'रहस्यवाद'

अतएव योग से संबंधित रहस्यवाद में भी वह प्रेम नहीं मिलता जो सूफीमत के रहस्यवाद में है। उसमें 'प्रेमजनित आत्मानुभूति और चिरन्तर प्रियतम का विरह समाविष्ट है; परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के समकक्ष रखा जा सकता है।" हाँ, कबीर आदि कुछ सन्तों की प्रेमाभिव्यंजना में योग-क्रियाओं से मुक्त रहने की चेष्टा अवश्य व्यक्त होती है; फिर भी उनके रहस्यवाद ने योग से एकदम संबंध नहीं तोड़ा। कबीर के प्रणय-निवेदन में वैष्णव-भक्ति के अधिकांश तत्त्व निहित हैं। किन्तु 'आज के गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बांध कर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को आलंबन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"[1]

उपनिषदों ने 'माधुर्यभाव' की व्यंजना के लिए कोई क़दम नहीं उठाया था। हाँ, उपमानों में कुछ संकेत अवश्य दिये थे। किन्तु मध्यकालीन रहस्यवाद ने माधुर्यभाव को जिस रूप में अपनाया वह सूक्ष्म भावात्मक रहस्यवाद की परंपरा में एक अनूठा योग है, चाहे वह सूफीमत से आया हो और चाहे कृष्ण-भक्ति की विकास-परंपरा में ही उसका कोई क्रम रहा हो। मध्यकालीन रहस्यवाद ने अपने स्थूल एवं साधनात्मक रूप में माधुर्यभाव की उपेक्षा भी कर दी थी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हृदय के अनेक रागात्मक संबंधों में माधुर्य-भाव-मूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों में सजीवता भर सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति संभव है जो इष्ट नहीं, इष्ट का अनुग्रह-दान कहा जा-सकता है। माधुर्यभाव-मूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित

१. देखिये, महादेवी वर्मा—सांध्यगीत, भूमिका भाग

है और यह तादात्म्य उपासक-उपास्य का नहीं। इसीसे तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान संभव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।"[1]

आधुनिक रहस्यवादी काव्य में अखंड और व्यापक चेतन के प्रति कवि के आत्मसमर्पण की भावना तो व्यक्त होती है, किन्तु इस अभिव्यक्ति के पीछे अनुभूति का कितना बल है, आधुनिक रहस्यवाद की यह एक समस्या है। यह ठीक है कि आधुनिक रहस्यवादी ने भी अपने अन्तर्जगत में एक व्यापक, अखंड एवं संवेदनात्मक धरातल खोज रखा है जिस पर सारी विविधताएँ मिलकर एक हो जाती हैं और यह भी ठीक है कि आधुनिक रहस्यवाद में आत्मसमर्पण की भावना भी दिखायी देती है जो एक ओर सूक्ष्म व्यापकता से सबंध रखता है और दूसरी ओर सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता से। आधुनिक रहस्यवाद में जो आत्मसमर्पण दृष्टिगोचर होता है वह बुद्धिपरक सूक्ष्म व्यापकता तथा हृदयपरक सौन्दर्य-विविधता के सामंजस्य का दावा करता है और महादेवी की उक्ति में इस दावे को इस प्रकार देख सकते हैं—"रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है।"[2]

कुछ आलोचकों ने यह ठीक ही कहा है कि प्राचीन और आधुनिक रहस्यवाद की कविताओं में बहुत अन्तर है। प्राचीन रहस्यवाद से मेरा अभिप्राय यहां कबीर आदि के रहस्यवाद से है जिसमें एक धार्मिक पृष्ठभूमि—उसके मूल में धार्मिक अनुभूति एवं साधना थी। आधुनिक रहस्यवाद में वह नहीं है। प्राचीन रहस्यवादी मूलतः साधक था और उसके लिए काव्य का मूल्य बस इतना ही था कि वह अपनी अनुभूति को उसके द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता था। उसके अपने प्रतीक और संकेत थे किन्तु वे किसी-न-किसी प्रकार लोक-परिचित थे। फलतः उसकी उक्तियां लोक-बोध की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करती थीं। आध्यात्मिक गहराई तक न पहुँचने पर भी सामान्य पाठक उसके सामान्य अर्थ को तो समझ ही लेता था, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद पाठक की बुद्धि की कठिन परीक्षा लेता है।

---

१. महादेवी वर्मा—दीपशिखा, भूमिका भाग

२. महादेवी वर्मा—दीपशिखा, भूमिका भाग

आधुनिक रहस्यवादी काव्य की मुख्य आधार-शिला कल्पना है। जहाँ प्राचीन रहस्यवादी धर्म की प्रेरणा से प्रेम-मग्न होता था वहाँ आधुनिक रहस्यवादी कल्पना के पर लगाकर प्रेम की भूमि पर उड़ता है। आधुनिक रहस्यवादी काव्य के पीछे धार्मिक अनुभूति का बल नहीं है और जहाँ थोड़ा बहुत बल है भी, वहाँ अनुभूति में गहराई नहीं हैं। साधनात्मक अनुभूति के अभाव में आज की रहस्यवादी कविता शैली-मात्र कही जा सकती है। उसके नये प्रतीकों में नयी उद्‌भावनाएँ हैं जिनसे पाठक का परिचय बहुत कम या बिल्कुल नहीं है। इसी कारण आधुनिक रहस्यवादी काव्य को पाठक नहीं मिल पाये।

आधुनिक रहस्यवादी कविताओं ने शैली-भेद भी प्रकट किया है और उसका कारण है कवियों की प्रवृत्ति की भिन्नता तथा शैली के प्रति उनका विशेष आग्रह जो प्राचीन कवियों में नहीं मिलता। इसीलिए प्राचीन कवियों की शैली में भेद नहीं दिखायी देता। प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी-अपनी परिभाषाएँ और अपने-अपने प्रतीक होते हुए भी उनके मूल दृष्टिकोण में कोई भेद नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय के साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति प्रधान-रूप से प्रतिष्ठित है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि प्राचीन रहस्यवादी कविता में अध्यात्म-दृष्टि की प्रधानता और आधुनिक रहस्यवादी कविता में कवित्व की प्रधानता है।

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी आधुनिक रहस्यवाद के गढ़पति हैं, किन्तु सन्त या भक्त नहीं हैं। इनसे आधुनिक साहित्य को एक नयी प्रवृत्ति और नयी शैला अवश्य मिली है, किन्तु इनकी वाणी में वह साधना-शक्ति या वह प्रणय-व्यग्रता नहीं है जो सन्तों या भक्तों की वाणी में थी। इनकी कविताओं में उपनिषदों से लेकर रवीन्द्र तक के स्वरों की प्रतिध्वनि मिल सकती है किन्तु साधना या अनुभूति के स्तर पर नहीं, मूलतः कल्पना के वातावरण में।

आधुनिक रहस्यवाद बाह्य प्रभावों से अछूता रहा है और इस दृष्टि से उसने रहस्यवाद की मूल परंपरा का अनुपालन किया है। विषय और शैली के विकास में ही उसकी आधुनिकता है। अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म के प्रभाव से उसने अपने अन्तर में करुणा को प्रतिष्ठित किया है। इसी कारण आज उसमें संयोग, वियोग, प्रतीक्षा एवं सान्त और अनन्त की संबंध-कल्पना के साथ-साथ

वेदना और करुणा के प्रति मोहमय आकर्षण भी दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक रहस्यवाद की एक विशेषता यह भी है कि उसे भिन्न-भिन्न कवियों की प्रवृत्तियों का योग तो मिला किन्तु उनकी सहानुभूति न मिल सकी।

रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित होती है—आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु और मार्ग। इनमें से आस्तिकता का स्थान पहला है। जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ कोई बीज नहीं जमता उसी प्रकार नास्तिक के हृदय और मन में ईश्वर-संबंधी कोई भाव या विचार जम नहीं सकता। आस्तिक्य की कसौटी श्रद्धा है। 'श्रद्धावान् लभते माम्' श्रुति-वाक्य से भी इसी बात का समर्थन होता है। आस्तिक्य प्रेम की उर्वरा भूमि है। वहीं गुरु के उपदेश का प्रभाव होता है। आस्तिक एक व्यापक सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करके उसे अपने भीतर, बाहर और चारों ओर देखता है। उसके हृदय में ग्रहण-शक्ति होती है। मोम के समान वह ब्रह्मविषयक किसी भी प्रभाव को स्वीकार कर लेता है।

कबीर के आस्तिक्य में तो सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। वे पक्के आस्तिक थे। वे इस दृश्य के पीछे अदृश्य व्यापक सत्ता को देखने की प्रेरणा, इसी आस्तिकता के कारण करते है—

"जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि विचार[1]॥"

इतना ही नहीं उनको आस्तिकता की कुछ गहरी झलक नीचे देखिये—

"ज्ञान अमरपद बाहिरा, नेड़ा ही तैं दूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, रांम रह्या सकल भरपूरि[2]॥"

कभी-कभी कबीर का तीखापन कुछ अन्यथाभाव पैदा कर देता है किन्तु उनकी उक्ति-तीक्ष्णता प्रायः नास्तिकता के विरोध में ही व्यक्त हुई है। उनकी वाणी का उदय धर्म-विशृंखलता या नास्तिकता की प्रतिक्रिया के रूप में ही

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४०-५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४०-५

हुआ था। आस्तिक की एक पहिचान यह है कि वह धर्म-भीरू और विनयशील होता है। उसका आचरण सरल और स्पष्ट होता है और हृदय के साथ उसका सामंजस्य होता है। इसी कारण वह दंभ और कपट का विसर्जन कर देता है। कबीर को भी निर्दंभ आचरण प्रिय है। इसी से उनको दंभ के विरोध में कहना पड़ता है—

> "कबीर तष्टा टोकणीं, लीये फिरै सुभाइ।
> राम नांम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाइ[1] ॥"

वे मानव-धर्म के पुजारी थे जिसमें सर्वत्र ईश्वर की प्रतिष्टा थी। उनका विवेक-प्रकाशित था। इसीलिए वे परमात्मा को किसी मंदिर या मस्जिद का बँधुआ नहीं बना देते। वे कहते हैं—

> "और खुदाइ मसीति बसत हैं, और मुलिक किसकेरा।
> तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा[2] ॥"

कबीर ने ईश्वर को सदैव अखंड एवं व्यापक रूप में ही देखा था।

कभी-कभी कबीर का 'सुन्न' शब्द भ्रम में डाल सकता है। इसका प्रयोग कबीर-वाणी में कई अर्थों में हुआ है। कुछ लोग इसके अर्थ-विशेष से कबीर की आस्तिकता के विषय में चौंक सकते हैं, किन्तु वास्तव में चौंकने की कोई बात है नहीं। यह शब्द चौंका तो तभी सकता है जबकि उसको बौद्धों के 'शून्यवाद' से संबंधित कर लिया जाये। यद्यपि 'शून्यवाद' का विकास गौतम के अनात्मवाद से हुआ था जिसमें अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन होते हुए भी विश्वात्मवाद का उन्मूलन नहीं है। शून्यवाद का आधार गौतम का जो अनात्मवाद था वह भी उपनिषदों के नेति-नेति से पूर्ण था। उसकी मान्यता थी कि व्यक्तिरूप[3] में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। धीरे-धीरे इसी अनात्मवाद ने शून्यवाद का रूप लेकर अपने अर्थ को भी बदलने का उपक्रम किया। जो अनात्म-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५-५
२. कबीर ग्रन्थावली, पद २५६
३. देखिये, प्रसाद—स्कन्दगुप्त (ग्यारहवां संस्करण), पृष्ठ १२२

वाद एकता के परिवेश में 'सब कुछ' होने का दावा लेकर चला था, वही 'शून्य-वाद' के रूप में 'न-कुछ' में बदल गया। इस प्रकार वैदिक 'नेति-नेतिवाद' का पर्यवसान बौद्धों के नास्तिवाद में हुआ। जिन लोगों को कबीर के 'सुन्न' शब्द में 'नास्तिवाद' का भ्रम हो जाता है वही चौंकने लगते हैं। यों तो 'सुन्न' शब्द नानार्थों में प्रयोग हुआ है, किन्तु जहाँ कहीं यह परमात्मा या आत्मा के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है वहाँ भी 'नास्तिवाद' का संकेतक नहीं है। इसमें अस्तिवाद के सब गुण विद्यमान हैं। एक उदाहरण देखिये—

"उदक समुंद सलल की साख्या, नदी तरंग समावहिंगे।
सुन्नहि सुन्न मिल्या समदर्सी, पवनरूप होई जावहिंगे[1] ॥"

यहाँ 'सुन्नहि सुन्न मिल्या' वाक्य विशेषतः ध्यान देने योग्य है। मठा-काश और महाकाश की भाँति ये दोनों अपनी एकरूपता के सूचक हैं और दोनों का मिलन जीवात्मा और परमात्मा के मिलन का सूचक है। इस अर्थ में बौद्धों के 'शून्य' के लिए कोई गुंजाइश नहीं है किन्तु 'खंब्रह्म' का अभिप्राय स्पष्ट है और नाथपंथियों का प्रभाव भी। नाथों का शून्य 'अलख निरंजन' का पर्यायवाची था। कबीर ने अपने राम को निरंजन कहा है—

"अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग ध्यांन तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार[2] ॥"

निरंजन की और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या इन शब्दों में हुई है—

"गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नांहीं रेख नांहीं, मुद्रा नहीं माया ॥
× × ×
तेरी गति तूंहीं जांनैं, कबीरा तो सरनां[3] ॥"

इस पद में यह तो स्पष्ट है कि कबीर का गोविन्द या राम निरंजन स्वरूप है किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उससे बौद्धों के शून्यवाद की प्रतिपत्ति किसी

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ३३७
३. कबीर ग्रंथावली, पद २१९

भी प्रकार नहीं होती । उपनिषदों के 'नेति-नेतिवाद' के स्वर में कबीर ने भी लौकिक रूपादि की सीमाओं में अपने राम का निषेध कर दिया है किन्तु इससे वह असत् सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उसकी अनादिता, अनन्तता, व्यापकता और शक्तिमत्ता ही सिद्ध होती है और इन सब का समाहार कबीर को विस्मित एवं मुग्ध करके उस (परमात्मा) की शरण में जाने की प्रेरणा करता है।

जीवन के लक्ष्य की सिद्धि की कामना आस्तिक्य को दृढ़ करती है और वह लक्ष्य है आत्मा का परमात्मा से मिलन । परमास्तिक के लिए अथवा ऐसे आस्तिक के लिए जिसकी साधना रहस्यमयी है वह मिलन या ऐक्य मानव चेतना की सर्वोच्च प्राप्ति है । युवा एवं वृद्ध, धनी एवं निर्धन—सब इसी ओर प्रेरित हैं। उस प्रेरणा के मूल में आवश्यकता है और वह यह कि धन, शक्ति, वंश---कोई भी उनको शांति नहीं दे सकता । रहस्य-साधक का दृष्टिकोण उस भौतिकतावादी का सा नहीं जो सत्कर्म को मिथ्या और भोग को वास्तविक समझता है, जिस-की दृष्टि में जीवन ही जीवन का लक्ष्य है । इसलिए वह मनोवेगों और मनो-वृत्तियों के संयमन की कोई आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि इनको वह मनुष्य के लिए प्रकृति का सहज वरदान मानता है। जीवन के संबंध में यह पाशविक दृष्टिकोण है । अपने व्यक्तित्व को पहिचानने और उसकी पूजा करने में कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि मैं अपने आपको नहीं जान सकता हूँ तो मैं उसका निषेध भी नहीं कर सकता और न अंध भाग्य को विश्वनियंता ही मान सकता हूँ । अनुभव से मुझको यह विश्वास होना चाहिये कि मेरा निर्णय सही है । इसीसे खोज की आवश्यकता है । आत्मा-परमात्मा के स्वभाव को जानने की एक तृषा, एक लगन मनुष्य में होनी चाहिये । हमारे जन्म से ही हममें एक दिव्य अतृप्ति की भावना ने घर कर लिया है और वह हमें उस समय तक न छोड़ेगी जब तक कि हम जीवन की समस्या को हल न करलें ।

मनुष्य चिन्तनशील है और लक्ष्य पर पहुँच कर उसके चिन्तन को विराम मिल जाता है । रहस्य-साधक उसी विराम के लिए व्यग्र रहता है । इसी एक शब्द 'विराम' या 'विश्राम' में सारी इच्छाओं का सार निहित है । मार्कस ऑरी-लियस का यह कहना कुछ अर्थ रखता है कि 'परिवर्तन की लहरें उमड़ती चली जाती हैं । जो उन पर विचार करता है वह सब नश्वर एवं सान्त वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखता है । हमें केवल अनन्तता, सान्तता नहीं, शान्ति के प्रदेश

में ले जा सकती है और यह आवश्यकता हमारी आस्तिकता को और भी दृढ़ करती है। इस भव-तृषा को नष्ट करने के लिए 'राम-रस' की आवश्यकता को कबीर इस प्रकार पुष्ट करते हैं—

"रांम उदक जिह जन पिया तिह बहुरि न भई पियास[1]।"

कबीर की यह आस्तिकता उनके प्रेम के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। जिस पाठक ने उनकी वाणी में केवल उनके क्षुब्ध स्वरूप को ही देखा है वह उनके मुग्ध स्वरूप की कल्पना कदापि नहीं कर सकता। जिन्होंने कबीर को पूर्ण रूप में नहीं देखा वे ही उनको अन्तर में राम को खोजता हुआ देखते हैं और इस संदर्भ को भुला देते हैं कि वे ऐसा कब करते हैं और न वे लोग उनके 'लाल की लाली' को सर्वत्र छाया हुआ ही देखते हैं। यह ठीक है कि कबीर की वाणी में सर्वत्र एक भावुक का स्वर सुनायी नहीं पड़ता किन्तु, भावुकता उनमें है ही नहीं, यह कहना कबीर के साथ अन्याय होगा। कबीर की वाणी में रूखापन भी है और सरसता भी, क्षोभ भी है और मस्ती भी, विरक्ति भी है और प्रेम भी। सामाजिक कुत्साओं और कुंठाओं के प्रति उनकी वाणी में तिक्तता मिलती है किन्तु समता, दया, प्रेम आदि की खोज उसकी पृष्ठभूमि में की जा सकती है। मनोविज्ञानियों का कहना है कि सच्चे और स्पष्टवादी व्यक्ति की वाणी में तीखेपन का होना कोई अनहोनी बात नहीं है किन्तु उसके पीछे सरस भूमि अवश्य होती है और तीखापन वहीं से प्रेरणा लेता है। मानव-कल्याण से ओत-प्रोत कबीर का हृदय मानव-प्रेम से सरसित था, इसमें आश्चर्य की क्या बात है! कबीर के इस प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम में होती है। इसी कारण कबीर का राम व्यक्ति में भी है और समग्र अभिव्यक्ति में भी है—

"दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि, इहां रांम रहिमांनां।
जेती औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा[2]॥"

एक अन्य पद में कबीर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा करके उसको आनंदमूल कहा है और इस प्रकार अपने आकर्षण को व्यक्त किया है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७३-२१
२. कबीर ग्रंथावली, पद २५९

"आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले।
आनंदमूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले॥
हरि मैं तन है तन मैं हरि है, × × × ×[१] ।"

'हरि मैं तन है तन मैं हरि है' कहकर कबीर ने मानों गीताकार की वाणी[२] को ही दुहराया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की आस्तिकता ने प्रेम को मनोहर भूमि प्रदान की है। उसी प्रेम पर कबीर की रहस्य-साधना का भव्य भवन बना है जिसका योगपरक रूप भी प्रेमविहीन नहीं है। बहुत ही कम ऐसे स्थल हैं जहाँ कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद प्रेम को प्रश्रय नहीं देता। कबीर ने अपने ही शब्दों में अपने योग का सारा भेद खोल दिया है—

"सब जोगत्तण रांम नाम है, जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै, देइ सचा नीसाना[३]॥"

कबीर योगी किसको कहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं; किन्तु उनकी योग-साधना में परमात्मा की सत्ता का प्रमुख स्थान है। जिस योगी की प्रशंसा गीता[४] में की गयी है ऐसे ही योगी की सराहना कबीर करते हैं। कबीर की दृष्टि में योग की सारी चर्या का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है और उसी से योगी का उद्धार होता है :—

"पवन पति उनमनि रहनु खरा। नहीं मिसु न जनमु जरा।
उलटी ले सकति संहारं। फैसी ले गगन मझारं॥"
× × ×
"जब कुंभकु भरिपुरि जीना। जब बाजे अनहद बीना।

---

१. कबीर ग्रंथावली पद २९३
२. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥—गीता, पृष्ठ ६-३०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४६
४. देखिये, गीता, पृष्ठ ६-२९

बकतै बकि सबद सुनाया। सुनतैं सुनि माल बसाया।।
करि करता उतरसि पारं। कहै कबीरा सारं[1] ।।"

यह ठीक है कि कबीर ब्रह्म-द्रष्टा थे, किन्तु उन्होंने ब्रह्म को रसरूप में ही देखा था। वह ज्योतिर्मय है किन्तु मोहक भी, वह निर्गुण है, किन्तु अनुग्रही भी। उनका राम अवतार नही है, रंग-रूप से युक्त नहीं है, फिर भी प्रिय है। वह भक्त-वत्सल और भक्ति-वश्य है। इसलिए उन्होने कहा—'जो लोग तर्क से तत्त्व की द्वैतता सिद्ध करना चाहते हैं उनकी बुद्धि मोटी है।'[2] यहाँ यह भ्रम न हो जाना चाहिये कि कबीर की साधना में बुद्धि को कोई स्थान नहीं है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर प्रौढ़ बुद्धिवादी थे किन्तु लोक-क्षेत्र में, समाज, धर्म आदि के सबंध में, अपने प्रिय से मिलने में नहीं। वे तो अपने प्रिय (राम) को प्रेम-वश्य मानते हैं और वह प्रेम से ही जाना[3] जा सकता है। उस प्रिय के लिए वे बड़े तड़पते हैं। 'कब देखूं मेरे रांम सनेही, जा बिनु दुख पावैं मेरी देही'—कह कर कबीर ने न केवल अपनी विरह-व्याकुलता का ही परिचय दिया है, प्रत्युत राम की स्नेहशीलता की ओर भी संकेत किया है।

कबीर को यह विश्वास था कि राम के बिना वे असहाय थे और यह जानकर उनका साहस उद्‌बुद्ध होता था कि वह प्रेम-वश्य है। इसीलिए उन्होने हरि-प्रेम को इतना महत्त्व दिया है—

"कबीरा प्रेम की कूल ढरै।
हमारै रांम बिना न सरैं[4] ।।"

इससे स्पष्ट है कि कबीर राम-प्रेम की ओर इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि राम प्रेम से वश में हो सकता है—वह राम जिसके बिना कबीर का निर्वाह कदापि नहीं हो सकता। उस रस को पीकर उनको जो उपलब्धि हुई है उसे वे

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४५
२. कहत कबीर तरक दुइ साधैं, तिनकी मति है मोटी।
—कबीर ग्रन्थावली
३. तुलना कीजिये, गीता, पृष्ठ ११-५४
४. कबीर ग्रन्थावली, पद २१६

अन्य मनुष्यों को भी कराना चाहते हैं किन्तु खेद कि वे लोग प्रयत्नशील नहीं हैं—

"दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊं।
बिधना बचन पिछांणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊं[1]॥"

प्रेम या भावना कबीर की आध्यात्मिक साधना का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है। गीता में तो भगवत्प्राप्ति का मूलमंत्र ही प्रेम है किन्तु उपनिषदों[2] ने भी प्रेम के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। गीता ने भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधनों में भक्ति को अवश्य समाविष्ट किया है और अन्य सब साधन भी प्रेमगर्भित हैं। कृष्ण की इस उक्ति से यह स्पष्ट है—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव[3]॥"

कबीर को भी यह विश्वास हो गया था कि उनका राम प्रेम या भाव से ही प्राप्तव्य है। इसी कारण उनकी वाणी में स्थान-स्थान पर भा या प्रेम की गरिमा का गान हुआ है। 'चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ'[4], कह कर कबीर ने भाव या प्रेम के गौरव को अभिव्यक्त कर दिया है। राम के प्रति कबीर का प्रेम-भाव ही उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित करता है—

"पुर पाटण सूबस बसै, आंनंद ठांयें ठांइ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजंड मेरे भाइ[5]॥"

इसीलिए कबीर की दृष्टि में उस रानी का कोई मूल्य नहीं जो लौकिक भोग-विलास में तल्लीन है किन्तु वे उस पनिहारी की सराहना करते हैं जो राम-भक्त है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १६६
२. देखिये, कठोपनिषद्, पृष्ठ १-२-२३
३. गीता ११-५५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८-४
५. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५२-२

"क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन।
वा मांग संवारै पीव कौं, वा नित उठि सुमिरै रांम[1]॥"

जिसको वास्तव में हम भक्त कह सकते हैं। वह अनन्य प्रेम के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता है। नारद ने 'सा तु परमप्रेमरूपा' कह कर इसी 'अनन्यता' को प्रतिष्ठित किया है और महात्मा तुलसीदास के शब्दों में भी अनन्य प्रेम की याचना की गयी है। वे कहते हैं—

"कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

कामी और लोभी का आकर्षण अटूट होता है। इसी अटूट प्रेम की याचना तुलसीदास के शब्दों में प्रकट हुई है। कबीर भी इसी प्रकार के अटूट प्रेम को पसन्द करते थे। इसीलिए नारी के प्रति कामी के सम्बन्ध की गहनता को वे राम के प्रति अपने सम्बन्ध में प्रतिष्ठित करने की बात पर जोर देते हुए कहते हैं—

"काम मिलावै राम सूं, जो कोई जानै राखि।
कबीरा बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साखि[2]॥"

यह माना जा सकता है कि कबीर दाम्पत्य-प्रेम पर विशेष जोर देते हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे इस प्रेम की स्थिति प्रत्येक मानव-हृदय में स्वीकार करते हैं। राम-प्रेम के लिए सात्त्विक हृदय की आवश्यकता है और यह सात्त्विक शुद्धता केवल प्रयत्नाश्रित नहीं है अपितु प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का योग भी होता है। इसी विश्वास को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

"कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।
देखौ भाग कबीर का, दोसत किया अलेख[3]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१-११

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३

कबीर की साधना में कर्म का एक विशेष स्थान दीख पड़ता है। अण्डरहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म' में 'रहस्य-साधना' के अन्तर्गत कर्म का विशेष विवेचन किया है। सभी रहस्य-साधक कर्म को महत्त्व देते हैं, किन्तु 'फलासक्ति' का निषेध करते हुए ही; क्योंकि कर्म में फलासक्ति आते ही वह दुःख-सुख का कारण बन जाता है जो भगवत्प्रेम की अनन्यता को बाधित करता है। इसीलिए कर्म पर जोर देते हुए भी कबीर की अनासक्ति स्पष्ट है—

"नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर कबीर[१]॥"

इससे कबीर का दुहरा भाव स्पष्ट होता है—एक तो अनासक्ति भाव, और दूसरा ईश्वर की शक्ति, जिसमें उसकी कृपा का भी समावेश है। ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति कबीर-वाणी में एक अन्य स्थान पर और देखिये—

"सांईं सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहि।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि[२]॥"

कर्मों में अपनी शक्ति होते हुए भी भगवदिच्छा के सामने वे घुटने टिका देते हैं। इसीलिए अनासक्ति-भाव की आवश्यकता प्रकट की गयी है। जिस प्रेमोदय की चर्चा की जा रही है, उसमें भगवत्कृपा का अमोघ महत्त्व है। फिर भी प्रिय के मार्ग का जानना आवश्यक है और उससे भी पहले प्रेम की ज्वाला का जला देना भी जरूरी है। इस काम को गुरु ही सम्पन्न करता है। यह तो सभी जानते हैं कि रहस्य-साधना में गुरु का विशेष स्थान है, किन्तु भारतीय भक्ति-पद्धति में तो और भी ऊँचा स्थान है। संत-मत ने गुरु को विशेष रूप से पुरस्कृत किया है। कबीर इस जीवन में प्रेम को एक अनिवार्य क्रीड़ा मानते हैं क्योंकि इसके बिना उद्धार नहीं है और प्रेम की बाजी में सफल होना सरल काम नहीं है। केवल वे ही लोग सफल होते हैं जो गुरु के बताये हुए दाव को

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१-१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-१२

अच्छी तरह समझ कर चाल चलते हैं। यह दाव वह मार्ग है जिसे भुलाकर रहस्य-साधक बाजी नहीं जीत सकता। इसीलिए कबीर बड़ी मुस्तैदी से कहते हैं—

"पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाव बताइया, खेलै दास कबीर[1]॥"

प्रेम-सृजन, प्रिय-सन्देश, तथा प्रेम-मार्ग-दर्शन--ये तीन प्रमुख कार्य कबीर ने गुरु से सम्बन्धित किये हैं। शिष्य में प्रेम को अंकुरित करनेवाला गुरु ही है। 'अनन्त' का साक्षात्कार करनेवाले 'अनन्त लोचन' को गुरु ही खोलता है—

"सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार[2]॥"

'प्रेम का अंक' पढ़ा कर गुरु अपने शिष्य को तैयार कर देता है। प्रियतम के संदेश को जानने के लिए आतुरता का उदय हो जाता है और फिर यह दशा हो जाती है—

"विरहनि ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ[3]॥"

इसी अवसर पर गुरु प्रियतम का संदेश-वाहक बन जाता है और परिणाम में प्रेमोद्वृद्धि होती है, विरहाग्नि प्रबल होती चली जाती है, तब स्पष्ट शब्दों में इस संदेश को भेजने लिए विवश होना पड़ता है—

"अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां[4]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४-३२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-६

जब मिलन की ये दोनों युक्तियाँ असफल दीख पड़ती हैं तब एक निराशा की वाणी फूट पड़ती है—

"आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ[1] ।।"

'कामना' और 'मिलन' की एकता की कुंजी गुरु के पास है । गुरु ही तो शिष्य को अलौकिक सौन्दर्य की भावना से भर देता है और वही उसकी झाँकी दिलाता है और देखकर वह कहता है—

"कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रह्या समाइ[2] ।।"

उसके प्रभाव का कबीर इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

"हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप ।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप[3] ।।"

इस स्थिति में गुरु के आभार को स्वीकार करते हुए कबीर कहते हैं—

"थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ[4] ।।"

राम के सम्बन्ध में जो संदेश शिष्य को गुरु से प्राप्त होता है उससे एक ही साथ दो काम होते हैं—एक तो मल का निवारण होकर अन्तर ज्योतिर्मय होता है और दूसरे बिरह-व्यग्रता तीव्र होती है । कबीर इन दोनों को महत्त्व प्रदान करते हैं । संदेश का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-१०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२६

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी।
अन्तर ज्योति रांम परकासा, गुरमुख बिरलै जानी[1] ॥"

और विरह की प्रशंसा में वे कहते हैं—

"बिरहा कहै कबीर सों, तूं जिनि छांड़ै मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में, तहां लै राखौं तोहि[2] ॥"

कबीर की रहस्य-साधना का चौथा तत्त्व 'मार्ग' है और कबीर ने इस को 'सहज मार्ग' कहा है। कबीर का 'सहज मार्ग' उस साधना का विरोध करता है जिसमें अनेक अप्राकृतिक उपायों से इंद्रियों का दमन करने की चेष्टा की जाती है। कबीर की साधना 'दमन' को स्वीकार नहीं करती, 'शमन' चाहती है। इसीलिए वे कहते हैं—

"सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ[3] ॥"

'सहज' हरि-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है—

"सहज-सहज सबको कहै, सह जन चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ[4] ॥"

कबीर का यह 'सहज मार्ग' अध्यात्म-मार्ग है। यह मार्ग अगम है। जहाँ मुनिजन[5] नहीं चल सके और जहाँ पवन एवं मन[6] तक नहीं चल सकते, वह कबीर का मार्ग है। इस मार्ग में गिरने का खतरा है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९६
२. कबीर ग्रन्थावली (फुटनोट), पृष्ठ १२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-४
५. कबीर मार्ग अगम है सब मुनिजन बैठे थाकि—
कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८
६. मन पवन का गम नहीं, तहां पहूंचे जाइ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८
तुलना करें—यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—उप०

"जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पावन टिकै पिपीलका, लोगनि लादे बैल[1] ॥"

उस मार्ग पर चलना कोई सहज काम नहीं है किन्तु अनन्य प्रेमियों के लिए यह कठिन भी नहीं है। जो गम्य को जानते हैं और जिनके पास प्रेम का संबल है वे ऐहिक अन्तरायों से घबराते नहीं हैं और न वे किसी पगडंडी का सहारा लेने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वहां कोई पगडंडी[2] नहीं पहुंचती। जो लोग पगडंडियाँ खोजते हैं वे भ्रान्त हैं। वे अपने लक्ष्य को नहीं जानते।[3] कबीर ने अपने मार्ग को मध्यमार्ग भी कहा है। वे यह अच्छी तरह समझते हैं कि दो घोड़ों पर एक साथ सवार होना संभव नहीं है। जो लोग लोक-मार्ग और आत्म-मार्ग, दोनों पर आरूढ़ रहना चाहते हैं, वे नहीं पहुंच पाते; इसी संसार में डूब जाते हैं—

"दुहु दहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार[4]।"

किस मार्ग को अपनाना चाहिये और क्यों, उसकी व्याख्या कबीर इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

"कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि[5] ॥"

दुर्बल मनुष्य इस पर नहीं चल सकता। इसीलिए उपनिषद्[6] ने उसे चेतावनी दी है। इसी स्वर में कबीर ने आत्म-संबोधन करते हुए कहा है—

"कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त[7] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-७
२. देखिये, मैं० ब्र० उप० VI प्र० ३०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-२
६. मुंडकोपनिषद्, ३-२-४
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६-२७

प्रिय-मिलन का मार्ग हँसी-खेल नहीं है। प्रिय हँसने से नहीं मिलता। यदि वह किसी को मिला है तो रोनेवाले को—

"हंसि-हंसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हांसें ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ[1] ॥"

जिन बाह्य मार्गों (उपायों)[2] से मनुष्य उस प्रिय को खोजता है उनसे वह नहीं मिलता। कबीर का 'सहज मार्ग' अन्तर का मार्ग है जो दमन का मार्ग नहीं है, शमन का मार्ग है। जब तक मन की भौतिक सत्ता रहती है तब तक 'सूक्ष्म मार्ग' का निर्माण नहीं हो सकता। इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध से यह मन पल भर में करोड़ों कर्म[3] करने की शक्ति रखता है। जो मन अपनी चंचलता की दशा में मनुष्य का नाशक होता है वही अपनी शान्तावस्था में परमात्म-स्वरूप[4] हो जाता है—

"मन गोरख मन गोबिंदो, मन हीं औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ[5] ॥"

इस मन का शमन कबीर का मुख्य मार्ग है और यह शमन 'प्रेम' से बहुत सरल होता है। योग और ज्ञान को भी लोगों ने मन को शान्त करने का साधन माना है और कबीर भी उन साधनों का निषेध नहीं करते; किन्तु वे उन में प्रेम का समावेश आवश्यक मानते हैं। अतएव यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि कबीर मन को प्रेम में डुबा कर अपना करने की बात करते हैं। कबीर का विश्वास है कि दिये बिना मन मिलता नहीं है—

"मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ[6] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६-२६
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ३१७
३. कोटि कर्म पल मैं करै, यहु मन बिषिया स्वादि।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१८
४. तुलना कीजिए—'मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः'—गीता
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २६-१०
५. देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१२
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८-६

साधारणतया मन बड़ी लम्बी-चौड़ी छलांगें भर कर साधक के काबू से बाहर निकल जाता है, किन्तु कबीर उसे प्रेम में विभोर करके वशवर्ती कर लेते हैं—

"पाणीं हीं तें पातला, धूंवां हीं तें भीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह[1] ॥"

दोस्त होने पर अति चंचल वह मन विषयों का आधार छोड़कर, निवृत्त होकर निराधार अवस्था में स्थिर होजाता है और वहीं साधन, साधक और साध्य एक रूप हो जाते हैं—

"मनवां तौ अधर बस्या, बहुतक भीणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूं न न्यारा सोइ[2] ॥"

यदि स्वार्थ ईश्वरार्थ में परिणत हो जाये तो समझना चाहिये कि मन का शमन हो गया या मन ईश्वर-विभोर हो गया। जब तक वह 'ममार्थ' में लगा हुआ है तब तक उसकी वृत्तियों का नाश नहीं होता। कबीर 'मम' की परिणति 'तव' में चाहते हैं और उसी परिणति में उनका लक्ष्य निहित है। इसीलिए वे कहते हैं—

"ज्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, सधि न लखई कोइ[3] ॥"

कबीर के साधना-पथ में परमात्मा के साथ मन को इस प्रकार मिलने की बात कही गयी है जिस प्रकार गर्म लोहे की संधि से संधि मिल जाती है, कोई अन्तर नहीं रहता। इस स्थिति को वे प्रेमविहीन नहीं मानते। जब मन की यह स्थिति होती है तब वह 'राम-रस' से छका होता है और उसे रामेतर कोई भी वस्तु रुचिकर प्रतीत नहीं होती—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९-१२
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९-१४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५-७

"मन मतिवाला पीवै रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।

× × ×

दास कबीरा इहि रसि माता, कबहूं उछकि न जाई[1] ॥"

कबीर के 'सहज मार्ग' में 'जाप' का भी स्थान है किन्तु उस जाप का नहीं जिसे सब 'जाप' कहते हैं। कबीर का जाप तो 'अजपा जाप' है जिसमें न माला होती है, न जीभ हिलती है, किन्तु प्रत्येक 'श्वास-प्रश्वास' में 'अजपा' की लहर उठती है। अजपा में सुरति का योग रहता है।

मन के दो मार्ग हैं—अधोगमन और ऊर्ध्वगमन। अधोगति की दशा में वह वासनाओं में दौड़ता-फिरता है और ऊर्ध्वगमन की दशा में वह वासनाओं को छोड़ देता है क्योंकि उसके गले में प्रेम की रस्सी बँध जाती है जो उसे ईश्वराभिमुख खींचती रहती है। चरमोन्नत दशा में मन ईश्वर रूप होजाता है और उस समय वह प्रेमी, प्रिय और प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

रहस्य-साधना की प्रेरणा में सुख-दुःख का भी बहुत बड़ा हाथ है। आत्म-प्रकाश की स्थिति में दुःखों के आगमन में मुक्ति दिखायी पड़ती है। दुःखागम को साधक बाधा नहीं मानता, अपितु परमात्मा का वरदान मानकर अपने प्रेम को अधिकाधिक दृढ़ करता है। साधक दुःख में अपनी परीक्षा के रूप को देखता है और बड़ी दृढ़ता से उसका सामना करता है। वह दुःख-सुख से निर्लिप्त होकर आनन्दमय रहता है—

"दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि[2] ॥"

कोई भी हलचल, कोई भारी क्षति अथवा कोई भी अप्रत्याशित हर्ष साधक को प्रेरणा तथा प्रकाश देते हैं। इन्हीं विषम क्षणों में परमेश्वर की झलक दिखायी देती है और भक्त अपने आपको कृतकृत्य मानता है। बेनेट का कहना ठीक ही है कि "जिसको हम जीवन में दुःख कहते हैं वह हमारा दृष्टि-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ७४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४-८

कोण है, वस्तुतः दुःख नाम की कोई वस्तु है नहीं।" मैडम ग्युन निर्धनता को वरदान मानती थीं। उनका कहना था कि "निर्धनता[1] और क्षति आनन्द-स्वरूप हैं। बुराई ही भलाई को खोज कर लाती है। मधुर और कटु दोनों झरनों का एक ही स्रोत है। देव और दानव दोनों का निवास परमात्मा में ही है, फिर एक से प्रेम और दूसरे से घृणा क्यों ?"

वास्तव में समझना तो यह चाहिये कि द्वन्द्वों की सृष्टि समझौते के लिए होती है। जो लोग समझौता करने के बजाय सुख में प्रसन्न और दुःख में खिन्न होकर बीच की खाई को चौड़ा कर देते हैं, वे भ्रान्त हैं। इसीलिए कबीर 'समता' या 'समरसता' का उपदेश देते हैं—

"सीतलता तब जांणियें, समिता रहै समाइ।
पष छांड़े निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ[2] ॥"

उस समता की दशा में कबीर पर सुख-दुःख, शब्द-कुशब्द आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता। वे निर्लिप्त रहते हैं—

"कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान[3] ॥"

कबीर मुक्ति की व्यवस्था आत्मा-परमात्मा के मिलन में करते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन अविरल मरण है जबतक कि हम ईश्वर के सामने न आजायें। इसी से रहस्य साधक का प्रेम कष्ट के क्षणों में अधिक गंभीर और प्रबल हो जाता है।

(कबीर की वाणी में भावात्मक और साधनात्मक, दोनों स्वर झंकृत होते हैं। कबीर की भावात्मक स्वर-लहरियां बड़ी तीव्र और गंभीर हैं और उन्हीं में वस्तुतः सुन्दर कवि-वाणी का स्फुरण हुआ है किन्तु उनकी वाणी का साधना-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-१०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६३-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-४

पक्ष भी अपनी विशेषता रखता है। उनको योग-चर्या परम्परागत नहीं है, उसमें अनुभवकृत संशोधन है और वह प्रेम की धरा पर प्रतिष्ठित है।

भावात्मक साधना[1] के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधुर्यभाव' का संबंध सूक्ष्म रूप से जोड़ा है जो उपयुक्त भी है। उन्होंने पिता, स्वामी आदि की संबंध-भावना को स्थूल रूप के अंतर्गत समाविष्ट किया है। भारतीय भक्ति-परंपरा में दोनों प्रकार की साधना की ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है किन्तु अधिक झुकाव दूसरे रूप की ओर ही रहा है, क्योंकि वैष्णवों की सगुणोपासना समष्टिगत ही रही है, यद्यपि निर्गुणोपासना की ओर भी उपनिषदों ने सकेत किया है। भागवत की भक्ति-पद्धति सगुणविशिष्ट होती हुई भी रहस्य-भावना की प्रेरक सिद्ध हुई, इसलिए भागवत से प्रेरणा लेकर यहाँ के कुछ भक्तों ने कृष्ण के लोक-संग्रही रूप के स्थान पर उन्हें प्रेम की मूर्ति बना लिया और उनकी भावना ऐकान्तिक हो गयी। इस पद्धति में गोपी-प्रेम का अनुकरण था जिसमें ऐकान्तिकता और रूपमाधुर्य का पुरस्करण था। प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना भक्त के व्यक्तिगत संबंध पर आश्रित होकर रहस्यात्मक रूप में प्रवृत्त हो गयी। फारस में प्रेमाश्रयी संबंध-साधना का खूब प्रचलन हुआ। सूफियों ने इस पद्धति को पूर्ण प्रोत्साहन किया किन्तु उनकी साधना 'माधुर्यभाव' की साधना से कुछ भिन्न रही। 'माधुर्यभाव' की साधना में साधक 'विरहिणी' के रूप में अपनी व्यंजना करता है किन्तु सूफी साधना में वह 'विरही' के रूप में ही प्रकट होता है। सूफी-साधना को वास्तव में विरह-साधना कह सकते हैं। इसकी विशेषता है विरह की तीव्रता। कबीर ने अपने में 'विरहिणी' का आरोप करके उसमें सूफियों की विरह-तीव्रता की प्रतिष्ठा करदी। कबीर-द्वारा प्रेरित 'माधुर्य भाव' की उपासना भारतीय भक्ति-परम्परा में भी समाविष्ट हो गयी। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी भक्ति-मंडली ने जिस मूर्च्छा को अपनाया था वह रहस्य-साधक सूफियों की रूढ़ि है।

---

१. 'साधना' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है। यहाँ साधना से अभिप्राय अभ्यास से है जो भावों के प्रेरण और नियमन में अपेक्षित है।

कबीर की भावात्मक साधना में भारतीय भक्ति का भी पुट है और सूफी प्रेम-तत्त्व का भी। इनकी भक्ति की विशेषता यह है कि उसमें ईश्वर के सगुण रूप को मान्यता नहीं मिली। इससे इनकी भाव-साधना में भारतीय भक्ति-तत्त्व और सूफी प्रेम-तत्त्व, दोनों का अभेद मिलन हुआ है। ऊपर यह तो बताया ही जा चुका है कि उन्होने सूफी प्रेम-तत्त्व को अंश-रूप में ही ग्रहण किया सर्वांशतः या पूर्णतः नहीं। यही कबीर की उपासना-पद्धति या भाव-साधना की विशेषता है। यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि "भक्ति-भाव की अलौकिक भाव-भूमि पर खड़े होने पर निर्गुण सन्त और सगुण भक्त एक ही सी बात कहने लगते हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सन्तों का रहस्यवादी अनुभव कोई अद्‌भुत रहस्यानुभव है या कोई 'गुह्य' वस्तु है, अथवा भक्तों को अपनी रागात्मिका भक्ति में उसी प्रकार के अनुभव नहीं होते। भेद केवल रूप का है। भक्तों का आश्रय रूप है, सन्तों का आश्रय अरूप है। इस भेद के अनुसार उन के अनुभवों और उनके प्रकाशन की भाषा में भी भेद हो जाता है। जहाँ साधना की अन्तिम अवस्था को पहुँच कर भक्त राम-कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहाँ सन्त को इस प्रकार का अनुभव नहीं होता।"[1] कबीर इस अनुभव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"अब मैं जांणियौ रे, केवल राइ की कहांणीं।
मंझा जोति रांम प्रकासै, गुर गमि बांणी ॥
तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछांणी।
साखा पेड़ फूल फल नांही, ताकी अंमृत बांणीं ॥
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझैं पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
कहै कबीर हास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या[2] ॥"

सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में भावना रहती है किन्तु जैसी भाव-तीव्रता और गंभीरता दाम्पत्य में अनुभव की जासकती है वैसी पुत्र-पिता

---

१. देखिये, डा० रामरतन भटनागर—रहस्यवाद, पृष्ठ ६५
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १६६

या सेवक-सव्य-भाव में नहीं की जा सकती। दाम्पत्य-भाव में भी विरह-पक्ष अधिक तीव्र और गंभीर होता है। इसके अतिरिक्त रति-भाव में जितनी व्यापकता होती है उतनी अन्य किसी भाव में नहीं होती। रति-भाव प्रत्येक चेतन-प्राणी के अन्तर में उमड़ता है। कदाचित् इसी कारण 'शृंगार' को रसराज कहा गया है। भिन्न आलंबनों के सम्बन्ध से आश्रयगत भाव का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। प्रिय के प्रति मिलन की जो आकांक्षा होती है वैसी ही मिलन आकांक्षा पिता के प्रति नहीं होती, यद्यपि मिलन दोनों में लक्षित है किन्तु एक में आलिंगन की आकांक्षा की तीव्रता और दूसरे में श्रद्धामूलक आत्मसमर्पण निहित होता है। संचारियों के अपने-अपने स्वभाव दोनों के अंतर को और भी स्पष्ट कर देते हैं। दाम्पत्य-भाव में आत्मपरकता को अधिक अवकाश होता है जबकि सेवक-सेव्य भाव या पुत्र-पिता-भाव का आभिमुख्य वस्तुपरकता की ओर होता है।

स्थूल भावात्मक रहस्य-साधना में ईश्वर को प्रायः स्वामी और पिता के रूप में देखा गया है किन्तु कबीर अपने हरि को जननी रूप में भी देखते हैं—

"हरि जननीं मैं बलिक तेरा।
काहे न औगुंण बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करैं दिन केते, जननी कै चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करैं जो घाता, तऊ न हेत उतारैं माता॥
कही कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी[1]।"

इसी प्रकार पुत्र-पिता-भाव को देखिये—

"को काहू का मरम न जांनै, मैं सरनागति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, हुरमति राखहु मेरी[2]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १११
२. कबीर ग्रन्थावली, पद २६१

और यह एक उदाहरण सेवक-सेव्य-भाव का द्योतक भी देखिये—

"जाके राम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यूं अनन्त पुकारन जाई॥
जा सिरि तीन लोक को भारा।
सो क्यूं न करै जन की प्रतिपारा[1]॥"

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में साधक का ममत्व है जिसमें प्रभु के प्रति श्रद्धा और विश्वास निहित है। साथ ही उसकी शक्तिमयी ममता और रक्षकता की भावना को भी आन्दोलित करने का प्रयत्न स्पष्ट है किन्तु भावात्मक सान्निध्य यहाँ भी दिखायी पड़ता है। विस्मरण की बात तो यहाँ भी नहीं उठती—

"कहे कबीर मैं तन मन जारया।
साहिब अपनां छिन न बिसा बिसारया[2]॥"

अपनी तीव्र आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्त्री-पुरुष के अलौकिक संबंध का उपयोग किया है। यद्यपि लौकिक प्रेम को प्रतीक रूप में ही ग्रहण किया गया है, किन्तु प्रतीक ने रूपक की सीमाओं से निकल कर सब कुछ होने की चेष्टा की है—

"करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन बिनती मेरी॥
हौं वारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोको काहे को मारे॥
जौ तन चीरहि अंग न मोरौं। पिंड परै तो प्रीति न तोरौं॥
हम तुम बीच भयो नहिं कोई। तुमहि सुकन्त नारि हम सोई[3]॥"

कबीर की रहस्य-भावना में 'निर्गुण' का बहुत बड़ा योग है। इसी के कारण कबीर ने 'भक्ति' और 'दाम्पत्य-प्रेम' को मिला कर एक नये साँचे में जड़ा है। जब वे अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तो सन्त-साधना के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ११४
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ११३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २७५-३८

सारे रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रति-भावना ने ही कबीर की वाणी को रहस्यवादी रचना का रूप दिया है जिसमें गंभीरतम आसक्ति प्रकट हुई है। इसके अतिरिक्त इसमें और किसी प्रकार की खोज करनी व्यर्थ होगा। जिस प्रकार ऊपर के पद में कबीर की आसक्ति-तीव्रता प्रकट हो रही है उसी प्रकार अधोलिखित उदाहरण में भी देखिये—

"हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
रांम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया स्यंगार मिलन कै तांई।
काहे न मिलौ राजा रांम गुसाईं[1]॥"

एक-दो स्थाल ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जहाँ कबीर ने विरहासक्ति तो प्रकट की है किन्तु दाम्पत्य-संबंध नहीं निखरा है, अतएव माधुर्य-भाव दब गया है। इसे कबीर की असावधानी कहना उचित होगा या तन्मयता—ऐसी तन्मयता जिसमें नियम या सिद्धान्त टूट जाते हैं क्योंकि भाव बुद्धि को अभिभूत कर लेते हैं। अतएव कबीर की वाणी सब कुछ होते हुए भी प्रेमाभिव्यंजना में उनके हृदय की भाषा है जहाँ बुद्धि ने अनुभूति का केवल भार ढोया है। जो कबीर एक स्थान पर विरहिणी के वेश में प्रकट होते हैं वही दूसरे स्थान पर 'हो बलियां कब देखोंगा तोहि' कह कर आलोचक को विस्मित कर देते हैं। फिर भी आसक्ति में कोई न्यूनता नहीं दिखायी पड़ती। विरह में वही गंभीरता, वही व्याकुलता और वही मिलन-कामना है—

"बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर[2]॥"

यह है कबीर के विरह-निवेदन की एक बड़ी विशेषता जिसमें संबंध भी डूब जाता है। विरह-निवेदन कबीर का लक्ष्य नहीं है, लक्षण मात्र है। विरह के आगे ही तो मिलन है और वही कबीर का लक्ष्य है। विरह का सम्पूर्ण उत्स उसी मिलन-सागर की ओर उन्मुख है। वियोग ने कबीर को एक बड़ी भारी

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ११७
२. कबीर ग्रंथावली, पद ३०५

वस्तु प्रदान की है और वह है देह। यह देह प्रिय से मिलने के लिए मिली है अतएव मिलन का सर्वोत्कृष्ट साधन है जिसको सगुण भक्तों ने भी स्वीकार किया है। कबीर की मिलन-कामना में परिपूर्ण ऐक्य का संकेत है और उनका विरह-निवेदन संयोग-कामना से प्रेरित है, विरह आसक्ति से और प्रिय कृपा-शक्ति से लक्षित है—

"वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाई।
हौं जांनूं जे हिलमिल खेलूं, तन मन प्रांन समाइ॥
या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ[1]॥"

कबीर के आध्यात्मिक मिलन की कामना में लौकिक अनुभूति का समग्र संभार प्रस्तुत है। गोपनीय अनुभूति कबीर के कंठ में पावन पद पर प्रतिष्ठित हुई है—

"सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे[2]॥"

कबीर की भावाभिव्यंजना में दाम्पत्य-भाव का जो स्वरूप मिलता है उसमें संयोग और वियोग, दोनों पक्ष बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। यद्यपि संयोग-पक्ष में वियोग-पक्ष की सी गहराई या तीव्रता नहीं है। यों तो भावातिरेक में साधक उपास्य के साथ किसी भी संबंध को देखने लगता है किन्तु इन सब में कान्ताभाव की मधुरता बड़ी मोहक होती है। कबीर ने सभी संबंधों को अपनाते हुए कान्ता-भाव के प्रति ही अधिक आकर्षण व्यक्त किया है और वियोग के चित्र जितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुए हैं, उनकी वाणी में मिलन के चित्र भी उतने ही सजीव हैं। मिलन के पूर्व की भावनाओं के चित्र जायसी के चित्रों की सी मौलिकता लेकर प्रकट हुए हैं। ऐसा ही एक चित्र देखिये—

"थरहर कपै बाला जीउ, ना जानउ किया करसी पीव।
रैनि गई मति दिन भी जात, भंवर गये बग बैठे आय[3]॥"

१. कबीर ग्रथावली, पद ३०६
२. कबीर ग्रंथावली, पद ३०७
३. संत कबीर, पृष्ठ १४८

इस पूर्व रंग में बड़ी मधुर प्रतीक्षा प्रस्तुत की गयी है जिसको आशंका के पुट ने एक विलक्षण रूप दे दिया है। जायसी और कबीर की तुलना करने-वाले पाठक को कबीर की उक्त वाणी में विशेष ध्वनि, विशेष संकेत और विशेष आध्यात्मिक वातावरण मिलेगा।

उत्कंठा और आशंका के पश्चात् 'मिलन' का पदार्पण होता है, संयोगानंद की अनुभूति होती है। इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए साधकों ने अनेक रूपक बांधे हैं और संबंध को अधिक स्पष्ट करने के लिए रूपक-योजना आवश्यक भी है। इस रूपक-योजना में कबीर की कला और भावुकता, दोनों का समन्वय है। कबीर के हर्षोन्माद का एक रंगीन चित्र देखिये—

"दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत बराती।
रांमदेव मोरै पाहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।
सरीर सरोबर बेदी करिहूं, ब्रह्मा बेद उचार।
रांम देव संगि भांवरि लैहूं, धंनि धंनि भाग हमार।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी[1]॥"

मिलन की दशा में हर्षातिरेक का होना स्वाभाविक है, किन्तु कृतज्ञता-ज्ञापन भी उस दशा की एक सहज स्फूर्ति होती है जिसमें भाग्य की सराहना के साथ-साथ प्रिय के अनुग्रह का भी द्योतन है :—

"बहुत दिनन थैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठें आये।
× × × ×
मैं रंमि रासी जे निधि ताई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हा[2]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १
२. कबीर ग्रंथावली, पद २

कबीर की साधनात्मक अनुभूति में सुहाग-रात का भी बड़ा मनोहर स्थान है। सुहाग-रात के बिना दाम्पत्य जीवन कैसा ! प्रिय को अंक-पाश में डाल कर मिलना सौभाग्य की चरम स्थिति है। कबीर इस दशा के निमित्त अपने भाग्य की बड़ी सराहना करते हैं। कबीर का मन मधुर मिलन में डूब जाता है। आनन्द की यह सहजावस्था है किन्तु यह परिणाम है प्रियतम की कृपा का, जिसे भारतीय भक्ति-परंपरा में 'भगवदनुग्रह' नाम से अभिहित किया है। इस दशा को नायिका स्थायीरूप में चाहती है। किसी भी प्रकार वह प्रियतम को छोड़ना पसंद नहीं करती। अनुनय-विनय से, अपनी अनेक मनुहारों से वह प्रिय के मन पर जादू डालती है। देखिये—

"अब तोहि जान न देहूं राम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होउ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घर बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियायी, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोखैं, कहै कबीर परहु मत धोखैं[1]।"

मिलन दाम्पत्य-भावना की अंतिम सीढ़ी है किन्तु यहाँ भी दो प्रकार की दशाओं की अनुभूतियाँ होती हैं—एक में साधक प्रिय के साथ संपर्क की अनुभूति करता है और दूसरी में तादात्म्य का। यह स्थिति वाणी और मन की पहुँच से बाहर की चीज़ है। इस स्थिति को किसी कवि ने 'आपको पाते वही जो आपको पाते नहीं' कह कर व्यक्त किया है। निकल्सन[2] सूफी साधक के संबंध में लिखता हुआ कहता है—"जो ईश्वर को जानता है वह मौन हो जाता है। गीता ने भी मौनी को ही सच्चा मुनि बतलाया है।" कबीर भी अपनी इसी दशा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

"अबिगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मनहीं मन रहसै, गूंगै जांनि मिठाई[3]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ३
२. देखिये, मिस्टिक्स आफ इस्लाम, पृष्ठ ७१
३. कबीर ग्रंथावली, पद ६

कबीर के ये शब्द हमें उनकी आनंदावस्था की झाँकी कराते हैं किन्तु यह चरमावस्था नहीं है। यह वह अवस्था है जिसे कबीर 'सुरति' नाम से अभिहित करते हैं। यह मिलन-जन्य भाव-मग्नता की दशा है। भारतीय साधक तो इससे आगे भी एक अवस्था प्राप्त करता है जो कबीर ने भी प्राप्त की है और उसमें जाकर साधक और साध्य जल में जल के समान मिलकर 'अद्वैत' हो जाते हैं और कबीर इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

"जग में देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो[1]।"

और वे यह अनुभव करते हैं—

"मैं सबनि में औरनि में हूँ सब।"

वास्तव में यह स्थिति बुद्धि के परे की चीज़ है। यहाँ साधक और साध्य में ऐसी एकता आजाती है कि भेद नाम की चीज़ साधक के सामने ही नहीं आती और वह पूर्ण विश्वास से कह उठता है—

"हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरे तो हम काहे कू मरिहैं[2]।"

इसमें सन्देह नहीं कि संतकाव्य की पीठिका रहस्यवाद है किन्तु कबीर का पढ़ाया हुआ पाठ ही उत्तरवर्ती सन्तों ने दुहराया है। भाव के माध्यम से अद्वैत स्थिति का प्रकाशन ही सन्तों के रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है जो कबीर की वाणी में अपने ढंग से व्यक्त हुई है। लगता तो ऐसा है कि कवीर का ज्ञान सर्वत्र छलक रहा है किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि ज्ञान कबीर की अनुभूति में इतना घुल-मिल गया है कि कहीं-कहीं उसको भावना से अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। कुछ आलोचक कबीर को केवल ज्ञानी कह कर उनकी वाणी के भाव-पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं जो ठीक नहीं है। यह ठीक है कि उन्होंने उपास्य से पृथक अपनी सत्ता की घोषणा नहीं की है किन्तु अद्वैत की स्थिति ऐक्य की अनुभूति से उदित होती है, ऐसा स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। यह कहना अयुक्त नहीं कि अद्वैतभाव को दृढ़ बनानेवाली वस्तु

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ५०

२. कबीर ग्रंथावली, पद ४३

कबीर की विप्रलंभ की भावना ही है। कबीर की भावना उनके अद्वैतवाद पर आरूढ़ हो जाती है इतनी कि वे संबंध में आविष्ट होकर किसी सैद्धान्तिक निर्णय को खो बैठते हैं। भावना का यही अतिरेक उन्हें राम को न एक कहने देता है और न दो—

"एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥"

इस साखी की दूसरी पंक्ति द्वैत और अद्वैत, दोनों का विरोध करके अनिर्वचनीयवाद की प्रतिष्ठा करती है। इसमें सिद्धान्त-पक्ष भावना में डूब गया है, इसी कारण कबीर के राम-संबंध में किसी परिभाषा के लिए शब्द दुर्बल ही नहीं, अयुक्त सिद्ध होते हैं और शायद इसी कारण स्वर्गीय रामकृष्ण शुक्ल ने कबीर को दार्शनिक, भक्त, कवि आदि सभी कोटियों से निकाल दिया है। कबीर संबंधी ज्ञान और भक्ति को समझने के लिए उनकी भावना को सामने रखना परमावश्यक है। कबीर बड़े भावुक हैं और उनकी भावुकता ही उनकी साधना की सर्वोच्च वृत्ति है।

(कबीर की रहस्य-साधना का दूसरा स्वरूप योग-परक है। इस साधना पर सिद्धों और नाथों का भी कुछ प्रभाव प्रकट होता है।) कहने की आवश्यकता नहीं कि सिद्धों और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से समुपेत किया।) यों तो नाथों की योग-पद्धति में भी कुछ आध्यात्मिकता आगयी थी और उन्होंने अपनी योग-साधना को ईश्वरनिष्ठ बना दिया था किन्तु कबीर ने योग के कायिक पक्ष में ऐसा संशोधन किया कि उसमें नाथ-पद्धति का बहुत कुछ अंश होते हुए भी उसके मौलिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसमें मौलिकता आयी उसे भावना और ज्ञान से समन्वित करने के कारण। फिर भी उसमें भावना का वह रंग नहीं है जो दाम्पत्य-प्रेम-साधना में दीख पड़ता है। उनको हरि का, शिव-पार्वती-संयोग, अपना और हरि का संग— ये सब अनुभूतियाँ होती हैं जिनमें ज्ञान और प्रेम का भी पुट मिलता है। (उनकी योगपरक रहस्य-साधना की एक झाँकी इस पद में देखिये—

"पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली, फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी भूली॥

द्वादस कूंवा एक बनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि बाड़ी पावै।)
ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया।
त्रिकुटी चढ्यौ पावढौ ढारै, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं, गुर मुषि बीज बिचारी।
भरी छाबड़ी मन बैकुंठा, सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि हम एकै संगा[1] ॥"

इस प्रकार कबीर पिंड में भी ब्रह्माण्ड के सारे खेल देखते हैं जो वास्तव में बड़े रहस्यात्मक खेल हैं।) इन रहस्यों का दर्शन साधक को उल्टी चाल[2] से होता है।) इसी को रूडोल्फ अन्तदृष्टि की एकता की प्रक्रिया कहते हैं। उपनिषत्-कारों ने भी ऐसे रहस्यों का उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर[3] उपनिषद् में बतलाये हुए योगी के रमण के स्थान कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बृहदारण्यक[4] में आत्मान्वेषी की अनेक झाँकियों का विशद उल्लेख किया गया है कि 'उसे केसरिया रंग के वस्त्र, रक्तिम तितलियाँ, अग्नि-शिखाएँ, विकच कमल और कौंधती हुई बिजलियाँ दिखायी पड़ती हैं। कबीर-वाणी में रहस्यपूर्ण दृश्यों और ध्वनियों का अभाव नहीं है। (भक्ति और ज्ञान के पुट से कबीर की योगपरक वाणी रहस्यात्मक कुतूहल से परिपूर्ण है।) उसमें कायिक संकेत होते हुए भी माधुर्य छलकता मिलता है। इसका कारण उनकी भावना का वह पुट है जो उनकी साधना का सार ही नहीं आधार भी है। कबीर की साधना का कायिक पक्ष भी सूक्ष्म के परिचय के निमित्त है। इस चंचल एवं स्थूल पदार्थों में रमनेवाले मन को स्थिर एवं सूक्ष्म बनाने के लिए लौटाने की चेष्टा करते हैं। स्थूल सांसारिक पदार्थों से निकाल कर उसे परमात्मा में लगा कर उसको तद्वत कर देना ही उनके योग का लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए कबीर अपने मन

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २१४
२. कबीर ग्रंथावली, पद १७०
३. श्वेताश्वतर १/२
४. बृहदारण्यक १/५

को प्रेम की रस्सी में बाँध कर अपने माधौ[1] के पास खींच ले जाते हैं। कबीर का 'माधौ' भी एक रहस्यात्मक सत्ता है और उसके आवास को भी इन्होंने रहस्यमय ढंग से प्रकट किया है :—

"चमकै बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत।
अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रि-स्नांन करै श्रीखंड।
अगम अगोचर अभि-अंतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा।"

× × × ×

"टारचौ टरै न आवै जादू, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ।"

× × × ×

"कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास।
द्वादस दल अभि-अंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यंत॥"

× × × ×

"तहाँ न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनंद।"

× × × ×

"जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणीं तिरै[2]॥"

इस पद में कबीर की मनोसाधना का रूप स्पष्ट है। 'सहज सुंनि', 'रिदा पंकज', और 'जोति' योग-संबंधी प्रतीक शब्द हैं जिनसे साधना-पद्धति का परिचय मिलता है, 'धरणींधर' आदि शब्दों के प्रयोगों से यह भी स्पष्ट है कि कबीर ने अपनी वाणी में पौराणिकता का भी पुट दिया है, किन्तु उनके पौराणिक प्रयोग सांकेतिक हैं। इस योगपरक साधना के मूल में कबीर की मनोसाधना का आधार मिलता है और उसे प्रेम से सरसीत करके वे अपनी अभिव्यक्ति को मधुर बनाते हैं। फिर भी ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जिनमें रहस्यवाद के तत्त्वों का समावेश पूर्णरूप में नहीं है। रहस्यवाद का संबंध अभिव्यक्ति से जोड़ कर कुछ विद्वानों ने उसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। ऐसी वाणी में कबीर ने निश्चित प्रतीकों का प्रयोग किया है। चौंसठ दीया, चौदह चंदा, सोलह पवन आदिक शब्दों में नियत अर्थ निहित है और संख्या शीघ्र

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २१३
२. कबीर ग्रंथावली, पद ३२८

ही हमें अर्थ तक ले पहुँचती है। कबीर के समय में संख्यावाचक प्रतीकों का अधिक प्रचलन था, किन्तु कबीर ने इनके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो छोटे-मोटे रूपक प्रतीत होते हैं। ब्रह्म-नालि, भँवर गुफा आदि शब्द कबीर की वाणी में नियत अर्थ प्रकट करते हैं और अर्थ-द्योतन की यह प्रणाली सिद्धों की वाणी में अधिक प्रचलित हो गयी थी। नाथपंथी भी इस प्रयोग-परंपरा का सर्वथा परित्याग न कर सके। यदि सामान्य दृष्टि से देखें तो कबीर ने अपनी उलटबांसियों में सिद्धों और नाथों की परंपरा की ही रक्षा की है, किन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर की उलटबांसियाँ केवल कूट हैं। हम उनका समुचित मूल्यांकन उस समय तक नहीं कर सकते जबतक कि उनको साधना की पृष्ठभूमि में रख कर न देखें। वास्तव में वे कबीर की साधना का अन्यतम परिणाम हैं। इनमें सिद्धों की वाणी की भाँति कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं है क्योकि उसमें न तो किसी सामाजिक कुत्सा का समावेश है और न किसी हेय साधना-पद्धति की ही दुर्बलता। सिद्धों की दुर्बलता उन्हें उसे छिपाने के लिए विवश करती थी और वे नहीं चाहते थे कि उनकी साधना किसी ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़े जो उसे पूर्ण श्रद्धा प्रदान न कर सके किन्तु कबीर के सब ताश खुले हैं। उनकी साधना के सब पहलू पूर्ण प्रकाश में हैं। अतएव जब वे—

> "चींटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यौ चोड़े।
> मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, बछा दूध उतारै॥
> ऐसा नवल गुंणीं भया, सारदूलहि मारै॥"

आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं तो कुछ छिपाने के लिए नहीं वरन् अपनी अनुभूति को सामान्य शब्दों में सरलतम ढंग से प्रकट करने के लिए। इसका संबंध साधना से होने के कारण असाधक को ये उक्तियाँ उलटी लग सकती हैं, उसे ये रहस्यमय दीख सकती हैं, किन्तु वास्तव में इनके पीछे एक साधनात्मक अनुभूति है। इनमें केवल साधक का रहस्यानुभव है जो पाठक को चाहे कूट प्रतीत हो किन्तु कबीर के लिए प्रकाशमय था। यह ठीक है कि बहुत से नीरस रहस्यपूर्ण वर्णनों से कबीर की वाणी भरी पड़ी है जिनसे वह निम्न कोटि की होगयी है और उसमें रहस्यवाद की मधुरता नहीं आयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की वाणी में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्तिमूलक, तीनों प्रकार के रहस्यवाद के उदाहरण मिल सकते हैं। इन

सब पर कबीर की विचार-प्रधानता का प्रभाव है किन्तु 'दाम्पत्य भाव' से संबंधित उदाहरणों में भाव-लहरियां भी स्पष्ट हैं। भावात्मक रहस्यवाद के उदाहरण कबीर-वाणी में थोड़े ही हैं किन्तु जो हैं उनमें अनुभूति बड़ी गहन और मार्मिक है। अधिकांश रहस्यवादी उक्तियाँ यौगिक पारिभाषिक शब्दों, विविध संख्याओं एवं यौगिक प्रक्रियाओं से प्रभावित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ कबीर की रहस्योक्तियाँ योग और अद्वैत दर्शन से मुक्त हैं वहाँ उनमें सुन्दरतम रहस्यवाद दिखायी दे सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्योक्तियाँ रहस्यवाद की किसी एक कोटि में नहीं रखी जा सकतीं क्यों उन्होंने सत्य को हर पहलू से देखने और पकड़ने का उपक्रम किया है और इसी चेष्टा ने उनकी वाणी में रहस्यवाद की अनेक कोटियाँ प्रस्तुत करदी हैं। साथ ही कबीर की रहस्योक्तियों में प्रवृत्यामकता की प्रतीति होती है, उसमें ऐकान्तिकता नहीं दिखायी पड़ती। कबीर केवल दार्शनिक या भक्त ही नहीं थे, अपितु विचारक, सुधारक, उपदेशक होने के साथ-साथ गृहस्थ भी थे। इसीलिए वे 'प्रवृत्ति' का परित्याग नहीं करते। वे संसार, शरीर, धन, धाम आदि के प्रति अनासक्ति की भावना अवश्य उत्पन्न करना चाहते हैं परन्तु घरबार छोड़कर वनवास लेने का उपदेश कहीं नहीं देते। कबीर का रहस्यवाद चाहे किसी कोटि का हो किन्तु प्रेम की रंगीनी सर्वत्र मिलेगी। उनकी वाणी ने जहाँ यौगिक या पारिभाषिक शब्दावली को अपनाया है वहाँ भी प्रेम-तत्त्व का अभाव नहीं मिलता। इसी प्रेम-तत्त्व ने कबीर के रहस्यवाद में सर्वत्र एक अलौकिक आनन्द-तत्त्व उत्पन्न कर दिया है और यह आनन्द-तत्त्व अद्वैत-भावना पर आधारित है जिसकी मादक अनुभूति में कबीर कह उठते हैं :—

"हम सब माँहि सकल हम मांहीं
हमतें और कोउ दूसर नाहीं ॥"

यह अद्वैत-तत्त्व कबीर को कर्मवाद से मुक्त नहीं करता। कर्मवाद को स्वीकार करके उन्होंने पुनर्जन्मवाद को भी मान्यता प्रदान की है जिसमें विकास की भावना निहित है। कबीर का सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है जिसकी विशेषता है उसकी सक्रियता जिसकी छाप उनकी रहस्यानुभूतियों में स्थान-स्थान पर लगी दिखायी पड़ती है।

: २० :

भारतीय भक्ति-परंपरा में कबीर की भक्ति

भक्ति-परंपरा—भक्ति एक मनोभाव है जो अव्यक्त सत्ता के अवलंबन से रसरूप में निष्पन्न होता है। भक्ति शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। सेवा का आलंबन कोई भी हो सकता है किन्तु भक्ति का अपरिहार्य रूप 'ईश्वरोन्मुखता' और 'अनन्यता' में निहित है। भक्ति के इसी रूप की प्रतिष्ठा शांडिल्य के 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[1] सूत्र में हुई है। यही भक्ति की सामान्य परिभाषा है। इससे विदित होता है कि भक्ति के प्रमुख अवयव दो हैं—परमात्मा की ओर अनुराग की प्रबलता और उसीके लिए उसका समर्पण। काम, लोभ और मोह के आलंबन के प्रति प्रबल अनुरक्ति रह सकती है किन्तु वे सब नश्वर हैं अतएव उनकी परिमिति सिद्ध है। उनके विपरीत परमात्मा अनन्त और असीम है अतएव अनन्य अनुराग का निर्वाह उसीके प्रति संभव और सफल है।

पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास अनन्य भक्ति के प्रमुख लक्षण हैं। इनके उदय में परिस्थितियों का विशेष स्थान होता है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी आदि भक्त-भेद परिस्थितियों की ओर संकेत करते हैं। आर्त अपनी विवशता में परमात्मा की शरण लेता है। आर्त के भी अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु हर-एक के भाव की चरम परिणति 'परानुरक्ति' में होती है और वही वास्तव में भक्ति है।

जब से मनुष्य अपनी विवशता में अथवा प्राकृतिक विराटता में किसी अव्यक्त शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगा तभी से उसमें आस्तिक्य-भाव

---

१. शांडिल्य-सूत्र, २

का बीजारोपरण हो गया और जब उसको अपनी और प्रकृति की शक्ति का एक ही प्रेरक और संचालक विश्व के पर्दे के पीछे आभासित होने लगा तब उसका भाव पल्लवित हो गया किन्तु भक्ति-भाव की प्रतिष्ठा तो वास्तव में उस समय हुई जबकि मनुष्य असीम विराट् शक्ति से डरने के स्थान पर प्रेम करने लगा। वहीं से भक्ति के इतिहास का प्रारंभ होता है।'[1] इस प्रकार भक्ति की भूमिका में भय और प्रेम, ये दो क्रमिक सरणियाँ परिलक्षित होती हैं। भय में रक्षा का भाव प्रधान था और प्रेम में प्रिय के आल्हादन का भाव, जिसमें स्वाल्हादन भी निहित था। भय के अनेक आलंबन प्रकट हुए किन्तु विवेक से परिष्कृत प्रेम एकोन्मुख होता चला गया एक असीम शक्ति की कल्पना के साथ अनन्यता एवं आत्मसमर्पण की भावना भी उदित हुई और फिर "हे मेघों के अधिराज! तुम वज्र गिराकर अथवा अववर्षण से कृषि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना" —के स्थान पर "हे इन्द्र जिस प्रकार पिता पुत्रों को अपना दुलार देता है उसी प्रकार आप हमको अपना प्रेम प्रदान कीजिये" अथवा "हे परमात्मन! आप ही हमारे माता-पिता हैं, हमें अपना प्रेम दीजिये" आदि स्तुतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धर्म-देव वरुण थे। वे ऋत (सत्य) के संरक्षक थे। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही संभव माना गया था। लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-संरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञान्न को देवताओं तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को इतना महत्त्व नहीं दिया गया था जितना उनको आगे चल कर मिला। वैदिक काल का मानव अपने जीवन का अभ्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था और उन्हीं के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि भिन्न-भिन्न शक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना के साथ आर्यों ने एकेश्वरवाद

---

१. तुलसी दर्शन, पृष्ठ ३९

पर भी अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है। इसी कारण वैदिकों की निष्ठा एक से दूसरे देव पर बदलती रही। सर्वशक्तिमत्ता का आरोप जिस देव के कार्य में होता गया उसी की महिमा बढ़ती चली गयी। वरुण से इन्द्र और फिर विष्णु को जो महत्त्व मिला उसका मूल कारण यही था।

ऋग्वेद में विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो सर्वस्य) हैं और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग का राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणों से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि एक समष्टि-शक्ति मंत्रकाल में ही नाना रूपों और व्यापारों द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग गयी थी। आगे चलकर उन सब देवों का ही तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा करदी गयी। इससे धर्म के इतिहास में दो नयी बातों का समावेश हो गया—एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति। ये ही दोनों तत्त्व आगे चलकर भक्ति के आधार के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए।

मानवीय स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियों ने भी दो रूप धारण कर लिये—एक तो वह रूप जिसमें अनेक क्रियाओं से चमत्कृत होकर किसी अदृश्य नियन्ता को प्रधानता दी जाने लगी और दूसरा वह रूप जिसमें उस नियन्ता की वस्तुओं से चमत्कृत होकर प्रत्यक्ष को प्रधानता दी गयी। इन दोनों पद्धतियों में उनके अपने-अपने प्रतीक स्थिर कर लिये गये। इस प्रकार प्रथम पद्धति में अग्नि-पूजा (यज्ञ में) और दूसरी में सूर्य-पूजा प्रतिष्ठित हुई, धीरे-धीरे यज्ञ से रुद्र[1] का तादात्म्य हो गया और सूर्य से विष्णु[2] का। इस प्रकार कालान्तर में शिव और विष्णु की पूजा ने प्रधानता प्राप्त कर ली। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक प्राकृतिक व्यापारों में सृष्टि, स्थिति और लय का ही विशेष महत्त्व था। अतएव स्थिति और लय के अधिष्ठाता देव के रूप में जहां

---

१. देखिये, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का शिवांक (कल्याण) में लेख, तथा आचार्य ध्रुव कृत 'हिन्दू धर्म प्रवेशिका'।

२. देखिये, इस संबंध में ए० बर्थ कृत 'दि रिलीजन्स ऑफ इंडिया', इस संबंध में भंडारकर की सम्मति भी देखने योग्य है।

विष्णु और रुद्र (शिव) का महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ वहाँ सृष्टि के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा का महत्त्व भी अक्षुण्ण रहा किन्तु अदृष्ट की प्रधानता के साथ महाकाल की प्रधानता और प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ महास्थिति की प्रधानता सम्बद्ध रहने के कारण विशेष पूजा के पात्र शिव और विष्णु ही माने गये।[१]

वैष्णव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमें विष्णु को सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदों के वे मंत्र भी जो इतर देवों से संबंधित हैं विष्णुविषयक बना दिये गये हैं। यही देव तैत्तिरीय आरण्यक में 'नारायणत्व' प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि हैं जिनको 'पांचरात्र' लोग विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं।[२]

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ दीख पड़ता है, जो ज्ञान-काण्ड का ही एक अंग है। ज्ञान-काण्ड के दो मार्ग हैं—एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्मपरक ज्ञानमार्ग। कर्मपरक ज्ञानमार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय, दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय-तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति-मार्ग आरंभ हो गया अथवा यों कहिये कि मानवीय बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से संचालन प्रारंभ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परंपरा का आधार उस समय का दर्शन था। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनन्द-स्वरूप, मानव आनन्दका स्रोत भी मान ली गयी। जब वह शक्ति रस और आनन्दमय दीख पड़ी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गयी। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक

---

१. देखिए, ए० बर्थ—दी रिलीजन्स आफ इंडिया, पृष्ठ २५५ (१८८२ ई० का संस्करण)

२. देखिये, लेखककृत भक्ति-दर्शन, पृष्ठ २०५

हो गयी; पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नों से पा सकते हैं? कठोपनिषद् ने इसका उत्तर 'नकार' में दिया। "वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहुश्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करता है उसीको उसकी प्राप्ति होती है। उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है।" स्पष्टतः इससे भक्ति मार्ग का 'अनुग्रह' सिद्धान्त प्रतिपन्न हो जाता है। श्वेताश्वतर[1] उपनिषद् में अनुग्रह सिद्धान्त की ओर और भी अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है। उसीसे प्रपत्ति[2] भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में ही हुआ है, किन्तु जिस भक्ति का बीज-न्यास वेदमंत्रों में और पल्लवन उपनिषदों में हुआ, वही महाभारत के समय के आसपास विकसित एवं समुज्वल रूपमें प्रकट होती है।

उपनिषद् काल में ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गयी थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र में अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पूर्णरूप से निर्भय हुआ। ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद् काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्म-काण्ड से ऊब उठी थी, वह भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

वैदिक साहित्य के समान ही प्राचीनता का दावा रखनेवाला आगम-अथवा तंत्रसाहित्य है। हिन्दी-विश्व-कोषकार का कथन है कि इस शास्त्र के सिद्धान्त बाहर से यहाँ आये। संभव है वे शकदेश से यहाँ आये हों। वे अधिकांशतः शाक्त सिद्धान्त हैं और सर्वशक्तिमान् को पितारूप में नहीं प्रत्युत माता रूप में भजने की सलाह देते हैं। उन्होंने कई अनार्य[3] पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं। यह सब होते हुए भी उन्होंने आर्य देवों को लेकर और विशेषतः रुद्र-शिव

---

१. श्वेताश्वतर उप० ६.२३

२. देखिए, श्वेता० उप० ६.२३ तथा २.७

३. देखिए, कुब्जिकामत तंत्र तथा वसुकृत हिन्दी-विश्व-कोष, पृष्ठ ६९७, बाईसवाँ भाग

को लेकर सर्वशक्तिमान् की साकार कल्पना[1] और विधि विधानमयी उपासना-पद्धतियों तथा मंत्रों और मंत्र-विधानों की अच्छी सृष्टि की है। भक्ति-मार्ग पर इन ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव[2] पड़ा है। देवीसूक्त ने तो वैदिक साहित्य तक में आसन पा लिया है। शैव सम्प्रदाय भी बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आश्रित है। वैष्णव सम्प्रदाय के पंचरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत कहे जाते हैं। आज जो तंत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे वैदिक संस्कृत में न लिखे होने के कारण अर्वाचीन ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के सिद्धान्त वैदिक काल में विद्यमान् नहीं थे। यजुर्वेद का "सहस्वस्राम्बिकया तं जुषस्व"[3] वाला मंत्र बताता है कि उस समय भी अम्बिका का महत्त्व रुद्र की बराबरी तक पहुंच गया था।"[4]

इनके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग संबंधी अन्य ग्रन्थ पुराण हैं। इनका मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। पुराणकारों ने वैदिक देवताओं और तत्संबंधी कथाओं का जैसा संस्कार किया है उसे देखकर कभी-कभी उनकी प्रतिमा पर विस्मय होने लगता है। पुराणों में देवताओं के आकार, आयुध, वाहन आदि की कल्पना उनके (देवताओं के) गुणों और उनकी कृपाओं के अनुसार की गयी है[5] और इस संबंध में आगमों से पर्याप्त सहायता ली गयी प्रतीत होती है। देवताओं के नाम, रूप, लीला और धाम की महिमा निरूपण भी उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार किया गया है। उनकी आकृति और प्रकृति का तालमेल भी पुराणों का एक अपूर्व अनुदान है। उन्होंने परमात्मा को पूर्ण व्यक्तित्वविशिष्ट निरूपित करके भावुक व्यक्ति के लिए सुलभ कर दिया। इतना ही

---

१. चिन्मयस्या प्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥
—कुलार्णव तंत्र, पटल ५, अध्याय ६

२. आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
नहि देवा प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः ॥—विष्णुयामल तंत्र

३. देखिये, यजुर्वेद ३-५७

४. देखिये, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—तुलसी दर्शन, पृष्ठ ३९-४०

५. इस संदर्भ में हेवेल महोदय के ग्रन्थ देखने योग्य हैं।

नहीं पुराणों ने ईश्वरोपासना को लोककल्याण की भावना से युक्त करके उसे सर्वसाधारण के लिए सरल बना दिया और सात्विक आस्तिक्य और लोक सेवा पर आधारित भक्ति-तत्त्व को स्पष्ट किया।

वैष्णव धर्म ने कुछ और आगे बढ़कर आधिभौतिक पंचतत्त्वों के अनुसार परमात्मा को जिन पाँच रूपों में व्यक्त किया वे हैं सूर्य, गणेश, देवी, शंकर और विष्णु। काल-क्रम से सूर्यपूजा शिथिल होती गयी और तांत्रिक लोगों से अपनायी जाने के कारण गणपति तथा देवी की पूजा भक्ति-मार्ग में गौण बन गयी। सूर्यपूजा को नवग्रह पूजा में समाविस्ट करके और गौरी-गणेश को प्रथम पूजा का अधिकारी मान कर भक्तों ने उनसे छुट्टी ली। भक्ति-क्षेत्र में शैव-सम्प्रदाय का दौर-दौरा रहा किन्तु भावुकों के लिए वह वैष्णव-सम्प्रदाय के समान प्रबल आकर्षण प्रदान न कर सका। परिणाम यह हुआ कि भक्ति का प्रामुख्य वैष्णव-सम्प्रदाय के हाथों में आगया। वैष्णव भक्ति ने तत्त्वांश निगमों से, कर्मांश (अनुष्ठान-विधि, साधन-क्रिया आदि) आगम साहित्य से तथा भावांश (नाम, रूप, लीला और धाम से संबंधित अनुरक्ति) पुराण-साहित्य से लेकर अपने को पुष्ट एवं सुडौल बनाने का सफल प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रुद्र का महत्त्व ऋग्वेद-काल में ही परिवृद्ध हो चुका था। यजुर्वेद ने उसको और भी व्यवस्थित किया। यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी तो आज तक शिव-पूजा में व्यवहृत होती है। महादेव-पूजन के मूल में आर्यों और अनार्यों की संस्कृति का समन्वय तो दीख ही रहा है साथ ही उससे उस समय शिवपूजा के प्राधान्य का परिचय भी मिलता है। देव और राक्षस, दोनों ही समान रूप से शिव-भक्त होते थे, यह बात आर्यों और अनार्यों के सांस्कृतिक समन्वय का संकेत देती है। यही शिव-पूजा बाद में अनेक सम्प्रदायों में प्रकट हुई जिनमें पाशुपत संप्रदाय (नकुलीश सम्प्रदाय), कालामुख संप्रदाय (अघोरी), शैव संप्रदाय (कश्मीर में) और वीर शैव संप्रदाय अथवा वसवाचार्य का लिंगायत संप्रदाय प्रमुख हैं। विष्णु की उपासना का इतना प्रचार क्यों हुआ, यह एक मार्मिक प्रश्न है। वह शायद इसलिए हुआ कि विष्णु पूजा को अपने प्रवर्तन के लिए कृष्ण के समान सार्वभौम आचार्य जो मिल गया।

भक्ति का तात्त्विक निरूपण सबसे पहले भगवद्गीता में मिलता है जो महाभारत का एक अंश है। महाभारत काल के आस-पास भगवान् का जो

उपास्य स्वरूप सामने आया वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्री कृष्ण को उस समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिसने अर्जुन को अपने विराट रूप का परिचय दिया था। एक ही देव वासुदेव में गुण-समष्टि की कल्पना उनके विराट स्वरूप को सिद्ध करती है। वासुदेवोपासना परम व्याकर्ता पाणिनि (५० ई० पूर्व) के समय में भी होती थी।

भगवान् वासुदेव के भक्त भागवत कहलाए। यह कहा जाता है कि वैदिक धर्म में सबसे पहला और सबसे प्रबल सुधार करने वाले श्री कृष्ण थे और वही वैष्णव धर्म के आदि आचार्य भी माने जाते हैं।

महाभारत की कुछ कथाओं से ऐसा इंगित भी मिलता है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, वसिष्ठ आदि भी भक्ति के आचार्य हो गये थे[1] किन्तु उनका कोई गीता-जैसा ग्रन्थ नहीं मिलता और न उनकी ऐतिहासिकता के संबंध में कोई प्रमाण ही मिलते हैं। श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। ऋग्वेद संहिता में श्री कृष्ण का नाम आया है। वे कई सूक्तों के रचयिता हैं। यजुर्वेद में कृष्ण केशी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण का उल्लेख मिलता है और वहाँ वे ऋषि 'घोर आंगिरस' के शिष्य बतलाये गये हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे वैयाकरणों की कृतियों में 'वासुदेवक' जैसे शब्द और 'कंस-वध' जैसी लीलाओं का उल्लेख है। साथ ही 'चिरहते कंसे,' "जघान कंस किल वासुदेवः" जैसे वाक्यों में 'चिर' और 'किल' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि श्री कृष्ण इन वैयाकरणों से पहले हुए थे।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र[2] को बौद्धों के ललितविस्तर में बुद्ध के समय वासुदेवक, पाञ्चरात्र आदि वैष्णव सम्प्रदायानुयायियों के विद्यमान होने का उल्लेख भी मिला है। निद्देश (बौद्ध ग्रन्थ) और उत्तराध्ययन सूत्र (जैन ग्रन्थ) भी वासुदेव की चर्चा करते हैं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के मेगास्थनीज़ ने भी मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुल ईश का उल्लेख किया है। बेस-

---

१. देखिये, वसु उपरिचा और चित्रशिखंडियों की कथाएं (महाभारत में)

२. देखिये, तुलसी-दर्शन, भक्ति का विकास

नगर (ई० २०० पूर्व) और घासुण्डी (उससे पहले का) के शिलालेखों में भी 'देवदेवस वासुदेवस'[1] और 'संकर्षण और वासुदेव[2] की पूजा' का उल्लेख मिलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शैव, वैष्णव और महायान धर्मों का एक दूसरे पर गहन प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। इतना ही नहीं जैनधर्म के अनेक सिद्धान्त भी वैष्णव धर्म में आ मिले। इधर जैन-धर्म में भी प्रेम-तत्त्व की वृद्धि होने लगी। इस प्रकार वैष्णव धर्म एक पुष्ट स्वरूप लेकर खड़ा हुआ।

कहा जा चुका है कि भक्ति का प्रधान ग्रन्थ गीता महाभारत का ही एक अंग है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह उपनिषदों का सार है। फिर भी गीता की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन उपनिषद् स्पष्टतः अद्वैतपरक हैं। गीता में ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है और उसमें भक्ति का महत्त्व अधिक है। उपनिषदों के वैराग्य और संन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गयी है। साथ ही संन्यास की वृत्ति को अक्षुष्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श को लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वित करने का प्रयास भी स्पष्ट है। समन्वय की भावना गीता की विशेषता है। अतएव गीता का धर्म एक नया धर्म है जो वैदिक धर्म का एक संशोधित रूप है।

इस धर्म में कामना से पूर्ण द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा मानसिक साम्य के ज्ञानमय यज्ञ (त्याग) को प्रधानता दी गयी। लोक-संग्रह-प्रवर्तक वैष्णव भाव को महत्त्व देकर गीता ने ऐश्वर्य और विलास को एक बड़ी भारी चुनौती दी। मुक्ति का द्वार मनुष्यमात्र के लिए खोल दिया गया और भगवान् की शरण में लाने का अधिकार हर किसी को दे दिया गया। 'अनासक्ति' पर बल देकर लोगों की प्रवृत्ति दैवी संपत्तियों की ओर बढ़ायी गयी। ऐसी बात नहीं कि वैदिक साहित्य में इन सिद्धान्तों का अभाव था किन्तु गीता की विशेषता

---

१. देखिये, भंडारकर कृत 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म'

२. देखिये, राय चौधरीकृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट'

तो यह थी कि उसमें उपादेय विषयों को चुनकर लोक-संग्राह्य रूप दिया गया और इसी में श्रीकृष्ण की महत्ता निहित है।

श्री कृष्ण ने नये धर्म का प्रवर्तन अवश्य किया और यह भी कहा कि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुणयो भवार्जुन' किन्तु वेदों की निन्दा में एक वाक्य भी नहीं लिखा। फिर भी धार्मिक संशोधन स्पष्ट है। इस कुशल संस्कार का फल यह हुआ कि 'ब्राह्मण धर्म' अलक्षित रूपसे वैष्णव धर्म में परिणत हो गया।

श्रीकृष्ण के महत्त्व का एक बड़ा प्रमाण तो इसमें निहित है कि उनके समकालीन भीष्म और व्यास जैसे अतुल शक्तिशाली और अतुल विचारशील महापुरुष भी उनके अनुयायी हो गये और उनका समग्र कुटुम्ब "इस नवीन धर्म में दीक्षित होकर वैष्णवों के लिए 'सात्वत' और 'वार्ष्णेय' सरीखे शब्दों की धरोहर छोड़ गया जो वैदिक साहित्य तक में पाये जाते हैं।"[१] उनके 'निष्काम कर्म' और 'अहिंसा धर्म' की दुंदुभि भारत में ही नहीं विदेशों तक में जा बजी।

भक्ति-मार्ग का लक्ष्य कला के सहारे निराकार को साकर के रूप में प्रस्तुत करके समझाना है। जिस परमात्मा को इन्द्रियों, वाणी और मन से परे बतलाया जाता है उसीको भक्ति-मार्ग ने भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया है। संभवतः इस भाव की सम्यक् अनुभूति सबसे पहले नारायण ऋषि ने की थी। 'पुरुषसूक्त' में परमात्मा ने कदाचित् सबसे पहले पुरुष की संज्ञा प्राप्त की। यह रचना 'कलात्मक भाव' का एक अपूर्व उदाहरण है। आश्चर्य की बात नहीं कि श्रीकृष्ण ने नारायण ऋषि के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर उनको अतिमानवी महत्त्व दिया हो। राय चौधरी[२] का कहना है कि परमात्मा के लिए नारायण नाम का प्रयोग सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में दिखायी पड़ता है और तैत्तिरीय आरण्यक में वह (नारायण नाम) विष्णुवाचक है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य-उपनिषद् की रचनाओं में विशेष अन्तर नहीं है। अतएव यह अनुमान भी अनुचित नहीं

---

१. देखिये, तुलसीदर्शन—भक्ति का विकास

२. देखिये, राय चौधरी—'अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट' पृष्ठ ६, (१९२० का संस्करण)

है कि कृष्ण के अनुयायियों ने उनके व्यक्तित्व में विष्णु और नारायण की विभूति का चमत्कार देख कर तीनों में अभेद घोषित कर दिया हो।

स्वर्गीय भंडारकर ने नारायण को काल्पनिक (दार्शनिक) देव बतलाया है। वे गोपालकृष्ण को वासुदेवकृष्ण से भिन्न मानते हैं किन्तु श्री कृष्णस्वामी आयंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया' में अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोपाल-कृष्ण और वासुदेवकृष्ण एक ही थे। लेखक भी इसी मत से सहमत हैं क्योंकि नारायण को दार्शनिक या काल्पनिक मानने के लिए कोई विशेष तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया। कृष्णानुयायियों की भावना ने वैष्णव धर्म में अवतारवाद की प्रतिष्ठा करके कृष्ण के पूर्ववर्ती महापुरुषों को विष्णु के अवतारों में समाविष्ट कर लिया। जिस किसी महापुरुष ने लोक मंगल का भार संभाला वही अवतार की सूची में सम्मिलित होगया। परिणामतः कपिल, ऋषभदेव, राम, परशुराम, व्यास, गौतम बुद्ध आदि के नाम अवतारों की सूची में आ गये।

विष्णु के अवतारों में सबसे अधिक महत्त्व राम और कृष्ण को दिया गया किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि राम की महिमा श्रीकृष्ण के बहुत पीछे उदित हुई। भंडारकर महोदय का यह कहना है कि राम को अवतार के रूप में ईसा के पहले ही स्वीकार कर लिया गया था किन्तु राम-भक्ति का प्रचार लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। वाल्मीकि रामायण के वे अंश प्रक्षिप्त माने जाते हैं जिनमें राम के ईश्वरत्व पर ज़ोर दिया गया है। वैदिक साहित्य में तो राम का उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन साहित्य में भी रामविषयक सामग्री बहुत ही कम मिलती है। प्राचीन शिलालेख भी राम के संबंध में प्रायः मौन है। राम के आवतारिक महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों की (जैसे अध्यात्मक रामायण, रामरहस्य, रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी, तार सार आदि) प्राचीनता पर विद्वानों को संदेह है। जो हो, राम के चरित्र में वाल्मीकि ने वह प्रभाव भर दिया था कि भारतीय जनता स्वतः ही उस ओर आकृष्ट हो गयी और राम-भक्ति देश के कोने-कोने में छा गयी।

राम के प्रभाव को प्रखर एवं पूर्ण बनाने में रामायण के अतिरिक्त कालिदास, भास और भवभूति आदि की रचनाएँ भी अपना महत्त्व रखती हैं। कालिदास का रघुवंश राम के साथ राम के परिवार को भी महत्त्व प्रदान करने में सफल हुआ है। तीसरी शती के आसपास भास के नाटकों ने राम के चरित्र को उज्ज्वल दिखाने में भरसक प्रयत्न किया। सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में भवभूति ने महावीर चरित्र और उत्तररामचरित्र लिख कर राम-काव्य के उत्थान में एक बड़ा अध्याय जोड़ा। उत्तररामचरित में लोक-सेवा और आत्म-त्याग जीवन-साधना के प्रतीक हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णव-भक्ति के प्रचार में पुराणों का भी बहुत बड़ा योग रहा है। इनके मूल स्रोत को वेदों में देख कर भी हम रामायण और महाभारत से इनके अटूट संबंध की उपेक्षा नहीं कर सकते। यों तो वैदिक काल में भी पुराण कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते हैं किन्तु पुराणों का वर्तमान रूप पाँचवी शती से मिलने लगा है और तभी से भक्ति-संबंधी अनेक ग्रन्थों को भी प्रेरणा मिलने लगी। वैसे तो पुराणों में भी संप्रदायों का प्रभाव दिखायी पड़ता है किन्तु उपपुराणों में साम्प्रदायिक विषयों की चर्चा अधिक है।

अधिकांश पुराणों का दार्शनिक आधार ईश्वरवादी है। उपनिषदों के दुर्ग्राह्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर जनसाधारण के लिए सुग्राह्य है। यद्यपि लिंग, स्कंद, शिव आदि पुराणों में शिव को प्रधान माना गया है किन्तु अधिकांश पुराणों में विष्णु के प्रभुत्व की स्थापना की गयी है और उन्हीं के अवतारों का वर्णन है। पुराणों में उपासना को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इसीलिए उसका उनमें अच्छा निरूपण मिलता है। वैष्णव भक्ति के संबंध से अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत है। इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है। दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमें विष्णु की महत्ता का वर्णन है। ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु के महत्त्व की स्थापना करते हैं। बाराह, वामन, कूर्म और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन है। विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले इन पुराणों में सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है।

"वैदिक साहित्य में वैष्णव धर्म 'ऐकान्तिक' धर्म ही था। गीता[1] के समय तक अवतारवाद स्थिर हो चुका था। महाभारत के नारायणीय धर्म के समय तक 'चतुर्व्यूह' की चर्चा भी चल पड़ी थी और पुराणों के रचना-काल तक वैष्णव धर्म की अनेक शाखाएँ भी पुष्ट हो गयी थीं। "पद्म पुराण में वैष्णव धर्म के चार[2] सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे ही चारों सम्प्रदाय क्रमशः रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित हुए, यह भी पद्मपुराण में जोड़ दिया गया है।"[3]

गीता और भागवत वैष्णवों के प्रधान ग्रन्थ हैं जिनमें गीता की प्राचीनता सिद्ध है और उसमें भक्ति का कर्मज्ञान-समन्वित रूप प्रत्यक्ष हुआ है किन्तु भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया। गीता और भागवत काल के बीच में भक्ति-मार्ग में जो विकास हुआ उसका अपना महत्त्व है। "धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना में भगवान का लोक-रक्षा और लोक-मंगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गयी जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ प्रेम का आलंबन हो सके। नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति को 'परम प्रेम रूपा' कहकर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है। शाण्डिल्य ने भी अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति को ईश्वर विषयक 'परमरति' बतलाया है। भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना, उसके सर्वत्र दर्शन और सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल है।"[4] इस ग्रंथ में यह सूचित किया गया है कि "सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्कर्म्य-

---

१. विद्वानों का अनुमान है कि गीता का निर्माण श्रीकृष्ण के बाद तथा महाभारत से पहले हो चुका था।

२. **रामानुजं श्रीस्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।**
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥
—पद्मपुराण (वसु के हिन्दी विश्वकोष में)

३. देखिये, तुलसीदर्शन—भक्ति का विकास

४. देखिये, रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, भक्ति का विकास

लक्षण[1] है। इसमें भक्ति को पूरी प्रधानता न मिलने से ही भागवत पुराण कहा गया है।[2] आगे चलकर यही भागवत पुराण कृष्णोपासकों के प्रेमलक्षणा भक्ति-योग का प्रधान ग्रंथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलंबन हुआ।

विद्वानों ने भागवत का रचना काल ईसा की ६०० से ८०० शताब्दी के बीच माना है। इसमें कृष्ण को प्रेम के आलंबन के रूप में स्वीकार किया गया है। मनोहर बालक, प्रेमी युवक, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर इन सभी रूपों में भागवत ने कृष्ण का चित्र प्रस्तुत किया है। यह युगान्तकारी ग्रन्थ सिद्ध हुआ, न केवल नये भाव-सिद्धान्त के कारण वरन् उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य के कारण भी। देश ने शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करली। प्रत्येक प्रान्त में पौराणिकों ने इसके भावों और अभिव्यक्ति के रूपों को गाँवों के द्वार-द्वार पर पहुँचा दिया। शुद्ध भक्ति को भागवत में अति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

भागवत पुराण के अनुसार कलियुग में भक्ति द्रविड देश में ही पायी गयी। अनुमान किया जाता है कि द्राविड संत ११ वीं शताब्दी के पूर्व हो चुके होंगे। कृष्णस्वामी आयंगर ने इन भक्तों के नाम समय-क्रम से इस प्रकार दिये हैं—पोयगै आलवार, भूतत्तार, पेय आलवार, नम्मालवार (परांकुश मुनि) परि-आलवार, आण्डल, तोण्डरडिप्पोल (विप्रनारायण), तिरुप्पन आलवार, तिरुमड़िसै आलवार। इनके अतिरिक्त मधुर-कवि और कुलशेखर दो अन्य प्रसिद्ध आलवार भी हो गये हैं। विद्वानों[3] के निर्णय के अनुसार प्रथम आलवार का समय पांचवीं या छठीं शताब्दी माना गया है।

आलवारों के मत को उनके गीतों से समझ सकते हैं जो 'प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। 'सहस्रगीत' नाम का एक और प्रसिद्ध संग्रह आलवारों की भक्ति से

---

१. भागवत १. ३. ८ तथा ११. ४. ६
२. भागवत १. ५. १२
३. यह भंडारकर महोदय का मत है।

संबंधित मिलता है । कहा जाता है कि ये गीत शठकोपकृत हैं । आलवारों के उपास्य विष्णु या नारायण रहे हैं । डा० राधाकृष्णन का कहना है कि आलवारों ने ईश्वर को प्रेमी मान कर उपासना की है । उन्होंने अपने मत की पुष्टि करने के लिए नम्मालवार की यह उक्ति उद्धृत की है—"ओ स्वर्ग के महत्त्वपूर्ण प्रकाश, तुम मेरे हृदय में हो और मेरी आत्मा का भोग कर रहे हो । तुम्हारे साथ मेरी एकता कब होगी ?" इस ग्रन्थ का लेखक इस मत से सहमत नहीं है कि आलवारों की भक्ति केवल माधुर्य-भाव की है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस भाव को अपनी भक्ति में प्रधानता दी है ।

आलवार-गीतों से सिद्ध होता है कि वे विष्णु तथा उनके अवतार राम-कृष्ण की भक्ति-वात्सल्य तथा दास्य भाव से भी करते थे । वे भगवद्भक्तों की सेवा को भी भगवान की सेवा का ही एक अंग मानते थे । 'प्रपत्ति' और 'आत्म-समर्पण' उनकी भक्ति के मूल मंत्र हैं । इनके द्वारा कोई भी भक्त भगवान को प्राप्त कर सकता है । इसमें जाति, पद और संस्कृति का कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

आलवारी के पश्चात् दक्षिण में कुछ आचार्यों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने आलवारों की भक्ति के सिद्धान्तों का वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता आदि के प्रमाणों से प्रतिपादन किया । इन आचार्यों में नाथमुनि सबसे पहले थे । इनका समय ८२४ ई० और ९२४ ई० के बीच में माना जाता है । उनके बाद इस धर्म के प्रचारक और भी आचार्य हुए जिनमें पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र तथा यमुनाचार्य प्रसिद्ध थे । यामुनाचार्य ने 'प्रपत्ति-सिद्धान्त' को पुष्ट एवं प्रचारित करने में अटूट प्रयत्न किया । वे सन् १००० ई० के आसपास विद्यमान थे । उन्हीं के प्रपौत्र रामनुजाचार्य थे । यामुनाचार्य के आदेश से ही रामनुजाचार्य ने महर्षि-बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर अपनी टीका लिखी थी । इस दिशा में यादवप्रकाश ने उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया था । उन्हीं रामानुज ने भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतः दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके 'विशिष्टाद्वैत मत' का पद दिया । रामनुज ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । इनके अतिरिक्त दक्षिण के

---

१. देखिये, डा० राधाकृष्णन—इंडियन फिलासफी, पृष्ठ ७०८

आचार्यों में निम्बार्क, मध्व और वल्लभ भी बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने अपनी अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलायीं।

निम्बार्क का उदय १२ वीं शताब्दी में हुआ बतलाया जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने तैलंगाना में सन् ११५० ई० के आसपास सनक सम्प्रदाय का प्रवंतन किया जिसमें राधाकृष्ण की शुद्ध भक्ति पर ज़ोर दिया। मध्वाचार्य का समय सन् ११९७ ई० से सन् १२७६ ई० तक माना जाता है। इन्होंने द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय की नींव डाली। इनके पश्चात् वल्लभ का उदय हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों एवं किंवदंतियों से ऐसा संकेत मिलता है कि वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी संप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को ही सुशोभित किया और उसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर अपने सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित किया। यह मान्यता हैं कि महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णुस्वामी के मत के ही अनुयायी थे।

भागवत सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थों के रूप में पांचरात्र संहिताओं का बड़ा महत्त्व है। शंकराचार्य ने इनकी उपासना-पद्धति के पांच भेद बतलाये हैं—१. अभिगमन (मन वाणी और कर्म से आराध्य में केन्द्रित होकर उसके मंदिर में जाना), २. उपादान (पूजा की सामग्री), ३. इज्या (पूजा), ४. स्वाध्याय (मंत्रोच्चार आदि), तथा ५. योग-साधना, ध्यान आदि। 'ज्ञानामृतसार' में हरिपूजा के ६ प्रकार कहे गये हैं—स्मरण, नामोच्चार, नमस्कार, पाद-सेवन, भक्तिपूर्वक पूजा और आत्मसमर्पण। भागवत पुराण में श्रवण, सेवा और संख्य, ये तीन और जोड़ दिये गये हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि पांचरात्र का प्रामाण्य उपर्युक्त सभी आचार्यों को मान्य है, परन्तु श्री वैष्णव मत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने समाहृत किया। वैष्णवों के प्रधाम ग्रन्थों में गीता को नहीं भुलाया जा सकता।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति की नयी धारा को प्रामुख्य देने वाला ग्रन्थ भागवत पुराण था। इसमें भाव-भक्ति का महत्त्व होते हुए भी राधा का कोई उल्लेख नहीं है। रामानुज के समय में भागवत का प्रचार हो गया

था और उन्होंने उस पर श्री भाष्य लिख कर उसकी मान्यता स्थापित की, किन्तु भागवत के कृष्ण के स्थान पर रामानुजीय भक्ति में विष्णु प्रमुख रहे हैं। लक्ष्मी जी उनकी परमप्रिया रहीं। भागवत में गोपियों की भक्ति माधुर्य भाव को तो व्यक्त करती है किन्तु सब गोपियाँ परकीया के रूप में ही चित्रित हुई हैं। इसमें संदेह नहीं कि राधा का उदय भागवत के उपरान्त भक्ति की नयी धारा के प्रवाह में ही हुआ है। भागवत में 'येनाराचितो भगवान् हरि' से यह संकेत तो मिल जाता है कि कृष्ण को एक गोपी अत्यन्त प्रिय है, किन्तु राधा का नाम नहीं मिलता। ८५० ई० के आसपास 'ध्वन्यालोक' में श्रीकृष्ण के साथ-साथ राधा की पूजा भी दिखायी गयी है और ६८० ई० के आसपास राधा कृष्ण की भार्या के रूप में दिखायी देने लगी है। धारा के राजा अमोघवर्ष के शिलालेख (६८० ई० के आसपास) से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढग से प्रतिपादन करने का पूर्व श्रेय निम्बार्काचार्य को ही है। उन्होंने अपनी 'दशश्लोकी' में सकल मनोवांछाओं को पूर्ण करने वाली कृष्ण के वामांग में विराजित और सहस्रों सखियों से सेवित राधा की प्रार्थना भी कृष्ण की स्तुति के साथ की है जिससे 'युगलोपासना' के साथ-साथ माधुर्य तथा प्रेम-शक्ति स्वरूपाराधा की उपासना को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

"श्री मद्भागवत में कृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य-भाव का द्वार खुल गया। सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षण भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। वे कृष्ण को केवल प्रेम-क्रीड़ा के एकान्त क्षेत्र में रख कर ही देखते रहे। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोक-कंटक आततायियों का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्ण भक्तों ने भगवान् के स्वरूप में प्रायः सौन्दर्य को ही देखा।"[1] इस का प्रभाव राम-भक्ति धारा पर भी पड़ा किन्तु अधिकांश राम-भक्तों ने राम की

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, पृष्ठ १३२

मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का ही प्रयत्न किया। जो निर्गुण एवं निराकार राम के उपासक थे वे कबीर भी 'माधुर्य-भाव' से अभिभूत हुए बिना न रह सके और 'राम की बहुरिया' बन बैठे। यह ठीक है कि उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को नहीं अपनाया किन्तु गोपी-कृष्ण की प्रेम-प्रकृति को उन्होंने बड़ी तत्परता से स्वीकार किया।

यह दुहराना अप्रासंगिक न होगा कि दक्षिण के आचार्यों में भक्ति के क्षेत्र में रामानुज का नाम तो इसलिए अमर रहेगा कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को एकदम भारतीय रूप देकर और श्रुतिसम्मत बनाकर प्रस्तुत किया है और निम्बार्काचार्य का नाम इसलिए प्रसिद्ध रहेगा कि उन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति में 'माधुर्य भाव' भर कर उसका उत्तर में प्रचार किया। रामानुज ने कट्टर वैष्णव की भांति लक्ष्मीनारायण की पूजा चलायी और निम्बार्क ने कृष्ण की। निम्बार्क की चलायी हुई भक्ति-धारा अपने माधुर्य-भाव की लहरों में अब तक लहराती चली आ रही है। राम-पूजा का श्रेय रामानुज को नहीं है वरन् महात्मा रामानन्द को है जो रामानुज की शिष्य-परम्परा में १४ वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। यों तो मध्व ने भी राम-पूजा की ओर रुचि दिखायी किन्तु उनको उसके प्रचार में रामानन्द की सी सफलता न मिल सकी। रामानन्द ने वैष्णव-धर्म में तीन बड़े सुधार किये—एक तो उन्होंने भक्ति-मार्ग में जाति-भेद की संकीर्णता मिटायी, दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारंभ किया और तीसरे लोकमर्यादानुकूल सदाचारमूलक राम-भक्ति पर जोर दिया।

यह रामोपासना आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गयी। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तमत के महात्माओं ने निर्गुण ब्रह्म को राम और राम को निर्गुण ब्रह्म कहकर भजन किया और रामानन्दी वैष्णव वैरागियों ने सगुण साकार राम की उपासना को चलाते हुए प्राचीन परंपरा को पुष्ट किया। रामानन्द पर योगि-सम्प्रदाय का प्रभाव होते हुए भी उनकी सगुणोपासना-पद्धति अक्षुण्ण थी किन्तु बाद में रामोपासना को निर्गुण-निराकारोपासना की धारा में बहा ले जाने में योगिसम्प्रदाय के साथ सूफी-सम्प्रदाय भी कारण बना। परिणामतः रामोपासना की निर्गुणधारा में ध्यान की एकाग्रता पर बल दिया गया। कबीर की निर्गुण-राम-भक्ति में ये सब लक्षण विद्यमान हैं।

एक नयी कड़ी—कबीर की माधुर्य-भाव की भक्ति के लिए रामानन्द के सिद्धान्तों में भी बीज-न्यास हो चुका था। यद्यपि रामानंद ने 'माधुर्य-भाव' की भक्ति का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया और न ऐसा संकेत ही दिया है जिससे उनकी प्रवृत्ति इस प्रकार की भक्ति-पद्धति की ओर प्रकट हो। फिर भी उन्होंने भक्त और भगवान् के बीच भार्या-भर्तत्व-संबंध एवं भोग्य-भोक्तृत्व-सम्बंध को स्वीकार करके 'माधुर्य-भक्ति' के अस्तित्व एवं महत्त्व को तो स्वीकार किया ही है। इसलिए कबीर के माधुर्य-भाव में केवल सूफियों का प्रभाव ही नहीं खोजा जा सकता अपितु भारतीय परम्परा का प्रभाव भी देखा जा सकता है जिसके लिए निम्बार्क ने पहले से ही भूमि तैयार करदी थी जिसको रामानंद ने भी अस्वीकार नहीं किया।

कबीर की निर्गुणोपासना में जो माधुर्य-भाव है उसमें लीला-पक्ष का अभाव है और ध्यान-पक्ष प्रबल है और ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अतः पति के रूप का मूल में ही आरोप करना पड़ता है। कृष्ण-भक्ति-मार्ग में जो कृष्ण लिये गये हैं वे वास्तव में शृंगार के आलंबन रहे हैं, परन्तु सूफी-मत में प्रियतम का आरोप मात्र है। इस कारण सूफी-भक्तों में माधुर्य-भाव रहस्यवाद का एक अंग बन गया है।

वैष्णव भक्ति की परपंरा में कबीर की भक्ति—कबीर की राम-भक्ति वैष्णव भक्ति है चाहे उनके राम रहीम के वाचक ही सही। उन्होंने शुक, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, ध्रुव, अंबरीष, प्रह्लाद, विदुर आदि जिन भक्तों के उदाहरण[1] दिये है वे सब वैष्णव भक्ति की धरोहर हैं। इसके अतिरिक्त 'चक्रसुदर्शन धारयो' आदि अनेक वाक्यों से भी यही प्रमाणित होता है कि कबीर की प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति मार्ग की ओर ही थी 'विष्णु ध्यांन सनान[2] करि दें' से भी वैष्णव भक्ति की ओर ही कबीर के भाव का पलड़ा झुका दिखायी पड़ता है चाहे कबीर की दृष्टि में विष्णु का पुराण-प्रतिष्ठित रूप भले ही न रहा हो। 'वैष्णव की छपरी भली' अथवा 'वैष्णव की कूकरि भली' आदि उक्तियों से भी वैष्णवों के प्रति कबीर

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१६, ३०२, ३१६, ३२०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१८

की आदर-भावना प्रकाशित होती है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर किसी भी वैष्णव का सम्मान करते हैं। पाखंडी वैष्णव का सम्मान उनके हृदय में बिल्कुल नहीं है। इसीसे वे सुना भी देते हैं—

"वैष्णव हुआ त क्या भया, माला मेली चारि।
बाहर कंचनवा रहा, भीतरि भरी भंगारि[1]॥"

वैष्णव भक्ति की एक विशेषता यह रही है कि उसमें भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। 'देवानां मानसी सृष्टिः', 'यादृशी भावना यस्य', 'सातु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम्', 'जाकी रही भावना जैसी, तिन देखी प्रभु मूरति तैसी' आदि उक्तियाँ भी हमारी आँखों के सामने वैष्णव भक्ति में भावना का स्थान ला देती हैं। कबीर ने भी अपनी भक्ति में भावना की प्रधानता को गिरने नहीं दिया। कबीर ने 'भाव भगति' पर ही विशेष बल दिया है। उसके बिना यमपुर से बचना असंभव है। 'भगति नारदी रिदै न आई'[2] से वैष्णव भक्ति और भावना की प्रधानता दोनों सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नारद ने भक्ति-सूत्र में जिन तेरह आसक्तियों का निरूपण किया है वे भावाश्रित हैं। उनमें से विरहासक्ति तो भावना का चरमोत्कर्ष है।

विरहासक्ति के इस चरमोत्कर्ष को देख कर बहुत से लोगों का ध्यान कबीर पर सूफियों से आये हुए प्रभाव की ओर चला जाता है और यह कोई विस्मय की बात नहीं है। निस्सन्देह कबीर की विरह-तीव्रता में सूफी-प्रभाव है किन्तु इसे एकान्ततः सूफी प्रभाव कहना भी अधिक न्याय-संगत प्रतीत नहीं होता। कबीर की विरह-भावना में तीव्रता चाहे सूफियों से आयी हो किन्तु उसकी प्रतिष्ठा भारतीय 'माधुर्य भावना' के अनुकूल है। वह एक ऐसा संगम है जिसमें भारतीय और अभारतीय दोनों धाराओं को देख सकते हैं। जो हो, इससे कबीर के भक्ति-मार्ग का रूप खंडित नहीं होता। 'नारदी भक्ति' अथवा 'दशधा भक्ति' जैसे पदों से कबीर की भक्ति में आसक्ति का स्थान स्पष्ट हो जाता है। ईश्वरासक्ति कबीर की भक्ति का प्राण है जो 'विरह-दशा' में उत्कट रूप

---

१. कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट, साखी, १३८
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३२४

धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति जिसे उन्होंने 'भाव भगति' से प्रकट किया है, 'प्रेमा भक्ति' है जिसमें संयोग के चित्र भी प्रकट हुए हैं। संयोग और वियोग, दोनों दशाओं के चित्रों को मिला कर देखने पर भी यह कहना कि कबीर का भक्ति-मार्ग वैष्णव भक्ति-मार्ग नहीं है, अनुचित ही होगा।

कबीर ने वैष्णव भक्ति की शृंखला को सुरक्षित रखते हुए भी एक कड़ी को बदल कर दूसरी को लगा दिया है और वह कड़ी है निराकार और निर्गुण की उपासना। कहने की आवश्यकता नहीं कि गीता ने जिस भक्ति को प्रस्तुत किया था उसमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार, दोनों की उपासना के लिए अवकाश था किन्तु उसने साकारोपासना के भविष्य के लिए कुछ अधिक आकर्षक धरातल निर्मित कर दिया था। वैष्णव पुराणों ने उसका अधिक उपयोग किया। परिणाम यह हुआ कि निर्गुण-निराकारोपासना सगुण-साकारोपासना की पृष्ठभूमि में चली गयी। फिर भी इस तथ्य को कोई भी पुराण न दबा सका कि भक्ति की चरम परिणति निर्गुण एवं निराकार की उपासना में होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि सगुण और साकार की उपासना के रूप में पुराणों ने उपासक को जो सीढ़ी दी थी वह वास्तव में प्रारंभिक सीढ़ी थी और भक्ति-भावना को दृढ़ करने में उसका अपना महत्त्व था, किन्तु अंध भक्तों के संबंध से उसने अपने महत्त्व को खो दिया और कबीर के समय के आसपास भक्ति समाज की प्रगति में बाधा बन गयी। जो भारतीय मानस के लिए वरदान बन कर अवतीर्ण हुई थी वही समाज के लिए अभिशाप बन गयी। जिस प्रकार महात्मा कृष्ण ने अपने उपदेशों से वैदिक धर्म में प्रविष्ट हुए विकारों का बहिष्कार किया, उसी प्रकार के एक महापुरुष की आवश्यकता भक्ति को विकारों से मुक्त करने के लिए थी और वह महापुरुष भारतीय जनता को रामानन्द के रूप में मिला जिनके मार्ग का और भी अधिक परिशोध महात्मा कबीर ने किया। महात्मा कबीर का महत्त्व रामानंद से भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि उन्होंने भक्ति के द्वार को किसी भी धर्म के मानने वाले के लिए खोल दिया। चाहे उसमें परंपरा वैष्णव भक्ति की थी, किन्तु उसके परिष्कृत रूप में जिसका श्रेय कबीर को था, किसी भी व्यक्ति को आपत्ति के लिए स्थान नहीं था।

कबीर की भक्ति-पद्धति का अध्ययन करते समय यह न भुला देना चाहिये कि साकार-चर्या-विधान ने भक्ति का द्वार न केवल विधर्मियों के लिए

बन्द कर रखा था, अपितु शूद्रों के लिए भी बन्द था। रामानन्द ने उसे सब के लिए खोल कर एक बहुत बड़ा काम किया था, किन्तु चर्या-विधान फिर भी विद्यमान था जिससे समाज के शरीर में एक फाँस जैसी दर्द देने वाली चीज घुसी हुई थी। कबीर जैसा प्रतिभाशाली समाज-सुधारक किसी ऐसी धर्म-फांस को समाज के अंग में चुभी नहीं रहने दे सकता था जो भीतर ही भीतर विगलन पैदा करके समाज को अंग-भंग करने का प्रयत्न करे।

इसलिए उन्होंने भक्ति का वह रूप चुना जिसे किसी भी स्थान या समाज में स्वीकृत किया जा सकता था। उनकी भक्ति का रूप वैष्णव भक्ति का था, किन्तु उसको निर्गुण और निराकार से संबंधित करके विशेष से निर्विशेष बना दिया। साथ ही उसे सामाजिक या धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त करके प्रत्येक उपासक के लिए सुलभ कर दिया। बाह्याडंबरों से मुक्त होकर कबीर ने भक्ति को सरल भी बना दिया, चाहे वह प्रारंभ में दुरूह ही क्यों न प्रतीत होती हो। इसी कारण कबीर के राम में वाल्मीकि के राम से बहुत बड़ा अन्तर दिखायी देता है। कहना न होगा कि दोनों के राम में नाम के सिवा और कोई सादृश्य नहीं है। कबीर के राम में जिस प्रकार 'अल्लाह' का रूप भी दीख सकता है उसी प्रकार 'अल्लाह' में कबीर राम को भी देखते हैं। कबीर का राम या अल्लाह किसी स्थान या धर्म के बंधन में नहीं है। वह सबमें है और सब उसमें हैं। उसका 'जलवा' हर कहीं है, किन्तु उसको वही देखता है जिसके अन्तश्चक्षु खुले हुए हैं क्योंकि वह अन्तर्लोचनों से ही दिखायी देता है। इस-लिए कबीर उसे अपने अन्तर में खोजने का उपदेश देते हैं। भीतर कोई और राम है और बाहर कोई और, ऐसा न कोई समझ ले, इस संबंध में सचेत करते कबीर कहते हैं कि 'जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है'।[1]

रामानन्द के शिष्य होने के कारण भी कबीर की भक्ति में वैष्णव तत्त्वों का ही प्राधान्य स्वाभाविक था। उन सब तत्त्वों में प्रमुख था 'राम-नाम'। जिस प्रकार कबीर के लोचनों में राम की—अपने राम की तस्वीर थी उसी प्रकार 'राम-नाम' के संबंध में भी उनका अपना आदर्श था। रामानन्द के राम

१. "ब्रह्मंडे सो प्यंडे जानि"—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९९-३२८

'दाशरथी राम' और 'परब्रह्म', दोनों के द्योतक हैं, किन्तु कबीर के राम नहीं हैं। 'ना जसरथ घरि औतरि आवा' कह कर उन्होंने इसी बात को संकेतित किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'नाम' भक्ति-मार्ग का एक अमोघ अस्त्र है, किन्तु रामानन्द ने राम-नाम को लेकर जो आन्दोलन प्रवर्तित किया वह अभूतपूर्व था और कबीर ने राम-नाम की महिमा को उनसे भी आगे बढ़ाया। अपने गुरु की भाँति कबीर भी राम-नाम में अद्‌भुत शक्ति मानते है, किन्तु उसका संबंध उन्होंने विशेष स्मरण और ध्यान से जोड़ा है। कबीर का कहना है कि जिस प्रकार खांड कहने से मुंह मीठा नहीं होता उसी प्रकार राम कहने से उद्धार नहीं होता। राम-नाम को तल्लीन होकर जपने या स्मरण करने पर ही कबीर विशेष जोर देते हैं। जिस नाम-स्मरण में मन लीन नहीं होता वह किसी काम का नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं—

"राम नाम कहु क्या करैं,
जे मन के औरैं कांम[1] ॥"

राम-नाम को लोगों ने हँसी-खेल समझ रखा है। कबीर उसके निर्वाह को इतना सरल नहीं समझते और कहते हैं—

"कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरिनाम।
सूली ऊपरि नट-विद्या, गिरूंत नाहीं ठाम[2] ॥"

कबीर के नाम-स्मरण का आदर्श है मन को राम के साथ इस प्रकार जोड़ देना कि दोनों में अभेद हो जाये।[3] कबीर स्मरण की इस स्थिति का प्रचार करते हैं :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१४
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-३१

"मेरा मन सुमिरै रांम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रांमहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि[1] ॥"

यह है राम-नाम के स्मरण का ठीक प्रकार जिसका कबीर उपदेश देते हैं। राम-नाम के इस महत्त्व को आगे भी निभाया गया। तुलसीदास ने 'नाम' को निर्गुण और सगुण, दोनों ब्रह्म-रूपों से बड़ा बतलाया है—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥"

× × × ×

"एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें[2] ॥"

तुलसीदास ने 'नाम' की महिमा को बढ़ाने में अवश्य ही एक कदम आगे रखा उसके मूल्य को भाव और कुभाव[3] अथवा किसी भी दशा में कम न होने दिया। इससे तुलसीदास पर एक परंपरा[4] का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने ऐसी बात कभी नहीं कही।

कबीर ने रामानन्द द्वारा परिपुष्ट 'बाह्य चर्या' को अपनी भक्ति-पद्धति में बिल्कुल नहीं अपनाया। उन्होंने न तो मंदिर और मूर्ति को मान्यता दी, और न पूजा के विधि-विधान को ही स्वीकार किया। अवतारों को भी उन्होंने कोई मान्यता नहीं दी। उन्होंने उपासना की जिस विधि का प्रवर्तन किया वह उनके सम्पर्क से नये रूप में प्रकट हुई। इसलिए कबीर की निर्गुण भक्ति में मानसी उपासना का एक विशेष स्थान है। कबीर ने अर्चन-चर्चन से संबंध रखने

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-८
२. रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम-महिमा
३. 'भाय कुभाय अनख आलस हू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥'
—रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम-महिमा
४. अध्यात्म रामायण, यु० कां०, सर्ग ११, श्लोक ८७

वाली वैधी भक्ति-पद्धति को अपने पंथ में कोई स्थान नहीं दिया, जहाँ कहीं 'आरती' आदि का जिक्र आया है, वहाँ भी उन्होंने उसका मानसी रूप ही समझाया है। इस प्रकार कबीर ने उस भक्ति को जो मूलतः एक भाव के रूप में प्रादुर्भुत हुई थी, बाह्य रूढ़ियों की दलदल से मुक्त करके फिर सच्ची भाव-भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

संक्षेप में यह कह देना अनुचित न होगा कि भारतीय भक्ति-शृंखला की कड़ी के रूप में कबीर की भक्ति एक अनुपम अनुदान है— ऐसा अनुदान जिसने भक्ति को न केवल विकार-मुक्त ही किया, अपितु उसके द्वारा सामयिक परिस्थितियों के सुलझाने की दिशा में भी एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाया। सच तो यह है कि समाज को आत्म-शोधन के निमित्त एक अमोघ औषधि, जिसे कबीर ने 'राम रसायन' कहा है, प्रदान की। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर भक्ति को मनुष्य के अनिष्ट-निवारण एवं रक्षार्थ ब्रह्मास्त्र मानते हैं। यदि मनुष्य की रक्षा का कोई अन्तिम साधन है तो वह कबीर की दृष्टि में भक्ति है। कबीर की भक्ति व्यक्तिगत साधना की चीज़ होती हुई भी सामाजिक संस्कार का भी अद्भुत साधन है। उसे ऐकान्तिक कह कर कबीर को पलायनवादी बतलाना एक महापुरुष के साथ भारी अन्याय होगा।

भक्ति के अनेक तत्त्व—भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के दो भेद किये हैं— वैधी और रागानुगा। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैधी भक्ति बाह्य विधि-विधानों से संबंध रखती है। अर्चना, चर्चना, व्रत, उपवास, आरती, देव-दर्शन, तिलक, वेशभूषा, तीर्थाटन आदि के बाह्य नियम वैधी भक्ति ही के अन्तर्गत आते हैं। वैधी भक्ति का उद्देश्य रागात्मिक भक्ति का उद्रेक है, किन्तु भावमयी क्रियाएँ ही ईश्वर-प्रेम के उद्रेक को संभव बनाने में सहायक हो सकती हैं। वैधी भक्ति अपनी बाह्य जटिलता में भाव से किनारा कर सकती है और उसकी सीमा अंध श्रद्धा तक पहुँच सकती है। विधि और निषेध के चक्कर में पड़ कर चर्या भावभूमि को छोड़ कर आडम्बर में पड़ सकती है। आचार्यों का कहना है कि वैधी भक्ति को निर्दोष रूप में निभाना यदि असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है, किन्तु परिणाम यह होता है कि या तो साधक के प्रयत्न दृढ़ और सनिष्ठ संकल्प प्रबल हो जाते हैं या वह अपनी भूलों और त्रुटियों के लिए आराध्य से क्षमा-याचना

करता हुआ अपने को उसके अधिकाधिक समीप ले पहुँचता है। यहीं वैधी भक्ति रागात्मिका के क्षेत्र में जा पहुँचती है।

पिछले पृष्ठों में कई स्थानों पर यह कहा जा चुका है कि कबीर को भक्ति का जटिल रूप, जो वैधी भक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ था, प्रिय नहीं था। जटिलता को वे आडंबर[1] समझते थे। इस के अतिरिक्त मूर्तिपूजा, तिलक, छापा आदि विधि-चर्याओं को सब धर्मों के मानने वाले स्वीकार नहीं कर सकते थे। इनसे समाज के खंडित होने की अधिक संभावना थी। कबीर एक ऐसी भक्ति[2] को प्रवर्तित एवं विकसित करना चाहते थे जो व्यक्ति को प्रेम के चरमोत्कर्ष तक पहुँचा कर समाज[3] को दृढ़ आधार-भूमि प्रदान करती। इसी को ध्यान में रखकर रामानन्द के परम संकल्पवान् शिष्य ने वैधी भक्ति की तीव्र आलोचना की।

कबीर परम आस्तिक एवं श्रद्धावान् व्यक्ति थे। उनके हृदय में अगाध ईश्वरानुराग तरंगित था। कभी-कभी तो वे अपनी वाणी में प्रेमोन्मत्त के रूप में व्यक्त होते हैं और लोकबाह्य तक दीखने लगते हैं। कबीर की भक्ति को किसी आचार्य की शास्त्रीय वाणी में स्थान मिले या न मिले, किन्तु उसका स्वरूप रागानुगा भक्ति का है। उसका सर्वस्व भगवत्प्रेम है। इसका उद्रेक किन अवस्थाओं में किस प्रकार हुआ? इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना तो कठिन है, किन्तु भक्ति-मनीषियों ने, जिनमें श्री कृष्ण का नाम सर्वोच्च है, उसके चार कारण बतलाये हैं। कभी तो लोक-संकटों से आर्त होकर मनुष्य भगवत्प्रेम की ओर प्रवृत्त होता है, कभी मनुष्य की जिज्ञासा-प्रवृत्ति उसे अनायास ही प्रेम-पथ पर ले जाती है, कभी अर्थार्थी बनता-बनता मनुष्य उसके प्रेम का याचक बन जाता है और कभी तत्त्वज्ञान का पूर्ण अनुभवी मनुष्य भगवत्प्रेमी हो जाता है[4]।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७४, पद २५२

२. **कहि कबीर सेवा करहु मन-मंझि मुरारि ॥**

—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २०५

३. **कहत कबीर राम गुन गावौं। हिन्दू तुरक दोऊ समझावौं ॥**

—कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट पद २१५

४. **चतुर्विधा भजन्ते माम जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥—गीता ७·१६

अपनी-अपनी रुचि और समझ के अनुसार मनुष्य परमात्मा के प्रति आकृष्ट होता है। कोई उसके रूप पर मुग्ध होता है, कोई गुणों पर और कोई उसकी महिमा पर। कोई उसका दास बनना चाहता है, कोई मित्र और कोई प्रियतमा। अपनी प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुकूल मनुष्य में जिस प्रकार की आसक्ति का उदय होता है उसी के आश्रय से वह भगवत्प्रेम के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। महर्षि नारद ने ११ प्रकार की आसक्तियों[1] का निरूपण किया है--(१)गुणमाहात्म्यासक्ति,(२)रूपासक्ति,(३)पूजासक्ति,(४)स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) वात्सल्यासक्ति, (८) कान्तासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयासक्ति, और (११) परमविरहा-सक्ति।

इनमें से कोई भी आसक्ति मनुष्य को रागात्मिक भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त करा सकती है। यदि इनमें से कोई आसक्ति न भी हो तो भी अन्य उपायों से भी हृदय में भगवत्प्रेम का उद्रेक हो सकता है। साधु-सेवा, धर्म-श्रद्धा, हरि-गुण कीर्तन आदि साधन ऐसे हैं जो कालान्तर में प्रेमोदय के प्रेरक होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने ऐसे उपायों से संबंधित रागात्मिक का भक्ति की भूमिकाओं में निम्नलिखित नाम लिये हैं :—

(१) महत्सेवा, (२) तद्दयापात्रता, (३) तद्धर्म-श्रद्धा, (४) हरिगुण-श्रुति, (५) रत्यंकुरोत्पत्ति, (६) स्वरूपाधिगति, (७) प्रेमवृद्धि, (८) परानन्द-स्फूर्ति, (९) स्वतः भगवद्धर्मनिष्ठा, (१०) तद्गुणशालिता, और (११) प्रेम-पराकाष्ठा।

इन सभी भूमिकाओं में श्रद्धा और विश्वास का आधार तो अवश्य ही होता है अन्यथा रागात्मिका भक्ति का उद्रेक असंभव है। श्रद्धा भगवान् की ओर प्रेरित करती है और विश्वास प्रेरणा को निष्ठा का रूप देता है।

हृदय के प्रायः सभी भाव भक्ति में परिणत किये जा सकते हैं जिनमें से रति भाव अति प्रबल और रागानुगा भक्ति के सर्वथा अनुरूप है। यही

---

१. नारदीय भक्ति सूत्र ८२

कारण है कि भक्ति के प्रकरण में इसको विशेष महत्त्व दिया गया है। आचार्यों ने ईश्वर-रति-भाव से दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रसों की निष्पत्ति बतलायी है। अपनी अपनी रुचि के अनुरूप भक्त लोग इन रसों का आस्वादन करते हैं। रस की चर्वणावस्था के अन्तर्गत भावातिरेक की दशा में उपास्य और उपासक का अभेद हो जाने पर महाभाव की अवस्था की प्राप्ति होती है। यह महाभाव मोहन और मादन, दो प्रकार का होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति में विरह का विशेष महत्त्व है। संयोग की अपेक्षा वियोग की दशा में भाव में अधिक तीव्रता होती है। विरह-व्यग्र भक्त का आकर्षण अति प्रबल होता है जिससे वह भाव-लोक में परमात्मा का सांनिध्य प्राप्त कर लेता है। इसी को विरह-संयोग (Unity in Separateness) की अभिधा दी जाती है। विरह-संयोग में भक्त को जो अनिर्वचनीय शान्ति मिलती है वह बड़ी मधुर होती है। इसी कारण परम भक्त सायुज्य-मुक्ति की कामना छोड़ कर भेद-भक्ति को अपनाते हैं क्योंकि उसमें आकर्षण का प्राधान्य होता है।

भक्तों के जो चार भेद बतलाये हैं। उनसे भक्ति के दो मूल रूप सामने आते हैं—एक तो सकाम भक्ति और अन्य निष्काम भक्ति। जो भक्ति किसी लौकिक कामना की पूर्ति के लिए की जाती है वह नाम के लिए भक्ति होती है, वास्तव में तो वह एक व्यवसाय है, किन्तु जहाँ कामना की पूर्ति भगवान् में होती है वहाँ सच्ची भक्ति का उदय होता है। भक्ति के इस आदर्श को तुलसीदास के इन शब्दों में देख सकते हैं :—

> **"कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।**
> **तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"**

अतएव वैराग्य भक्ति का प्रधान अंग है। सच्चि भक्ति में लोक के प्रति आसक्ति नहीं रहती। और तो और, कायिक आसक्ति तक नष्ट हो जाती है। सब कुछ इष्टदेव का समझने और सब में इष्टदेव ही को देखने की क्षमता

विवेक से मिलती है, अतएव विवेक और वैराग्य एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। विवेक और वैराग्यमय भक्ति ही सच्ची भक्ति होती है और विवेकी एवं विरक्त भक्तों को ही नाभादास ने भक्ति और भगवान से अभिन्न बतलाया है :—

"भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।"

गुरु को भगवान् का स्थान देने की परम्परा का विकास बहुत पहले ही हो चुका था और 'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु' आदि वाक्यों में इसका प्रमाण मिलता है। कबीर ने इसको और आगे बढ़ाया और गुरु को 'गोविंद' से भी ऊँचा उठा दिया।[1] तुलसीदास ने इसको और भी आगे बढ़ाया और गुरु का नहीं, उन्होंने तो ईश्वर के दासों का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा कर दिया—

"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम तें अधिक रामकर दासा॥"

भक्ति के आचार्यों ने नवधा भक्ति के क्रम पर विशेष ज़ोर दिया है। नवधा भक्ति के अन्तर्गत नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया जाता है। भागवतपुराण के सप्तम स्कन्ध में नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

भगवद्विषय का सुनना 'श्रवण' है, भगवद्गुणों का कथन 'कीर्तन' है, और भगवद्-गुणों की स्मृति ही 'स्मरण' है। भगवच्चरणों का सेवन ही 'पाद-सेवन' है। भगवच्छरीर (प्रतिमादिक) का प्रसाधन 'अर्चन' है। भगवान की स्तुति को

---

१. **"गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पाँय।**
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय॥"
—कबीर ग्रंथावली, सं० बा० सं० १, पृष्ठ २

वन्दन कहा जाता है। भगवान के प्रति 'सेव्य-भाव' रख कर अपने को सेवक-रूप में स्वीकार करना 'दास्य-भाव' है तथा भगवान को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करना 'सख्य-भाव' है और भगवान को आत्मसमर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन' है।

कहा जाता है कि श्रवण, कीर्तन और स्मरण द्वारा श्रद्धा की वृद्धि हो सकती है, पाद-सेवन और अर्चन विश्वास को दृढ़ करने में सहायक होते हैं। इसके उपरान्त दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन से रागानुगा भक्ति का आनन्द प्राप्त हो सकता है। कहना न होगा कि नवधा भक्ति के ये भेद वैधी और रागात्मिका, दोनों प्रकार की भक्तियों को अपने में समाविष्ट कर लेते हैं। जिन आचार्यों ने केवल रागात्मिका भक्ति पर ही विशेष ध्यान दिया है उन्होंने 'नवधा भक्ति' में अपने ढंग से संस्कार किया है। इस संबंध में अध्यात्मरामायण-गत 'नवधा-भक्ति-वर्णन' देखने योग्य है।

रागात्मिका भक्ति में मन, वाणी और क्रिया का सच्चा उपयोग होना चाहिये इसलिए इस भक्ति के अनुयायी मन से प्रेम, वाणी से जप और कीर्तन तथा क्रिया से सत्संग और धर्माचरण का समर्थन करते हैं। रागात्मिका भक्ति के ये तीन मूल साधन हैं क्योंकि इन तीनों के सहयोग के बिना वह (रागानुगा भक्ति) सिद्ध नहीं होती।

कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप—इस विवेचन के आधार पर कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप देखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ईश्वर के सच्चे प्रेमी थे। वे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थान में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करते थे।

परमात्मा का स्वरूप—वह एक मात्र सत्ता ही सत्य है। आत्मा उस परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु भ्रम के कारण हमें अन्तर दीख पड़ता है। सिद्धान्ततः कबीर परमात्मा को अद्वैत तत्त्व मानते हैं जिससे आत्मा अभिन्न है, किन्तु उस 'अभिन्नानुभूति' की सिद्धि के लिए ही वास्तविक स्वरूप के प्रति आकर्षण की स्थिति आवश्यक है। आकर्षण से ही सायुज्य एवं अभेद सिद्ध हो सकता है। भगवान् के प्रति भक्त का यह आकर्षण ही प्रेम या भक्ति है। इस

प्रम के प्रादुर्भाव के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता होती ही है, किन्तु भगवत्कृपा के बिना यह प्रेम संभव नहीं होता।

सानुग्रहता—कबीर परमात्मा को अनुभवगम्य एवं अनुपम बतलाते हैं और उसके अनुभव से ही अपना उद्धार संभव समझते हैं जिसके लिए उसकी अमोघ कृपा परामावश्यक है :—

"रांम राइ तूं ऐसा अनुभूत अनूपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं भूलि न परिये॥"

निर्गुण और निराकार—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर निर्गुणोपासक और मूर्ति-पूजा के विरोधी थे क्योंकि मूर्ति-पूजा तत्कालीन सामाजिक एकता में बाधक थी। इसके अतिरिक्त, सगुण-साकार की उपासना से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जो निर्गुण और निराकार है, उनकी दृष्टि में, सिद्ध करना असम्भव है क्योंकि सेवक अपने सेव्य को प्राप्त होता है। इसलिए कबीर कहते हैं :—

"जास का सेवक तास कौं पाइहै,
इष्ट कौं छांड़ि आगै न जांहीं।
गुंणमई मूरति सेइ सब भेष मिलि,
निरगुण निज रूप बिश्रांम नांहीं[1]॥"

भाव-भक्ति—कबीर भक्ति के क्षेत्र में जप, तप, व्रत एवं तीर्थ-स्नान को कोई महत्त्व नहीं देते। संयम तक उनकी भक्ति में कोई स्थान नहीं पाता। यदि उनका कोई मूल्य हो सकता है तो 'भाव-भक्ति'[2] के साथ।

विश्वास—संसार आवागमन के चक्र पर चढ़ा हुआ है। जन्म और मृत्यु की सीमाओं में उसे अनेक सुख-दुख का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दुख

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ट १५६, पद १६६

२. **"क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।**
जौ पैं जुगति न जांनियै, भाव भगति भगवान॥"

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६, पद १२१

और काल-पाश से बचना चाहता है। कबीर इनसे बचाने की शक्ति परमात्मा के सिवा और किसी में नहीं पाते। इसलिए वे भक्ति-मार्ग पर लाने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं:—

"बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन षूटै।
जुरा मरन दुख फेरि करंन सुख, जीव जनम थै छूटै[1] ॥"

कबीर को विश्वास है कि जिसने प्रेम में लीन होकर परमात्मा को भजा है वही इस आवागमन से मुक्त हो गया है[2]। उसकी कृपा से क्या नहीं हो सकता? उसकी कृपा को समक्ष लाने के लिए कबीर 'अधम भील' और 'अजाति गणिका' के उद्धार की कथा का स्मरण दिला देते हैं और ध्रुव की 'अटल पदवी' को सामने ले आते है। मृत्यु का भय, जीवन की निस्सारता और मुक्ति की कामना से कबीर भक्ति की प्रेरणा प्राप्त करते है।

जीवन और भक्ति—मानव जीवन को कबीर एक ईश्वर-प्रदत्त अवसर मानते हैं जिसमें वह भव-बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। यदि मनुष्य सांसारिक विषयों में ही रत रहा तो उसने जीवन को—इस महान् अवसर को व्यर्थ कर दिया। इसी कारण उन्होंने कहा है:—

"कबीर हरि की भक्ति करि, तजि विषया रस चोज।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज[3] ॥"

इस मानव-जीवन का सदुपयोग कबीर सदाचरण में मानते है और साधु-सेवा एवं भगवद्-गुण-गान से बढ़कर भला और क्या सदाचरण हो सकता है, अतएव कबीर इन्हीं का उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में साधु-सेवा भी भक्ति का ही एक अंग है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पद १७९
२. **प्रेम प्रीति ल्यौ लींन मन, ते बहुरि न आया।**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १=१
३. **कबीर ग्रन्थावली** पष्ठ २४-३५

"**कबीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ।**
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोबिंद के गाइ[1]॥"

भक्ति की आवश्यकता—कबीर को यह पूर्ण विश्वास है कि इस दुनिया में भगवान के सिवा सगा कोई नहीं है। यहां तो सब स्वार्थ के ही सगे हैं। कोई किसी का साथ नही देता। पुत्र-कलत्र तक स्वार्थ में बंधे हुए हैं। इन सबके प्रेम में स्वार्थ भरा हुआ है इसलिए इनके प्रेम को पवित्र प्रेम नहीं कह सकते। सम्पूर्ण मेदिनी पर स्वार्थ छा रहा है। जो भक्त दिखाई पडते हैं वे भी स्वार्थ के दास हैं। फिर उनके प्रेम को भक्ति का नाम देना भक्ति को बदनाम करना है। जिस प्रेम का संबंध राम के सिवा और किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं है वही भक्ति है। ऐसे प्रेम में विभोर होकर भक्त शरीर तक की चिन्ता और आशा छोड देता है :—

"**आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।**
कबीर रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस[2]॥"

कबीर सच्ची भक्ति के क्षेत्र में लेशमात्र भी स्वार्थ स्वीकार नहीं करते, किन्तु भक्ति के कारण दुख स्वतः विलीन हो जाता है, ऐसा उनका विश्वास है।

यहाँ दोनों बातों की संगति बैठाना दुष्कर प्रतीत होता है, किन्तु ध्यान-पूर्वक विचार करने पर असंगति नहीं दिखायी पड़ती। सच तो यह है कि सच्ची भक्ति अपने आप में मुक्ति है। मुक्ति भक्ति का फल है, उसका लक्ष्य नहीं है। इस फल को सामने लाने के लिए ही वे अनेक परिस्थितियों के चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे भक्ति को साधन बनाकर उसमें कामना निहित करने की (चाहे वह मुक्ति की ही कामना क्यों न हो) प्रेरणा नहीं देते। कबीर की भक्ति अनासक्ति भाव का प्रतिपादन करती है। जिसका खंडन भक्ति के फल या उसकी शक्ति का निरूपण करने से कदापि नहीं होता। प्रेमा-भक्ति का एक

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४१

अर्द्ध क्षण भी जीवन के लोहे को कंचन बना सकता है, किन्तु करोड़ों कल्पों तक भक्ति के बिना जीना व्यर्थ है :—

"अरघ षिन जीवन भला, भगवंत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन ब्रिथा, नांहिन हरि सूं हेत[1] ॥"

निष्काम भक्ति—कबीर ईश्वर भक्ति में आशा या कामना को कभी स्थान नहीं देते, यह बात उनकी वाणी से पद-पद पर व्यक्त होती है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि भगवान् पर भरोसा करते हुए मनुष्य को न तो स्वर्ग की कामना करनी चाहिये और न नरक से भयभीत होना चाहिये। आशा व्यर्थ है, जो हो रहा है सो हो रहा है और वह उसी की इच्छा से हो रहा है :—

"सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस[2] ॥"

सच्ची भक्ति जिस प्रकार आशा-निराशा को कोई स्थान नहीं देती वैसे ही सुख-दुख को कोई स्थान नहीं देती। सुख-दुख मन की अनुभूतियाँ हैं और वे तब तक होती हैं जब तक मन ईश्वर-लीन नहीं होता। मन के तल्लीन हो जाने पर सुख और दुख दोनों का ही भान नहीं होता। दुख और सुख की स्थिति का भक्त के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रायः लोग दुख में भगवान का स्मरण करते हैं और सुख में भूल जाते हैं। इसी से उन्हें दुख भोगना पड़ता है। यदि वे दुख-सुख दोनों दशाओं में विश्वासपूर्वक भगवान में मन लगाये रहें तो, कबीर का विश्वास है, दुख कदापि न हो :—

"दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होइ ॥"

इतना ही नहीं वे तो भगवद्भक्त को अमर-निवास की 'गारंटी' कहते हैं :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२६, पद १२१
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२६, पद १२१

"काम परे हरि सिमिरियै, ऐसा सिमरो नित्त।
अमरापुर बासा करहु हरि गया बहोरै वित्त[1] ॥"

काम पड़ने पर भगवान् को याद करना तो लेन-देन या व्यवसाय की बात रही। उसे भक्ति नहीं कह सकते। जहाँ भक्ति में स्वार्थ मिला हुआ है वहाँ भक्ति का निर्मल रूप प्रकट नहीं होता। निर्मल एवं निष्कलुष प्रेम तो वहाँ होता है जहाँ स्वार्थ का लेश भी नहीं होता। भक्ति का यह प्रमुख लक्षण है :—

"स्वारथ को सबको सगा, जग सगलाही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि[2] ॥"

भक्ति की प्रेरणा—भक्ति-प्रेरणा[3] के अनेक सूत्रों में से भगवत्कृपा प्रमुख है। जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है उसी को भक्ति का वरदान मिलता है और जिसको वरदान मिलता है वही भक्ति-मार्ग पर चल भी सकता है। वह अपने पथ को भूल नहीं सकता और कोई भी कारण उसे भ्रान्त नहीं कर सकता :—

"जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण[4]।"

हमारा कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, जब तक कि भगवान् का अनुग्रह न हो। अतएव भगवदनुग्रह न केवल प्रेरणा का काम करता है, अपितु साधन भी बन जाता है, नहीं तो भक्ति का निभाना कोई सरल काम नहीं है :—

"एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ[5] ॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५०-२३
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५२-१५
३. **"अपनी भक्ति आप ही दृढ़ाई।"**
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६६-६
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६२-६
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६२-४

भक्ति-प्रेरणा का दूसरा सूत्र गुरु है। प्रेम के भाव को जगाकर शिष्य को भक्ति मार्ग पर गुरु ही प्रेरित करता है। "सतिगुरु तें सुधि पाई"[1] कह कर कबीर ने भक्ति-प्रेरणा के स्रोत की ओर संकेत किया है और 'गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां सुमिरन दीन्हौं हीरा' से तो कबीर ने बड़ी दृढ़ता से घोषित किया है कि गुरु भक्ति का प्रेरक होता है।

भक्ति की प्रेरणा एक तीसरे स्रोत से और मिलती है और वह है जगत् की अनित्यता और व्यर्थता का सम्यक् ज्ञान। इसी के साथ ही सत्य की खोज भी प्रारंभ हो जाती है और जब अन्तिम एवं एकमात्र सत्य परमात्मा में मिल जाता है तो मनुष्य उसकी शक्ति और कृपा की ओर आकृष्ट होने लगता है। जगत् की व्यर्थता का ज्ञान वैराग्य पैदा करता है और परमात्मा की सत्ता और सामर्थ्य का ज्ञान परमात्मा की ओर आकर्षण पैदा करता है। विश्वास के साथ-साथ प्रेम के दृढ़ होने पर भक्ति अपने सच्चे रूप में प्रकट होती है। यही भक्त की मुक्ति है और यही आनन्द है। यहीं से आवागमन के बन्धन की शृंखला भंग्न हो जाती है।

इनके अतिरिक्त भक्ति-रस का माधुर्य भी भक्ति का प्रेरक होता है। मनुष्य के सामने प्रत्यक्षतः दो रस हैं—एक तो विषय-रस और दूसरा भक्ति-रस। विषयों का परिणाम कटु होता है और भक्ति का मधुर होता है। विषयों से क्षणिक सुख और अमित दुख उत्पन्न होता है, किन्तु भक्ति में दुख का नाम भी नहीं होता। वहां तो आनन्द ही आनन्द है। भक्ति की चरमावस्था में भक्ति, भक्त और भगवान् में अभेद हो जाता है। सब लोक प्रायः मधुर रस पसंद करते हैं किन्तु यहां एक विपरीत बात दिखायी पड़ती है। लोक परिणामकटु विषय रस में लीन हैं। अपने सामने जाने वालों की दुर्दशा को देखते हुए भी लोग विषयों से निर्विण्ण नहीं होते, कदाचित् इसलिए कि वे भक्ति के माधुर्य से अवगत नहीं हैं। इसलिए भक्ति की मधुरता का संकेत देते हुए कबीर कहते हैं :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८२, पद ६२

"रांम कौ नांव अधिक रस मीठौ,
बारंबार पीवै रे[1] ।"

वे राम-रस के पीने का ढंग भी बतलाते हैं :—

"रसना राम गुन रमि रस पीजै[2] ।"

जो मनुष्य राम-रस के होते हुए भी विषय-लीन है उसको कबीर 'अभागा' कहते हैं और फटकारते हैं कि 'विष तजि रांम न जपसि अभागे[3] ।' कबीर 'नारदी भक्ति' में सम्पूर्ण शरीर को मग्न कर देने का उपदेश करते हुए कहते हैं :—

"भगति नारदी मगन सरीरा,
इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा[4] ।"

इससे वे देह सहित भी मुक्त हो जाते हैं । यही जीवन-मुक्ति है । यही भक्ति का फल है और यही स्वयं भक्ति भी है । कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर नारदी भक्ति और भव-संतरण को सहचर मानते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य प्रेम-प्रीति-पूर्वक भगवद्भजन[1] करना है । अन्य सब लक्ष्य व्यर्थ हैं । जिसका मन राम में लीन हो जाता है उसी को स्वरूप-ज्ञान हो जाता है और स्वरूप-परिचय में ही भव-बंधन से मुक्ति निहित है । इससे स्पष्ट है कि कबीर का लक्ष्य भक्ति है और साधन भी भक्ति है । यही भारतीय भक्ति का वास्तविक स्वरूप है । कभी-कभी कबीर के शब्दों से ऐसी प्रतीति होने लगती है कि वे भव-मुक्ति के निमित्त भक्ति को एक साधन मानते हैं । यदि भाव में प्रविष्ट होकर कबीर के अभिप्राय को खोजा जाये तो वस्तु-स्थिति सामने आ जाती है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९३, पद ३१०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१३, पद ३७५
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१३, पद ३७५
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८३, पद २७८

. **"प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे ।।"**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९७, पद २९०

कबीर की भक्ति के संबंध में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—एक तो यह है कि कबीर का वैराग्य भक्ति को प्रेरित करने के लिए है, वह पलायनवादियों का निराशावाद नहीं है। वे संसार को छोड़ भागने का उपदेश नहीं देते वरन् उसकी व्यर्थता को समझ कर उसके प्रति अनासक्ति-भाव से आचरण करने की बातें कहते हैं। संसार के प्रति आसक्ति का अर्थ है व्यर्थ एवं अनित्य वस्तु के प्रति आकर्षण जो कभी भी ज्ञानजन्य नहीं हो सकता। इस आकर्षण को कबीर अनित्य से नित्य की ओर मोड़ कर जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने की बातें कहते हैं। दूसरी बात यह है कि भक्ति के सिवा कबीर की भक्ति का कोई अन्य लक्ष्य नहीं है। उनकी प्रेमा-भक्ति स्वतः आनन्दमयी है। वह साधक को दुख से मुक्त कर देती है क्योंकि उसमें स्वरूप-ज्ञान हो जाता है जिससे अज्ञान या भ्रम से प्रतीत होने वाला दुख विलीन हो जाता है। इस बात का समर्थन तुलसीदास के इन शब्दों में भी पाते हैं :—

"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत-भगत-उर चन्दन[1]॥"

इन चौपाइयों में दूसरी अर्द्धालि 'जानत······ होइ जाई' ध्यान-पूर्वक देखने योग्य है। इसमें भक्ति के साधन और साध्य, दोनों रूप निहित हैं। भक्ति साधन रूप में भगवान के स्वरूप का ज्ञान कराती है और साध्य रूप में वह स्वयं भगवान या भक्त से अभिन्न होती है[1]। 'तिनि तौ निज सरूप पहिचाना' कह कर कबीर इसी भाव की अभिव्यक्ति कर चुके थे।

भक्ति की भूमिकाएँ

१. श्रद्धा और विश्वास—भक्ति ग्रन्थों में भक्ति की अनेक भूमिकाएँ बतलायी गयी हैं। कबीर ने भी उनका अपने ढंग से निरूपण किया है, शास्त्रीय ढंग से नहीं। मैं समझता हूँ श्रद्धा और विश्वास का प्रांकुरण भक्ति की पहली भूमिका है। श्रद्धा भक्ति में आकर्षण निहित करती है और विश्वास दृढ़ता प्रदान करता है। यहीं से भक्ति का बीज जमता है। 'भाव प्रेम की पूजा' में कबीर ने श्रद्धा और विश्वास दोनों का समावेश कर लिया है। विश्वास के

---

१. रामचरितमानस, अयो० कां०, राम के प्रति वाल्मीकि की उक्ति।

बिना संशय का निवारण नहीं होता और जबतक संशय और भ्रम रहता है तबतक भक्ति-भाव का उदय संभव नहीं है। इसलिए कबीर कहते हैं :—

"पद गांये लैलीन ह्वै, कटि न संसै पास।
सबै पिछाड़े थोथरे, एक बिनां बेसास[1]॥"

कबीर तो विश्वास में ही राम का निवास मानते हैं :—

"गाया तिनि पाया नहीं, अण-गांयां थैं दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूं, तिन रांम रह्या भरपूरि[2]॥"

विश्वास के बिना भक्ति में अनन्यता नहीं आती। जिस प्रकार 'यहाँ जाऊँ, वहाँ जाऊँ, कहाँ जाऊँ' के चक्कर में पड़ा हुआ पथिक कहीं जाने का निर्णय न कर सकने के कारण कहीं नहीं पहुँच पाता, इसी प्रकार विश्वासहीन मनुष्य की कोई स्थिति नहीं बन पाती। कबीर ने ठीक ही कहा है :—

"वांर पार की खबरि न जांनीं, फिरचौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहिथ के कड़वा ज्यों, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसैं[3]॥"

सूरदास ने भी 'जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी, पुनि जहाज पै आवै' कहकर भक्ति में विश्वास की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। अविश्वास अनिष्टकारी एवं दुखद होता है और विश्वास का फल मधुर होता है, इसलिए कबीर विश्वास पर जोर देते हैं। भक्ति में जबतक दृढ़ता नहीं आती तबतक अनन्यता भी नहीं आती और दृढ़ता का मूल विश्वास है। इसलिए कबीर को कहना पड़ा है :—

"तजि बांवैं दांहिणैं बिकार, हरिपद दिढ करि गहिये[4]।"

कबीर ने भाव-भक्ति पर जोर देने के साथ-साथ विश्वास पर भी बहुत जोर दिया है सच तो यह है कि विश्वास भक्ति का अनिवार्य अंग है और इसके

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५६-१६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५६-२१
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१, पद १३३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३१, पद १३३

बिना भक्ति चल नहीं सकती है। यही बात कबीर ने इस पंक्ति में प्रकट की है :—

"भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै मूल[1]।"

विश्वासमय भक्ति का अभिप्राय है अनन्य भक्ति। विश्वास का विभाजन प्रेम का विभाजन कर देता है और विभक्त दशा में प्रेम अपनी गंभीरता और दृढ़ता छोड़कर व्यभिचार बन जाता है। अतएव कबीर कहते हैं कि 'एक राम की ही उपासना करो,' वही देवाधिदेव है क्योंकि 'एकहि साधै सब सधै सब साधे सब जाहि।'

२. **साधु-सेवा**—भक्ति की दूसरी भूमिका साधु-सेवा है। साधु-संगति भक्ति को प्रेरणा[2] ही नहीं देती अपितु उसे दृढ़ भी करती है। साधु लोग अपने साथ में रहने वाले को अपना जैसा ही बना लेते हैं :—

"आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास[3]।"

कबीर साधुओं से मिलने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं क्योंकि उनकी संगति के बिना इस लोक में कही चैन नहीं है :—

"कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूं बसै।
नहि तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै[4]॥"

कबीर राम और भक्तों में कोई भेद[5] नहीं समझते। राम या राम-भक्त, किसी के भी मिल जाने से भक्ति सिद्ध हो जाती है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४५, पद ४
२. **वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नांम।**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९-४
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५०-७
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५०-१०
५. 'संत राम है एको'—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २७३-३०

"कबीर बन बन में फिरा, कारण अपणें रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम[1] ॥"

कबीर को जिस प्रकार यह विश्वास है कि राम-भक्ति में अमोघ शक्ति है उसी प्रकार यह विश्वास भी है कि साधु-संगति और साधु-सेवा में भी अमोघ-शक्ति है। साधु-संगति कभी निष्फल नहीं जाती :—

"कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ[2] ॥"

जिस प्रकार भगवान् की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है वैसे ही साधु-जनों की प्राप्ति भी भगवत्कृपा से ही होती है। साधु-संगति को ही कबीर बैकुंठ मानते हैं। उनके ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं :—

"साध संगति बैकुंठै आहि[3]।"

वे साधु-संगति के महत्त्व को भली भाँति जानते हैं। उनके पावन प्रभाव से वे अच्छी तरह परिचित हैं अ र तभी वे कहते हैं :—

"संत की गैल न छांड़ियै, मारगि लागा जाउ।
पेखत ही पुन्नीत होइ, भेटत जपियै नाउ[4] ॥"

साधु की सेवा के बिना हरि-सेवा भी नहीं बन पड़ती। जिस घर में साधु की सेवा और हरि की सेवा नहीं होती वह श्मशान से कम नहीं है :—

"जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसंहि तिन मांहि[5] ॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-५
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-२८१
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६३, पद ६८
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६०-१४२
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५५-८४

यह तो अभी कहा गया है कि गुरु भी साधुओं में से एक है। जिस प्रकार साधु और राम में भेद नहीं है उसी प्रकार गुरु और भगवान् में भी अभेद है। जिस प्रकार कबीर ने 'संत राम है एको' कहा है उसी प्रकार 'गुरु गोबिंद तौ एक है'[१] भी कहा है। गुरु-सेवा भी भक्ति की ही एक भूमिका है।

३. **नाम-स्मरण**—भक्ति की तीसरी भूमिका नाम-स्मरण है। कबीर उसको 'ततसार'[२] कहते हैं और 'तततिलक'[३] बतलाकर उसके महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। यह 'राम' नाम दो अक्षरों से मिलकर बना है। कबीर इन दोनों में बावन अक्षरों[४] का तत्त्व निहित मानते हैं। अलह, अलख, निरंजन विष्णु, कृष्ण आदिक भगवान् के अनेक नाम हैं। इन सबको कबीर भगवद्गुणों का प्रतिनिधि[५] बतलाते हैं। वह 'अपरंपार' है और उसके अनन्त नाम हैं। उसका बोध किसी भी नाम से हो सकता है :—

"अपरंपार का नांउ अनन्त, कहै कबीर सोई भगवन्त[६]।"

"हरि का नाम त्रिलोक-तत्त्व का सार है। जो इसमें लीन हो जाते हैं उनका उद्धार हो जाता है[७]" और "जिसका मन इसमें लीन हो जाता है वही आत्म-स्वरूप से परिचित हो जाता है। राम-नाम के कहने से भक्ति दृढ़ होती है और सहज ही में राम-नाम में मन लीन हो जाता है[८]।" सच तो यह है कि "भगवान् का नाम संसार-सागर से तरने के लिए उत्तम जलयान है। परमात्मा की बड़ी कृपा हुई जो उसने संसार के लोगों को यह जलयान दिया अन्यथा बड़ी दुर्दशा होती। जिन लोगों ने इस बेड़े को दृढ़ता से पकड़ा है वही

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३-२६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-२
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-३
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३६-१४८ तथा पृष्ठ १८३-२७९
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६६-३२७
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-३२७
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१४-३८०
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२७, पद ६-७

भव-सागर से पार होकर आनंद को प्राप्त हो गये हैं किन्तु जिनके मन की अस्थिरता के कारण यह हाथ से छूट गया है वे बुरी तरह से डूबे हैं। यह बेड़ा सबसे पहले संतों के हाथ लगता है जो इसे स्वयं दृढ़ता से पकड़ते हैं और दूसरों को इसका आश्रय प्रदान करते हैं[१]।"

कबीर को राम नाम में पूर्ण विश्वास है। वे "वे हरि-नाम-भजन को ही भक्ति बतलाते हैं[२]" और केवल उसी के[३] जाप के लिए आदेश करते हैं। "राम-नाम में लगी हुई लो आवागमन से मुक्ति प्रदान कर देती है[४]।" वे राम-नाम को अत्युत्तम नसैनी मानते है और इसीसे वे परमात्म-तत्त्व की ऊँचाई पर पहुँचने की घोषणा करते हैं[५]।" यह उत्तम वस्तु कबीर को अपने गुरु से मिली है और उसे वे बहुत सँभाल कर रखते हैं[६]। कहने की आवश्यकता नहीं कि राम-नाम कबीर का सर्वस्व है :—

"सो धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खांउ ॥
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि-तुम्हारी ॥
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा ॥
नांउ मेरे बंधव नांउ मेरे भाई, अंत की बिरियां नांउ सहाई ॥
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई[७] ॥"

कबीर नाम को एक ऐसा हीरा मानते हैं जिसको हृदय में धारण करने से न केवल अज्ञान-तिमिर नष्ट हो जाता है वरन् त्रिविध ताप भी विनष्ट हो जाते हैं। साथ ही तीनों लोकों में उससे शोभा बढ़ जाती है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४१, पद १६-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-३२८
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२२-१०८
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२२-१०८
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१-३३३

"रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूं लोक तिमर जाय, त्रिबिध पीरा[1]॥"

राम-रस अति मधुर है। इसके समान मधुर और कोई वस्तु है ही नहीं। इसी कारण वे इसी रस के पान करने का उपदेश देते हैं :—

"इहि चिति चाखि सबै रस दीठा।
रांम नांम सा और न मीठा[2]॥"

कबीर राम-नाम की प्राप्ति को बड़े भाग्य की बात मानते हैं और उसे वे चिंतामणि की उपाधि देते हैं क्योंकि उसको प्राप्त करके और कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। इससे वे बार-बार 'राम' जपने के लिए ही उपदेश देते हैं :—

"रांम भणि रांम भणि, रांम चिंतामणि।
भाग बड़े पायौ छांड़ै जनि[3]॥"

जिस प्रकार राम विश्व में व्याप्त है उसी प्रकार नाम भी विश्व में व्याप्त[4] है। उसे खोजने के लिए फिरने की आवश्यकता नहीं है। इसके जपने के लिए एक विशेष ढंग[5] की आवश्यकता है। राम का जाप इस प्रकार करना चाहिये जिससे जीवन के अन्त की परिणति उद्धार में हो। मन, वाणी और कर्म से 'राम' का स्मरण ही सार्थक होता है। सब चिंताओं को छोड़ कर भक्त तो एक हरि-नाम का ही चिंतन करता है। अभ्यास से नाम में अविरल प्रीति हो जाती है। "इस अविरल प्रीति में विश्वास अनिवार्य है जो राम-नाम के स्मरण का स्वतः फल है[6]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६७-३२७
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३६-१४८
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२७-१२३
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८२-८
५. रांम नांम सींचा अमी, फल लागा बे सास॥"
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-३७
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५६-१६

प्रीतिपूर्वक मन लगा कर जपने से राम का नाम जपने वाले को राम बना देता है। कबीर ने कहा भी है :—

"तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं।[1] ।"

'राम-नाम का स्मरण करने से राम से वियोग नहीं होता[2] ।' राम-नाम के संबंध में कबीर दो बातें कहते हैं जो देखने में विरोधी लगती हैं—एक तो यह है कि 'राम का नाम लूट का माल है और जिसमें लूटने की शक्ति है वह लूट सकता है[3] ।' दूसरी बात यह है कि 'राम-नाम के स्मरण में एक कठिनाई भी होती है और वह है बिल्कुल उस नट की कला के समान जो शूली के ऊपर उसका प्रदर्शन करता है[4] ।" जिस प्रकार पतन की दशा में उसका बचना कठिन है उसी प्रकार जो राम-नाम से पतित हो जाता है उसकी भी रक्षा संभव नहीं है। वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है। ये दोनों बातें एक दूसरी की संगति में हैं। राम के नाम की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु उसके स्मरण का समुचित निर्वाह बहुत कठिन है। कबीर एक रूपक में 'नाम' को जहाज बतलाकर और उसका केवट साधुओं[5] को कह कर नाम-स्मरण एवं साधु-संगति के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालते हैं।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि नाम के प्रति कबीर का बड़ा आग्रह है अतएव वे लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं—"आप लोगों का कर्तव्य केवल अपने आप 'राम-राम' कहना नहीं है[6] ।" कबीर को विश्वास है कि राम-नाम से मनुष्य का उद्धार होता है और जितने अधिक लोगों का उद्धार हो उतना

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-६

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२८

३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२५

४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२६

५. 'नांव जिहाज खेवाइया साध्रू ।'

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५२-१८६

६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२३

ही अच्छा है। "यह शरीर तो कच्चे घड़े के समान है और किसी ओर से चोट खाकर नष्ट हो सकता है। ऐसी चोटों का इस पर आघात न हो, इसके लिए कबीर एक ही उपाय समझते हैं और वह है राम-नाम[1]।" अशुभ कर्मों को नष्ट करने की और साधक के रक्षण की जितनी अमोघ शक्ति राम नाम में है उतनी और किसी में नहीं है। अनेक पुण्य कर्म भी मनुष्य का उद्धार करने में समर्थ[2] नहीं होते। क्षण भर का राम-नाम स्थिति को बिल्कुल बदल देता है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि राम-नाम के बिना मुक्ति का कोई सहारा नहीं है,[3] किन्तु विवेक स्मरण का सहचर होना चाहिये। कबीर का यह कहना है कि 'कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउं[4]', किन्तु वे यह भी कहते हैं कि 'उस कीर्तन का जिससे विवेक नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। वह तो केवल दिखाया है[5]।' इस कारण 'राम' मंत्र के जाप के साथ उसके ध्यान[6] पर भी जोर देते हैं जिससे मन राम में रम जाये। भक्ति की यह भूमिका भी बड़ी मोहक है क्योंकि कबीर को नाम[7] के सिवा और किसी में अस्तित्व ही दिखायी नहीं देता। नाम का मर्म परिचय के बिना ज्ञात नहीं होता। "कहने के लिए तो कोई भी राम-नाम कर सकता है, किन्तु जो उसके मर्म को जानते हैं ऐसे व्यक्ति थोड़े ही हैं[8]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४-३८

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२०

३. **"मुकति नहीं हरि नांव बिन, यों कहै दास कबीर।"**

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३७-१९

४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२०

५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८-५

६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-३०

७. **"आसति कहूँ न देखिहूँ बिन नांव तुम्हारे।"**

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५२-१९०

८. **"रांम नांम सब कोई बखांनैं, रांम नांम का मरम न जांनैं।**
कहै कबीर कछू कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै॥"

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६२-२१८

४. **गुण-कीर्तन**—भक्ति की चौथी भूमिका हरि-गुण-कीर्तन है। कबीर के राम सिद्धान्ततः निर्गुण एवं निराकार हैं, किन्तु भक्ति-क्षेत्र में संबंध-कल्पना करनी पड़ती है। उस निर्गुण में वे गुणों का आरोप करते हैं। गुणों के इस आरोप से परमात्मा का निर्गुणत्व समाप्त नहीं कर दिया जाता। वह अपने आप में माया के तीनों गुणों से परे है और आरोपित गुणों से उसमें किसी विक्रिया के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी आरोपित गुण भक्त को भगवान् के सांन्निध्य में ले जाने में बड़े सहायक होते हैं। भगवान् के हम जैसे गुणों का भजन करते हैं हमारे भीतर भी वैसे ही गुणों का विकास होता चला जाता है। एक समय ऐसा आता है जब कि हमारे भीतर विकसित सात्त्विक गुण भी विलीन हो जाते हैं और हम तद्रूप हो जाते हैं। इसी का परिचय कबीर ने यह कह कर दिया है—

"गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न रांम बियोग[1]।"

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति एक भाव है जो हृदय की तरंग है। इसी तरंग से प्रेरित होकर कबीर 'राम' के रिझाने तक की बात कह जाते हैं। यही 'अलौकिक' में 'लौकिक' का आरोप है। जिस प्रकार हम अपने गुणों को किसी गायक से सुन कर उस पर रीझते हैं उसी प्रकार परमात्मा भी उपासक के मुख से गुण-वर्णन सुन कर रीझता है। हम अपनी प्रशंसा के कारण रीझते हैं जो दुर्बलता है, किन्तु वह गायक पर इसलिए रीझता है कि वह उसमें मुक्ति की प्रवृत्ति देखता है। परमात्मा के गुणों में 'अमृतत्व' बतलाकर कबीर ने इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। कबीर के निम्नलिखित शब्द इसी रहस्य को स्पष्ट करते दीख पड़ते हैं—

"कबीर रांम रिझाइ लै मुखि अमृत गुंण गाई[2]।"

भाव की लहर में किन्तु भाव ही की रक्षा के लिए कबीर 'निर्गुण' में गुणों का आरोप अवश्य करते हैं, किन्तु वे संख्यातीत हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा अनन्त और असीम है। इसलिए उसमें अनन्त गुणों की कल्पना उसके

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-२८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-३१

अनुरूप ही है। भावना अपने किसी कोण से भगवान् में गुण देख सकती है और भावुक उसी गुण के साँचे में ढलता जाता है। इसी बात की पुष्टि कबीर की इस उक्ति में मिलती है—

"जिहि हरी जैसा जांणियां तिनकूं तैसा लाभ।"

कबीर की भावना परमात्मा की अनन्तता से अभिभूत है इसीलिए उन्होंने उसमें अनन्त गुणों का वैभव देखकर विस्मय भरे शब्दों में कहा है—

"सात समंद की मसि करौं, लेखन सब बनराई।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाई[1] ॥"

भक्त परमात्मा के किन गुणों का गान करे इस विषय में कबीर किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। जिसको जो गुण अच्छा लगे वह उसे अपना सकता है क्योंकि मीठे की कोई परिभाषा नहीं है। जिस को जो मिठाई भाती है उसके लिए वही मिठाई है—

"मींठो कहा जाहि जो भावै।
दास कबीर रांम गुंन गावै[2] ॥"

राम-गुण की मिठाई हर किसी को अच्छी नहीं लगती। "कामी को तो राम बिल्कुल ही अच्छा नहीं लगता। वह तो विषय-विकारों में ही लीन रहता है[3]।" किन्तु "साधु उसके गुणों को कभी नहीं भुला सकता क्योंकि वह परमात्मा का बड़ा आभारी है जिसने उसे नेत्र, नासिका, दाँत आदि अमूल्य वस्तुएँ प्रदान की हैं और जिसने उसको भोजन-वस्त्र दिये हैं[4]।" वह तो उसके गुणों का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे शब्दों से कबीर परमात्मा में 'कर्तृत्व' की भी कल्पना कर लेते हैं और यह कल्पना उनकी भक्ति-भावना की एक दृढ़ भूमिका

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६-१४७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२०-३६८
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७-२६१

को तैयार करती है। कबीर का विश्वास है कि 'जो हरि-भजन करने वाले हैं वे विकारों का परित्याग कर देते हैं क्योंकि उनमें भगवद्गुणों का उदय हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य वास्तव में पवित्र होते हैं। कबीर उन लोगों को पवित्र नहीं मानते जो 'छूआ-छूत' का विचार करते हैं[१]।"

कबीर उस एक को अनेक भावों में देखते हैं। बीज एक है, किन्तु उससे वृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ प्रकट हुई हैं। वह मूल बीज सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से परे हैं। उसे तो विवेकी ही समझ सकता है। इस के अतिरिक्त मनुष्य के अनेक भाव परमात्मा को उसके हृदय में अनेक रूपों में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। "परमात्मा के गुणों के ध्यान में सेवा-भाव परमावश्यक है। जहाँ सेवा का भाव है वहीं मुरारी की सत्ता है। संत लोग सेवा-भाव से ओतप्रोत होते हैं अतएव इसके प्रादुर्भाव के लिए सत्संग की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती[२]।"

जो लोग भगवान् के गुणों को भूल गये हैं वे कबीर की दृष्टि में भगवान् के चोर हैं क्योंकि भगवान् की दी हुई नियामतों का वे उपयोग न करके उनको व्यर्थ कर रहे हैं। ऐसे मनुष्यों की तुलना वे चमगादड़ों से करते हैं[३]। कबीर तो उसी को गुणी और पंडित कहते हैं जो दूसरों के साथ मिल कर हरि-गुणगान करता है[४]।

५. **विनय-दैन्य-प्रकाशन**—यह है कबीर भक्ति की पांचवीं भूमिका। इस भूमिका पर स्थित भक्त अपनी दुर्बलताओं को भगवान् के सामने खोल कर गिड़गिड़ाता प्रतित होता है। वह अपने को किसी भी हीनावस्था में प्रकट करने के लिए उद्यत रहता है। कबीर के शब्दों में उनकी एक ऐसी ही अवस्था का अवलोकन कीजिये:—

"कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गलै रांम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जांउं[५]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७३-२५१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७-१२१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३-२८
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०-१४

इस साखी से यह स्पष्ट है कि जो कबीर साधारणतया रूखे-सूखे से प्रतीत होतें हैं वही विनय की चरम सीमा पर जा पहुँचे हैं। ऐसा विनय-प्रकाशन कबीर हर किसी के सामने नहीं करते। किसी भी राजा को वे कोरी-कोरी सुना देते हैं, किसी भी अभिमानी के अभिमान पर वे वाणी का कठोराघात कर देते हैं किन्तु भगवान् और भगवद्भक्तों के संबंध में वे बड़े नम्र हो जाते हैं। जिसके मुख से राम का नाम निकल पड़ता है उसको वे बहुत पवित्र मानते हैं और अपने शरीर के चर्म को उसके पैरों की जूती बना देने तक के लिए तैयार हो जाते हैं[1]।"

कबीर आवागमन के नाच से परेशान हो गये हैं। वे जानते हैं कि नृत्य वाद्य के अनुरूप होता है। परमात्मा के वादन (इच्छा) के अनुरूप नाचने-नाचते कबीर बहुत दुखी हो चुके हैं। अतएव वे उससे अधिक न नचाने की प्रार्थना करते हैं और कहते हैं—'हे राम! मेरी इतनी सी विनय है कि अब नचाना बन्द करके मुझे अपने चरणों का दर्शन देनें की कृपा कीजिये[2]।'

'विषय वासनाएँ मेरा पीछा नहीं छोड़ रही हैं। मैं उन को छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु छोड़ नहीं पा रहा हूँ। चाहे घर छोड़ दूँ, वनखंड में जा रहूँ और कंद मूल पर निर्वाह करता रहूँ फिर भी मन गंदगी से मुक्त नहीं हो रहा है। मैं जितना सुलझाने के लिए प्रयत्न करता हूँ उतना ही उलझता जाता हूँ। हे केशव! आप तो घट-घट-वासी हैं और सब कुछ जानते हैं। मैं पापी हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु आप जैसा कोई दाता भी तो नहीं है। अब तो आप को ही मेरी रक्षा करनी होगी[3]।'

कबीर कहते हैं—"हे दामोदर! मैं नहीं जानता कि मैंने इस संसार मे किस कारण से जन्म लिया है और मैं यह भी नहीं जानता कि पैदा होकर मैंने कोई सुख भी पाया है, किन्तु मुझे अपना अपराध अवश्य ज्ञात है। मैंने प्रेमपूर्वक आप की भक्ति नहीं की। आप तो बड़े कृपालु हैं, और भवहारी भक्तवत्सल हैं।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६१-१५६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११३-७८
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४८-१७८

अब आप कृपा करके मेरी बुद्धि को प्रेरणा दीजिये और उसे दृढ़ता प्रदान कीजिये[1]।" 'गायत्री मंत्र में वैदिक ऋषि की भी इसी प्रकार की प्रार्थना है[2]।'

कबीर सांसारिक पीड़ाओं से बड़े आर्त हो रहे हैं। वे साफ़-साफ़ स्वीकार कर लेते हैं कि उनका मन राम की ओर इसलिए मुड़ा है कि लोक में उन्हें दुख ही दुख दिखाई दिया है और उससे वे बड़े भयभीत हैं। जननी के जठर में जन्म के पहले ही दुख भोगना पड़ा। वह भय अब तक उनके ऊपर सवार है। काया दिन-दिन क्षीण हो रही है, जरा प्रकट हो रही है और काल केश पकड़ कर अपना मृदंग बजा रहा है। इस विपत्ति से वे अपनी मुक्ति उस समय तक संभव नहीं समझते जबतक कि भगवान् की कृपा न हो। इसलिए वे यह प्रार्थना करते हैं—'हे करुणामय! इतनी कृपा कीजिये कि मैं आप को भूल न जाऊँ[3]।'

कातर कबीर माधव से बड़े परिचित स्वर में पूछते हैं—"हे माधव! मेरे ऊपर आपकी दया कब होगी जबकि मैं काम, क्रोध, अहंकार आदि से मुक्त होकर माया के चंगुल से छूट जाऊँगा। इस दुख को किससे कहूँ, कोई समझ नहीं सकता। आप से तो यही प्रार्थना है कि मेरे विकारों को दूर करके मुझे अपना दर्शन दीजिये[4]।"

कबीर के विनय में निकटता की भावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम से कबीर का परिचय बढ़ गया है। वे उसके सामने अधिक स्पष्ट हो गये हैं। "यदि लोग मुझे नहीं समझते तो मुझे चिन्ता नहीं है। वे मेरे संबंध में वे कुछ भी कहें। वे मुझे पागल कहते हैं तो कहते रहें। यदि मैं पागल हूँ तो भी आपका हूँ[5]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५३-१६१
२. 'धियो योनः प्रचोदयात्'।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६४-२२३
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६२-३०८
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०४-३४३

कबीर की स्पष्टवादिता राम के साथ भी प्रखरता धारण कर लेती है और यहाँ तक कह डालते हैं—'हर्माहं कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां'[1]। विनय की लहरों में उछलते-डूबते कबीर इन शब्दों के साथ राम की शरण में जा पड़ते हैं :—

"रांम राई मेरा कह्या सुनीजै,
पहले बकसि अब लेखा लीजै।
कहै कबीर बाप रांम राया,
अजहूं सरनि तुम्हारी आया[2] ॥"

६. **शरणागति एवं आत्मसमर्पण**—यह कबीर की भक्ति की अन्तिम भूमिका है। इस पर कबीर अपनी समग्र दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए अपनी समग्र शक्ति और सामर्थ्य को भगवदर्पण कर देते हैं। इस भूमिका के हमें पाँच पहलू पड़ते दिखायी हैं। इस का प्रथम पक्ष वह है जिसमें कबीर अपनी विवशता का अनुभव करते हैं और अपनी सम्पूर्ण विवशता के साथ वे भगवान् की शरण में जा पड़ते हैं:—

"कहै कबीर नहीं बस मेरा,
सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरौं जम दूतनि,
आये सरनि तुम्हारी[3] ॥"

इस भूमिका के दूसरे पहलू में कबीर राम में अनन्याश्रय की भावना करते हैं। इस पर उन्हें परमात्मा के सिवा अपना और कुछ नहीं दिखायी पड़ता और वे कह भी देते हैं :—

"तारण तिरण तिखा तूं तारण, और न दूजा जांनौं।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मांनौं[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७-३५८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७-३५७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७९-२६६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२३-११२

शरणागति के तीसरे तल पर कबीर का मोह माया से छुटकारा हो जाता है क्योंकि उसका झूठा रूप उनके सामने आ जाता है और माया में मिथ्यात्व की भावना उन्हें परमात्मा की शरण में आने के लिए प्रेरित करती है। वे भगवान् की शरण में आकर अपनी प्रभुत्व-भावना का विसर्जन करके अपना सर्वस्व उसी को समर्पित करते हुए कहते हैं :—

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सौंपतां, क्या लागै मेरा[1] ॥"

इस तल पर कबीर को सर्वस्व (शरीर तक) के प्रति अनासक्ति हो जाती है और उसे भगवान् को सौंपने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती ।

इस भूमिका के चौथे तल पर कबीर अपने ऊपर परमात्मा का पूर्ण अधिकार स्वीकार करके अपने को उसकी इच्छा को सौंप देते हैं—

"मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांई ।
तन मन धन मेरा रांम जी कै तांई ॥
आनि कबीरा हाटि उतारा ।
सोई गाहक सोई बेचनहारा[2] ॥"

भूमिका के अन्तिम तल पर कबीर विस्मयाविष्ट हो जाते हैं। वे परमात्मा के संबंध में बहुत कुछ जानते हुए भी न जानने का अनुभव करते हैं और यह कहते हुए मौनाश्रय लेते प्रतीत होते हैं—

"तेरी गति तूंही जानैं, कबीरा तो सरनां[3] ।"

इस प्रकार कबीर की भक्ति की छः भूमिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैराग्य न केवल भक्ति को प्रेरित करता है अपितु स्वयं

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२४-११३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२११

भक्ति का काम करता है। वैराग्य के साथ ही श्रद्धा और विश्वास की स्थिति आती है अतएव इसको भी उसी भूमिका का अंग मान सकते हैं।

कबीर ने 'दशधा' की बात कह कर भक्ति के आचार्यों के लिए एक समस्या प्रस्तुत कर दी है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'नवधा भक्ति' के घिसे-पिटे रूप को कबीर ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसमें अंधविश्वास के जमने के लिए अधिक अवकाश था। कबीर की दशधा-भक्ति 'भावभक्ति' है जिसमें किसी कामना को स्थान नहीं है, विश्वास सहित 'भावभक्ति' ही उनकी भक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करती है। हमारे सामने कबीर अपने ही शब्दों में भाव-भक्ति का रूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"नैन निहारौं तुझकौं स्रवन सुनहु तुव नांउ।
बैन उचारहु तुव नाम जी, चरन कमल रिद ठांउ॥"[1]

कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विश्व के कण-कण में भगवज्ज्योति दिखायी पड़े, प्रत्येक ध्वनि में भगवन्नाम सुनायी पड़े, वाणी पर उसका नाम आरूढ़ हो जाये और हृदय में उसकी स्थिति हो जाये तो समझिये कि भक्ति सिद्ध हो गयी। 'नैन निहारौं तुझकौं' का अभिप्राय यह नहीं है कि कबीर ने साकारोपासना को मान्यता दी है, अपितु इसका अर्थ 'उसकी व्याप्ति की अनुभूति' है। इसी प्रकार 'चरण कमल' का अर्थ भी हृदय में भगवान् की स्थिति की अनुभूति से ही है।

कबीर की भक्ति में भावों की प्रतिष्ठा स्पष्टतः दिखायी पड़ती है :—
(१) शिष्य-भाव, (२) वत्सभाव, (३) दास-भाव, तथा (४) कान्ता-भाव।

(१) कबीर ने गुरु और गोविन्द में न केवल अभेद माना है, अपितु गोविंद में गुरु का दर्शन भी किया है। आस्तिकों ने परमात्मा को परम गुरु माना है। कबीर भी 'गोविंद को जगद्गुरु'[2] कहते हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५५-८८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१८-३१०, 'जपत गुर गोविंद रे।'

अपने दूसरे भाव के अन्तर्गत कबीर परमात्मा को माता-पिता के रूप में देखते हैं। परमात्मा को माता मानते हुए कबीर विनयपूर्वक कहते हैं—"हे हरि रूपी माता, मैं तेरा बालक हूँ। फिर मेरे अवगुणों को क्यों नहीं क्षमा करती ? लौकिक माता के सामने पुत्र न जाने कितने अपराध करता है, किन्तु माता उन में से किसी पर ध्यान नहीं देती। बालक का अपराध कभी-कभी तो इस सीमा तक पहुँच जाता है कि माँ के केश पकड़ कर उस पर आघात तक कर देता है, फिर भी उसके प्रति माता का प्रेम कम नहीं होता। इतना ही नहीं वरन् बालक को दुखी देख कर माता को भी दुख होता है।"

जिस प्रकार माँ के सामने कबीर अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हे। उसी प्रकार पिता (परमात्मा) के सामने भी वे अपने अपराध स्वीकार कर लेते हैं। पिता के प्रेम को अपनी ओर खींचने के लिए कबीर उसी प्रकार का उपाय करते हैं जिस प्रकार का कि वे माँ के प्रेम को खींचने का प्रयत्न करते है। भूल से उन्होंने कुछ काम ऐसे कर दिये हैं जिनके कारण उनका हृदय भय से काँपता है। फिर भी वे राम-पिता से कुछ कहने का अवसर प्राप्त करते हैं और अपराधों का विवरण माँगने से पूर्व क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करते हैं। यह कबीर की घरेलू मुक्ति है। क्षमा कर देने पर पिता का लेखा लेना कुछ अर्थ नहीं रखता। राम के प्रति कबीर द्वारा यह एक निकट संबंध की स्थापना है।

तीसरे भाव से कबीर भगवान् को स्वामी या प्रभु के रूप में देखते हैं। इस भाव के अन्तर्गत कबीर राम को राजा भी मान लेते हैं और स्वामी भी। राम राजा ही कबीर की 'नव निधि'[१] है। अपने ठाकुर (स्वामी) की प्रकृति का संकेत देते हुए कहते हैं—

"दास कबीर को ठाकुर ऐसो,
भगति करै हरि ताको रे[२]॥"

चौथा भाव पति-भाव है। कबीर की भक्ति में यह भाव अधिक प्रबल दिखायी पड़ता है। इसमें माधुर्य की बड़ी सरस लहरें उमड़ती दीख पड़ती हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३००-१२४

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४-४८

इसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।

भक्ति के अन्तराय—जिस प्रकार सत्संग, वैराग्य आदि भक्ति के साधन हैं उसी प्रकार कुसंगति, विषयरति, संशय, राग-द्वेष, आशा, स्वार्थ आदि से भक्ति में बाधा पड़ती है। भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु कुसंग है। नारद ने भक्ति-सूत्र में दुःसंग को सर्वथा त्याज्य कहा है। कबीर भी कुसंगति को विनाशक बतलाते हैं। उनका कहना है—"कुसंगति में पड़ कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों से मिल कर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता खो बैठती है[1]।" विषय-रति और हरि-प्रेम में विरोध है। जबतक मन में विषय रहते हैं तबतक उसमें हरि का निवास नहीं होता और जब उसमें हरि का निवास हो जाता है तब विषय निकल भागते हैं—

"जब बिषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरी हरि नांहि।
जब अन्तर हरि जी बसै, तब विषिया सूं चित नांहि[2]॥"

जिस हृदय में संशय रहता है उस हृदय में भी हरि-प्रेम नहीं रह सकता क्योंकि संशय विश्वास को नहीं ठहरने देता। संशय के कारण उपासक उपास्य का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता और जहाँ राम का प्रेम होता है वहाँ उपासक और उपास्य में अन्तर रह ही नहीं सकता—

"जिहिं घट में संसौ बसै, तिहिं घटि राम जोइ।
रांम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ[3]॥"

राग आसक्ति और भय को जन्म देता है और जबतक मनुष्य के हृदय में इनका आसन रहता है तबतक वह भगवत्प्रेम का आसन नहीं बन सकता इनका आसन तभी उखड़ता है जब परमात्मा में विश्वास जमता है, उसके प्रति प्रेम होता है। राम का स्मरण ही भय को भगा सकता है। उसमें दृढ़ता चाहिये। जब तक स्मरण दृढ़ नहीं होता तबतक भय का अड्डा नहीं उखड़ता और भय के

---

१. ना० भ० सू० ४३
   कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१४

साथ क्रोधादि भी जमे रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि राग-द्वेष को हृदय से निकालने का उत्कट प्रयत्न किया जाये।

भक्ति-मार्ग में आशा भी एक प्रबल विघ्न प्रस्तुत करती है। कबीर लोक से कोई आशा करना व्यर्थ समझते हैं। लौकिक आशाएँ उपास्य को राम के समीप नहीं जाने देतीं और राम में विश्वास नहीं जमने देतीं और न वे अनन्य भाव की प्रतिष्ठा होने देती हैं। राम के उपासक को किसी से आशा नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसको आवश्यकता ही नहीं रहती। जो पानी में रहता है वह भी प्यासा मरे तो बड़े आश्चर्य की बात है[१]।" हरि-भक्त को तो शरीर की भी आशा नहीं करनी चाहिये क्योंकि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति रहती है तब तक भक्ति-भाव नहीं आता[२]। कबीर का विश्वास है कि आशा मनुष्य-विश्वास को नहीं जमने देती और मन को चंचल बनाती है। आशा चिन्ता को भी बढ़ाती है। इसलिए कबीर कहते हैं :—

> "सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
> हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस[३]॥"

"जिस हृदय से आशा विसर्जित हो जाती है तब हरि स्वयं भक्त की सेवा करता है कि कहीं भक्त को दुख न हो[४]।"

स्वार्थ भी भक्ति-पथ से आनेवाला एक भीषण अन्तराय है। आशा का जनक ही वास्तव में स्वार्थ है। स्वार्थ मनुष्य को अंधा करके उसके विवेक को छीन लेता है। स्वार्थ ही प्रेम की पावनता को कलुषित करता है। "स्वार्थ से तो सभी लोग प्रेम करते दिखायी पड़ते हैं, किन्तु वह भक्ति नहीं है। जहाँ निःस्वार्थ प्रेम है वहीं भक्ति होती है[५]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-११
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१५

भक्त का लक्षण—"सेवक वही है जो सेवा करता है और सेवा को ही अच्छा समझता है, जो पंथ-कुपंथ जानने का प्रयत्न न करता हुआ सेवा में ही अपने को भुला देता है[1]।" "सेवक अपने सेव्य को किसी भी दशा में नहीं छोड़ता। आदि, मध्य और अंत में, घर या बाहर, कहीं भी उसके साथ अभग्न साहचर्य बनाये रखता है[2]।" "भक्त भगवान् को बड़े धैर्य और विश्वास से भजता है और सब चिन्ताओं का परित्याग कर देता है। जो सत्य और संतोष को धारण किये रहता है और काम, क्रोध, तृष्णा आदि को पास भी नहीं भटकने देता, जिसे निंदा और असत्य के प्रति अरुचि होती है और जो काल-कल्पना को मिटा कर, भगवच्चरणों में दत्तचित्त होकर समदृष्टि धारण करके आनंदपूर्वक गोविंद के गुणों का गान करता रहता है[3]।" कबीर का आदर्श भक्त सब दोषों से ऊपर रहता है। "वह ऐसा हज़ारी कपड़ा है जिसमें किसी मत के लिये गुंजाइश ही नहीं है[4]।" "कबीर इस संसार को काजल की कोठरी कहते हैं। इसमें रहनेवाला निष्कलंक नहीं रह सकता। भक्त वह है जो राम की आड़ में रह कर सांसारिक कालिमा से विलग रहता है[5]।" "भक्त का एक विशेष गुण यह है कि वह सबका हितैषी होता है और उसकी चेष्टा यही रहती है कि वह सबको अपना जैसा बनाले[6]।" वह अपने संपर्क से दूसरों के मल को भी दूर कर देता है।

एक ही साखी में कबीर ने संक्षेप में भक्तों या सन्तों के ये लक्षण बतलाये हैं—

> **"निरबैरी निहकामता, सांई सेती नेह।**
> **बिषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह[7]॥"**

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४१, पं० ६-१०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८६-८०६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०६-३६३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-१३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-१२
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-६-७
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-१

कबीर ने कुछ आदर्शभक्तों के नाम गिनाये हैं। वे ये हैं—शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, शंकर, नामदेव, और जयदेव। ये ऐसे भक्तों के नाम हैं जो इस चोरों से भरी संसार-निशा में सजग रहे[1]।

निष्कर्ष—संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कबीर की भक्ति परंपरा की ही एक अनूठी कड़ी है। कबीर ने अपने समय की भक्ति-पद्धति को आस्तिक मात्र के लिए एक नये शोधित रूप में प्रस्तुत करके सब धर्मों को निकट लाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। उन्होंने भक्ति को व्यक्तिगत साधना मान कर भी समाज के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा की—ऐसी चेष्टा जिसमें सामाजिक अखंडता एवं लोक-कल्याण की भावना निहित थी। इस दृष्टि से निर्गुण और निराकार की उपासना का बहुत बड़ा मूल्य है। वह देश और काल की सीमाओं से मुक्त होकर मानव मात्र से संबंध रखती है।

---

१. "जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जै देव॥"
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१६-३८७

: २१ :

कबीर का योग-दर्शन

कबीर की साधना में योग का स्थान—जिस प्रकार सामाजिक पक्ष में कबीर ने कुछ दृष्टिकोण बना लिये थे उसी प्रकार व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर लिये थे। उनमें से उनके अपने सिद्धान्त यद्यपि कम थे, किन्तु जो थे वे अपने मौलिक अस्तित्व के प्रतिपादक थे और जो सिद्धान्त उन्होंने दूसरे धर्मों से ग्रहण किये थे वे उनके विवेक की कसौटी पर कसे हुए थे। उनका चयन चेता की क्षमता को प्रमाणित करता है। कबीर के सिद्धान्तों में प्रेम का प्रमुख स्थान है। जहां कहीं सैद्धान्तिक मौलिकता का दर्शन होता है वहां प्रेम का समावेश अवश्य हुआ है। सच तो यह है कि प्रेम कबीर की साधना और उनके सिद्धान्तों का मूल आधार है। यही कारण है कि उनका अद्वैत-दर्शन तक प्रेमानुरंजित दिखायी पड़ता है। उन्होंने योग की स्थूलता को प्रेम से भावित करके सूक्ष्मता में पर्यवसित कर दिया है। प्रेमातिरेक से योग और अद्वैत-दर्शन भक्ति-क्षेत्र के अधिवासी हो गये हैं। फिर भी योग और अद्वैत दर्शन में ही नहीं, कबीर की भक्ति में भी एक दृष्टिकोण है।

योग और प्रेम—ऊपर यह कहा जा चुका है कि कबीर की योग-साधना उनकी प्रेम-साधना का ही एक अंग है। जिस प्रकार सिद्धों ने योग को कायिक सिद्धियों के आडम्बर में लपेट दिया था उसी प्रकार कबीर ने उसे परंपरा की श्रृंखला में नहीं जकड़ा। 'सिद्धों और नाथों की परंपरा में कबीर' के अन्तर्गत यह बतलाया जा चुका है कि कबीर किसी परंपरा को वहां तक ही पुरस्कृत करते थे जहां तक वह कल्याणकारी सिद्ध होती थी। इसके आगे वे उसको स्वीकार नहीं करते थे। कबीर योगी थे, इसमें तो सन्देह की कोई बात ही नहीं है, किन्तु सिद्धों और नाथों के ढंग के योगी नहीं थे। उन्होंने योग को चमत्कार के लिए नहीं अपनाया था और न उसको योग में प्रविष्ट ही होने दिया। वे अपने ढंग के योगी थे। उन्होंने योग को 'मध्यम मार्ग' की सीमाओं

में स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि योग को कबीर ने एक मार्ग के रूप में ही स्वीकार किया है। वह सिद्धों की भाँति उनका लक्ष्य नहीं बन गया है। उन्होंने साधन रूप में भी योग की उन्हीं बातों को स्वीकार किया है जो उनकी अध्यात्म सिद्धि में भी सहायक होती हैं, अतएव कबीर के योगी के लक्षण परंपरागत योगी के लक्षणों से भिन्न हैं। उसकी मुद्रा, सींगी आदि में विशेषता है। 'जोगी' के लक्षण बताते हुए कबीर कहते हैं—

"अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति की सींगी, नाद न षंडै धारा।
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छांडै, पीवै महारस मींठा।
परगट कंथा मांहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।"

× × ×

"ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै[1]।"

परम पद के मार्ग—वास्तव में कबीर का लक्ष्य उस परम पद को प्राप्त करना है जिसे बिरले ही पा सकते हैं। 'परम पद' के गढ़ पर वे एक मार्ग से नहीं वरन् एक ही साथ अनेक मार्गों से धावा बोलते हैं। योग भी उनमें से एक है। जिस प्रकार से अन्य मार्गों में उसी प्रकार योग में भी मन एक विशेष व्यवधान है। जब तक इस व्यवधान का निवारण नहीं होता जब तक वह गढ़ विजित नहीं हो सकता। इस व्यवधान के निवारण के दमन और शमन, दो ही उपाय हैं। कबीर ने 'मन' को मारने की बात कही है, किन्तु 'विष' देकर मारने की नहीं, वरन् मधु देकर मारने की। कहने का तात्पर्य यह है कि वे मन को वश में करने के लिए कृत्रिम उपायों का उपदेश नहीं देते क्योंकि वे सब दमनोपाय हैं। वास्तव में वे उसे शमनोपाय से वश में करना चाहते हैं जिसे वे 'सहज

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ६९

मार्ग' भी कहते हैं। कबीर का यह 'सहज मार्ग' ज्ञान, भक्ति और योग, इन तीनों के सामंजस्य से निर्मित हुआ है। इसलिए कबीर उसको वास्तविक योगी नहीं मानते जो आसन, मुद्रा, खपरा, सींगी, बेन आदि को योग के उपकरण के रूप में ग्रहण करता है। इन वस्तुओं को तो वे एक दिखावा समझते हैं। इन सब का विनिवेश वे मन में करके वास्तविक योगी का रूप-चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा ॥
मन मैं आसण मन मैं रहणां, मन का जप तप मनसूं कहणां ॥
मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूला, कहै कबीर सो लहसै लंका[1] ॥"

कबीर एवं योग संबंधी रूढ़ियां—योगियों में जो आडम्बर प्रचलित हो गये थे, कबीर ने उनको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने आडम्बरों की बड़ी निन्दा की है। वे यह मानते हैं कि योग के लिए किसी बाहरी उपकरण की अपेक्षा नहीं है। योग के लिए जो उपकरण आवश्यक हैं वे सब इसी शरीर में उपलभ्य हैं। बेन, बटुवा, मेखला, भस्म, सिंगी आदि बाह्य वस्तुएं योगी के दंभ की सूचक हैं। वस्तुतः इनको मन में ही खोजा जा सकता है, अतएव वे योगी को संबोधित करते हुए उपदेश देते हैं:—

"जोगिया तन कौ जंत बजाइ,
ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।

तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनां रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमै भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परमपद राइ ॥
हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि बांधौ, खोजि निरंजन सांचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिना प्यंड कांचा[2] ॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २०६
२. कबीर ग्रंथावली, पद २०८

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर योग की रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी वाणी में अष्टांग-योग की सभी अनिवार्य बातें मिल सकती हैं, किन्तु हम कबीर की योग-साधना को किसी परंपरा के अन्तर्गत रख कर नहीं देख सकते क्योंकि उनकी दृष्टि योग के आवरण पर निहित नहीं है, वरन् उस के प्राणों पर निहित है। मनको उल्टा चला कर उसे एकाग्र एवं निश्चल करना तथा उसके भीतर अथवा उसके प्रकाश में 'परम पद राइ' को खोजना ही कबीर के योग का लक्ष्य है। कबीर का योग राजयोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है, फिर भी उसकी अपनी विशेषताएं हैं जिनमें प्रेमाभिषेचन प्रमुख है। सिद्धियों और चमत्कारों की अभिलाषा से विनिर्मुक्त कबीर परंपरागत योग-शृंखला से केवल उन कड़ियों को स्वीकार करते हैं जो मन को बांध कर प्रियतम तक पहुंचाने में सफल सिद्ध होती हैं। इसीलिए उन्होंने सिद्धों और नाथों की योग-पद्धति की उन सब मान्यताओं का तिरस्कार कर दिया है जो अनिवार्य नहीं है।

यम-नियम—जो यम-नियम किसी भी साधना के लिए आवश्यक हैं वे कबीर की दृष्टि में योग-साधना के लिए भी आवश्यक हैं, इसलिए उन्होंने पृथक् रूप में उनका निर्देशन नहीं किया किन्तु वे आसन की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं करते। इसी से उसकी दृढ़ता के लिए बार-बार सचेत करते हैं—

"सहज लछिन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि।
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभवन धणीं[1]॥"

आसन—जहां सिद्धों और नाथों ने चौरासी प्रकार के आसन बतला कर योग के कायिक पक्ष को महत्व दिया है, कबीर ने वहां केवल आसन को दृढ़ करने की बात कही है। आध्यात्मिक वातावरण के निर्मित करने में भी शरीर के अनुदान को भुलाया नहीं जा सकता। किसी न किसी प्रकार का आसन (Pose) अवश्य चाहिये, किन्तु वह दृढ़ होना चाहिये। दृढ़ आसन दृढ़ साधना की भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कबीर ने आसन की दृढ़ता और रक्षा[2] की बात पर विशेष ज़ोर दिया है। वे आसन के प्रकारों के पीछे नहीं पड़े।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ३२५
२. कबीर ग्रन्थावली, "आसन राखि···", पद ३१६

प्राणायाम—आसन के पश्चात् योग का अन्य अंग 'प्राणायाम' है। योग दर्शन में प्राणायाम तीन[1] प्रकार का माना गया है—बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तरवृत्ति और स्तभवृत्ति। बाह्यवृत्ति का दूसरा नाम 'रेचक' है। आभ्यन्तर वृत्ति को 'पूरक' नाम से भी अभिहित किया जाता है। पहली प्रक्रिया में प्राण को बाहर ले जाकर रोक दिया जाता है और दूसरी में प्राण को भीतर ले जाकर रोका जाता है। तीसरे प्रकार का प्राणायाम स्तंभवृत्ति है। इसको 'कुम्भक' भी कहते हैं। इस प्रक्रिया में अन्दर गये हुए प्राण को यथाशक्ति रोकना पड़ता है। वास्तविक प्राणायाम कुम्भक ही माना गया है। यह दो प्रकार का होता है। जब रेचक और पूरक की सहायता ली जाती है तब इसे 'सहित' कहते हैं, पर जब उन दोनों की सहायता के बिना ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तब वह 'केवल' कहलाता है। उसी की सहायता से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। हठयोग प्रणाली में जिस प्रकार सिद्धासन, खेचरी मुद्रा और नाद-लय का महत्त्व है उसी प्रकार 'केवल'[2] प्राणायाम का भी महत्त्व है।

प्राणायाम और मन—कबीर प्राणायाम का उतना विशाद विवेचन नहीं करते जितना कि योगमार्ग में प्राय: किया गया है। फिर भी कबीर-वाणी में उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। योग की जटिलताओं की विवेचना करना कबीर का लक्ष्य नहीं था और न जटिल कायिक साधनाओं में ही वे योग को निहित मानते थे। वे तो योग को आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए उपयोगी मान कर उसके उपयोगी अंश तक ही अपनी वाणी को सीमित रखते थे। वे योग का उपयोग मन के शमन के लिए करते थे क्योंकि मन ही द्वैत की प्रतीति का कारण है। 'हीरा' की निष्पत्ति 'मानस' में होती है अतएव कबीर का योग-दर्शन मन पर विशेष जोर देता है। मन की विकृति का निवारण करने और उसे स्वस्थ बनाने के लिए कबीर प्राणायाम के उपयोग को नहीं भुला देते।

---

१. हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ५५, श्लोक २२-३६

२. "नासनं सिद्धि-सदृक्षं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरी-समा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥"
—हठयोग प्रदीपिका १-४५

'पंच बाइ'[1] के खोजने की जो बात वे कहते हैं उसका अवश्य ही कोई महत्त्व है। 'रवि ससि पवनां मेलौ बंधि'[2] कहकर भी वे प्राणायाम-प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। अतएव कबीर की वाणी में नाड़ियों का मूल्य प्राणायाम के संबंध से है।

नाड़ियाँ—कहने की आवश्यकता नहीं कि नाड़ियाँ प्राण-वाहिनी हैं। इनके द्वारा शरीर में प्राण-संचार होता है। इनकी संख्या के संबंध में शास्त्रों में मत-भेद हैं। "भूतशुद्धि तंत्र में इनकी संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है, प्रपंचसार तंत्र में तीस हजार तथा शिवसंहिता में पैंतीस हजार कही गयी है"[3]। इनकी संख्या कितनी भी हो, इनमें से थोड़ी-सी ही नाड़ियां महत्त्व की हैं जिनमें से तीन ही का नाम बार बार आया है। नाड़ियों की अनेकता उनकी दृष्टि में है, यह स्पष्ट है।

जो हो कबीर यह मानते हैं कि नाड़ियाँ वे मार्ग हैं जिनसे प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है। यद्यपि कबीर शारीरिक शोध को विशेष महत्त्व नहीं देते, किन्तु मानसिक शोध में शारीरिक शोध अपने आप समविष्ट हो जाती है। नाड़ी-शोध योग की प्रारंभिक सीढ़ी है क्योंकि 'मन का संबंध वायु से है और वायु का नाड़ियों से'[4]। नाड़ियों की अशुद्धता कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व-गमन को रोकती है और शुद्धि उसमें सहायक होती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पद ३२५

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पद ३२५

३. आर्थर एवेलन—सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १३०—तु०की०ह० यो० प्र० : ४-१८, तथा गोरक्ष पद्धति : १-२५

४. "मलाकलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः॥"
—हठयोग प्रदीपिका २-४५

प्रमुख नाड़ियां—नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इड़ा और पिंगला श्वास-वाहिनी नाड़ियाँ हैं। इनके द्वारा क्रम-क्रम से श्वास-प्रवाह होता रहता है अतएव ये काल की सूचना देती हैं बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चन्द्र और सूर्य काल की सूचना देते हैं। "इड़ा को चन्द्रा नाड़ी और पिंगला को सूर्या नाड़ी"[१] भी कहते हैं। 'ससिहर सूर' कह कर कबीर इन्हीं नाड़ियों की ओर संकेत करते हैं। जिस प्रकार चन्द्र-सूर्य शब्द क्रमशः इड़ा-पिंगला के प्रतीक हैं उसी प्रकार अग्नि सुषुम्ना की प्रतीक है। यह नाड़ी इड़ा और पिंगला के बीच में स्थित है। यह 'काल का भक्षण'[२] करती है क्योंकि सुषुम्ना मार्ग में वायु का प्रवेश तभी होता है जब इड़ा और पिंगला दोनों के मार्ग को रोक दिया जाता है। इन दोनों नाड़ियों का संबंध अथवा ऐक्य सुषुम्ना में होता है। इस प्रकार वायु के सुषुम्ना में आने पर चन्द्र और सूर्य—रात और दिन अर्थात् काल का अन्त हो जाता है। यही योगी की अमरता है और इसी को उन्मनी अवस्था कहते हैं। जब सुषुम्ना में चन्द्र और सूर्य मिल जाते हैं तब प्राण सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर को चढ़ते हैं। इसको कबीर 'उल्टी गंगा' बहना भी कहते हैं—

'उलटी गंग मेर कूं चली'[३]।'

इसी समय चक्रभेदन होता है और इसी समय अनाहत नाद सुनायी पड़ता है—

"प्रकट प्रकास ग्यांन गुर गमि थें, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेरडंड सर पूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा[४]॥"

---

१. हठयोग प्रदीपिका २-७
२. आर्थर एवलेन—सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १३१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००, पद ३२६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६०, पद ७

अथवा:—

"ससिहर सूर मिलावा,
तब अनहद बेन बजावा[1] ॥"

नाड़ी-प्रतीक—जिस प्रकार इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को प्रतीक रूप में क्रमशः चन्द्र, सूर्य और अग्नि कहते हैं उसी प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं। कबीर ने 'सरस्वती' का प्रयोग शायद कहीं नहीं किया। वे इसे बंकनालि, सुषुमन नाड़ी, उलटी गंग आदि नामों से इंगित करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार 'गंग जमुन उर अंतरै'[2] कह कर इड़ा[3] और पिंगला की ओर संकेत किया है उसी प्रकार 'बंक नालि[4] की डोरि' कह कर सुषुम्ना की ओर इंगित किया है।

त्रिवेणी—मूलाधार इन तीनों नाड़ियों की मिलन-स्थली है। इसको योग की भाषा में 'युक्त-त्रिवेणी' भी कहते हैं। आधार कमल से प्रारम्भ होकर इड़ा और पिंगला क्रम-क्रम से सुषुम्ना के दाँये-बाँये होती हुई ब्रह्म-रन्ध्र तक जाती हैं। वे आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में प्रवेश करती हैं। इस संगम को 'मुक्त-त्रिवेणी' कहते हैं क्योंकि यहाँ से निकलकर इड़ा और पिंगला पृथक् होकर क्रमशः बाँये और दाँये नासिका-रन्ध्र में चली जाती हैं। कबीर ने 'युक्त त्रिवेणी' को त्रिवेणी नाम से अभिहित कभी नहीं किया। इस स्थल की ओर उन्होंने जहाँ कहीं भी संकेत किया है 'मूल कमल'[5] नाम से किया है। हाँ, 'युक्त त्रिवेणी' को उन्होंने 'त्रिवेणी'[6], 'त्रिकुटी-संगम'[7], 'त्रिकुटी संधि'[8], 'तीरथ राज'[9] एवं

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-१८२
३. कबीर इड़ा को 'इला' कहते हैं।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४, पंक्ति १३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४, पद १८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति ११
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०, पद ७
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५७, पद २०२
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५, पद १७१

'त्रिकुट कोट'[1] आदि संज्ञाएं प्रदान की हैं। कबीर ने योग के पारिभाषिक शब्दों से अनेक सुन्दर रूपक तैयार किये है। उनमें से नमूने के लिए एक देख सकते हैं जिसमें इड़ा, पिंगला, त्रिवेणी और षट् चक्रों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

"अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल की घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिबेणी संगम बाट[2]॥"

जिस प्रकार धार्मिक लोग त्रिवेणी-स्नान का माहात्म्य बतलाते है उसी प्रकार कबीर भी त्रिवेणी-स्नान के माहात्म्य का वर्णन करते हैं, किन्तु कबीर की 'त्रिवेणी' में केवल मन ही स्नान कर सकता है और उससे उसको 'सुरति' की प्राप्ति हो सकती है:—

"त्रिबेणी मनहि न्हवाइये।
सुरति मिलै जौ हाथि रे[3]॥"

काशी—आज्ञाचक्र से गुजरती हुई इड़ा को 'वरुणा' और पिंगला को 'असी' भी कहा गया है और उनके संबंध से चक्र को 'वाराणसी' कहते हैं। कबीर ने इन नदियों का नाम कहीं नहीं लिया और न चक्र को ही वाराणसी कहा है, किन्तु उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है। उन्होंने इस स्थल को कभी 'कासी' और कभी 'शिव की पुरी' कह कर उसी आशय की पूर्ति की है:—

"काया कासी खोजै बास,
तहां जोति सरूप भयो परकास[4]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८, पद २०४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पद १८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति ११
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१३, पद २७३

षट्चक्र—योग-शास्त्र में सुषुम्ना के मार्ग में अनेक चक्रों[1] की स्थिति बतलायी गयी है। इनमें से प्रथम मूलाधार है जो सुषुम्ना का मूल होने के कारण इस नाम से अभिहित किया गया है। यहीं कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह चक्र अधोमुख है और चतुर्दल कमल के आकार का है। यह गुदा और लिंग के मध्य स्थित है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो ऊर्ध्वमुख षड्दल कमल के आकार में लिंगमूल में स्थित है। नाभिमूल में तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है जो दशदल कमल के आकार का है। इसके ऊपर हृदय में चौथा चक्र है जो द्वादशदल कमल के आकार का है जो हृदय चक्र या अनाहत चक्र के नाम से आख्यात है। पाँचवाँ चक्र कंठस्थान में स्थित है। इसका नाम विशुद्ध चक्र है और यह षोड्शदल कमल कहलाता है। छठा चक्र आज्ञाचक्र या आकाश चक्र है। यह द्विदल कमल है और इसकी स्थिति भ्रूमध्य में है।

कबीर ने इन षट्चक्रों को स्वीकार किया है और उनके भेदन के महत्त्व पर जोर दिया है:—

> **"षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां।**
> **काम क्रोध लोभ मोह, हांकि स्यावज दीन्हां[2]॥"**

इन चक्रों का भेदन पवन को उलटने पर एवं सुषुम्ना में वायु के प्रविष्ट होने पर होता है:—

> **"उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सर पूरा[3]।"**

सहस्रार चक्र और उसकी विशेषता—इन षट् चक्रों के अतिरिक्त ब्रह्म-रन्ध्र में सहस्रार चक्र है जो सहस्रदलकमल कहलाता है। इसकी त्रिकोण-कर्णिका में पूर्ण चन्द्रमण्डल है। इसके मध्य में बिजली के समान परमानन्द रूप देदीप्यमान ज्योति है। इसमें चिदानन्दस्वरूप परमशिव विराजमान हैं। इनके

---

१. गोरक्ष पद्धति, पृष्ठ १४-१२ तथा पृष्ठ १५-१६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५६, पद २१०
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६०, पद ७

पार्श्व में सहस्र सूर्य के समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्द्धचन्द्राकार निर्वाणकला विराजमान है। इसके मध्य में कोटि सूर्यों के समान तेजोमय एवं रोम के समान सूक्ष्म निर्वाण-शक्ति की स्थिति है। इसके मध्य में मन-वाणी से परे, केवल योगगम्य, परमशिवपद है, इसी को परब्रह्म पद भी कहते हैं।

सहस्रारचक्र के समान अन्य चक्रों में भी देवस्थिति स्वीकार की गयी है। मूलाधार में ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान में विष्णु, मणिपूर में महारुद्र, हृदय में ईश्वर, विशुद्ध में सदाशिव तथा आज्ञाचक्र में शिव की कल्पना की गयी है।

चक्राधिदेव—इन चक्र-कमलों के दलों और अधिदेवों के संबंध में कबीर ने स्वतंत्रता से काम लिया है। कबीर ने एक अष्टदल-कमल भी माना है जो परंपरा से भिन्न है। किस कमल की स्थिति कहाँ है, इस संबंध में कबीर की वाणी स्पष्ट नहीं है। अधिदेवों के संबंध में कबीर ने जो स्वतंत्रता ली है उसका कारण यह है कि वे अनेक देवों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्हें तो केवल एक ही देव मान्य है जिसे वह किसी भी नाम से अभिहित कर देते हैं। वह कहीं श्रीरंग, कहीं श्रीगोपाल, कहीं कमलाकान्त और कहीं ज्योति-स्वरूप है। निम्नलिखित उद्धरणों से उक्त कमल-दलों और अधिदेव-नामों का परिचय हो सकता है:—

"षटदल कंवल निवासिया, चहुं कौं फेरि मिलाइ रे।
चहुं के बीचि समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।

× × ×

कदली कुसम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥

× × ×

त्रिबेणी मनहिं न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे।

× × ×

गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि है, तहां भीजत हैं सब संत रे।
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारी रे[1]।"

तथा

"आगम दुर्गम गढ़ रचियो बास, जामहि जोति करै परगास।
बिजली चमकै होइ अनंद, जिहि पौढ़े प्रभु बाल गुबिंद॥

× × ×

अनहद सबद होत झनकार, जिह पौढ़ें प्रभु श्री गोपाल।

× × ×

द्वादस दल अभ्यंतर मंत, जह पौढ़े श्रीकमलाकन्त।

× × ×

उहां सूरज नाहीं चंद, आदि निरंजन करै अनंद[2]॥"

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने योग-क्षेत्र में भी अपनी स्वतन्त्रता को अपहृत नहीं होने दिया। कबीर का लक्ष्य योग का विस्तृत एवं विशद विवेचन करना नहीं था, अपितु अनन्य प्रेम की सिद्धि एवं अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार के निमित्त मन को तद्नुरूप बनाने के लिए योग के उपयोग की ओर संकेत करना था। इसीलिए कबीर की वाणी में योग-संबंधी विस्तारों का अभाव है।

कुण्डलिनी—कबीर ने कुण्डलिनी के जागरण पर भी पर्याप्त जोर दिया है। इसके जागरण के लिए इड़ा-पिंगला के प्रवाह को रोकना आवश्यक है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पद ४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६९, पद १६

इसके जागते ही सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और उससे प्राणवायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है :—

"ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी।

× × ×

उलटी गंग नीर बह आया, अंमृत धार चुवाई॥

× × ×

प्रेम पियालै पीबन लागे, सोवत नागिनी जागी[१]॥"

"यह कुण्डलिनी मूलाधार के अधोभाग में स्थित है। कहते हैं कि वहाँ एक त्रिकोण चक्र में स्थित स्वयंभूलिंग है। उसे साढ़े तीन वलयों में परिवेष्टित करती हुई कुण्डलिनी सुषुप्त सर्पिणी की भाँति स्थित है। सहस्रार चक्र में नित्य पुरुष का निवास है। कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था में बाह्य सृष्टि चलती रहती है, किन्तु योग द्वारा उसके जाग्रत हो जाने पर बाह्य सृष्टि पुरुष में विलीन हो जाती है[२]।"

अमृत—सहस्रार में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता रहता है जो इड़ा नाड़ी से प्रवाहित होता रहता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य भस्म करता रहता है और उसके स्थान पर विष उत्पन्न करता है जो शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे असामयिक जरा एवं मृत्यु का सामना करना पड़ता है। योगी लोग उपाय से उस अमृत का सदुपयोग करके विष-प्रभाव से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं। इस अमृत-स्राव को कबीर निर्झर-रस भी कहते हैं :—

"नीझर और रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे[३]।"

तथा

"नीझर और अमीं रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका[४]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

२. लययोग संहिता तंत्र, पृष्ठ २

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति १०

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३१, पद १५५

उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र में शिव से जा मिलती है। इसको शिव-शक्ति-संयोग भी कहते हैं। कबीर शिव-शक्ति को ईश्वर-गौरी[1] भी कहते हैं।

कबीर की योग-साधना का स्वरूप— कबीर की योग-साधना में अनेक साधनाओं का मिश्रण है। उनके समय में योग के भी अनेक रूप प्रचलित थे। हठयोग में उनमें से बहुतसी बातों का समावेश कर लिया गया था। फिर भी कबीर ने उन सब बातों को अपने ढंग से ही स्वीकार किया। जिस प्रकार उन्होंने कुण्डलिनी-योग की उपयोगी बातों को स्वीकार कर लिया उसी प्रकार मंत्रयोग, लययोग और शब्द-योग की सारभूत बातों को भी अपना लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाम-सुमिरण जिसको हम मंत्रयोग भी कह सकते हैं, सुरति-शब्द-योग का ही रूप है। इसका लक्ष्य मन को नाम स्मरण में इस प्रकार लगा देना है कि उसका अपना पृथक् अस्तित्व ही न रह जाये। लययोग का लक्ष्य भी यही है। इसमें साधक अपने को साध्य में विलीन कर देता है। इसको कबीर 'लौ' या 'लिव' कहते हैं। सुरक्षित-शब्द-योग में मंत्र-योग और लययोग, दोनों का मिलन हो जाता है। बाह्य शब्द अन्तर्मुख होकर उच्चरित से अनुच्चरित एवं अनाहत नाद में परिवर्तित होकर शून्य रूप में परिणित हो जाता है। परमात्मा का नाम ही योग की चरम दशा में परमात्मा हो जाता है और उसमें साधक डूब जाता है।

सहजयोग—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर का योग मनो-योग है जिसको वे सहजयोग भी कहते हैं। इसको न तो अष्टांग योग ही कह सकते हैं और न षडंग हठयोग ही, क्योंकि इसमें किसी क्रम, श्रम, या कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं है। यद्यपि कबीर ने यम-नियम की कोई चर्चा नहीं की, किन्तु उनका कहीं खंडन भी नहीं किया। हाँ, उनके सहजयोग में कठोर नियमों का, जिनमें श्रम एवं दिखावा अधिक है, समावेश नहीं है। आसन की दृढ़ता पर जोर देकर कबीर ने उसके भेद-विस्तारों को छोड़ दिया है। वे प्राणायाम और उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु कुम्भक को अधिक अनुकूल समझते हैं :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११०, पद ७१

"जब कुम्भकु भरिपुरि जीना, तब बाजे अनहद बीना[1] ।"

अनेक नाड़ियों की ओर संकेत करते हुए भी कबीर ने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का ही नाम लिया है । इड़ा-पिंगला से तो उन्होंने भाटी का काम लिया हैं । कबीर के सहजयोग में सहयोग देने वाली नाड़ी सुषुम्ना है । इसी के मार्ग से वे वायु को उलटते हैं और इसी के मार्ग से वे सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं जहाँ वह शक्तिरूपिणी कुण्डलिनी शिव से मिलती है । इस दशा में परमानन्द की प्राप्ति होती है । षट् चक्रों का भेदन भी सुषुम्ना के मार्ग के खुलने पर ही होता है । सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग है और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ब्रह्मरन्ध्र और सुषुम्ना में विशेष अन्तर नहीं मानते[2] । 'भंवर गुफा' सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र, दोनों को एक साथ संकेत करती है । इस ब्रह्मरन्ध्र में कबीर को आराध्य परम ज्योति का साक्षात्कार होता है । इस 'दरीबे' में आकर मन पवन के साथ विलीन हो जाता है । इस अवस्था को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, रांम नाम लिव लागी[3] ।।"

इसको कबीर मन की निर्वाण-अवस्था भी कहते हैं :—

"कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह ।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निबाणां चालि[4] ।।"

योगियों का कहना है कि 'सहस्रार' में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य सोखता रहता है । योगी लोग उसे उपाय से पीकर अजर-अमर हो जाते हैं । कबीर उस चन्द्र का वर्णन तो नहीं करते जिससे अमृत स्रवित होता है, किन्तु वे वहाँ एक निर्भर अवश्य मानते हैं जहाँ

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८, पंक्ति ५
२. आर्थर एवेलन : सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ ५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१, पद ९१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२

से अमृत झरता रहता है[1] और कबीर का अनुभव है कि उसे पीकर साधक 'मतवाला' हो जाता है। कबीर का यह अमृत, मैं समझता हूँ, कायिक रस नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आनन्दमात्र है।

मुद्रादि—कबीर ने किसी विशेष मुद्रा का उल्लेख नहीं किया, किन्तु विभिन्न चक्रों में आराध्यदेव के ध्यान की बात अवश्य कही है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। मूलबंध[2] पर कबीर ने विशेष जोर दिया है क्योंकि इसका प्रभाव प्राणायाम की दृढ़ता पर भी पड़ता है।

ध्यान और नाद—ध्यानबिन्दूपनिषद योगी को अनाहतनाद सुनने की प्रेरणा देता है। साथ ही वह ध्यान के संबंध में भी निर्देशन करता है। पूरक के साथ नाभिकमल में स्थित चतुर्भुज रूप देव एवं सन के फूल के रंग का ध्यान करना चाहिये, कुम्भक के साथ कमलासन ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये तथा रेचक के साथ आज्ञाचक्र में स्थित त्रिलोचन रुद्र का ध्यान करना चाहिये[3]।

ध्यान की दृष्टि से कबीर अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—इन तीन चक्रों का विशेष उल्लेख करते हैं, यद्यपि 'कदली कुसुम दल[4]' का उल्लेख करके वे सर्वदेवमय 'नाभिकमल' का भी ध्यान रखते हैं। कमलाकान्त, श्रीरंग, श्रीगोपाल आदि नामों से कबीर किसी आकार की ओर इंगित नहीं करते किन्तु 'कदली कुसुमदल' आदि से वे ध्यान के लिए आश्रय अवश्य खोज लेते हैं। जब सालंब मन निरालंब होकर विलय को प्राप्त हो जाता है तभी आत्मदशा प्राप्त हो जाती है।

वायु और मन—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राण के साथ

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४
तथा पृष्ठ १३८, पद १५३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९८, पद ३१
३. ध्यानबिन्दूपनिषद, ५-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पं० ७

मन का गहन संबंध है बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मन का वासना के साथ है। इसीलिए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—"चित्त की प्रवृत्ति में दो कारण हैं:—एक वासना और दूसरा प्राणवायु। इन दोनों में से एक भी क्षीण हो तो दोनों ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् वासना का क्षय होने पर प्राण और चित्त दोनों क्षीण हो जाते हैं और प्राण क्षीण होने पर चित्त और वासना दोनों नष्ट हो जाते हैं[१]।" "जो पवन को बांध लेता है वही मन को भी बांध लेता है और जो मन को बाँध लेता है वही पवन को भी बाँध लेता है[२]।" कबीर भी मन-पवन[३] के संबंध को भली भांति समझते हैं। वे यह जानते हैं कि जहाँ पवन लीन होता है वहीं मन भी लीन होता है[४]।

वायु अपने ऊर्ध्वगमन के साथ मन को भी ले जाता है और मन के ऊर्ध्वगमन में वायु का ऊर्ध्वगमन भी संनिहित रहता है। मन के स्थैर्य और विलय का एक ही अर्थ है। जबतक मन में वृत्तियाँ रहती हैं तबतक उसकी चंचलता या अस्थिरता सिद्ध है। मन के स्थिर होने पर प्राण स्थिर हो जाते हैं और प्राण (वायु) स्थैर्य से बिन्दु (वीर्य) स्थिर होता है जिससे शरीर को सत्त्व एवं स्थैर्य प्राप्त होता है :—

"मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दु स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते[५]॥"

कबीर मन के मारने की बात पर बहुत जोर देते हैं। इसी को सूफी 'फनाँ' की स्थिति बतलाते हैं। कबीर जहाँ मन की स्थिरता पर जोर देते हैं वहाँ 'बिन्दु' की स्थिरता पर भी जोर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इससे सत्त्व की प्राप्ति होती है जिससे मन स्थिर होता है। इसीलिए वे कहते हैं :—

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-२२
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-२१
३. हठयोग प्रदीपिका. पृष्ठ १५७, पद २०२
४. हठयोग प्रदीपिका, ४-२३
५. हठयोग प्रदीपिका, ४-२९

"सुप्पनैं बिंद न देई झरनां,
ता काजी कूं जुरा न मरणां[1]।"

श्रोत्रादि इन्द्रियों का प्रेरक मन है, मन का प्रेरक मारुत है और मारुत का नाथ लय (मनोलय) है। वह लय नादाश्रित है अर्थात् नाद में मन लय को प्राप्त हो जाता है :—

"इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः[2]॥"

मन, मारुत और नाद—कबीर भी इन्द्रियों को अधिकृत करने के लिए मन को अधिकृत करने की बात कहते हैं। जबतक मन काबू में नहीं होगा तब तक इन्द्रियां भी काबू में नहीं आतीं :—

"मन न मार्या मन करि, सके न पंच प्रहारि[3]।"

इन्द्रिय-विषयों में रमा हुआ मन उस समय तक वश में नहीं आ सकता जबतक कि उसको विषयों से विमुख न किया जाये। इस अभिप्राय से कबीर कहते हैं :—

"कबीर मन बिकरैं पड़्या, गया स्वादि कै साथि।
गलका खाया बरजतां, अब क्यूं आवै हाथि[4]॥"

साधना की सफलता मन रूपी मृग को मारने में है। जिस प्रकार नाद-मुग्ध हरिण मारा जाता है उसी प्रकार नाद-लग्न मन भी मारा जाता है। यों तो कबीर ने मन मारने के अनेक साधन बतलाये हैं, किन्तु उनमें से एक साधन नादानुसन्धान भी है जो योग से संबंधित है। इसीलिए वे सुरति-निरति के साथ नाद की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहते हैं :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २००, पद ३३०
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-२९
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९-१५
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९-१६

"मुद्रा निरति सुरति करि सिंगी, नाद न षंडै धारा[1]।"

मन और नाद—मन के विलय के लिए जिस प्रकार ज्योति का ध्यान आवश्यक है उसी प्रकार नाद-श्रवण भी आवश्यक है। राजा राम की ज्योति में कबीर की अन्तर्दृष्टि लग जाती है और 'अनाहत नाद' में उनकी अन्त:श्रुति लग जाती है। यह अन्तर्दृष्टि और अन्त:श्रुति मन की ही एक स्थिति है। धीरे-धीरे मन इन्हीं में लीन हो जाता है :—

"राजा राम अनहद किंगुरी बाजै,
जाकी दृष्टि नाद लव लागै[2] ॥"

तथा—

"जगत गुर अनहद कींगरी बाजै,
तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै[3] ॥"

नाद की अवस्थाएं:—अनाहत नाद की चार अवस्थाएं होती हैं—(१) आरंभावस्था, (२) घटावस्था, (३) परिचयावस्था, और (४) निष्पत्ति-अवस्था। निम्न श्लोक दृष्टव्य है—

"आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्[4] ॥"

"जब प्राणायाम के अभ्यास से अनाहत चक्र में वर्तमान ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तो हृदयाकाश में उत्पन्न आनन्दजनक, अलंकार-झंकृति के समान अनाहत ध्वनि देह के भीतर सुनायी पड़ती है।

घटावस्था में प्राणवायु अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को एक

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६५, पद ४
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३७-१५३
४. हठयोग प्रदीपिका, ४-६६

करके मध्य चक्र में स्थित होती है जो कंठ-स्थान में है। यहां कुम्भक द्वारा विष्णु-ग्रन्थि के भेदन से अतिशून्य (कंठाकाश) में भेरी-नाद जैसा विविध-नाद-संमर्द श्रवणगोचर होता है।

तीसरी अवस्था में भ्रूमध्याकाश में मर्दल-वाद्य की सी ध्वनि होती है जो प्राणवायु के महाशून्य (भौंहों के बीच के अवकाश) में स्थित होने पर सुनायी पड़ती है। इस अवस्था में अनेक सिद्धियां मुग्ध करने आती हैं, किन्तु उनके तिरस्कृत होने पर सहज आत्मानन्द का उदय होता है और योगी दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा, निद्रा आदि से मुक्त हो जाता है। यहाँ आज्ञाचक्र है जिसकी ग्रंथि का नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इसी ग्रंथि के भेदन के उपरान्त प्राण-वायु भ्रकुटि-आकाश में प्राप्त होती है इस स्थान को शर्वपीठ या शिवालय भी कहते हैं।

चौथी अवस्था में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस अवस्था में वंशी और वीणा का शब्द सुनायी पड़ता है। इस अवस्था में सुनाई देने वाले नाद के भी अनेक भेद किये गये हैं। कहते हैं कि आदि में समुद्र, मेघ, भेरी और डमरु का सा शब्द सुनाई पड़ता है। अन्त में किंकिणी, वेणु, वीणा, अलि-गुञ्जन जैसा शब्द सुना जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर नाद को सुनता हुआ योगी का मन भी झीना (क्षीण) होता चला जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाद के विलय के साथ मनोविलय भी हो जाता है[1]।

अनाहत नाद के अन्य नाम—अनाहत नाद के कबीर ने भी अनेक नाम बतलाये हैं। वे उसको कहीं गगन-गर्जना, कहीं 'अनहद तूरा', कहीं अनहद बेन, कहीं अनहद कींगुरी और कहीं 'अनहद बाजा' नाम से अभिहित करते हैं। 'अनहद झंकार' का प्रयोग भी उन्होंने अनाहत नाद के लिए ही किया है किन्तु कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किसी भेद-दृष्टि से किया है।

"गुण और गुणी में अभेद है। आकाश का गुण शब्द है। जबतक शब्द सुनायी पड़ता है तबतक आकाश की कल्पना है। मन के साथ शब्द

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-७०,७७

के विलय हो जाने से जिस निःशब्द परब्रह्म की अनुभूति होती है उसे ही परमात्मा भी कहते हैं[१]।" कबीर का लक्ष्य भी 'अनाहत नाद मात्र' का सुनना नहीं है। उनका लक्ष्य उससे आगे असीम का साक्षात्कार करना है। वे ध्वनि के मार्ग से सहज में मिलने की बात कहते हैं:—

"स्वादि पतंग जरै जरि जाई,
अनहद सौं मेरौ चित न रहाइ[२]।"
"कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी,
सहजि मिलैगा सोई[३]॥"

लय—मनोविलय की स्थिति को कबीर 'शून्य' की स्थिति भी कहते हैं। जिसकी 'लौ' शून्य में है वे उसी को 'जोगेस्वर' बतलाते हैं:—

"कहै कबीर सोई जोगेस्वर,
सहज सुंनि ल्यौ लागै[४]।"

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि 'लय' का तात्पर्य मन को वृत्तिहीन कर देना है। 'सुंनि मंडल में धरौ धियान[५]' कह कर कबीर इसी अवस्था की ओर निर्देश करते हैं। इस अवस्था में जीव की क्या स्थिति होती है, इसका परिचय कबीर अपनी इस पंक्ति से देते हैं:—

"प्यंड परैं जीव जैहै जहां,
जीवत ही ले राखौ तहां[६]।"

इस अवस्था में शरीर और मन दोनों से संबंध नहीं रहता। जब मनोवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं तो शरीर की सत्ता भी साधक के लिए नहीं रहती

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०१
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २११, पद ३६६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पंक्ति ५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ६६
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६८, पंक्ति २३
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६८-३६

और मन उस समय नहीं रहता जब वह ब्रह्ममय हो जाता है। कबीर ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

"तन नाहीं कब ? जब मन नाहिं,
मन परतीति ब्रह्म मन मांहि[1]।"

मन ब्रह्ममय उस समय होता है जबकि वह गंगा-यमुना के संगम पर, जो दसवें द्वार पर स्थित है, स्नान करके पावन हो जाता है—

"मन मंजन करि दसवें द्वारि[2],
गंगा - जमुना - संधि बिचारि[3]।"

संभवत: वहाँ कुछ न देखकर साधकों को निराशा हो इसलिए कबीर सचेत करते हैं :—

"नांहीं देखि न जइये भागि, जहां नहीं तहां रहिये लागि[4]।"

और समझाते हुए कहते हैं कि जहाँ आप लोगों को कुछ नहीं दीखता वहाँ आपका आराध्य है। आप उसे पहिचानने का प्रयत्न कीजिये :—

जहां नहीं तहां कछू जांणि,
जहां नहीं तहां लेहु पछांणि[5]।"

इस अवस्था को कुलार्णव तंत्र[6] ने ध्यान का वह रूप बतलाया है जो विलक्षण है और जिसमें न 'अत्र' है न 'अनत्र' है, जहां प्रकाश-पुञ्ज की सी

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९८, पंक्ति २१
२. कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र को 'दसवां द्वार' कहा है—
'दसवें द्वार लागि गई तारी', पृष्ठ १८१, पद २७३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९८, पंक्ति १७
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९८, पंक्ति १६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पंक्ति १५
६. कुलार्णव तंत्र ९-९

दीप्ति, सागर की सी गंभीरता तथा आकाश की सी व्याप्ति है।

"इस संकल्प-विकल्पहीन स्थिति को योग की भाषा में अनेक नाम दिये गये हैं। समरसत्व, सहजावस्था, राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्य, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, तुरीयावस्था आदि से एक ही अवस्था का द्योतन होता है। इस अवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से सुख-दुख से मुक्ति हो जाती है। यह निर्विकार अवस्था होती है। इसीके क्रम में देह-त्याग के उपरान्त विदेह कैवल्य अथवा परममुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जिसे स्वरूपावस्थान भी कहते हैं[1]।"

कबीर ने उन्मनी, मनोन्मनी, शून्य, परमपद, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवनमुक्ति आदि नामों से इसी अवस्था की ओर संकेत किया है, किन्तु इस अवस्था को वे सत्ताहीन नहीं मानते। उन्मनी अवस्था में समग्र ब्रह्मांड पिंड में आभासित होने लगता है।

निष्कर्ष—कबीर ने योग को प्रेम से आसिक्त किया है। जिस निरंजन को हठयोगियों ने अवस्था माना है उसको कबीर ने प्रायः एक सत्ता के रूप में ही स्वीकार किया है। इसका कारण उनका प्रेमातिरेक है। इस प्रेम के अतिरेक से वे योग, ध्यान और तप को विकार कह डालते हैं। वे सर्वत्र निरंजन राम को देखते हुए उसी का आश्रय ले लेते हैं :—

"अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग ध्यांन तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार[2]।।"

'राम रसायन' के सामने वे सिद्धियों को हेय समझकर तिरस्कृत कर देते है। और तो और, ज्ञान तक को वे विकारों का कारण कह कर हरि-प्रेम को उत्कृष्ट बतला देते हैं :—

---

१. आर्थर एवेलन, सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १९९
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०२, पद ३३७

"का सिधि साधि करौं कुछ नांहीं, रांम रसांइन मेरी रसना माहीं।
नहीं कुछ ग्यांन ध्यांन सिधि जोग, ताथैं उपजैं नांनां रोग।
का बन मैं बसि भये उदास, जे मन नहीं छाड़ै आसा पास।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार'।"

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान और योग को कबीर अपने में पूर्ण नहीं मानते, हरिप्रेम में ही उनकी पूर्णता सिद्ध होती है।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३०, पद १३०

: २२ :

कबीर का चिन्तन-पक्ष

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर का साधना-पक्ष बड़ा प्रबल है। कबीर योगी भी हैं और भक्त भी, किन्तु योग को वे प्रेम-सिद्धि का ही एक साधन मानते हैं अन्यथा हरि-प्रेम के सामने वे योग को व्यर्थ न कह डालते। इतना ही नहीं, हरि-प्रेमी कबीर ने ज्ञान तक को व्यर्थ कह दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि योग और ज्ञान का उनके लिए कोई उपयोग ही नहीं है। वे योग को वृत्तियों के शमन के लिए और ज्ञान को तात्त्विक बोध के लिए भक्ति का सहयोगी मानते हैं।

योग उनकी व्यक्तिगत साधना है जिसका सम्बन्ध केवल उन्हीं से है, किन्तु प्रेम में उनकी व्यक्तिगत साधना होती हुई भी उसका उदय प्रसार से होता है जहाँ योग का कोई काम नहीं है, किन्तु ज्ञान उस प्रसार के विश्लेषणात्मक बोध के लिए भी आवश्यक रहा है। जैसे-जैसे उन्होंने प्रसार को समझा है वैसे-वैसे उनका प्रेम व्यापक एवं गहन होता गया है। यहाँ तक कि उनका सुधारवादी दृष्टिकोण भी उनके ज्ञान से प्रेरित है। उनके इस दृष्टिकोण में जहाँ ज्ञान की प्रेरणा है वहाँ प्रेम का आश्लेष भी है। ज्ञान ने उनके प्रेम को मार्जित करके चमका दिया है जिससे उन्हें समदृष्टि प्राप्त हुई है। ज्ञान सत्य का उद्घाटन करता है जिसे कबीर श्रेय और प्रेय, दोनों रूपों में देखते हैं।

कबीर के ज्ञान की दो भूमिकाएँ है जो उनके चिन्तन पर आधारित हैं। एक भूमिका पर वे लोक-कल्याण में प्रवृत्त होते हैं जहाँ वे सुधार के प्रस्ताव एवं कुत्साओं की भर्त्सना करके विषमता को समता से पाटना चाहते हैं। दूसरी भूमिका पर वे परमात्मा के प्रेम में निमग्न होते चले जाते हैं। उनके प्रेम की चरम परिणति प्रिया, प्रेम और प्रेमी की एकता में होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का ज्ञान-क्षेत्र अद्वैतपरक है, किन्तु प्रेम-क्षेत्र के पथिक कबीर का प्रस्थान बिन्दु द्वैतपरक है। प्रेम दो के बीच का

भाव है अर्थात् आश्रय और आलम्बन के बीच में प्रेम पुल का काम करता है किन्तु प्रेम की एक विशेषता है कि वह अपनी अनन्यता की दशा में प्रेमी को म्रियमान कर देता है। इस तथ्य की पुष्टि कबीर के ही शब्दों से की जा सकती है :—

"तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं[1] ॥"

अतएव प्रेम अपने प्रारम्भ में द्वैतपरक तथा परिणति में अद्वैतपरक है। उस अद्वैत की विवेचना कबीर के चिन्तन-क्षेत्र की वस्तु है। वह अद्वैत तत्त्व क्या है, इसका उत्तर कबीर ने अनेक प्रकार से दिया है।

अद्वैत तत्त्व—"वह अद्वैत तत्त्व अद्भुत है, कहने में नहीं आ सकता और हो सकता है कि कहे हुए पर सुनने वाले को विश्वास न हो क्योंकि सुनने वाले की अनुभूति भिन्न हो सकती है[2]।" इसीलिए कबीर कहते हैं :—

"पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान[3] ॥"

उस अद्वैत तत्त्व को कबीर ने अनेक नामों से अभिहित किया है। पारब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, हरि, निरंजन, अलख, खालिक, निर्गुण, भगवान, राम, पुरुषोत्तम आदि अनेक नामों से वे उसी अद्वैत तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। वह गुण विहीन है। उसका न कोई रूप है, न रंग है। उसमें देखने की कोई चीज़ नहीं है। उसका कोई नाम भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि वह निर्गुण और निराकार है। इसीलिए कबीर अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

"अब गति की गति क्या कहूं, जस कर गांव न नांव।
गुन बिहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३८, पंक्ति १४-१५

सामर्थ्य एवं शक्ति—उस अद्वैत तत्त्व के सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति अद्‌भुत है। वहाँ कारण के बिना ही कार्य हो जाता है। "वह मुख के बिना खा सकता है, चरणों के बिना चल सकता है, जिह्वा के बिना बोल सकता है, स्थान को छोड़े बिना ही दसों दिशाओं में फिर सकता है, हाथों के बिना ताली बजा सकता है, बाजे के बिना संगीत प्रस्तुत कर सकता है और शब्द के बिना अनाहत् नाद ध्वनित कर सकता है। उसे कोई बिरला ही जान सकता है[१]।" यह वर्णन उस अद्वैत तत्त्व की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतक है। इस प्रकार का वर्णन कबीर की कोई विशेषता नहीं है। उपनिषदों ने भी उसकी शक्ति एवं प्रभुता का वर्णन इसी प्रकार किया है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'[२] आदि शब्दों में श्वेताश्वतर उपनिषद ने उसकी महिमा का प्रतिपादन किया है तथा "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः"[३] कहकर कठोपनिषद् ने परमात्मा की महिमा के वर्णन करने की उसी शैली का उपयोग किया है।

देश-काल—कोई कृति उसके लिए असम्भव नहीं है किन्तु वह किसी कृति में आबद्ध भी नहीं है। देश और काल की सीमाएं भी उसे आबद्ध नहीं करतीं। 'न वह दूर है न निकट है।'[४] 'जिसके सम्बन्ध में न उदय का प्रश्न उठता है और न अस्त का[५]।' 'न उसका आदि है और न अन्त है[६]।' वह काल के विकारों से परे है। "न वह बाल है, न युवा और न वृद्ध ही।"[७] वह अजर-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पद १५६
२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-१६
३. कठोपनिषद् १-२-२१
४. 'नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा।'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पंक्ति २१
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, पंक्ति १६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२, पंक्ति ७

अमर कहा जाता है।[1] न वहाँ दिन है न रात है, समय का कोई चिह्न वहाँ नहीं है—

"तहां न ऊगै सूरज चन्द, आदि निरंजन करै अनन्द[2]।"

एक अन्य स्थान पर 'जाकै सूरज कोटि करै परकास' तथा 'कोटि चन्द्रमा गहैं चिराक' कहकर उस अद्वैत तत्त्व को सूर्य और चन्द्रमा का कारण भी सिद्ध कर दिया है। कबीर की इस उक्ति को मुण्डकोपनिषद् का समर्थन प्राप्त है :–

"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्या भासा सर्वमिदं विभाति[3]॥"

अवस्था—वह तत्त्व किसी अवस्था को प्राप्त नहीं होता। वहाँ न संयोग है और न वियोग है, न धूप है और न छाया है। उसे न शीतल कह सकते है और न तप्त ही। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। इसलिए कबीर उसे 'सत्य' कहते हैं।

सत्य—सत्य वह है जो स्थिर रहता है। जो विकार को प्राप्त नहीं होता। जहाँ विकार होता है वहाँ विनाश की स्थिति भी निश्चित है और जहाँ विकार और विनाश है वहाँ सत्य नहीं है। जो उत्पन्न और विनष्ट होता है वह असत्य (झूठ) है।[4]

सत्य की खोज—उस सत्य की विवेचना वे औपनिषादिक ढंग से 'नेति-नेति' की शैली में करते हैं। उस अद्वैत तत्त्व को 'इत्थमिदं' कहकर सीमित नहीं किया जा सकता। अतएव वे उसकी विलक्षणता को 'ऐसा भी नहीं', 'ऐसा भी नहीं' कहकर ही प्रतिपादित करते हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४९, पंक्ति ४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९, पंक्ति २२
३. मु० उप० २-२-१०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पंक्ति २१

"देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप[1]।"

× × × ×

"अमिलन मिलन घाम नहीं छांहा, दिवस न राति नहीं है तांहा[2]।"

× × × ×

"सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि, अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा।
बरन अबरन कथ्यो नहीं जाई, × × ×
आदि अंति ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे[3]।"

वह सत्य अखड एवं पूर्ण है। वह सर्वव्याप्त एवं निर्विकार है। उसको किसी विशेष व्यक्ति वस्तु या स्थान में देखना अनुचित है क्योंकि उसकी अखंडता अक्षुण्ण नहीं रहती। किसी प्रकार की सीमा उस अखड, अनन्त एवं पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं कर सकती। इस कारण कबीर उपनिषद् के स्वर में उस सत्य की व्यक्तिगत सीमा का विरोध करते हुए कहते हैं :—

"ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव संतावा।
देवै कूखि न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।
बांवन होइ नहीं बलि छलिया, धरनीं बेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला, मंछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।

कहै कबीर बिचारि करि, ये ऊले ब्योहार।
याही थैं जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि[4]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पंक्ति १९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९, पंक्ति २१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२-२४३

इसी शैली में वे और भी आगे कहते चले जाते हैं :—

"ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती कहावै सेव।
ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इसु माइ न काहू पूता।

× × ×

ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राज न भीख मँगासी।
ना इहु पिंड न इकतू राती, ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती॥
ना इहु तया कहावै सेख, ना इहु जीवै न मरता देख[1]॥"

यह सत्य 'अनुभवैकगम्य' है। न उसको "भावरूप कह सकते हैं न अभावरूप"[2]। "वह न तो जलाने से जल सकता है, न काटने से कट सकता है और न सुखाने से सूख सकता है[3]।" कबीर की इस उक्ति का समर्थन गीता के ये शब्द करते हैं :—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापो नैनं शोष्यति मारुतः[4]॥"

कबीर उसे भारी या हल्का कहने में डरते हैं क्योंकि उसको उन्होंने नेत्रों से कभी नहीं देखा[5]। वह सत्य बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा है[6]। फिर उसको कैसे व्यक्त किया जाये।

सत्य और नानात्व—जगत् के नानात्व को देख कर प्रायः सत्य में भी नानात्व का आरोप कर लिया जाता है किन्तु कबीर इस नानात्व को स्वीकार नहीं करते। अतएव 'नानात्व' का खंडन करते हुए वे 'एकत्व' का प्रतिपादन करते हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०१, पद १२६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पंक्ति २०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३९, पंक्ति १८
४. देखिये, गीता, अध्याय २-२३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७-१
६. देखिये, कठोपनिषद् :—'अणोरणीयान्महतो महीयान्' १-२-२०

"कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेख[1] ॥"

कबीर ने अपनी इस साखी से बृ० उप०[2] के स्वर का ही समर्थन किया है। कबीर का विश्वास है कि द्वैतानुभूति दुःख का कारण है। जिसको अद्वैतानुभूति हो जाती है उसी को शान्ति मिलती है और वह अनुभूति प्रेम से होती है :—

"एक एक जिनि जांणियां तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लींन मन, ते बहुरि न आया[3] ॥"

कबीर को सर्वत्र एक ही तत्त्व या सत्य की प्रतीति होती है। उसी से पिंड और उसी से ब्रह्माण्ड पूर्ण है किन्तु वह सब को नहीं दीखता, केवल उसी को वह दिखायी देता है जिसको समदृष्टि प्राप्त है :—

"ए सकल ब्रह्मण्ड तैं पूरिया, अरु दूजा महि थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी[4] ॥"

अद्वैत तत्व की लभ्यता—वह अद्वैत तत्त्व उन लोगों को प्राप्त नहीं होता जिनकी दृष्टि विकृत है। दृष्टि-विकार का कारण भ्रम है। जबतक भ्रम रहता है तबतक द्वैत की ही प्रतीति होती है किन्तु ज्ञानोदय होने पर द्वैत तिरोहित हो जाता है। ज्ञान भ्रम को नष्ट करके समदृष्टि प्रदान करता है और 'समांन नैंन'[5] से देखने पर वही अद्वैत तत्त्व सर्वत्र दिखायी पड़ता है। जिसको भ्रम-निर्मित नानात्व के पीछे अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता वह आवागमन से मुक्त नहीं होता और भव-क्लेश उसे पीड़ित करता रहता है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-१८
२. बृ० उप० ४.४.१६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १८१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८, पद ३०
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८-३०

"दोई कहें तिनहीं कौं दोजग,
जिन नांहिन पहिचांनां[1] ॥"

इस उक्ति को कठोपनिषद् ने भी अपना समर्थन प्रदान किया है :—

"मृत्योः स मृत्यं गच्छति,
य इह नानेव पश्यति[2] ।"

वह तत्त्व न तो नेत्रों के द्वारा प्राप्तव्य है, न वाणी, तप और कर्म द्वारा ही उपलब्ध है। वह उसी को मिलता है जिसका अन्तर ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो गया है। जबतक अन्तर प्रकाशित नहीं होता तबतक द्वैत का आभास होता है किन्तु ज्ञान-ज्योति के कारण अन्तर के अंधकार के मिट जाने पर एक परमात्मा की ही प्रतीति होती है :—

"जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि है मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि[3] ॥"

आत्मा—आत्मा ही परमात्मा है। राम को कबीर आत्मा से अभिन्न मानते हैं[4]। एक अन्य पद में कबीर कहते हैं कि—"उस (परमात्मा) और इस (आत्मा) में एकता है।"[5] उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी इसी आशय की सिद्धि होती है। लोग भ्रम के कारण पिंड और ब्रह्मांड में भिन्न-भिन्न सत्ताओं की प्रतीति करने लगते हैं। सत्य तो एक ही है। जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है :—

"ब्रह्मण्डे सो प्यंडे जानि[6] ।"

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०५, पंक्ति १८
२. कठोपनिषद् २-१-११
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३५
४. "आतम रांम अवर नहि दूजा।"
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१, पद १३५
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पद ५३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-३२८

जिस प्रकार घड़े के भीतर भी आकाश होता है और बाहर भी। उसी प्रकार इस शरीर के भीतर भी वही परमात्मा है जो इसके बाहर है। सच तो यह है कि इस शरीर की स्थिति भी उसी परमात्मा के अस्तित्व में है :—

"आकाश गगन पाताल गगन है चहु दिसि गगन रहाइले।
आनन्दमूल सदा पुरुषोत्तम, घट बिनसै गगन न जाइले॥"

× × ×

"हरि महि तनु है तनु महि हरि है सर्व निरन्तर सोइ रे[१]।"

जिस प्रकार जल और तरंग में कोई भेद नहीं होता, केवल एक विशेष रूप में जल को ही तरंग कह दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। आत्मा को शरीर के संबंध से परमात्मा से पृथक् समझ लिया जाता है। जिस प्रकार तरंग का रूप मिथ्या है उसी प्रकार यह शरीर भी मिथ्या है।

भेद की प्रतीति का कारण कबीर ने भ्रम में देखा है। जिस प्रकार काली, गोरी, धौरी आदिक गायों के भेद से दूध में भेद नहीं हो जाता उसी प्रकार शरीर-भेद से आत्मा की अनेकता सिद्ध नहीं होती।

सत्य और जगत्—इस अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर अनेक सिद्धान्तों को एकत्र करते हैं उनमें से विवर्तवाद, परिणामवाद एवं प्रतिबिंबवाद प्रमुख हैं। विवर्तवाद के अनुसार रज्जु में सर्प और सीप में रजत का भ्रम हो जाता है और रज्जु और सीप को भूल कर भ्रान्त मनुष्य सर्प और रजत को सत्य मान बैठता है। इसी प्रकार भ्रम के कारण लोग जगत् को सत्य मान बैठते हैं। उसके मूल में निहित सत्य को भूल जाते हैं। वह सत्य परमात्मा या ब्रह्म है। उसी की सत्ता के कारण इस जगत् की प्रतीति होती है जो नाना रूपों में दिखायी पड़ता है :—

"झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई[२]।"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९८-१५

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३५, पंक्ति २३

जिस प्रकार रस्सी के संबंध से सर्प की उत्पत्ति केवल मन में होती है इसी प्रकार सत्य को लेकर झूठे नाम रख लिये जाते हैं :—

"झूठैं नांउ साच ले धरिया[1]।"

भय, माया, मोह आदि का कारण सत्य-ज्ञान का अभाव है। इसीलिए जीव झूठी आशा में अटका रहता है—उस आशा में जो उसको उसी भांति पीड़ित करती हैं जैसे निदाघ में तृष्णा मृग को पीड़ित करती है। यह मिथ्या जगत् जीव को भयभीत करता रहता है और रज्जु-सर्प के दंश से वह उस समय तक मुक्त नहीं होता जबतक कि सत्य का परिचय प्राप्त नहीं होता :—

"झूठ देखि जीव अधिक डराई,
बिना भवंगम डसी दुनियांई।
झूठैं झूठ लागि रही आसा,
जेठ मास जैसें कुरंग पियासा[2]॥"

जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सत्य और झूठ को परखने के लिए कबीर के पास एक कसौटी है और वह है :—

"सांच सोई जे थिरह रहाई।
उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई[3]॥"

इस कसौटी पर जगत् असत्य ही ठहरता है क्योंकि वह स्थिर नहीं है। वह उत्पन्न और नष्ट होता है।

अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर 'परिणामवाद' के सिद्धान्त का भी प्रयोग करते हैं। इसके अनुसार जगत्, ब्रह्म या परमात्मा का परिणाम

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पंक्ति २१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पंक्ति १५-१६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पंक्ति २२

माना जाता है। जैसे तरंग जल का परिणाम है अथवा कुण्डल स्वर्ण का परिणाम है उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है। इस सिद्धान्त को सगुणोपासक भी मानते हैं और वे दूध और दही का उदाहरण देकर ब्रह्म और जगत्, दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं जिससे द्वैत की सिद्धि होती है। कबीर इस सिद्धान्त का उपयोग अद्वैत सिद्धि के लिए करते हैं।

कबीर का कहना है कि अलंकार भिन्न होते हुए भी स्वर्ण एक है अर्थात अनेक अलंकार एक ही स्वर्ण के विभिन्न रूप हैं जो सत्य नहीं हैं। उनमें सत्य तो स्वर्णमात्र है। गलने पर रूप विगलित हो जाता है और स्वर्णमात्र रह जाता है। उसी प्रकार यह नामरूपात्मक नानात्वमय जगत् उत्पन्न और विनष्ट होने के कारण अस्थिर एवं असत्य है। इसके मूल में अवस्थित ब्रह्म ही सत्य है क्योंकि वह विकारमुक्त है। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, इसलिए स्थिर है। इस प्रकार कबीर की उपर्युक्त कसौटी पर यह नामरूपात्मक अस्थिर जगत मिथ्या है। वे उदाहरण देकर बतलाते हैं :—

"जैसें बहु कंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिंगे।
जैसें जलहि तरंग तरंगिनी, ऐसें हम दिखलावहिंगे[1] ॥"

अद्वैत-सिद्धि के लिए कबीर द्वारा प्रयुक्त तीसरा सिद्धान्त 'प्रतिबिंबवाद' है। इसके अनुसार सब रूपों में परमात्मा का प्रतिबिंब है। जिस प्रकार अनेक जल-पात्रों या जलाशयों में एक ही चन्द्र या सूर्य का प्रतिबिंब दिखायी पड़ता है उसी प्रकार अनेक रूपों में परमात्मा प्रतिबिंबित है। प्रतिबिंब अनेक हैं किन्तु बिंब एक है। प्रतिबिंब-अनेकता से बिंबानेकता सिद्ध नहीं होती। प्रतिबिंब की सत्ता बिंब और जल की सत्ता पर निर्भर है। जल के होने पर उसमें प्रतिबिंब दिखायी देगा और न होने पर नहीं दिखायी देगा। जल के होने-न-होने से बिंब का कोई संबंध नहीं है और न जल पात्रों या जलाशयों की अनेकता से बिंब की एकता ही बाधित होती है। इसी प्रकार परमात्मा एक और स्वतंत्र है। उसका प्रतिबिंब प्रत्येक रूप में दिखायी पड़ता है। प्रतिबिंब को ही बिंब मान बैठना भ्रम है किन्तु प्रतिबिंब की सत्ता बिंब से भिन्न नहीं है। जलपात्र

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७, पंक्ति २-४

के न होने पर अथवा जल और कुम्भ के विगलित हो जाने पर प्रतिबिंब बिम्ब में ही समा जाता है। उसी प्रकार नश्वर रूप के विगलित होने पर प्रतिबिंब रूप जीव परमात्मा में समा जाता है अर्थात् यह नानात्व रूप के कारण प्रतीत हो रहा है:—

"ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समाना, उदकि कुम्भ बिगराना।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समाना[1]॥"

ये तीनों सिद्धान्त सत्य की एकता के प्रतिपादक हैं और पूर्वकथित कसौटी पर पूरे उतरते हैं। नानात्व का कारण अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में अद्वैत सत्य के सिवा और कुछ नहीं ठहरता।

शरीर—यह पिंड अर्थात् शरीर पंच तत्त्व से निर्मित हुआ है जिसमें तीन गुणों का समावेश है[2]। पाप और पुण्य इसके बीज हैं जिनसे यह उत्पन्न होता है और जन्म एवं मृत्यु के बीच में यह विकार को प्राप्त होता है। यह शरीर नश्वर है किन्तु इसके नष्ट होने से शरीर नष्ट नहीं होता। शरीर आत्मा का वस्त्र है। वस्त्र का फटना अवश्यम्भावी है[3]। जिसका उदय होता है उसका अस्त होना भी निश्चित है। जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा, जो फूला है वह मुरझायेगा, जो चुना गया है वह गिरेगा और जो आया है वह जायेगा :—

"जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ[4]॥"

इस क्षणभंगुर शरीर का कोई विश्वास नहीं है। जल-बुद्बुद के समान इस शरीर के नष्ट होने में देर नहीं लगती[5]। जिस प्रकार कच्चा घड़ा कहीं भी और कभी भी चोट खाकर फूट सकता है वैसे ही कहीं और कभी भी यह

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पद १७९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६, पद १९९
३. 'जो पहरया सो फाटसी'—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७३-१२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७३-११
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७३-१३

शरीर भी नष्ट हो सकता है[१]। कबीर इस शरीर को धूलि की पुड़िया कहते हैं जो कुछ दिन तो दिखलायी देती है और अन्त में मिट्टी में मिल जाती है[२]। यह शरीर रूपी कागज की पुड़िया तभी तक उड़ती है जब तक प्राण-पवन का संचार होता है[३]।

मनुष्य समझता है कि उसका शरीर अमर है[४]। इसीलिए वह इस पर गर्व करने लगता है। वह नहीं जानता कि यह झूठा है[५]। वह आगे के लिए अनेक साज सजाता है, किन्तु खबर उसे पल भर की भी नहीं है। जिस प्रकार तीतर पर बाज कभी भी आ झपटता है उसी प्रकार काल मनुष्य पर कभी भी आ झपट सकता है[६]।

मृत्यु—मृत्यु ध्रुव है। हर किसी को मरना पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि रोगी ही मरता है वरन् वैद्य भी मरता है[७]। जिस प्रकार हमारे पूर्वज मर चुके हैं, उसी प्रकार हम और हमारे परवर्ती भी मरेंगे[८]। मृतक को रोने वाले, जलाने वाले और हा-हा करने वाले—सभी मरते हैं। अतएव मृत्यु के संबंध में किसी को कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है :—

"रोवणहारे भी मुए, मुए जलावणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार[९]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-२०
३. कबीर गन्थावली, पृष्ठ ११७-६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०-१०२
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७२-६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-६
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३२
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३१

यह कहा जा चुका है कि शरीर पंच तत्त्व के मिलने से निर्मित हुआ है और पंचतत्त्व 'अविगत' से उत्पन्न हुए हैं। जब वे एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं तब उस अवस्था को दुनिया वाले मृत्यु कहते हैं :—

"पंचतत अबिगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिर सहज समांनां, रेख रही नहिं आसा[1]॥"

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि 'मरने वाला कौन है'? इस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण मान कर वे पूछते हैं :—

"कौंन मरै कहु पंडित जनां,
सो समझाइ कहौ हम सनां[2]।"

इस के उत्तर में वे स्वयं कहते हैं—"मिट्टी, मिट्टी में मिल जाती है और पवन पवन में मिल जाता है और दुनिया देखती है कि मृत्यु रूप की होती है" :—

"माटी माटी रही समाइ,
पवनैं पवन लिया संगि लाइ।
कहै कबीर सुंनि पंडित गुंनी,
रूप मुवा सब देखै दुनीं[3]॥"

जन्म—एक अन्य रूपक में कबीर कहते हैं कि कायिक रूप का निर्माण मिट्टी से हुआ है और वह पवन के बल से खड़ा है। बिन्दु के संयोग से उसकी उत्पत्ति हुई है[4]। देह मिट्टी है और पवन बोलने वाला है[5]। इस मिट्टी के शरीर का ही नाम रखा जाता है। यह जन्म के पहले और मृत्यु के पश्चात् और दोनों के बीच में भी मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-४४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३, पंक्ति ५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३, पंक्ति ६-७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२, पंक्ति २२
५. 'देही माटी बोलै पवनां।'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२, पंक्ति ४४

पंचीकरण का कारण ब्रह्म की माया है। अपनी माया के बल से ब्रह्म ही इन शरीरों को बनाता है और वही बिगाड़ता है :—

"भांनैं घड़ै सँवारै सोई, यहु गोब्यंद की माया[1]।"

वियुक्त होकर पंचतत्त्व कहाँ चले जाते हैं ? यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में कबीर कहते हैं:— पृथ्वी तत्त्व जल में, जल तेज में, तेज पवन में, और पवन-तत्त्व शब्द में, जो आकाश का गुण है, विलीन हो जाता है[2]।

कबीर का विश्वास है कि यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। यह बार-बार नहीं मिलता, "किन्तु जीवन-मरण को समान समझ कर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये[3]।"

जगत्—वह जगत् भी जल की बूंद के समान नश्वर है। इसकी उत्पत्ति और नाश में देर नहीं लगती :—

"ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा[4]।"

यह जगत् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। उत्पन्न होकर आँखों के सामने ही यह जगत् नष्ट भी हो रहा है :—

"उपजै निपजै निपजिस भाई,
नयनहु देखत इहु जग जाई[5]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२-२६४

२. पृथ्वी का गुण पाणीं सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७-१५०

३. ज्यूं जांमण त्यूं मरणां, पछितावा कछू न करिणां।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५-१७३

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४

५. कबीर ग्रन्थावली, २७१, पद २५

"उसने त्रिगुणात्मिका माया से इस जगत् की सृष्टि की है और अपने मध्य ही अपने को छिपा लिया है। इस जगत् को उस परमात्मा ने कहने-सुनने के लिए बनाया है। लोग जगत् में ही भ्रान्त हो गये हैं, उस स्रष्टा को किसी ने नहीं पहिचाना[१]।" एक सुन्दर रूपक में इस जगत् रूपी वृक्ष का रूप-चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

"मूक बिरख यहु जगत् उपाया, समझि न परै बिखम तेरी माया।
साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी[२]॥"

त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न "यह जगत् चार प्रकार का है—स्वेदज, अण्डज, जरायुज तथा उद्भिज[३]।"

एक अन्य स्थान पर कबीर ने सृष्टि का मूल कारण ओंकार को बतलाया है। **'ऊंकारे जग ऊपजै'[४]**, **'ऊंकार आदि है मूला'[५]** तथा 'ओंकार आदि मैं जाना' वाक्यों से कबीर इसी मत की पुष्टि करते हैं।

कबीर ने माया और ओंकार का संबंध कहीं नहीं दिखलाया। अवश्य ही जगत् के इन दो नाम वाले कारणों में कोई संबंध होना चाहिये। शायद मायामय शब्द ब्रह्म ही ओंकार है।

जीव, जगत् और ब्रह्म का संबंध—कबीर नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहते हैं। इसकी प्रतीति मनोभ्रम के कारण होती है। मोह, ममता, सुख, दुख सब मन के विकार हैं। जबतक मन में विकार रहते हैं तबतक संसार नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है तब उसकी स्थिति निर्मल, निरंजन से पृथक् प्रतीत नहीं होती :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५, पंक्ति १-२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३, पंक्ति २३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१०, पंक्ति १३

"जब लग मनहि बिकारा, तब लगि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल मांहि समाना[1] ॥"

मन के स्थिर होने पर स्थिति, आत्मसत्ता या सत्य का साक्षात्कार हो जाता है :—

"मन थिर भयौ तबै थिति पाइ[2] ।"

अतएव आत्मा, परमात्मा और जगत् का भेद केवल मन में है, वास्तव में वह भेद नहीं है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है :—

"आतम रांम अवर नहि दूजा[3] ।"

उसी प्रकार जगत् अपनी नामरूपात्मक स्थिति में असत्य एवं मिथ्या है। उसके मूल में निहित सत्य न तो नामरूपात्मक है और न नानात्वमय है। जिस प्रकार स्वप्न दृश्य सत्य नहीं होते उसी प्रकार दृश्य जगत् भी सत्य नहीं है। 'एकमेक रमि रहचा सबनि मैं'[4] अथवा 'संसौ मिट्यौ एक कौ एकै'[5] कह कर कबीर ने सत्य के स्वरूप एवं ब्रह्म, जीव और जगत् के संबंध पर एक ही साथ प्रकाश डाला है।

सुख-दुख का कारण—इस जीवन को कबीर ने एक हाट बतलाया है। जिस प्रकार वणिक हाट में किराना बेचने आता है और किराने के अभाव में उसे वहाँ नहीं आना पड़ता उसी प्रकार जीव को अपने कर्म समाप्त करने के लिए इस संसार में आना पड़ता है। जबतक कर्म समाप्त नहीं होते तबतक आवागमन से मुक्ति नहीं होती। यह जगत् पर-घर है और परमात्मा स्व-घर है। प्रत्येक वणिक का लक्ष्य स्वगृह है। वह वहीं लौटना चाहता है किन्तु जब

---

१. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७८-२६३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४-१७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३१-३५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५-५२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५-५४

तक उसका किराना नहीं बिक जाता तबतक उसे हाट में ही ठहरना पड़ता है। इसी प्रकार जबतक पाप-पुण्यों में से कुछ भी अवशिष्ट रहता है तबतक जीवात्मा को ब्रह्म या परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी भाव को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किरांणां बेचि करि, उठि जो लागे बाट[1]॥"

जीव नाम ही उसका है जो कर्मों के वश में है :—

"करमों के बसि जीव कहत हैं[2]।"

पाप और पुण्य, दोनों को कबीर भ्रम मानते हैं और इसी से जीव को आगे जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जब भ्रमजन्य पाप-पुण्य जल जाते हैं तब ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है।

"जाथैं जनम लहत नर आगें,
पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागैं[3]।"

× × ×

"जब पाप पुंनि भ्रम जारी,
तब भयो प्रकास मुरारी[4]।"

जिस प्रकार पाप-कर्म बंधन हैं उसी प्रकार पुण्य-कर्म भी बंधन हैं। ये दोनों समवेत रूप में तथा पृथक् रूप में भी आवागमन[5] का कारण बनते हैं।

फल—जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है। जो पुण्य-कर्म करता है उसे सुख मिलता है जो पाप-कर्म करता है उसे दुःख मिलता है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-५७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८७-२९३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८४-२८३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२८-२

"जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा राम निमाई[1] ।"

यहां कबीर ने 'राजा राम निमाई' कह कर 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'[2] एवं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' दोनों का भाव एक ही पंक्ति में एक साथ भर दिया है ।

कुछ लोग भ्रमवश यह सोच लेते हैं कि वे धर्म करते हैं अतएव उनकी मुक्ति हो जायेगी । ऐसे लोगों को कबीर व्यंग्यात्मक ढंग से चेतावनी देते हुए कहते हैं :—

"कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूं मैं ध्रंम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम[3] ॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर पर 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' के सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव है । इसका एक प्रौढ़ प्रमाण उन्हीं की यह उक्ति है :—

"पूरब जनम हम बांम्हन होते, वोछे करम तपहींनां ।
रांम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ॥"

इससे कबीर संचित एवं क्रियमाण कर्मों की ओर संकेत करते हैं। उन्होंने प्रारब्ध कर्म की ओर भी संकेत किया है । विषय-रत मन पल भर में करोड़ों कर्म कर डालता है :—

"कोटि कर्म पल में करै,
यहु मन बिषया स्वादि ।"

कर्म और कामना—जबतक कर्म कामना से किया जाता है तबतक वह दुख-सुख का कारण बनता है किन्तु जब वह निष्काम रूप से किया जाता

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६-२००
२. तु० की० गीता
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३८-२१

है तब दुख-सुख दोनों ही व्याप्त नहीं होते। दुख-सुख वहीं होते हैं जहाँ फलासक्ति होती है। विवेकी लोग आसक्ति का परित्याग करके निष्काम कर्म करते हैं और उन्हीं को आत्म-साक्षात्कार होता है। अतएव वे निष्काम[1] कर्म पर ही विशेष जोर देते हैं।

माया—कबीर ने सुख-दुख, आवागमन एवं जगत् का मूल कारण माया को माना है। जहां शास्त्रों ने माया को विद्या और अविद्या के संबंध से दो प्रकार की माना है वहाँ कबीर ने उसे अविद्या स्वरूपा ही माना है। साथ ही उन्होंने उसको असत्य भी कहा है। एक उपदेश में उन्होंने माया को मिथ्या कह कर छोड़ने का आदेश किया है :—

"मिथ्या करि माया तजो सुख सहज बीचारि[2]।"

एक अन्य स्थान पर वे माया के बन्धन को झूठा कह कर उसका संबंध भ्रम या अज्ञान से जोड़ते हुए कहते हैं :—

"झूठी माया आप बंधाया ज्यौं नलनी भमि सूआ[3]॥"

ब्रह्म और माया—इस माया को कबीर रघुनाथ या ब्रह्म की मानते हैं। 'तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै[4]' कह कर उन्होंने माया का संबंध स्पष्टतः परमात्मा से जोड़ा है। वह माया सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों में व्याप्त है :—

"राजस तामस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया[5]।"

परमात्मा की त्रिगुणात्मका सृष्टि इसी माया से होती है और वही इसका पालन एवं संहार भी करती है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९-१०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२७-२०५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५०-१८४

"भांनै घड़ै संवारै सोई, यहु गोब्यंद की माया[1]।"

सच तो यह है कि माया परमात्मा की प्ररणा है। उसी की प्रेरणा से वह अपना काम करती है। वह माया की शक्ति को समझते हुए भी उसके प्रेरक की ही बलिहारी जाते हैं क्योंकि जो माया को प्रेरित करता है वही उसका संहार भी करता है। अतएव वे कहते हैं :—

"बलि जाऊं ताकी जिनि तुम पठई[2]।"

उस माया से रक्षा केवल परमात्मा ही कर सकता है। इसीलिए वे भक्ति के स्वर में उससे प्रार्थना करते हैं :—

"मोहनी माया बाघनीं थैं राखि लै रांम राइ[3]।"

इससे यह विदित होता है कि कबीर ने माया के दो रूप माने हैं—एक मोहक और दूसरा भयंकर। 'मोहनी' और 'बाघनी' दोनों शब्दों का प्रयोग माया के विशेषणों के रूप में एक ही साथ करके कबीर ने माया की मोहकता में भयंकरता और भयंकरता में मोहकता की स्थिति प्रकट की है।

माया का ज्ञान—माया को हर कोई नहीं जानता और जो इसको जानता नहीं है उसी को यह सताती है। त्रिलोक विजयिनी इस माया को कोई नहीं खा सकता—

"मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यांनीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई।"

× × ×

"कीड़ी कुंजर में रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई[4]।।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९२-३०९

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९६-२३१-२३२

माया को या तो परमात्मा जानता है या परमात्मा के भक्त जानते है :—

"बाजी की बाजीगर जांनैं, कै बाजीगर का चेरा[1] ।"

जिस मनुष्य के अन्तर में परमात्मा का अथवा ज्ञान का प्रकाश हो जाता है वहीं से माया किनारा कर जाती है :—

"घट की जोति जगत प्रकास्या,
माया सोक बुझानां[2] ।"

जिनको परमात्मा का आश्रय मिल जाता है अथवा जिन पर उसकी कृपा हो जाती है वे माया को तोड़ कर फेंक देते हैं :—

"दास कबीर रांम कै सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी[3] ।"

जिनको आत्मज्ञान या परमात्म-ज्ञान हो जाता है उनको माया का ज्ञान भी हो जाता है। फिर उनके लिए माया न तो भयंकर लगती है और न मोहक ही। इतना ही नहीं उनके लिए उसकी सत्ता तक आभासित नहीं होती। इसी कारण जो मनुष्य माया के बंधन में बंध कर नाचता-फिरता है वही परमात्मा को जानकर परमात्मा हो जाता है और उसका वह नाच बंद हो जाता है और वह स्वस्थ या परमात्मस्थ हो जाता है। इसीलिए शिवजी ने उमा को समझाया है :—

"उमा दारु-पोषित की नाईं,
सबहिं नचावहिं राम गोसाईं ।"

—(रामचरित-मानस)

किन्तु वाल्मीकि व तुलसीदास की उक्ति में माया से मुक्ति पाने की दशा का भी संकेत किया है :—

"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाईं ।"

—(रामचरित-मानस)

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-२३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०-१५७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७

इससे भी यही संकेत मिलता है कि ब्रह्म या परमात्मा माया के स्वामी हैं और जीव माया का दास है। जीव का दासत्व उस समय तक नहीं छूटता जबतक कि वह माया को नहीं छोड़ देता और माया बड़ी मधुर प्रतीत होती है। सहज ही छोड़ी नहीं जा सकती :—

"कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खांड[1]।"

ब्रह्मज्ञानी ही माया से बच सकते हैं, इस आशय की अभिव्यक्ति कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा इस प्रकार की है :—

"जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रांम चरन नीका गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ[2]॥"

माया का प्रसार—माया सर्वव्यापिनी है। यह परमात्मा की ठगोरी[3] है। इसके प्रभाव से जीव को स्वरूप-विस्मरण हो जाता है और वह चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता फिरता है जगत् में कोई भी तो इससे नहीं बच पाया :—

"कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाँणि[4]।"

मीर, मलिक, छत्रपति राजा आदि सभी माया के अधीन हो चुके हैं। इसने किसी को नहीं छोड़ा है।

यह माया मनुष्य को ही नहीं सताती अपितु पशु-पक्षियों तक को पीड़ित करती है। जल की मछली, आकाश का पतंग, पृथ्वी का हाथी और भुजंग आदि सभी माया से बिंधे हुए हैं। माया के प्रसार का एक विशद् चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-३११
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६-८६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-८

"जल महि मीन माया के वेधे।
दीपक पतंग माया के छेदे ॥
काम माया कुंचर को व्यापे।
भुअंगम भृंग माया मांहि खापे ॥
माया ऐसी मोहनी भाई।
जेते जीव तेते डहकाई ॥
पंखी मृग माया मांहि राते।
साकर मांखी अधिक संतापे ॥
तुरे उष्ट माया मांहि भेला।
सिध चौरासी माया मांहि खेला ॥
छिय जती माया के बन्दा।
नवै नाथु सूरज अरु चन्दा ॥
तपे रखीसर माया मांहि सूता।
माया मांहि काल अरु पंच दूता ॥
स्वान स्याल माया मांहि राता।
बंतर चीते अरु सिंघाता ॥
माजार गाडर अरु लूबरा।
बिरख मूल माया मांहि परा ॥
माया अन्तर भीने देव।
सागर इन्द्रा अरु धरतेव ॥
कहि कबीर जिसु उदर तिसु माया।
तब छूटै जब साधू पाया[1] ॥"

माया की परिधि इन्द्रिय-विषय ही नहीं है, अपितु मन भी है। मन के सारे व्यापारों में माया की चेष्टाएँ हैं। आशा, तृष्णा, मोह, ममता, मान, अपमान आदि अनेक मनोवृत्तियों में माया का प्रसार अभिलक्षित होता है। कबीर शायद यह भी मानते हैं कि शरीर के मर जाने पर भी मन और उस

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८७-२८८, पद ७८

पर बने हुए संस्कार नहीं मरते। जिसको लिंग शरीर कहते हैं वह मन के संस्कारों के रूप में दूसरे जन्म में भी जाता है।

"माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर[१]॥"

माया के अनेक आत्मजों में अहंकार प्रमुख है। 'मान' उसी का एक अंग है जो बड़े बड़े मुनियों तक को निगल चुका है :—

"मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ[२]।"

मोह भी अहंकार का ही एक अंग है। यह आत्म-ज्योति को आच्छादित करता है :—

"कबीर माया मोह की भई अंधारी लोइ[३]।"

इस प्रकार कबीर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को माया का ही प्रसार बताते हैं। धन, धाम, अर्थ, काम, परिवार आदि का संबंध ही नहीं, अपितु शरीर का सम्बन्ध भी माया का ही बन्धन है :—

"संकल ही तैं सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटैं बापुड़े, बांधे सिरजनह्रार[४]॥"

स्रष्टा ने माया में लोगों को क्यों बाँध रखा है? यह एक प्रश्न है जो गम्भीरता से विचार करने योग्य है। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी को भक्त लोग उसकी लीला भी कहते हैं। वे उसकी लीला को नित्य मानते हैं, किन्तु कबीर माया को मिथ्या मानते हैं क्योंकि ज्ञान का उदय होने पर अथवा परमात्मा को समझ लेने पर, माया आभासित नहीं होती। जिस प्रकार जादूगर को न समझने वाला ही जादू से

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-१७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-२४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-२५

विस्मित या मुग्ध होता है उसी प्रकार परमात्मा को न समझने वाला ही माया से प्रभावित होता है जो परमात्मा को समझता है उस पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसको उसका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। माया का प्रसार क्षेत्र अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में माया की ग्रन्थि सुलझ जाती है। ज्ञानदीपक में महात्मा तुलसीदास ने भी इस ओर संकेत किया है। कबीर ने इस माया के झूठे बन्धन को तोड़ डाला। कैसे ? क्योंकि उन्हें मायापति का ज्ञान हो गया। वे माया की असलियत को समझ गये। इसलिए वे कह उठे :—

"कबीर माया पापणी फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ धंधे पड़या, गया कबीरा काटि[1] ॥"

कबीर ने माया की 'आवरण' शक्ति को ही विशेष रूप से देखा है। उसकी विशेषता यह है कि वह 'सत्य' को आवृत करती है जिससे मनुष्य सत्य को सत्य न समझ कर झूठ को ही सत्य मान बैठता है। भ्रम की उत्पत्ति माया का प्रथम पुरस्कार है इसलिए कबीर के मुख से माया के संकेत में बड़ी कटूक्तियाँ निकल पड़ती हैं। यथा :—

"कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम[2] ॥"

विवेक और वैराग्य से माया के उच्छेदन में बड़ी सहायता मिलती है। सब लोग माया के दास हैं किन्तु वह स्वय सन्तों की दासी है। उनके ऊपर माया का कोई प्रभाव नहीं होता। साथ ही सन्त माया की दुर्गति करके छोड़ते हैं :—

"माया दासी संत की, ऊंची देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस[3] ॥"

इस साखी से यह स्पस्ट है कि परमात्मा के बल से माया को सन्त लोग त्याग सकते हैं, केवल विवेक और वैराग्य की शक्ति से नहीं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१०

माया को कबीर एक दलदल के समान बतलाते हैं। इसमें पैर पड़ा कि फिर मनुष्य फँसता ही चला जाता है। माया मोहती है, आकृष्ट करती है और साथ ही बांध भी लेती है। जो माया से बाहर रहते हैं उन्हीं का उद्धार होता है। इस प्रपंच में जिनकी प्रवृत्ति है उनके उद्धार का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उन पर आशा सवार रहती है। जो निवृत्तिक होकर रहता है वही माया से मुक्त हो सकता है। सच तो यह है कि एक ही म्यान में प्रवृत्ति एवं निवृत्त, दोनों तलवारें नहीं रह सकतीं :—

"सब आसण आसा तणां, निर्वति कै को नांहि।
निवरति कै निबहै नहीं, परर्वति परपंच मांहि[1] ॥"

मुक्ति—सत्य और झूठ का ज्ञान ही मुक्ति है। सत्य परमात्मा का स्वरूप है। अतएव वह आत्मीय है और झूठ परकीय है। मनुष्य बन्धन में इस लिए पड़ा रहता है कि वह 'अपने' और 'पराये' को नहीं समझता। जिसको वह अपना और पराया समझता है वह उसकी असलियत को नहीं जानता। माया परकीय है और आत्मा स्वकीय है। दोनों के समझने के लिए उनके प्रसार को समझना भी आवश्यक है। इस रहस्य का उद्‌घाटन कबीर एक ही साखी में इस प्रकार करते है :—

"आप आपथैं जानियें, है पर नाहीं सोइ।
कबीर सुपिनें करे धंन ज्यूं, जागत हाथि न होई॥"

इससे स्पष्ट है कि भ्रम बन्धन है और ज्ञान ही मुक्ति है। ज्ञान के अरुणोदय में अज्ञानजन्म कर्म रुक जाते हैं और जब पूर्ण कर्म क्षय हो जाता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। जबतक कर्म बने रहते हैं तबतक आवागमन भी बना रहता है। कर्म का फल भोग है और भोग भोगने के लिए ही आवागमन है। इसी आवागमन के सिद्धान्त में चौरासी लाख योनियों की कल्पना निहित है। जब कर्म कर्म को[2] काटने लगें तो समझिये ज्ञानोदय गया।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५-२७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-४४

कर्मनाश और कर्म संन्यास निर्वृत्तिमार्ग की पगडन्डियां हैं। यही निष्काम कर्म होता है। जिस प्रकार कल अनासक्ति भाव से अपना काम करती रहती है उसी प्रकार अनासक्त मनुष्य के शरीर से निष्काम कर्म होते रहते हैं। मन की वृत्तियों के शमन से प्रारब्ध कर्म भी रुक जाते हैं अतएव भोगों की सृष्टि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। दूसरी अवस्था विदेह मुक्ति की होती है। यह देह के नष्ट होने पर होती है। इस दशा में आवागमन रुक जाता है और जीव ब्रह्म रूप में अवस्थित हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

"बहुरि हम काहे आवहिंगे।
आवन जाना हुक्म तिसै का हुक्मै बुज्झि समावहिंगे।
जब चूकै पंचधातु की रचना ऐसे भर्म चुकावहिंगे।
दर्सन छोड़ भए समदर्शी × × ।
× × ×
जीवत मरहु मरहु पुनि जीवहु पुनरपि जन्म न होई[1] ॥"

इस मुक्ति-सिद्धान्त में भी कबीर का भक्ति-भाव संनिहित है क्योंकि मूलतः कबीर दार्शनिक नहीं थे, प्रेमी थे।

●

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१, पद २४

: २३ :

शून्य के विकास में कबीर का योग

कबीर के समय तक शून्य ने अनेक रंग बदले और अनेक अर्थ धारण किये। वह अनेक सिद्धांतों और मतों में जाकर मिला और स्थान-स्थान पर अपने अर्थ को बदला। कबीर की वाणी में भी इस शब्द ने अपना विकास किया। यह कहना कदाचित अनुचित न होगा कि कबीर की वाणी में उसे समुचित सम्मान प्राप्त हुआ। एक कुशल राजनीतिज्ञ की भांति कबीर के "सुन्न" ने यथा-वसर अपदा अभिप्राय बदल कर शब्द-समाज में अपनी स्थापना की। अनेक अर्थों से अपरिचित पाठक को वह आसानी से भ्रम में डाल सकता है। अतएव इसके इतिहास की खोज भी आवश्यक है।

वैदिक साहित्य में—'शून्य' शब्द के विकास का इतिहास हमें वेदों तक ले पहुँचता है। ऋग्वेद में यह शब्द तो नहीं मिलता किन्तु इसके अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द अवश्य विद्यमान हैं। उनमें से 'असत्' शब्द प्रमुख है। इस शब्द ने सृष्टि से पूर्व की अवस्था को व्यक्त करते हुए शून्य के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया है—

"उस समय न सत् था और न असत् था[१]।"

"उस समय न मृत्यु थी और न अमृत्यु ही[२]।"

"उस समय उसके अतिरिक्त और कुछ न था[३]।"

"कौन जान सकता है और कौन कह सकता है कि जो इस अद्भुत सृष्टि का स्रोत है, वह कहां से आया है[४]।"

---

१. ऋग्वेद १०-१२९-१

२. ऋग्वेद १०-१२९-२

३. ऋग्वेद १०-१२९-१

४. ऋग्वेद १०-१२९-६

इसके पश्चात् उपनिषदों का संचित ज्ञान आता है जिसकी ज्योति में उक्त अर्थ और भी आगे बढ़ता है। उसने कुछ अन्य शब्दों की सहायता से अपनी अभिव्यंजना की है। "अकाय होने के कारण वह व्याप्त था[1]।" "वह अवर्ण है इसलिए किसी भी वर्ण को धारण कर सकता है[2]।" "वह महान् आत्मा अज, अजर, अमर एवं अभय है[3]।" "वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुश्रोत्रादि हीन है, एवं जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अति सूक्ष्म और अव्यय है और जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं[4]।"

"यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं किन्तु द्रष्टा है; श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है; मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है; स्वयं अविज्ञात रह कर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है[5]।"

"उस (तत्त्व) तक न नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी पहुंचती है और न मन पहुंचता है[6]।"

"उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, और न माप है। उसमें न अन्तर है, न बाहर है। वह न तो कुछ खाता है, और न उसे कोई खाता है[7]।"

---

१. ईशोपनिषद, ८
२. श्वेताश्वतर उप० ४-१
३. बृह० उप० ४-४-२५
४. मुण्ड० उप० १-१-६
५. बृह० उप० ३-८-११
६. केन० उप० १-३
७. बृह० उप० ३-८-८

"वह हृदय के आकाश में शयन करता है। सबको वश में रख कर सब का शासन करता है। जो 'नेति-नेति', इस प्रकार निर्देशित किया जाता है। वह अग्रहणीय, अशीर्य और असंग है। वह न तो कहीं आसक्त है और न आबद्ध। उसको न तो व्यथा होती है और न उसका क्षय ही होता है। वह पाप-पुण्य—शोक-हर्ष को प्राप्त नहीं होता[1]।"

ऋग्वेद ने एक विलक्षण सत्ता को स्वीकार करके परवर्ती विचारकों के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। उसी सत्ता को उपनिषदों ने ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया किन्तु उसको अनिर्वचनीय बतलाते हुए 'नेति-नेति' के द्वारा प्रतिपादित किया। इसी 'नेति-नेति' से बौद्धों का 'शून्य' सिद्धान्त विकसित हुआ।

बौद्ध धर्म में—उपनिषदों का नेति-नेतिवाद महायान सम्प्रदाय में पहुँच कर अनात्मवाद में परिणत हो गया। वहाँ विशेष वस्तु की सत्ता का निषेध करके 'सर्वमनित्यं, सर्वशून्यं, सर्वमनात्मन्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

महायान-अभिसमय[2] सूत्र में प्रतिपादित उक्त सिद्धान्त का आशय निम्नलिखित पंक्तियों में देख सकते हैं—

"रिक्त, शान्त अरु अहं–रहित ही
सहज भाव सब चीजों का है।
व्यक्तिरूप से कोई प्राणी,
सत्य नहीं है यहां जगत् में।
आदि, मध्य अरु अन्त नहीं कुछ,
मिथ्या ही जग, सत्य नहीं है।
दृश्य नश्य है, स्वप्नमात्र है,
घन-दामिनि की सी खेला है।
जल-बुद्बुद का यह मेला–सा,
क्षणिक लहर है यह पानी की।

---

१. बृह० उप० ४-४-२२
२. नंजो, नं० १६६ (अनु०)

कारण और परिस्थितियों ने,
यहां वस्तु को जन्म दिया है।
नहीं आत्मा किसी वस्तु में,
चलती है या जो करती है।
ये, अज्ञान और इच्छाएँ
कारण बनती जन्म-मरण का।
सही ध्यान अरु संयम उर का
देता इनको मिटा सहज ही।
सभी वस्तुएं शून्यमात्र हैं,
यही प्रकृति है अन्य न उनकी।"

—(अरुण द्वारा अनुदित)

अंतिम दो पंक्तियाँ वस्तुमात्र की सत्ता का निषेध करती हुई भी सत्ता-मात्र का निषेध नहीं करतीं। इनसे परम तत्त्व की सत्ता का निराकरण नहीं होता।

महायानियों के अनुसार 'धर्मकाय' मूल सत्य है जो प्रत्येक दृश्य का आधार है। इसीं के कारण व्यक्तिगत सत्ता संभव होती है। यह धर्मकाय वेदांतियों के ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि यह केवल निराकार सत्ता नहीं है। इसमें इच्छा शक्ति भी है और अपने को प्रतिबिंबित करने की क्षमता भी है। बौद्धों के शब्दों में वह करुणा और बोधिस्वरूप है।

प्रत्येक प्राणी में धर्मकाय की सत्ता है क्योंकि प्राणी धर्मकाय की अभिव्यक्तिमात्र है। जैसा कि बहुत से लोगों का विचार है व्यक्तियों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। पृथक् होने पर वे कुछ नहीं रहते। वे साबुन के बुद्बुद के समान नश्वर हैं जो क्रम-क्रम से शून्य में विलीन होते चले जाते हैं। व्यक्तिगत अस्तित्व तभी सार्थक होता है जबकि उसको धर्मकाय की एकता में देखा जाता है।

धर्मकाय के व्यापक प्रकाश को देखने में माया का व्यवधान आ जाता है, किन्तु अब हमारी बुद्धि (बोधि), जो मानव मन में धर्मकाय का प्रतिबिम्ब है, पूर्ण प्रकाशित हो जाती है तो हमारी आध्यात्मिक दृष्टि के सामने अहंकार

का कोई कृत्रिम व्यवधान नहीं रहता। 'मैं और तू' का अन्तर विलीन हो जाता है और द्वैत-भाव नष्ट हो जाता है। 'मै' की 'तू' में और 'तू' की 'मैं' में प्रतीति होती है।

"जो कुछ यहां, वहां भी है वह,
जो कुछ वहां, यहां भी तो हैं।
द्वैत दृष्टि से यहां धरा पर
सिवा मृत्यु के मिले न कुछ भी'[1] ॥

("जब अज्ञान और अहंकार की मेघमाला विलीन हो जाती है तो विश्व करुणा और विश्व बुद्धि का पूर्ण प्रकाश होने लगता है और उस समय मनुष्य ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है जहां उसे कोई मित्र-शत्रु नहीं दिखाई पड़ता। और उसे यह चेतना तक नहीं होती कि वह 'धर्मकाय' से मिला हुआ है[2]।"

"बौद्धों के शून्यवाद का उल्लेख करते हुए इस निर्वाण को भी नहीं भुला सकते। उसके दो पक्ष हैं—एक विषेधात्मक और दूसरा विधेयात्मक। कलुषित मनोवेगों का विनाश प्रथम पक्ष से सम्बन्धित है और करुणा एवं सहानुभूति का अभ्यास दूसरे पक्ष से सम्बन्धित है। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं और जब हम अपने को एक पक्ष में देखते हैं तो दूसरा भी साथ होता है क्योंकि जैसे ही हमारा हृदय अहंकार के आवरण से मुक्त हो जाता है तो वह (हृदय) जो अबतक निर्जीव एवं कठोर था, सजीवता प्रकट करता है और बन्धन को तोड़ कर धर्मकाय की गोद में मुक्ति प्राप्त करता है।"

(निर्वाण में स्वार्थ-भावनाएं नष्ट हो जाती हैं और मनुष्य अपनी सहज स्थिति में आ जाता है।) इस भाव को 'उदान' के काव्यानुवाद में देखिये :—

"दाता में गुण बढ़ जाता है।
दमितेन्द्रिय अरु गलित क्रोध हो,

---

१. तु० की० कठोपनिषद् २-१-१०
२. डी० टी० सुजुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ४८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५१

ज्ञानी दुष्कृति फाड़ फेंकता,
मिटा वासना, पाप, मोह को
पाता वह निर्वाण प्रकाशित[1] ।।"

नागार्जुन के माध्यमिक मत के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं :—संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य :—

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मेषणा,
लोकसंवृत्तिसत्यञ्च सत्यञ्च परमार्थतः ।
ये च अनयोर्न जानंति विभागंसत्ययोर्द्वयोः,
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीर बुद्धशासने[2] ।।"

संवृत्ति-सत्य में भ्रम (Illusion) तथा योगाचारमत का सापेक्ष ज्ञान भी समाविष्ट हो जाता है और परमार्थ सत्य निरपेक्ष ज्ञान होता है।

"इन दो सत्यों की व्याख्या में माध्यमिकों ने 'शून्य' और 'अशून्य' शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों को भ्रान्ति हो गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) अपने मूल रूप में शून्य है क्योंकि इसमें किसी वस्तु या व्यक्ति की सत्ता नहीं होती, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि इसकी सत्ता ही नहीं है जैसाकि बहुत से आलोचकों ने समझ रखा है। सापेक्ष सत्य की तुलना में माध्यमिकों ने निरपेक्ष सत्य को शून्य कहा है। वह सत्य इसलिए नहीं है कि कोई विशेष वस्तु या व्यक्ति सत्य है वरन् इसलिए कि वह विशेष से परे हैं और इसलिए उसे माध्यमिक मत में शून्य कहा गया है। निर्विशेष रूप में वह न रिक्त है और न अरिक्त है; न शून्य है न अशून्य है; न 'अस्ति' है न 'नास्ति', न भाव है न अभाव और न सत्य है न असत्य। इन सभी शब्दों में सापेक्षता एवं तुलनात्मकता निहित है जबकि परमार्थ सत्य इन सबसे ऊपर है। अतएव यह कहना

१. देखिये, उदान, अध्याय ८, पृष्ठ ११८ (जनरल स्ट्रोंग के अनुवाद में)
२. देखिये, नागार्जुन, माध्यमिक शास्त्र, बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी, पृष्ठ १८०-१८१

अधिक समीचीन होगा कि सब भेद और विरोध इसकी अखण्ड एकता में विलीन हो जाते हैं। इसलिए इसके नामकरण से सत्य की वास्तविक प्रकृति के सम्बन्ध में भ्रम पैदा हो सकता है क्योंकि नामकरण का अर्थ है विशेषीकरण। प्रत्येक दृश्य पदार्थ के मूल में इसकी सत्ता है एवं किसी विशेष पदार्थ के रूप में इसका भेदीकरण नहीं हो सकता[१]।"

"अश्वघोष ने इस मूलतत्व को अनिर्वचनीय बतलाया है। उसका कहना है कि जब हम उसको सापेक्ष एवं ससीम वस्तुओं के गुणों से विलग होने के कारण शून्य कहेंगे तो लोग उसे असत् समझ लेंगे और जब हम उसे वास्तविक सत्य कहेंगे जो दृश्य से परे है तो वे उसे विश्व से परे किसी विशेष व्यक्ति के रूप में देखने लगेंगे। सच तो यह है कि वह शाश्वत सत्य कहने में नहीं आ सकता। उसके सम्बन्ध में किसी का कुछ कहना बिल्कुल वैसा ही होगा जैसा कि अन्धों द्वारा हाथी का वर्णन करना। उनमें से प्रत्येक हाथी के सम्बन्ध में अपना-अपना अनुमान तैयार करता है जो स्पष्ट और अपूर्ण होता है, फिर भी प्रत्येक यही सोचता है कि बस एक यही ठीक है[२]।"

इसी कारण नागार्जुन ने अपने शास्त्र में कहा है :—

> "अस्तीति शाश्वतग्राहो, नास्तीत्युच्छेबदर्शनम्;
> तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रियेत विचक्षणः[३] ॥"
> "To think 'it is', is eternalism,
> To think 'it is not, is nihilism;
> Being and non-being,
> The wise cling not to either."

'अस्ति' 'नास्ति' और 'शुद्ध' 'अशुद्ध' द्वैतपरक हैं, इसलिए नागार्जुन का कहना है :—

---

१. देखिये, सुजुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ९५
२. देखिये, उदान, अध्याय ६
३. माध्यमिक शास्त्र, अध्यात १५

"अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता,
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः[१] ।।"

'नेति-नेति' ही एक ऐसा मार्ग उपनिषदों ने निकाला जो उस 'सत्ता' को व्यक्त करने में मनुष्य की अपूर्ण जिह्वा को सहायता दे सकता था। इसलिए महायानियों ने इस भूततथाता[२] (Absolute Suchness) को 'शून्यता' का नाम दिया।

"अश्वघोष के शब्दों में 'तथाता' (Suchness) न तो सत्ता है न असत्ता, न सत्तासत्ता और न अ-सत्तासत्ता; वह न एकता है न अनेकता, न एकतानेकता है और न अ-एकतानेकता है[३]।"

मूल प्रकृति हानि या क्षय को प्राप्त नहीं होती। विशेष पदार्थों की सत्ता भ्रान्त (Confused) स्मृति (Sulyectivity) के कारण प्रतीत होती है। इस स्मृति से पृथक् किसी बाह्य जगत् की अनुभूति नहीं हो सकती। भेद-दर्शन का कारण भी यही स्मृति है।

जो 'स्मृति' शब्द साधारण भाषा में स्मरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी का अश्वघोष ने 'अज्ञान' (Ignorance) के समानार्थक के रूप में प्रयोग किया है। और भी कई बौद्ध दार्शनिकों ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग

---

१. माध्यमिक शास्त्र, अध्याय १५

"The dualism of 'to be' and 'not-to be,'
The dualism of 'Pure'and 'not-pure:'
Such dualism having abandoned,
The wise stand not even in the middle"

२. माध्यमिक लोगों ने उस परमार्थ-सत्य या परिनिष्पन्न को 'भूततथाता' कहा है।

३. देखिये, अश्वघोष—धर्म जागरण

किया है। माध्यमिकों का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ जिसका उद्भव और विनाश होता है, 'स्मृति' और कर्म के कारण प्रतीत होता है।

इस विवेचना के आधार पर यह कह सकते है कि उपनिषदों का नेति-नेति-वाद ही धीरे-धीरे बौद्धों के 'निर्वाण' के रूप में विकसित हुआ। औप निषदिक 'वाद' बौद्धिक सूत्र था जो बौद्ध धर्म में 'निर्वाण' शब्द से आध्यात्मिक अनुभूति की एक अवस्था विशेष की ओर संकेत करने लगा। व्यष्टिगत अस्थिरता एवं अनात्मता के साथ-साथ बौद्ध दर्शन के मूलाधारों में निर्वाण का भी प्रमुख स्थान है।

बौद्धदर्शनगत शून्यता (Voidness) का अध्ययन और विवेचन विद्वानों ने इतनी विशदता से किया है कि यहां उसका दुहराना व्यर्थ एवं अनुपयुक्त होगा। महायान साहित्य ने इसको पर्याप्त महत्त्व दिया है। अश्वघोष ने अपने काव्य की सुषमा में और नागार्जुन ने अपने दार्शनिक गौरव में शून्य को अनावृत किया है। जो शून्य आगे चल कर अपनी 'सत्ता' को ही खो बैठा उसके बीज नागार्जुन ने बो दिये थे फिर भी यह कहना उचित न होगा कि नागार्जुन का 'शून्य' केवल निषेध (Negation) नहीं है।

"यह शून्य न सत् है, न असत् है, न 'सदसत् है और न अ-सदसत् ही है।"

"इस 'शून्यता' के कारण ही प्रत्येक वस्तु की स्थिति संभव हुई है।"

"वह व्यक्ति जो शून्य-संपृक्त है सबसे संपृक्त है और जो शून्य से पृथक् है वह सबसे पृथक् है[1]।"

कुछ मध्यकालीन दार्शनिकों ने शून्यवाद की विवेचना बड़े अद्भुत ढंग से की। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील एवं अस्थिर है, इसलिए वह शून्य है। केवल यह शून्य ही सत्य है, यही मूल सत्य है। आर्यदेव ने भी इस सिद्धान्त की विवेचना बड़ी सफलता से की है। इसके बिना न तो योगाचारियों के और न वज्रयानियों के दर्शन का ही निर्वाह हों सका। मैत्रेयनाथ तथा आसंग जैसे

---

१. देखिये, नागार्जुन, माध्यमिक सूत्र २४-१४

दार्शनिक योगाचारी ही थे। वास्तव में आसंग का परमार्थ लक्षण नागार्जुन का शून्य-सिद्धान्त ही है।

"न सत् और न असत्; न तथा और न अन्यथा[1]" शून्य की व्याख्या का सूत्र है।

तन्त्रों में—"गायत्री तंत्र के अनुसार केवल शून्योपासना से, किसी न्यास या प्राणायाम के बिना ही, प्रत्येक वस्तु निर्मल हो जाती है[2]।"

कामधेनु तंत्र का कहना है, "शून्य-ज्ञान सर्व शून्य से परे है, वह परम शून्य है, वह पावन है और कलुष एवं असत्य से रहित है, उसकी दीप्ति कोटि सूर्य की दीप्ति के समान है[3]।"

"जो शून्य हृदयाकाश में प्रकाशित है उसका जप भी किया जा सकता है[4]।"

"ज्ञान संकलिनी तन्त्र का कहना है कि परमात्मा शून्य है और उसमें मन विलीन हो जाता है[5]।"

"शून्य तत्त्व जीवन है[6]।"

"ध्यान मन को शून्य में विलीन करने का उपक्रम हैं, कोई अन्य ध्यान इसकी तुलना नहीं कर सकता[7]।"

इस प्रकार शून्य को सर्व-चेतना-कोष बना दिया गया है। अतएव महादेव कहते हैं, "मैं रुद्र हूं, मैं शून्य हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ और निर्विशेष हूँ[8]।"

---

१. महायान सूत्रालंकार, (लेवी) Vl. I, पृष्ठ० २२
२. गायत्री-तंत्र, परिच्छेद १-१
३. कामधेनु तन्त्र, पटल ११
४. कामधेनु-तन्त्र, पटल २१
५. ज्ञान संकलिनी तंत्र, ३३
६. ज्ञान संकलिनी तंत्र, ३४
७. ज्ञान संकलिनी तन्त्र, ५४
८. ज्ञान संकलिनी तन्त्र, ८५

सिद्धों के मत में—सिद्धों की वाणी में शून्य शब्द का प्रयोग और प्रचार बहुत बढ़ गया। सिद्धों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में बौद्धों से था। इसलिए उनकी शून्य-भावना में बौद्धों की छाया का आना स्वाभाविक था। सिद्धों ने शून्य का प्रयोग 'द्वैताद्वैतविलक्षण'[१] एवं 'महासुख'[२] के अर्थ में ही नहीं अपितु 'अस्थिर' एवं 'भंगुर' के अर्थ में भी किया है।

धर्म सम्प्रदाय में शून्य—धर्म-सम्प्रदाय के साथ बंगाल में शून्योपासना की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। शून्य पुराण[३] के अनुसार महादेव या परमदेव शून्य-रूप है।

हरिचन्द्र ने भी इसी शून्य की उपासना की है[४]। शून्य पुराण के अनुसार "शून्य एक सरोवर है जो भक्ति-जल से आपूर्ण है[५]।"

नाथ सम्प्रदाय में—आगे चलकर 'शून्य' का और भी विकास हुआ। मध्यकालीन भक्तों ने शून्य को अपने ढंग से स्वीकार किया। साकारोपासकों द्वारा अनेक प्रकार की मूर्तियों और पाषाणों में इसकी पवित्रता की स्थापना की गयी और निराकारोपासकों द्वारा यह असीम की भावना को व्यक्त करने का साधन बनाया गया। वह अभाव, भंगुर, द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व, कैवलावस्था आदि रूपों के अतिरिक्त और भी कई रूपों में प्रयुक्त होने लगा। हठयोगियों की वाणी में शून्य के कई अर्थ दिखायी देने लगे। केवल हठयोग प्रदीपिका में ही यह शब्द ब्रह्मरन्ध्र[६], ब्रह्म[७], सुषुम्ना नाड़ी[८], अनाहत्चक्र[९], आदि अर्थों में प्रयुक्त

---

१. देखिये, दोहा-कोष, पृष्ठ १ तथा ८
२. देखिये, क्षितिमोहन सेन—दादू, पृष्ठ ७८–८०
३. शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२
४. शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२,३-१
५. शून्य पुराण, चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १७७. ५-१०
६. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०,
७. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०
८. हठयोग प्रदीपिका, ४।४४
९. हठयोग प्रदीपिका, ४-७३

हुआ है। सहज, समरस, एकरस, आदि सिद्धान्तों में मिलकर इसने नये-नये अर्थ धारण किये। शून्य-सिद्धान्त का गोरखनाथ पर बहुत बड़ा प्रभाव था। उन्होने इस शब्द का प्रयोग द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व एवं ब्रह्मरन्ध्र के लिये तो किया ही है साथ ही समाधि-अवस्था के लिए भी किया है। "समरसत्व को प्राप्त साधक शून्य में स्थित हो जाता है[1]।"

रामानन्द के समय में शून्य-सिद्धांत सहज-सम्प्रदाय में आ मिला। 'ग्रन्थ-साहब' के अनुसार जयदेव और रामानन्द दोनों 'सहज' के उपासक थे। जयदेव कहते हैं, "मैं उसके प्रेम में डूब गया हूँ, मैंने अपने अस्तित्व को उसमें विलीन कर दिया है और मैंने 'ब्रह्म-निर्वाण' प्राप्त कर लिया है[2]।" ग्रन्थसाहब में सुरक्षित रामानन्द की वाणी[3] में सहज-शून्य का संकेत करने वाली कई पंक्तियाँ मिल जाती हैं।

जिस प्रकार सहजियों ने शून्य को अपने सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार निरंजनियों ने भी शून्य को समाहृत किया। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सहजियों का शून्य शायद अवस्था-द्योतक है तथा निरंजनियों का शून्य सत्ता-द्योतक है किन्तु दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर दोनों के बीच में किसी भेद रेखा का खींचना कठिन होगा।

इस प्रकार कबीर के पहले शून्य-सिद्धान्त के विकास की एक बहुत लंबी परम्परा रही है जिसको दो स्थूल रूपों में देख सकते हैं। एक रूप आस्तिक्य से सम्बन्धित है और दूसरा नास्तिक्य से। वेदों से चली हुई परम्परा जो उपनिषदों में नेति-नेति से प्रतिपादित होती है आस्तिक्य से सम्बन्धित है। दूसरी परम्परा बौद्धों के द्वारा प्रेरित हुई उसी ने 'शून्य' शब्द का प्रचलन किया। उसमें आत्म-वाद का खंडन है। व्यक्तिगत सत्ता जैसी कोई चीज शून्यवादियों ने स्वीकार नहीं की। कबीर का 'शून्य' कहीं भी 'अभाव' का समर्थक नहीं है। यह ठीक है

---

१. गोरक्ष-संहिता, प्रसन्नकुमार कविरत्न द्वारा संपादित, प्रथम संस्करण पंचम अंश, पृष्ठ १०५

२. ग्रन्थ-साहब, राग मारू

३. ग्रंथ-साहब, राग बसंत

कि उसमें अर्थ-वैविध्य है और कई स्थानों पर उन्होंने उसका प्रयोग परिभाषिक रूप में भी किया है किन्तु उससे नास्तिक्य या अभाव का संकेत कहीं नहीं मिलता। यह तो माना जा सकता है कि कबीर का 'सुंन' (शून्य) सिद्धों और नाथों के 'शून्य' से भी प्रभावित है किन्तु यह कहना अनुचित होगा कि कबीर ने 'सुंन' का प्रयोग सिद्धों और नाथों के अनुकरण पर किया है। कबीर का शून्य यदि कहीं सुषुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र और केवलावस्था को संकेतित करता है तो कहीं वह अद्वैतवादियों के अद्वैत-तत्त्व का भावात्मक प्रतीक भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर का शून्य अभावात्मक कहीं नहीं है। कबीर ने 'सुंनि' शब्द का प्रयोग कहीं व्यस्त रूप में और कहीं समस्त रूप में किया है। समस्त रूप में वह 'सिषर', 'सहज' एवं 'मंडल' के साथ प्रयुक्त हुआ है यथा—

सिषर के साथ—

"सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहि।
कबीर मोती नीपजैं, सुंनि सषर गढ़ मांहि[1] ॥"

सहज के साथ—

"गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहां कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट[2] ॥"

मंडल के साथ—

"ऐसा कोई नां मिलै, सब बिधि देइ बताइ।
सुंनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाई[1] ॥"

कबीर ने 'सुंनि' के अतिरिक्त उसके कुछ पर्यायियों का भी प्रयोग किया है। इनमें प्रमुख गगन मंडल, निरंजन, सहज, उनमनी और अलष शब्द है। इस अर्थ में अनेक शब्दों का प्रयोग देखिये—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३-८
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८-१८२

(क) गगन मंडल का प्रयोग—

"जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा[1] ।"
"गगन मंडल रोकि बारा, तहां दिवस न राती ।
कहै कबीर छांड़ि चले, बिछुरे सब साथी[2] ।।"

(ख) निरंजन का प्रयोग—

"कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छांड़ि निरंजन लागैं[3] ।"
"तुम घरि जाहु हंमारी बहनां, बिष लागै तुम्हरे नैनां ।
अंजन छांड़ि निरंजन राते, नां किसही का दैनां[4] ।।"
"अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ[5] ।।"

(ग) सहज का प्रयोग—

"पंच तत्त अबिगत थैं उतपना, एक किया निवासा ।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा[6] ।।"
"सुषमन नारी सहज समांनी, पीवै पीवनहारा[7] ।"
"टारी न टरै आवै न जाइ, सुन्न सहज महिं रह्यो समाइ[8] ।"

(घ) उनमनी का प्रयोग—

"उनमनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजयारा[9] ।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद २३६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०, पद २७०
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३७
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-१०३, पद ४४
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पंक्ति १८
८. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६६, पद १७
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ७२

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, रांम नांम लिव लागी[1] ॥"

(ङ) अलष का प्रयोग—

"झूठे झूठे रह्यो उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई[2] ।"
अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई[3] ॥"

यह तो प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि कबीर वाणी में 'सुंनि' (शून्य) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है । कहीं वह ऊंचाई, कहीं गहराई, और कही स्थिति एवं अवस्था का सूचक है । भाव, रस (समरसता), वातावरण, अद्वैत, निर्गुण एवं निराकार सत्ता के अर्थों के साथ-साथ कबीर का शून्य व्यापक, व्याप्य, व्याप्त, सूक्ष्म एवं निरालंब का अर्थ भी द्योतित करता है । उसमें ध्येयता भी संनिहित है । इन सब अर्थों में वह अभाव-संपृक्त कहीं भी नहीं है । जहां अभाव की प्रतीति सी होती है वहाँ भी भाव निहित है—

"सुंनि मंडल में मंदला बाजै, तहां मेरा मन नाचै[4] ।"

यहाँ 'सुंनि मंडल' एक भावात्मक स्थिति है जिसके सम्बन्ध से मन की एक अवस्था विशेष की सूचना दी गयी है ।

कबीर का 'सुंनि' अभावात्मक नहीं है, इसका प्रमाण नीचे की वाणी में भी मिल जाता है—

"सहज सुंनि में जिनि रस चाख्या,
सतगुरू थैं सुधि पाई ।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूं उछकि न जाई[5] ।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१, पद ९१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३५, पद २३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३०, पद १३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ७२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

यदि 'सुंनि' अभाव द्योतक होता तो वह न तो रस का भंडार होता और न उसमें मदमत्त बनाने की क्षमता ही होती। यहाँ तो 'सुंनि' में रस भरा पड़ा है। हाँ, वह रहस्यमय अवश्य था किन्तु गुरु ने उस रस का उद्घाटन कर दिया और कबीर ने उसको इतना पिया कि वह मतवाला हो गया। मादक होने के साथ-साथ वह रस मोहक भी है। इसीलिए कबीर उससे उछकते नहीं हैं।

कुछ लोग कबीर के निम्नलिखित प्रश्न के आधार पर उनके शून्य को अभावात्मक कह डालने की चेष्टा करते हैं—

"कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सुन्यं[1]।"

इस प्रश्न में 'सुन्यं' शब्द सबका निषेध करके भी निरंजन की स्थापना करता है, और कुछ हो न हो शून्य में निरंजन की व्याप्ति तो स्वयं सिद्ध है। यह निरंजनमय शून्य अद्वैतभाव का सूचक है, अभाव का सूचक कदापि नहीं है।

'सुंनि मंडल' में कबीर ने एक पुरुष का ध्यान किया है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह पुरुष शून्य से भिन्न है। दोनों एक हैं। इसीलिये कबीर की 'लौ' 'सहज सुंनि' में लगती है—

"सुंनि मंडल मैं पुरिस एक, ताहि रहै ल्यौ लाई[2]।"

वह पुरुष ज्योतिस्वरूप है तथा दृश्यलोक के परे ही उसकी शोध की जा सकती है। उसको किसी अवलंब की अपेक्षा नहीं है। वह एक ऐसा आकाश-कुसुम है जो विकसित है किन्तु किसी रूप-रेखा के बिना ही—

"सुनि मंडल मैं सोधि लै, परम जोति परकास।
तहू वां रूप न रेख है, बिन फूलनि फूल्यौ रे अकास[3]॥"

उस 'सुंनि' के साथ कबीर ने अपनी सम्बन्ध-भावना स्थापित कर रखी है। वह कबीर की उद्गम-स्थली भी है और विलय-स्थली भी—वह श्रेय भी है और प्रेम भी—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३, पद १६४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७-१२१

"सहज सुंनि को नेहरो, गगन मंडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम भूलें हिंडोल[1] ॥"

जिस प्रकार बाज पक्षी आकाश में उड़ता रहता है उसी प्रकार हमारा मन शून्य में निवास कर सकता है किन्तु यह एक अवस्था विशेष है जबकि मन निरालंब हो जाता है। इसको सहजावस्था भी कह सकते हैं। आत्मा की वास्तविक अवस्था भी यही है। इस अवस्था में 'मैं' और 'तू' का भेद मिट कर लोक-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं और वह मन जो आत्मा और परमात्मा के बीच एक भेदक का काम करता है, मिट जाता है तथा शून्य में हमारी स्थिति जल में तरंग के समान अभिन्न हो जाती है—

"सुंनि मंडल में घर किया, जैसें रहा सिचानां[2]।"

तथा

"ऐसें हम लोक के बिछुरें, सुंनिहि मांहि समावहिंगे।
जैसें जलहि तरंग तरंगनी, ऐसें हम विखलावहिंगे[3] ॥"

शून्य की यह अनुभूति अद्वैतानुभूति है। यहां भी शून्य सत्स्वरूप है, असत्स्वरूप नहीं है। वह असीम और गंभीर है। सीमा शून्य की अनुभूति नहीं हो सकती। असीम की प्राप्ति का तात्पर्य है शून्य में निमग्न होना। उसको प्राप्त करके यहां विश्राम करना दुष्कर है —

"हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहां किया विश्राम[4] ॥"

शून्य में विश्राम करने या स्नान करने का एक ही अर्थ है। ध्यान द्वारा शून्य में निमग्न होने से कायिक विस्मरण हो जाता है, तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है और तपन के स्थान पर शीलता आ जाती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८ पद १५४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७, १५०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-११

ततं पाया तन बीसरचा, जब मनि धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब सुंनि किया ग्रसनाना[1] ।।"

कबीर के शून्य में व्याप्यता और व्यापकता, दोनों का समावेश है। वह निरालम्ब देवालय भी है और निराकार देव भी। वही कबीर का सेव्य हैं और उसी में कबीर की स्थिति भी है। उपनिषदों के स्वर में कबीर ने उस शून्य सत्ता को विलक्षण कहा है। वे कहते हैं—"न वह सूक्ष्म हैं, न स्थूल है। उसकी कोई रूप-रेखा नहीं है और न वह दृष्ट है न अदृष्ट है[2]।" वह एक विलक्षण सत्ता हैं।

उसके साथ मन का तादात्म्य हो सकता है किन्तु प्रत्येक दशा में नहीं केवल 'उनमन मन' ही शून्य को प्राप्त कर सकता है और वही शून्य में समाविष्ट हो सकता है :—

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना[3] ।"

मन के शून्य में समा जाने पर ही अद्वैत स्थिति अथवा अद्वैतपद की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में जन्म-मरण का भ्रम दूर हो जाता है।

जीवित-दशा[4] शून्य-समावेश के मार्ग में बाधक नहीं होती। शून्य की सिद्धि के लिए साधना भी चाहिए। "सुषुम्ना-मार्ग से पवन को ऊपर चढ़ाना, षट्चक्र-भेदन और 'सुरत' को 'सुन्न' में लगा देना"[5] शून्य-प्राप्ति का एक साधन हैं। शून्य-मडल[6] में ध्यान को भी शून्य की सिद्धि होती हैं। जो साधक 'नाम' लीन हो जाता है वह भी शून्य में लीन हो जाता हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३ पंक्ति १४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१, पद ६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३२६

"कहँ कबीर जो नाम समाने, सुन्न रह्या लव सोई[1] ।"

यह दशा सर्व-सुलभ नहीं है । किसी जागरूक साधक[2] को ही इसकी प्राप्ति होती है । जो शून्य में अजपा का जाप करता है वही शून्य तत्व को समझ सकता है[3] । 'शून्य-स्थिति प्राप्त करके साधक अटल हो जाता है । वह न कहीं आता है न जाता है[4] ।" उसको सहज दशा प्राप्त हो जाती है और वह गुण-भ्रम जो उसके बंधन का कारण बनता है, नष्ट हो जाने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त कबीर ने शून्य का प्रयोग विशेषण के अर्थ में भी किया है । इस रूप में शून्य की पारिभाषिक विशेषता न रह कर उसका अर्थ 'सूक्ष्म' मात्र रह जाता है । अपने 'राम' का वर्णन करते हुए कबीर उसको स्थूल और शून्य दोनों रूपों से रहित मानकर 'शून्य' शब्द में 'सूक्ष्म' अर्थ की प्रतिष्ठा करते हैं :—

"बेद बिबर्जित भेद बिबर्जित, बिबर्जित पाप रु पुंन्यं
ग्यांन बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुंन्यं[6] ।।"

जहाँ कहीं कबीर ने आकाश[7] के अर्थ में शून्य का प्रयोग किया है वहां भी वह सूक्ष्मता, निर्गुणता एवं निराकारता का संकेत देता है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है और वे हैं कायिक शून्य, वाचिक शून्य मानसिक शून्य एवं आध्यात्मिक शून्य । प्रथम तीन रूपों में सिद्धों और नाथों

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-२६६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पंक्ति १६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८३-६३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२२०
७. "जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुंनि समानी त्यौरी ।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६१-३०३

की छाया दीख पड़ती हैं किन्तु चौथा रूप औपनिषदिक परम्परा की एक कड़ी-सा दीख पड़ता है। यह ब्रह्म या राम का परिचय देता है। वाचिक और मानसिक शून्य में भी कबीर आत्मा या ब्रह्म के लक्षण प्रस्तुत कर देते हैं। "उनमन मनुवा सुन्नि समाना" में यौगिक एवं अद्वैतिक, दोनों प्रकार की छाया की प्रतीति होती है। 'रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थिति मांही' कहकर कबीर ने शब्द की शून्य-स्थिति भी प्रकट करदी है। 'अजपा जपत सुंनि अभि-अंतरि' से भी यही रूप प्रतिपादित होता है।

वैसे तो मानसिक शून्य भी एक प्रकार से कायिक शून्य के अन्तर्गत समाविष्ट हो सकता है किन्तु अध्ययन की सुविधा एवं मान्यताओं के आग्रह से इनके अलग-अलग भेद करने में ही औचित्य समझा गया है। कबीर का कायिक शून्य हृदयाकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र का परिचायक है। ब्रह्मरन्ध्र को तो कबीर ने और भी कई नाम दिये हैं जैसे 'भंवर गुफा' अथवा 'सुन्नि सिषरगढ़' आदि।

लय का घाट 'सहज-शून्य'[1] मानसिक एवं आध्यात्मिक शून्य का द्योतक हैं। इसमें योग अद्वैत और भक्ति तीनों का समन्वित रूप देखा जा सकता है। आध्यात्मिक शून्य निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की ओर संकेत करता है। 'जैसे तरंगें जल में विलीन हो जाती हैं' वैसे ही हम भी संसार-मुक्त होकर शून्य में लीन हो जावेंगे[2] आदि वाक्यों से शून्य की आध्यात्मिकता स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार के शून्य-भेद अन्य परवर्ती सन्तों की वाणियों में भी मिलते हैं जिनमें दादूदयाल का स्थान प्रमुख है। कबीर की भांति भावार्थक शून्य तो दादू ने भी स्वीकार नहीं किया है। इसीलिए वे कहते हैं।

"कुछ नाहीं का नांव क्या जे धरिए सो झूठ[3]।"

वे उस सहज को जो सूक्ष्म, अनन्त एवं अरूप है और जिसको सामान्य मनुष्य अस्वीकार कर देता है, स्वीकार करते है। वे शून्य के ध्यान के समर्थक

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-१८२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७-१२१
३. दादू साच कौ अंग, ७९५

हैं[1] ।" प्रत्येक रूप, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक स्थान में उस सहज की व्याप्ति है । वहां निरंजन का क्रीड़ा-क्षेत्र है । कोई गुण उसका स्पर्श नहीं कर सकता[2] । 'पर्चा अंग' में दादू की चौदह बानियों में सहज शून्य की तुलना उस सरोवर या सागर से की गयी है जिसमें महारस भरा हुआ है[3] । शून्य को दादू ने सहज-सागर भी कहा है । उसीमें से मन मुक्ता-चयन करता है । शून्य-सरोवर में परमात्मा को कमल और मन को मधु-मक्षिका कह कर दादू शून्य के अर्थ को कुछ और विकसित करने का प्रयत्न करते हैं । दादू अपने मन की विश्रान्ति सहज शून्य में चाहते हैं, "जो योग-समाधि और प्रेमानन्द के मध्य में स्थिति है[4] ।" इस प्रकार दादू ने योग को प्रेम से संपुटित करके कबीर की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है ।

कबीर की भांति दादू ने भी शून्य का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है । पर्चा अंग ५३ में दादू ने शून्य के तीन भेदों की ओर संकेत किया है—(१) काया शून्य, (२) आत्म शून्य और (३) परम-शून्य । काया शून्य में पंच तत्त्व का निवास है, आत्म शून्य में जीवन की अभिव्यक्ति होती है और परम शून्य में परमात्मा से मिलन होता है । दादू बानी में ब्रह्म शून्य का भी वर्णन आया है जिसमें अनन्त, असीम एवं अरूप ब्रह्म व्याप्त है । "प्रथम तीन शून्यों का सम्बन्ध रूपात्मक जगत् से है और चौथा शून्य निर्गुण है । वही सहज शून्य भी है जो प्रेम की केलि-स्थली है[5] ।" पर्चा अंग की ५४ वीं और ५५ वीं बानी में दादू कहते हैं—"सहज शून्य सबका कारण है । सूर्य, चन्द्र और नभ का आविर्भाव इसीसे हुआ है । इसीमें पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की अभिव्यक्ति हुई है । काल, मन, मनोवेग, मनोभ्रम, रूप और प्राण का कारण भी वही है और वही ईश्वर का आवास है । वह सहजशून्य सब के साथ है ।"

---

१. दादू, राग बिलावल, ३४६
२. दादू, पर्चा अंग ५६
३. दादू, पर्चा अंग ५६-६८
४. दादू, लै अंग ६
५. दादू बानी, पर्चा अंग ५०

इस प्रकार दादूदयाल ने भी शून्य के चार भेद किये हैं और वे कबीर की परम्परा का निर्वाह करते हैं।

जिस प्रकार कबीर ने शून्य-मंडल में एक पुरुष का आवास बतलाया है उसी प्रकार दादूदयाल ने भी ब्रह्म शून्य को ईश्वर का आवास कहा है। दादू के शिष्यों ने भी शून्य की इस परम्परा को चलाया। दादू के शिष्यों में रज्जब का प्रमुख स्थान है। उन्होंने भी शून्य को चेतनामय बतलाया है। उसी में सहज का निवास[1] बतलाया है। उन्होंने शून्य को दो भेदों में प्रकट किया है—एक व्यक्तिगत शून्य और दूसरा अनन्त शून्य। व्यक्तिगत शून्य की चरम परिणति रज्जब ने अनन्त शून्य में मानी है, अतएव व्यष्टिगत चेतना का परमानन्द अनन्त-चेतना में विलीन होने में है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वेदों की अखंड चेतन सत्ता, जिसका उपनिषदों ने नेति-नेति के द्वारा प्रतिपादन किया, महायानियों के दर्शन में 'शून्य' से अभिहित हुई जिसके द्वारा आत्मवाद का खंडन हुआ। सिद्धों की वाणी में भी शून्य के द्वारा इसी अनात्मवाद का प्रतिपादन हुआ किन्तु शून्य का अर्थ कुछ और विकसित हुआ और योग की पारिभाषिक शब्दावली में समाविष्ट होकर नाथों ने भी उसे सिद्धों से धरोहर रूप में प्राप्त किया किन्तु वह ब्रह्मरन्ध्र एवं समाधि अवस्था तक ही सीमित न रहा और द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व की ओर भी संकेत करने लगा। सहज, निरंजन, समरस आदि अर्थों में प्रयुक्त होकर शून्य ने अनेक सम्प्रदायों को अपना मार्ग बनाया किन्तु कोई भी अर्थ शून्य की सीमा न बन सका। कबीर और उनके अनुयायियों ने शून्य के जो भेद किये वे शून्य के अर्थ का विकास मात्र है, सीमा नहीं है। विवेकानन्द का शून्य-संबंधी भाषण इसका प्रमाण है। इससे अर्थ-विकास की संभावनाओं के आगे पूर्ण विराम नहीं लगाया जा सकता।

●

---

१. देखिये, रज्जब-बानी, गुरुदेव अंग, ८५

: २४ :

एक ही पथ के दो पथिक

यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मानव-जीवन में जिज्ञासा का प्रवेश कब, क्यों और कैसे होता है, परन्तु इसमें कदाचित् कोई मतभेद नहीं कि वह मानव स्वभाव का एक अङ्ग है। अमूक शिशुओं के अनेक प्रश्नों से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह मनोवृत्ति छोटे-बड़े सब में पाई जाती है और उसका उदय मानव-प्रभात में ही हो जाता है। मनुष्य में इस वृत्ति के उत्थान-पतन, दोनों पहलू देखे गये हैं। जीवन की सफलता और असफलता का अधिकांश दायित्व इसी पर होता है आध्यात्मिक जीवन में इसका परम गौरव है। जीवन का भौतिक पक्ष आध्यात्मिकता पर ही आधारित रहता है। अतएव जिज्ञासा जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप का सङ्गठन करती है। गांधी जी के अनुसार "आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है 'नैतिक', धर्म का अर्थ है नीति[1], और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया हो वही धर्म है।"[2] जबतक जिज्ञासा का लक्ष्य धर्म नहीं होता तबतक उसमें आध्यात्मिकता नहीं आती और आध्यात्मिकता के बिना वह जीवन को बल नहीं दे सकती। भौतिक लक्ष्य के गुणीभूत होते ही जिज्ञासा में अध्यात्म प्रकाश प्रखर होने लगता है। वह जितनी दृढ़ और निर्मल होगी, उतनी ही त्वरित लक्ष्य के समीप पहुंचेगी। उसका चरम लक्ष्य सत्य है—वह सत्य जिसमें चित् और आनन्द का अनूठा संयोग है। वही सार है। उसके सिवा सब मिथ्या है। जो साधक सत्य पर विश्वास करते हैं, वे जगत् के मिथ्याडम्बर से खिच बैठते हैं। उनकी दृष्टि निरन्तर सत्य पर लगी रहती है। उनके विषय में कबीर करते हैं:—

---

१. सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है, नीतिमात्र का समावेश सत्य में होता है। —आत्मकथा, पृष्ठ ४२

२. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृष्ठ ३

"कबीर जिनि जिनि जांणियां, करता केवल सार।
सो प्रांणीं काहे चलै, झूठे जग की लार[1] ॥"

पहले जिज्ञासु को सत्य स्पष्ट नहीं दीख पड़ता। वह तम-पटल से निकलता जाता है और सत्य की झलक देखता जाता है। इस अवस्था में जिज्ञासा इतनी प्रबल और बहुरूप हो जाती है कि जिज्ञासु स्वयं विस्मित होकर पूछने लगता है :—

"प्रथमे गगन कि पहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाणी।
× × × ×
कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सुन्यं ॥"

धीरे-धीरे साधना का सहारा लेकर जिज्ञासा दृढ़ और स्थिर होती चली जाती है। साधक अपने पथ पर तत्पर और स्थिरमति होकर बढ़ता रहता है और उसका लक्ष्य पद-पद पर उसके निकट आने लगता है। वह उसे स्पष्ट दीखने लगता है। सत्य की गवेषणा आग्रह ही से सम्भव है। सत्य के प्रति आग्रह में अदम्य भावना कृतिशील रहती है। दुराग्रह में वह बल कभी नहीं होता जो सत्याग्रह में, परन्तु आत्म-निराकरण और आत्म-संयम सत्याग्रह के प्रधान अङ्ग हैं। वास्तव में सत्याग्रह साधना-मार्ग है। उसके बिना सत्य की प्राप्ति असम्भव है, परन्तु सत्याग्रह का मार्ग सरल नहीं है; "वह तलवार की धार के समान दुर्गम पथ है[2]।" हां, अभ्यास और अनुभव उसे सरल बना देते हैं। गांधीजी 'सत्याग्रह' का अर्थ 'सत्यबल'[3] करते हैं। उसी को वे प्रेम-बल या आत्म-बल के नाम से भी पुकारते हैं। कबीर के शब्दों में सत्याग्रह को ही प्रेम-पथ कह सकते हैं। प्रेम का पथ सरल नहीं है। "वह तो सिर का सौदा है, मर कर जीने का मन्त्र है[4]।" अतएव कबीर भी साधक को आत्म-बलिदान के लिए सचेत करते हैं :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४३-१६
२. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृष्ठ ५
३. गांधीजी, सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ १
४. मंगल प्रभात—गाँधीजी, पृष्ठ ७

"कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि[1] ॥"
"प्रेम न खेतों नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा-परजा जिस रुचै, सिर दे सो लेजाय ॥
भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम ।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम[2] ॥"

किन्तु गांधीजी को सत्य की शोध के साधन जितने कठिन दिखाई देते थे, उतने ही सरल । "अभिमानी को जो बात अशक्य प्रतीत होती है वही एक भोले-भाले शिशु को कतई सरल मालूम होती है । सत्य के शोधक को दीनता परम प्रिय होती है । उसे एक रज-कण से भी नीचे रहना पड़ता है । सारी दुनियाँ रज-कण को पैरों तले रौंदती है, पर सत्य का पुजारी तो जबतक इतना छोटा नहीं बन जाता कि रज-कण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतन्त्र सत्य की झलक भी होना दुर्लभ है । यह बात वशिष्ठ-विश्वामित्र के आख्यान में अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है । ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी बात को साबित करते हैं[४] ।" गांधीजी से कई सौ वर्ष पहले कबीर ने भी सत्य के खोजियों को यही उपदेश दिया था :—

"रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाषण्ड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान[3] ॥"

साधक के हृदय में सत्य के प्रति एक लगन रहनी चाहिए । उस लगन के लग जाने पर किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं रहती । उसका नाता सत्य से जुड़ जाता है और वह सर्वस्व को अपने सत्य पर निछावर कर देता है । सत्य के लिये आत्म-समर्पण की यही भावना कबीर के अन्तर में काम करती है :—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६९-१९

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६५-१४

"मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सोंपते, क्या लागत है मोर[१] ॥"

" हम जो आँटे मारते हैं, वह सेर बाजरी या मुट्ठी भर धान के लिये नहीं, पर खट्टे-मीठे स्वाद के लिये। ठण्ड से बचने के लिए आवश्यक जैसे तैसे कपड़ों के लिये नहीं, बल्कि रेशम किमखाव के लिए। अगर हम इस लोभ को छोड़ दें तो हमें अपने और कुटुम्ब के भरण-पोषण की चिंता बहुत कम रह जायगी।"[२] लोभ को त्याग कर यह विश्वास करना होगा कि "जिसने दाँत दिये हैं, वह चबाने को भी देगा। जो साँप, बिच्छू, शेर, भेड़िया आदि डरावने जन्तुओं या जानवरों को भूखा नहीं रखता है, वह मनुष्य जाति को नहीं भुला सकता।"[३] साधक को विश्वास के बल पर निश्चिंत रहना चाहिये।

"च्यन्ता न करि अच्यन्त रहु, साईं है संभ्रन्थ।
पसु पंखेरू जीव जन्तु, तिनकी गांठिकिसा ग्रन्थ[४] ॥"

सत्य पर दृढ़ हो जाने पर साधक के भय, शोक, मोह का नाश हो जाता है और शूर के सभी गुण उसमें उदित हो जाते हैं और वह दुर्वृत्तियों का डट कर सामना करता है—

"कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि संग लागा हेत।
काम क्रोध सूं जूझणा, चौड़े मांड्या खेत[५] ॥"

सत्य-साधक अपना प्रत्येक पद सत्य की ओर उठाता है। उसके भाव या व्यवहार में, कहीं भी पाखण्ड या दम्भ नहीं होता। "धर्म पर उसकी पूरी आस्था होती है। मुख में राम बगल में छुरी"[१] आस्था नहीं कहलाती। "धर्म के

---

१. गांधीजी की आत्मकथा—प्रस्तावना, पृष्ठ ५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९, ३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५८, ९
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८-७
५. गांधी—सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ १९
६. गांधी—सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ १८
७. गांधी—सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ १९

विरुद्ध आचरण करना धर्म नहीं है। जो धर्म की सच्चाई के साथ रक्षा करता है वही सत्यग्राही है।"[1] कपटी को सत्य दर्शन नहीं हो सकता।

वेद पुरांन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा।
सन्ध्या गाइत्री अरु षट करमां, तिन थैं दूरि बतावा॥
वनखंडि जाइ बहुत तप कीन्हां, कन्द मूल खनि खावा।
ब्रह्मगियानी अधिक धियांनी, जम कै पटै लिखावा॥
रोजा किया नमाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यूं सांई, क्या हज काबै जावा[2]॥"

कपटी न केवल औरों को छलता है, वरन अपने को भी सत्य के प्रसाद से वंचित करता है। दम्भ, पाखण्ड, प्रवंचनादि के कारण सत्य की झांकी दूर होती चली जाती है, अतएव साधक उन्हें साथ लेकर नहीं चल सकता। वेष-भूषा में सत्य का सन्निवेष नहीं है। इसीलिये पाखण्डी घुटमुण्डों को खरी सुनाते हुए कबीर कहते हैं:—

"केस मुंडाये हरि मिलै, सब कोइ लेय मुंडाय।
बार बार के मूंडते, भेड़ न बैकुण्ठ जाइ॥"

आत्मोत्सर्ग कर देने पर सत्याग्रही के हाथों संतष-धन लग जाता है। वही उसका सुख है।"[3] वही सच्चा विजयी है क्योंकि जो ईश्वर के भरोसे सर्वस्व का त्याग करता है, उसके लिए दुनियाँ में कभी हार या पराजय कहीं है ही नहीं। उसका सर्वस्व, उसका प्रियतम उसी, सत्य में रहता है। ज्यों ही उसकी दृष्टि निर्मल हुई कि उसे 'पूर्ण' (सत्य) का साक्षात्कार हुआ। फिर तो,

"पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै[4]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६
२. कवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६४
३. गाँधी—सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ १६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, १८१

कबीर और गांधी दोनों का लक्ष्य सत्य होते हुए भी उनकी साधना का प्रथित अन्तर भुलाया नहीं जा सकता। लेखक का ध्येय दोनों महापुरुषों के मध्य निर्णायक बनने का नहीं, वरन् वह सत्य के दो सफल पथिकों के मार्ग का अपने शब्दों में एक चित्र खींचना चाहता है। यह तो सर्वमान्य बात है कि कबीर और गाँधी का सत्य व्यापक है। किसी एकदेशीय सत्य को तो वे कभी सत्य कहते भी नहीं हैं। कदाचित् सत्य उसे इसीलिए कहते हैं कि उसकी सत्ता सार्वभौमिक, सार्वभौतिक एवं सार्वकालिक है। दोनों के मुखों में सत्य की परिभाषा एक है परन्तु दोनों का व्यक्तित्व और परिस्थितियां उन्हें अलग अलग मार्गों पर चलने के लिये बाध्य कर रही हैं। जगत का सैद्धान्तिक निराकरण जैसे कबीर ने किया था वैसे ही गाँधी जी ने भी किया। दोनों के लिए जगत मिथ्या है। उसमें सेमल के फूल का सा झूठा आकर्षण है, परन्तु जबतक आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेद्रियाँ ठीक हैं तबतक जगत की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण कर भी कौन सकता है? अतएव अद्वैतवादी भी सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों को मानते चले आ रहे हैं। कबीर और गाँधी दोनों ने ही इन दोनों पक्षों को माना है, परन्तु कबीर के व्यवहार-पक्ष में वह तीव्रता और प्रभावोत्पादकता नहीं जो गांधी के में है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर के सिद्धान्त बड़े पक्के हैं, उनकी वैराग्यवृत्ति बड़ी दृढ़ है, परन्तु कबीर में व्यावहारिक प्रेम और अहिंसा कितनी अटल है, इसका अनुमान हमें नहीं हो पाता। मैं नहीं समझता कि स्त्रियों की निन्दा करते समय कबीर से अहिंसा और प्रेम कितने दूर खड़े रहते होंगे अथवा शाक्तों की निन्दा करते समय प्रेम और अहिंसा भाव के तिरोहित हो जाने पर कबीर खिन्न होते होंगे या नहीं? गाँधीजी सिद्धान्त और प्रेम के पक्के पुजारी थे। कबीर की तरह अपनी दुर्बलताओं के कारण वे नारियों को कोसते नहीं थे, अपितु नर-नारी दोनों को अपने सत्यमार्ग पर प्रेरित कर उनके लिए सच्चे शुभचिंतक की भांति मंगल-कामना करते थे। अधर्मी के अवगुणों को देख कर गांधीजी तटस्थ नहीं हो बैठते थे, वरन् वे उसे सुधारने की चेष्टा करते थे, सत्य-पथ पर चलाने की शिक्षा देकर प्रेम और अहिंसात्मक उपाय से दूषणों का निवारण या निवारण करने की चेष्टा करते थे। कबीर के मुख से शाक्तों के लिए अनेक अपशब्द भी निकल गये हैं जो अहिंसा के विरुद्ध है।

सुधार की भावना से प्रेरित होकर भी समाज के प्रति कबीर का भाव विरक्तिमूलक है। समाज के कलङ्कों को देख कर कबीर का हृदय क्षुब्ध हो जाता

है और वे फटकार-फटकार कर सुधार करना चाहते हैं। उन्हें यह चिन्ता नहीं है कि सुधार हुआ या नहीं, उन्हें ज्योंहीं कोई दोष दीखा कि दूसरों को उसका सङ्केत किया और दोषियों को फटकारा। इसके आगे वे क्या करते हैं या उन्होंने क्या किया है ? यह बात वे स्वयं जानें या परमात्मा। सम्भवतः वे इसके आगे के पचड़ों में पड़ना नहीं चाहते थे। संन्यासी होने के कारण उनके स्वभाव में फक्कड़पन तो है ही, साथ ही साथ अक्खड़ सुधारक की गर्वोक्तियाँ भी रहती हैं, परन्तु गाँधीजी में अक्खड़पन का नाम तक नहीं। जो सज्जन गाँधीजी के सम्पर्क में रहे हैं, वे जानते होंगे कि वे कितने विनम्र और सुशील थे। हम यह तो नहीं कह सकते कि गाँधीजी विरक्त नहीं थे, क्योंकि उनका अपूर्व त्याग इसका विरोध करेगा और न यही कह सकते हैं कि वे संसार में आसक्त थे। कोई भी देखने वाला उनमें एक अलौकिक विलक्षणता देखता था और वह थी विरक्ति में आसक्ति और आसक्ति में विरक्ति। अतएव उन्हें विदेह (जनक) का समकक्ष कहने में किसी को हिचक न होगी। उनके प्रेम और अहिंसा में उनकी आसक्ति कौन न बताएगा ? उनकी निःस्वार्थता में विरक्ति किसे नहीं दीख रही ? प्रेम से बिधने और बींधने की जो अमोघ शक्ति इनमें दीख पड़ती है वह कबीर में कहाँ ? इसीलिये तो गाँधीजी की 'अहिंसा' केवल सिद्धान्त और उपदेश की वस्तु नहीं उसमें व्यापक आनन्द-रस छलकता है। "ऐसी व्यापक अहिंसा से कौन अलिप्त रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिंसा के बल को नापना असम्भव है[1]।" प्रेम और अहिंसा को गाँधीजी की आध्यात्मिक कला कहना अधिक अनुचित न होगा। प्रेम उन्हें समाज से उसी प्रकार सुश्रृङ्खलित किए हुए था जैसे वह उन्हें परमात्मा से—चिरन्तन सत्य से। अतएव वे उन्हें समाज के सन्मित्र और परम हितैषी के रूप में देखते रहे। वे समाज के सच्चे निर्माता थे। अहिंसा के बल से वे समाज में विश्व-प्रेम का निर्वाह कर रहे थे। उनके प्रेम और अहिंसा के पतवारों से समाज की नौका दृढ़ता से सत्य-वेला की ओर बढ़ी जा रही थी वापू का कोई ऐसा प्रयत्न न था जिसमें अहिंसा का आधार न हो, उनका कोई उद्देश्य न था जो प्रेम-शून्य हो। सत्य के पुजारी और विनय के देवता को अपनी भूलें भी बड़ी प्रिय थीं। वे अपनी भूल को न केवल स्वीकार ही कर लेते थे,

---

१. गांधी—आत्मकथा, पृष्ठ ३४

प्रत्युत् भेरीनाद से उसका प्रकाशन किए बिना भी नहीं रहते थे। सम्भवतः उनके भोले सत्य के उदर में कोई विजातीय द्रव्य ठहर नहीं सकता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधीजी का परम सत्य बाहर भी अपनी प्रकाश-रश्मियाँ फैला रहा था। उनकी साधना के सूत्र अन्तर को बाहर से जोड़ रहे थे। यह सम्बन्ध सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक था। गाँधीजी के व्यावहारिक सत्य के आन्तरिक और बाह्य पक्ष भिन्न नहीं हैं। उनमें ऐक्य और अभेद है। इस ऐक्य की अनुभूति कबीर को होती ही नहीं, यह बात तो नहीं; परन्तु उनका व्यावहारिक अभेद पूर्णाङ्ग नहीं है। स्त्री, शाक्त आदि से सम्बन्धित बातें ऐसी हैं जो इस ऐक्य की विकलांगता को प्रमाणित करती हैं। कभी-कभी वे ऐक्य की अनुभूति करते प्रतीत होते हैं, परन्तु वह आत्मविषयक (Subjective) है, पर-विषयक (Objective) नहीं—

"हम सब माँहि सकल हम माहीं,
हम थैं और दूसरा नाहीं[१]।"

अतएव कबीर की अभेदानुभूति को जो आत्म-विषयक है, हम व्यावहारिक नहीं कह सकते। वह उनकी आत्मचिंतना का फल है, आचरण का नहीं। चिंतना के क्षेत्र में कबीर अपने लाल की लाली देखने जाते हैं और स्वयं लाल हो जाते हैं:—

"लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में इस लाल का लाली देखना और स्वयं लाल हो जाना बड़ा कठिन है। 'बापू' व्यवहार में भी लाल की लाली को देख रहे हैं। कबीर मस्त हैं, उनको जगत[२] से मैत्री नहीं है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१-२६३

२. **हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या?**
रहें आजाद या जग से, हमन दुनियां से यारी क्या?
जो बिछड़े पियारे से, भटकते दर बदर फिरते!
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या?
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या?
न पल बिछुड़ें पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।

सत्य की आत्म-अनुभूति समाधि अवस्था में होती है। उस समय मनुष्य न बोलता है न सुनता है, और न हिलता है न डोलता है। वह शून्यावस्था होती है। उस समय वह जगत के किसी काम का नहीं होता। वह मुदित हो सकता है, मोदक नहीं रहता। वह आत्मानन्दमय हो जाता है, परन्तु गांधीजी के सत्य में सत्य का सत्य रूप प्रतीत होता है। उनकी साधना में सत्य युगलानन्दमय दीख रहा है। उस में स्व-पर कल्याण का सुन्दर योग है। वे स्वयं आनन्द लेते हुए दूसरों को आनन्द वितरण करते चलते है। गांधीजी को अपनी सत्य-साधना में कितना आनन्द आता होगा इसका ठीक-ठीक अनुमान तो असम्भव है, परन्तु यह कह सकते है कि यदि सुरसाल को मधुर-फलों का भार धारण करने में कोई आनन्द आता है तो गांधीजी को भी आता होगा। यदि गांधीजी को अपनी सत्साधना में रस न मिलता तो वे सम्भवत: समाज को इतने मधुर फल लुटाते न चले जाते।

गांधीजी के सत्य की सुनहरी किरणों में जगत उपनिषद् के इस मंगल-पाठ को पढ़ रहा है, "सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामय:"। "वसुधैव कुटुम्बकम्" पर लोगों का विश्वास जमने लगा है। उनके जिस स्वर में गीताकार के प्रच्छन्न दर्शन हो रहे हैं उसी में बुद्ध और ईसा के उपदेश भी ध्वनित हो रहे हैं। गांधीजी के 'मानव-बन्धुत्व' और 'परमात्मा-पितृत्व' के सामने लोक को झुकना पड़ा है, इस विषय में विश्व-समर ने कोई शंका नहीं रहने दी थी।

उन्हीं से नेह लागा है हमन को बेकरारी क्या ?
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से !
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ?"

शब्दा० पु० १६-१७

परिशिष्ट—१

कुछ पारिभाषिक शब्दों का परिचय

१. अनहद (अनाहत)—अनहद शब्द दो अर्थ देता है—एक 'असीम' और दूसरा 'अनाहत'। 'असीम' के अर्थ में व्यापकता एवं अनन्तता का द्योतन होता है और 'अनाहत' के अर्थ में बिना बजाये बजने या होने वाले शब्द का बोध होता है। संत-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है। कबीर ने 'असीम' या अनन्त के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है। वे इस अर्थ में और भी अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। अनहद से मिलता-जुलता एक 'बेहद' शब्द भी है जिसका प्रयोग कबीर-वाणी में मिलता है—

> **"कबीर हद के जीवसूं, हत करि मुखाँ न बोलि।**
> **जे लागे बेहद सूं, तिनसूं अंतरि खोलि[१]॥"**

उक्त साखी में 'बेहद' शब्द का प्रयोग अनहद या असीम के अर्थ में ही हुआ है। असीम या अनन्त के अर्थ में कबीर के 'अनहद' शब्द का प्रयोग भी देखिये—

> **"स्वादि पतंग जरै जरिजाइ,**
> **अनहद सौं मेरौ चित न रहाई[२]।"**

यहाँ 'अनहद' शब्द से 'अनाहत' का अर्थ भी लिया जा सकता है किन्तु 'अनन्त' अर्थ ही अधिक स्पष्ट है।

अनाहत नाद के अर्थ में कबीर ने 'अनहद' और 'अनाहत' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है और दोनों ही प्राय: विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन के विशेष्य तूरा, सबद, बेन, कींगरी, बाजा, बीना आदि शब्द रहे हैं जो किसी न किसी वाद्य-यन्त्र का द्योतन करते हैं। जैसे—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६-५०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २११-२६६

"अणहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार[1]।"

इसी प्रकार—

"जब अनहद बाजा बाजै, तब सांईं संगि बिराजै[2]।"

कबीर ने अनहद या अनाहद के साथ 'बाजै' और 'बजावै' क्रियाओं का प्रयोग किया है जो पृथक्-पृथक् भाव प्रकाशित करती हैं। 'बाजै' शब्द से बजाने वाले का बोध नहीं होता किन्तु 'बजावै' से बजाने वाले का भी बोध होता है अतएव जहाँ 'बाजै' क्रियाओं का प्रयोग हुआ है वहां बजाने वाले की ओर इंगित नहीं किया गया, जैसे—

"जब अनहद कींगुरी बाजी,
तब काल द्रिष्टि भै भागी[3]।"

अथवा—

"बिनहीं सबद अनाहद बाजै,
तहां निरतत है गोपाला[4]॥"

किन्तु जहाँ 'बजाया' क्रिया का प्रयोग है वहाँ बजाने वाले की स्थिति का ज्ञान भी कराया गया है, जैसे—

"अनहद बेन बजाइ करि,
रह्यो गगन मठ छाइ[5]॥"

अथवा—

"बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला।
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै[6]॥"

इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग सार्थक है। 'बजने' और 'बजाने' का एक दूसरे से सम्बन्ध है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि शब्द दो प्रकार का होता है—आहत (Struck) तथा अनाहत (Unstruck)। आहत शब्द दो पदार्थों

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९९, पंक्ति १८
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४६-१७३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८८-२९४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०-१५९
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२६-१२१
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५८-२०७

के टकराने से उत्पन्न होता है। स्थूल जगत् में सुनायी देने वाले सभी शब्द आहत हैं किन्तु विश्व में एक अनन्त शब्द भी व्याप्त है। उसी शब्द की सत्ता योगियों ने शरीर में भी मानी है जिसको 'बोलती गुड़िया' या 'बोलता पुरुष' कहा गया है। वह शब्दमय प्राण है। विश्व व्यापक शब्द को 'शब्द ब्रह्म' की संज्ञा भी दी गई है। शरीरगत शब्द जिसको एक विशेष अवस्था में योगी ही सुन सकता है अनाहत कहलाता है। योगी का साधना-पथ उसे इस शब्द तक ले पहुँचता है जो उसके मन को अपने में लीन कर लेता है। इसकी श्रवणीयता के लिए सुषुम्ना के मार्ग को खोलने की आवश्यकता होती है। जब प्राणवायु इस मार्ग से उर्ध्व-गमन करती है तो योगी को अन्तर्ध्वनि सुनायी पड़ती है। वास्तव में उसका बजाने वाला कोई नहीं है इसलिए उसके लिए 'बजाना' क्रिया का प्रयोग सार्थक है किन्तु उसकी श्रव्यता योगी की साधना से सम्बन्धित है इसलिए योगी को उसका बजाने वाला कह दिया गया है अन्यथा 'बजाना' कोई अर्थ विशेष नहीं है।

अनाहद नाद की अनेक अवस्थाएँ बतलायी जाती हैं जिनमें पृथक्-पृथक् शब्द सुनायी पड़ते हैं। सागर-गर्जना, घन-गर्जना, मर्दल-ध्वनि, वीणा आदि अनेक ध्वनियों में उसका विकास होता है। योगी सूक्ष्मतर नाद में अपना मन लगाता जाता है। कबीर ने इन ध्वनियों की ओर 'गगन गरजि', 'अनहद-तूरा', 'अनहद बेन', 'अनहद कींगरी', 'अनहद झंकार' आदि शब्दों से संकेत किया है और उन ध्वनियों का भेद भी स्पष्ट है किन्तु इन भेदों का स्पष्ट वर्णन उनकी वाणी में कहीं नहीं मिलता।

कबीर ने अनाहत नाद का सम्बन्ध कई बातों से जोड़ा है। अनहद बाजा बजने पर ही मन 'शून्य' मे समाता है :—

"गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा[1]।"

योगी का गगन-मठ में निवास भी 'अनहद' बाजे के साथ ही होता है—

"अनहद बेन बजाइ करि, रह्यो गगन मठ छाइ[2]।"

कबीर की 'ल्यौ' का स्थान भी वही है जहाँ 'अनहद कींगरी' बजती है—

"जगत गुर अनहद कींगरी, बाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै[3]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९०-७

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२६-१२१

३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३७-१५३

'अनाहद बाजे' के साथ ही गोपाल-दर्शन होता है—

"बिनहीं सबद अनाहद बाजे, तहां निरतत है गोपाला[1]।"

आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य में भी इस 'अनहद बाजे' का सहयोग बतलाया जाता है—

"जब अनहद बाजा बाजै, तब सांईं संगि बिराजै[2]।"

जो 'अनहद नाद' सुनता है वह काल-भय से मुक्त हो जाता है—

"अनहद कींगुरी बाजी, तब काल द्रिष्टि भै भागी[3]।"

'अनहद' शब्द की झंकारों के साथ ही प्रभु-सामर्थ्य का साक्षात्कार होता है—

"अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार[4]॥"

अनहद के आविर्भाव के लिए कबीर 'कुंभक' की आवश्यकता तो मानते ही हैं साथ ही चन्द्र-सूर्य मिलन की आवश्यकता भी समझते हैं—

"ससि हर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा[5]।"

इस प्रकार कबीर ने 'अनहद' या 'अनाहद' शब्द को अपनी सहज-साधना का प्रमुख अंग माना है।

२. **सुरति और निरति**—सुरति शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक विवाद की वस्तु बनी हुई है। विद्वानों ने उसको अपने-अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। कोई इसको तत्सम् मानता है और कोई तद्भव। इसकी व्युत्पत्ति श्रुति एवं स्वरति से मानी जाती है। कोई-कोई इसको विदेशी शब्द 'सूरत' से उद्भूत मानते हैं। जो हो, इस शब्द की अनेकार्थता स्पष्ट है अन्यथा इतने शब्दों में इसके मूल को खोजनेकी आवश्यकता न होती। यह अर्थ-विकास साहित्य के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्त्व का है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर-वाणी में इस शब्द को पर्याप्त आदर मिला और कबीर-पंथ में 'सुरति-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०-१५९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६-१७३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८८-२९४
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९९, पद १८
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४६-१७३

कमल' एवं 'सुरति-शब्द-योग' जैसे शब्दों का विकास हुआ। इससे स्पष्ट है कि संत-साहित्य ने 'सुरति' के सम्मान को क्षीण न होने दिया।

कुछ लोग 'सुरति' शब्द को सिद्धों की वाणी में खोजते हैं और इस दशा में वे अपनी खोज को सिद्ध सरहपा 'सुरअविलास' एवं कण्हपा के 'सुरअबीर' तक ले जाते हैं। जहाँ 'सुरअ' शब्द प्रेम के अतिरिक्त अन्य अर्थ देने में असमर्थ प्रतीत होता है। कबीर का 'सुरति' शब्द सिद्धों के 'सुरअ' की संगति में नहीं बैठ सकता क्योंकि उसका अपना पृथक् अर्थ है। निरति शब्द तो सिद्धों की वाणी में किसी भाव को नहीं मिलता। अतएव सुरति-निरति शब्दों को सिद्धों की वाणी से आया हुआ कहना शब्दों की व्युत्पत्ति के साथ अत्याचार होगा।

कबीर-वाणी का सम्बन्ध नाथ-वाणी से भी रहा है और नाथ-वाणी में उक्त दोनों शब्द मिलते हैं और उनका अर्थ किसी सीमा तक कबीर के शब्दों के अर्थ से मिलता है। पारिभाषिक रूप में तो नाथों और संतों के सुरति-निरति का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। एक प्रश्न में गोरखनाथ अपने गुरु से पूछते हैं—"कौंण मुषि ले तुरिया बंध[1] ?" और मछिन्द्र उत्तर में कहते हैं—"सुरति मुषि बाला तुरिया बंध[2]।" इस उत्तर में 'सुरति' को 'तुरिया' से सम्बन्धित किया गया है। यहाँ दोनों के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है जिसके लिए मछिन्द्र-गोरख के एक दो प्रश्नोत्तरों को और भी देखना होगा—

गोरख—"स्वांमी कौंण मुषि बैठे कौंण मुषि चलै।
कौंण मुषि बोलै कौंण मुषि मिलै॥
क्यूं करि स्वांमी नृभै रहै[3]।"
मछिंद्र—"अवधू सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि चलै,
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै।
सुरति निरत मैं नृभ रहै, ऐसा विचार मछिंद्र कहै[4]।"

इस प्रश्नोत्तर से 'सुरति' के अभिप्राय एवं सुरति-निरति के सम्बन्ध पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने बैठने, चलने, बोलने और मिलने

---

१. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९३-६३
२. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९४-६४
३. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९६-८१
४. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९६-८२

के साथ सुरति का उपयोग बतलाकर उसके अभिप्राय को काफी सरल कर दिया है। साथ ही 'सुरति निरति में नूभैं रहै' कहकर सुरति और निरति के संबंध को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। आगे एक प्रश्न में गोरखनाथ पूछते हैं—

"स्वांमी कौंण सो सब्द कौण सो सुरति।
कौंण सो बंध कौंण सो निरति[1]॥"
"दुबध्या मेटि र कैसै रहैं। सतगुरु होइसु बूझ्यां कहैं॥"

और मछिंद्र समझाकर कहते हैं—

"अबधू सबद अनाहद सुरति सोचित (सुचित)।
निरति निरालंभ लागै बंध।
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै। ऐसा बिचार मछिंद्र कहै[2]॥"

यहां आकर 'निरति' का अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट है। निरति निरालंब अवस्था है और इसके साहचर्य से 'सुरति' का सम्बन्ध सावलम्ब स्थिति से बन जाता है। मछिन्द्र के उत्तर में बैठने, चलने, बोलने और मिलने तक में 'सुरति' पर बल दिया गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'सुरति' ध्यान की स्थिति है जो गोरखनाथ के 'करण बिन कौंण श्रवण[3]' के उत्तर में प्राप्त हुई मत्स्येन्द्रनाथ की वाणी से इस प्रकार समर्थन प्राप्त करती है—

"करण बिन सुरति श्रवण[4]।"

इसका अर्थ है 'कानों के बिना सुरति का सुनना' अर्थात् 'सुरति' कोई श्रवणीय वस्तु है चाहे वह अन्तर्गम्य ही क्यों न हो। अतएव यहाँ 'सुरति' शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रुति' से करनी होगी जिसका अर्थ 'शब्द' (Sound) हो सकता है। 'श्रुति' का अर्थ सुनने की क्रिया (Hearing) भी होता है। इस प्रकार नाथों के 'सुरति-श्रवण' का अर्थ 'अन्तर्नाद' या 'अनाहतनाद' का श्रवण है। इस से यह सिद्ध हुआ कि 'सुरति' 'निरालंब दशा' अर्थात् 'निरति' तक पहुँचने का एक साधन है। सुरति का मार्ग शब्द-ध्यान या शब्द-योग का मार्ग है। अन्तर्ध्वनि पर ध्यान का जम जाना ही 'सुरति' का लक्ष्य है। इससे निरति दशा स्वतः ही

---

१. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९६-८३
२. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९६-८४
३. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९७-८९
४. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९७-९०

प्राप्त हो जाती है। अतएव यह सहज-मार्ग भी है किन्तु सहज-मार्ग और सहजावस्था में भेद है। प्रथम द्वितीय का साधन-मात्र है। अन्तर्ध्वनि पर ध्यान के जम जाने पर ध्वनि के साथ ध्यान भी विलीन हो जाता है और यही नाथों की 'निरति' अवस्था प्रतीत होती है।

नाथों की 'सुरति-निरति' से ही कबीर को इस दिशा में प्रेरणा मिली है और कबीर-वाणी में इन दोनों का परिभाषिक अर्थ भी वही प्रतीत होता है। 'सुरति' मन को खींचने की बड़ी भारी शक्ति है। वह मन को अपने में लीन कर लेती है और इतना लीन कर लेती है कि कबीर विस्मय से कह उठते हैं—

"कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि ?
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निबांणां चालि[1]।"

मन 'सुरति' में लीन होता है और सुरति स्वयं मन को लेकर निरति में विलीन हो जाती है जिसको कबीर भी नाथों की भांति निराधार अवस्था ही मानते हैं—

"सुरति समांणीं निरति मैं, निरति रही निरधार[2]।"

सुरति को कबीर एक प्रकार की प्यास कहते हैं जिसका पेय ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द है जिसको कबीर-वाणी में 'सुधारस, अमृत अथवा महारस'[3] अभिधा भी दी गयी है किन्तु रस योगियों के उस अमृत से भिन्न है जो सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्र से सदा निर्झरित होता रहता है क्योंकि यह रस काया से सम्बन्धित है और कबीर का महारस प्रेम से सम्बन्धित है। इसका संकेत कबीर की इस साखी से मिलता है—

"सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार।
कँवल कुवां में प्रेमरस, पीवै बारम्बार[4]॥"

इस 'कँवल कुवां' को देख कर रस शीघ्र ही रूढ़ चन्द्रामृत के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है जो उचित नहीं दीख पड़ता। 'प्रेमरस', 'चन्द्रामृत' के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४-२२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७६-४१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-१८१

विरोध में अपना ढिंढोरा पीट रहा है। फिर भी यदि कोई न सुने-समझे तो कबीर का क्या दोष है।

कबीर के इस 'सुरति-योग' में 'अजपा' जाप का भी महत्त्वपूर्ण योग है। "जिस प्रकार सुरति निरति में, जाप अजपा में और लक्ष्य अलक्ष्य में समा जाता है उसी प्रकार साधक अपने आप में लीन हो जाता है[1]।" यह 'अजपा' भी योगियों के 'अजपा जाप' से कुछ भिन्न है। हठयोगियों की 'अजपा' की स्थिति ध्यान की स्थिति को स्वीकार करती है किन्तु कबीर की 'अजपा-दशा' निरति-दशा से भी सम्बन्ध रखती प्रतीत होती है। 'अजपा' का विवेचन विस्तार-पूर्वक तो सम्बन्धित टिप्पणी में किया जायेगा किन्तु इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अजपा की एक स्थिति तो वह है जो 'सुरति' के साथ रहती है और दूसरी स्थिति 'निरति' के साथ रहती है। अजपा की ध्यानमयी स्थिति सुरति-दशा में रहती है किन्तु जब निरति दशा में ध्यान भी विलीन हो जाता है तो साधक निरालंब दशा में निमग्न हो जाता है। जिस प्रकार सुरति निरालंब दशा में निमग्न होती है उसी प्रकार 'अजपा' की ध्यान-स्थिति भी निरालंब या शून्य दशा में विलीन होती है जिसको कबीर ने कोई नया नाम न देकर 'अजपा' नाम से ही संकेतित किया है। इस प्रकार वे हठयोगियों के 'अजपा-जाप' से भिन्न एक विलक्षण 'अजपा' की ओर संकेत करते हैं।

कबीर ने 'सूषिम सुरति का जीव न जांणैं जाल'[2] कहकर 'सुरति' की सूक्ष्मता और प्रसृति की ओर भी संकेत किया है। इसीलिए कबीर-वाणी में सुरति का संबंध न केवल निरति या अजपा से है अपितु 'कँवल कुँआ', मन, उलटा पवन, षटचक्र, और अनाहतनाद आदि से भी है। सुरति विलय को प्राप्त हो जाती है, वह निरति में समा जाती है, शून्य में प्रवेश कर जाती है। आदि से सुरति की एक ही अवस्था प्रकाशित होती है। सुरति के संबंध-प्रसार का एक सुन्दर रूप-चित्र कबीर ने इस साखी में प्रस्तुत किया है—

"ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया[3]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२३
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३२-३०३
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६१-२१४

'ल्यौ', 'पवन', 'मन', 'सत' और 'सहज' से सुरति का सीधा संबंध स्थापित करके कबीर ने उसके क्षेत्र का परिचय दिया है।

कबीर के सुरति-शब्द-योग में प्रेम के अंश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कबीर का सुरति-मार्ग प्रेम-सिक्त है। उस पर चलने का आकर्षण प्रेम से हुआ है और गति भी प्रेममय है और अन्त में सुरति का विलय भी प्रेमानंद में होता है। एक सती के रूपक द्वारा कबीर 'सुरति' का प्रेम से संबंध इस प्रकार स्थापित करते हैं :—

"सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह[1] ॥"

कबीर की 'सुरति' की एक विशेष भूमिका है किन्तु वह भी प्रेम-मयी है। भूमिका का निर्माण पांचों ज्ञानेन्द्रियों से प्रारंभ होता है। वे प्रिय के प्रेम में निमग्न हो जाती हैं और उनका स्वामी मन भी उसी प्रेम में डुबकियाँ लगाने लगता है। अभ्यास से नाद का संपर्क पाकर मन की डुबकी गंभीर हो जाती है। वही सुरति है और उसी से 'राम रत्न' की प्राप्ति होती है:—

"पंच संगी पिव पिव करैं, छटा जु सुमिरे मंन।
आई सूति कबीर की, पाया रांम रतंन[2] ॥"

कबीर की वाणी में सुरति-साधना की आवश्यकता पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। कबीर का कहना है कि 'मन बड़ा गाफिल[3] है। वह आसानी से राम के स्मरण में नही लगता। उसको इधर लगाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। उनमें से 'सुरति' भी एक उपाय है। अनाहतनाद में मन को उसी भाँति लगाना पड़ता है जिस प्रकार हरिण अपने मन को बधिक के 'नाद' में लगा कर भया-मय का त्याग कर देता है[4]।'

"पवन के उलटने और षट्चक्र के भेदने की परंपरागत बात करते हुए भी कबीर सुरति को अनुरागविहीन नहीं होने देते। उसमें वे इस शून्य की खोज करने का निर्देश करते हैं जो आने-जाने और मरने-जीने से मुक्त है[5]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-७
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९-१७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६६-६३८
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६

'सुरति' को कुछ लोगों ने 'स्रोत' शब्द से व्युत्पन्न माना है और उसे वे 'चित्त-प्रवाह' का द्योतक मानते हैं किन्तु यह अर्थ किस आधार पर लगाया गया, यह कहना दुष्कर है। इस अर्थ में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द कबीर-वाणी में तो कहीं देखने में नहीं आता। हाँ, इस शब्द के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह 'स्मृति' का बोधक भी है और इस अर्थ में कई स्थलों पर कबीर ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इस अर्थ में प्रयुक्त कबीर के 'सुरति' शब्द के प्रयोग के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं—

"जौ कबहूं उड़िजाइ जंगल में, बहुरि न सुरतैं आनै[1]।"

"तुझ बिन सुरति करै को मेरी।
दर्शन दीजै खोलि किबार[2]॥"

'सुरति' शब्द का प्रयोग कबीर ने कुछ और भी अर्थों में किया है। उनमें से एक अर्थ 'वेद' (श्रुति) भी है, जैसे—

"सुरति सुमृति दोइ कौ बिसवास, बाझि परयौ सब आसा पास[3]॥"

जहां 'सुरति' का अर्थ 'वेद' है वहां इसके साथ 'सुमृति' (स्मृति) शब्द का प्रयोग भी मिलता है। कहीं कहीं सुमृति के स्थान पर सिमृति[4] शब्द भी 'स्मृति' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

'सुरति' शब्द का एक प्रयोग 'रूप' के अर्थ में भी हुआ है, जैसे—

(क) **"मूवा करता, मुई ज करनीं, मुई नारि 'सुरति' बहु धरनी[5]।"**

(ख) **"हक साच खालिक खलक म्यानैं, सो कछू सच 'सुरति' मांहि[6]।"**

कबीर ने 'सुरति' का प्रयोग 'आसक्ति' के अर्थ में भी किया है, यथा—

"बिषिया अजहूं सुरति सुख आसा।
हूंण न देइ हरि के चरन निवासा[7]॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०१-४०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९७-११३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२६-२०२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४६
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११४-८२

'सुरति' का अर्थ आत्मा के प्रति अथवा आत्मरूप के प्रति गहन एवं अनन्य-संबंध-भावना करना भी अनुचित न होगा और इस दशा में इसकी व्युत्पत्ति 'स्व-रति' से करनी होगी। यह आत्मरति परमात्मा-रति से भिन्न नहीं है। मन को आत्मसात् करने वाली 'सुरति'[1] जीवात्मा की प्रतीक बनकर उस दुलहिन का रूप प्रस्तुत करती है जो परमात्मा से मिलने के लिए—अपने आप में ही परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए—आतुर हो नाम-स्मरण के संबल और अनाहतनाद के वाहन के साथ प्रयाण करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथों से चला हुआ 'सुरति' शब्द, जिसकी व्युत्पत्ति के लिए 'श्रुति' ही उपयुक्त शब्द प्रतीत हुआ है, कबीर की वाणी में आकर एक नवीन साँचे में ढल गया जिसमें नाथों के अर्थ—श्रुति—के साथ 'स्मृति' (स्मरण) और 'स्वरति' अर्थ भी संनिविष्ट हो गये। इस प्रकार कबीर का सुरति-शब्द-योग एक ऐसी साधना है जो नाथों की सुरति-साधना से कहीं अधिक प्रौढ़, समर्थ एवं व्यापक है क्योंकि इसमें मन के गढ़ पर नाद-पथ के अतिरिक्त अन्य पथों से भी एक ही साथ धावा किया गया है। तीनों अर्थों को एक साथ लेकर ही कबीर के 'सुरति' शब्द तक पहुँचा जा सकता है, कोई एक अर्थ पूर्ण तात्पर्य को व्यक्त नही कर सकता।

३. **खसम**—कबीर की वाणी में प्रयुक्त 'खसम' शब्द अध्ययन का एक रोचक विषय है। कबीर-ग्रन्थावली में इस शब्द का प्रयोग करीब २६ स्थानों पर हुआ है और तीन प्रमुख अर्थ देता हुआ दिखायी पड़ता है—पति, स्वामी तथा ब्रह्म या परमात्मा। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अपने-अपने मत हैं। कुछ विद्वान इसको तत्सम शब्द मान कर ख (आकाश) + सम (वत् या समान) अर्थात् आकाशवत् या आकाश के समान् अर्थ करते हैं और इसे कुछ अरबी से आया हुआ मानते हैं। अरबी में 'खस्म' शब्द का अर्थ शत्रु या विरोध करने वाला होता है। कबीर के प्रयोगों में ये दोनों अर्थ ही प्रायः नहीं मिलते। अतएव यह एक प्रश्न है कि कबीर की वाणी में 'खसम' शब्द ने अर्थ कहां से ग्रहण किये।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि "जब यह शब्द कबीरदास तक पहुंचा तबतक उससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द 'खस्म' (पति) भारतवर्ष की सीमा में पहुंच चुका था। अतएव कबीरदास को यह शब्द दो

---

१. आत्म स्वरूप

मूलो से प्राप्त हुआ। हठयोगियों के मध्य से यह आत्मा के शून्य चक्र में पहुंच कर समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति के अर्थ में[1]।" पहले अर्थ में यह गगनोपम का भाव धारण करता है। "कबीरदास ने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसम-भाव को सामाजिक आनन्द ही माना है, बड़ी चीज तो सहज समाधि है जिसके लिए न डडे की जरूरत है, न कंथा की, न मुद्रा आवश्यक है न आसन। यही कारण है कि खसम का अर्थ सब समय उन्होंने निकृष्ट पति' समझा। × × × खसम वह पति है जो अपनी पत्नी को वश न कर सके और इन्द्रियों के दास मन को भी; इसलिए कबीरदास ने कभी-कभी खसम कहा है। × × टीकाकारों और भक्तों ने अपनी उर्वर कल्पना के बल पर इस शब्द का अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है। × × मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ़ थे और उन्होंने जान-बूझ कर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है। उद्देश्य योगियों की कचाई बताना था[2]।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दो माध्यमों से आये हुए 'खसम' शब्द को कबीर वाणी में एक ही संकेत करते हुए देखते हैं किन्तु टीकाकारों और भक्तों के उल्लेख से उन्होंने 'खसम' के कुछ अन्य अर्थों (जीव, मन और परमात्मा) की ओर भी संकेत किया है।

जहां डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के 'खसम' शब्द को अधिकतर पुरानी परम्परा की ओर झुका हुआ देखते हैं वहां श्री परशुराम चतुर्वेदी उसे अधिकतर अरबी-स्रोत[3] से सम्बन्धित देखते हैं। श्री चतुर्वेदी जी का विचार है कि "सिद्धों ने जहां पर शून्य स्वभाव का मानवीकरण किया है वहां वे 'खसम' शब्द को पतिवत् मानते हुए से भी प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसा स्पष्ट नहीं है[4]।"

---

१. देखिये, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ७७
२. देखिये, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ७७-७८
३. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३८
४. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३८

"'खसम' शब्द संभवतः सर्व-प्रथम सिद्धों की वाणी में मिलता है। ख+सम के समस्त रूप में इसका प्रयोग आकाशवत् के अर्थ में हुआ है[1]।" डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित दोहा-कोष[2] में 'खसम' शब्द के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत टीका के साथ दिये हुए नीचे के उदाहरणों से इस शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

१. चित्त खसम जहि सम-सुह पइट्ठइ।
(इन्दीअ-बिसअ तहि मत्त) ण दीसइ ॥५॥

—तिल्लोपाद

सं० टीका—चित्तं खसमं यदा समसुखं प्रविशति।
इन्द्रिय विषयमात्रं तदा न दृश्यते ॥

२. मणह (अवा) खसम भअवइ।
(दिवारात्ति) सहजे राहि अइ ॥१७॥

—तिल्लोपाद

सं० टीका—मन एक भगवान् खसमः भगवती।
दिवारात्री सहजे योजयितव्ये ॥

इसी अर्थ में सिद्ध सरहपाद के दोहों में प्रयुक्त 'खसम' शब्द को देखिये—

३. अक्खअ अच्चेय परमं पहु खसम महासुह णाह।
जो आवाअ अचित्त वि तत्सच्चक्खु करेह ॥११॥

—सरहपाद

सं० टीका—अक्षयं अचेयं परमपदं खसमं महासुखं नास्ति (नाथ)
यत् अवाच्यं अचित्तमपि तस्य दर्शनं क्रियताम् ॥

४. जत्त विचित्तहि विप्फुरइ तत्तवि णाह सरूअ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरूअ ॥७२॥

—सरहपाद

सं० टीका—यदपि चित्ते विस्फुरित तदपि नाथस्वरूपम्।
अन्यस्तरंगः किम् अन्यत् जलं भवसमं खसमस्वरूपम् ॥

---

१. देखिये, हिन्दुस्तानी, पृष्ठ ३२ (भाग १९, अंक ४, अक्तूबर-दिसम्बर १९५८)

२. दोहा कोष—पी० सी० बागची, भाग १, मेट्रॉपोलिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लि०, १९३८

५. सत्वरुअ तहिं खसम करिज्जइ।
खसम–सहावें मण वि धरिज्जइ ॥
सो वि मणु तहि अमणु करिज्जइ।
सहज-सहावे सो परु–रज्जइ ॥७७॥

—सरहपाद

सं० टीका—सर्वरूपं तस्मिन् खसमं क्रियते।
खसम-स्वभावे मनोऽपि ध्रियते।
तदपि मनस्तस्मिन् अमनः क्रियते।
सहज स्वभावे स परं रज्यते ॥

सभी उपर्युक्त प्रसंगों में 'खसम' शब्द संस्कृत के ख+सम का ही समस्त रूप सिद्ध होता है। सिद्धों ने निर्विकल्पक समाधि को 'खसम' शब्द से व्यक्त किया है। यह शब्द उनके शून्य तत्त्व का द्योतक है। कबीर ग्रन्थावली में इस अर्थ में यह शब्द कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता। संभवतः कबीर ने इसी को परमात्मा के अर्थ में विकसित किया हो। इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि सिद्धों के इस शब्द में गगनोपम शून्यता की भावना निहित है किन्तु कबीर के शब्द में निकट सम्बन्ध की भावना निहित है। अतएव सिद्धों का खसम (शून्य-वत्) ही कबीर का खसम (ब्रह्म, परमात्मा) हो गया हो तो आश्चर्य नहीं।

कबीर ने 'खसम' शब्द का प्रयोग दो अन्य अर्थों में भी किया है—एक स्वामी, नाथ या मालिक के अर्थ में और दूसरे पति के अर्थ में। पति के अर्थ में प्रयुक्त 'खसम' शब्द का आविर्भाव अरबी के 'ख़स्म' शब्द से हुआ है। फारसी में भी यह शब्द अपने मूल अरबी अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। कबीर के समय तक यह शब्द भी भारत में प्रचलित हो गया होगा, यह कल्पना भी असंगत नहीं है। भारत में आकर इस शब्द ने यहाँ के अनुरूप अर्थ विकसित कर लिया। आज यह इतना घुलमिल रहा है कि जनसाधारण में भी इसका प्रचलन है। फलस्वरूप ग्रामीण नर-नारियों की भाषा में भी इस प्रकार प्रयुक्त दीख पड़ता है—

(१) जा खसम कूं लै आ। गु मोइ कोल्हू म पेरि देगो।

—ब्रजभाषा

(२) थांनें थारे खसम री सौगन है।

—मारवाड़ी

"यह शब्द 'खसम' हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू का अंग होकर अनेक सामान्य एवं रोचक लोकोक्तियों का भी आधार बन चुका है। उदाहरणार्थ :—

(१) **औरत का खसम मर्द और मर्द का खसम रोज़गार ।**

(२) **एक जोरू की जोरू एक जोरू का खसम ।**
एक जोरू का सीस फूल एक जोरू की पशम ।।

(३) **जोरू खसम की लड़ाई क्या ?**

(४) **जोरू ने मारा खसम को कोई दौड़ियो रे ।**

इन सब वाक्यों में 'खसम' का अर्थ पति रहा है किन्तु 'खेती खसम सेती' में 'खसम' शब्द 'स्वामी' अर्थ का द्योतन करता है[1] ।"

पंजाबी और गुजराती में भी 'खसम' शब्द पति के अर्थ में प्रयुक्त होता है । बंगला में इसका स्वामी अर्थ ही अधिक प्रचलित रहा है । टर्नर ने इस शब्द को पालि में स्वामी एवं पति के लिए प्रयुक्त हुआ बतलाया है । अनेक संदर्भो से यही प्रतीत होता है कि पति के अर्थ में यह शब्द मूलरूप में अरबी भाषा से ही आया है ।

इसमें तो कोई सन्देह हो नही है कि इस शब्द का अर्थ-विकास हुआ है । इस शब्द का प्रयोग फारसी में भी हुआ किन्तु अरबी के अर्थ को ही लेकर। फिर भी कुछ फारसी के कवियों ने इसका प्रयोग मालिक या स्वामी के अर्थ में भी किया है । अर्थ का यह विकास फारसी में ही हो गया अथवा भारतीय भाषाओं मे हुआ, यह एक मार्मिक एव महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । मै समझता हूँ इस शब्द ने अपने इस अर्थ का विकास फारसी में ही कर लिया होगा और फारसी के साथ विकसित अर्थ भारतीय भाषाओं में भी आ समाया ।

प्रसिद्ध फारसी-कवि हकीम सनाई के 'ख़स्म'-प्रयोग में स्वामी या मालिक का अर्थ स्पष्टतया झलक रहा है । देखिये :—

(क) "**ख़ाना रा गोर साज़ ओ दिल रा ख़स्म,**
दरो-दीवार ख़ाक ओ गुल रा ख़स्म[2] ।"

---

१. देखिये, हिन्दुस्तानी, भाग १६, अंक ४, अक्तूबर-दिसम्बर, १६५८

२. देखिये, बहारे अजम—मुन्शी टेकचन्द बहार, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृष्ठ ३७१

अर्थ—घर को कब्र बनालो और मन को ख़स्म।
मिट्टी कीचड़ से बने दर्वाजे, दीवारों को ख़स्म बनालो ॥

इस प्रकार फारसी-हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने ख़स्म शब्द का प्रयोग स्वामी या मालिक के अर्थ में किया है—

(ख) "**चू अज़ दिल रफ्त शीरीं जान चह् बाशद।**
चू ख़स्म ख़ाना शुद मेह्मान चह् बाशद[१] ।।"

अर्थ—जब घर का ख़स्म (स्वामी) ही चला गया तो फिर मेह्मान की क्या बात ?

इन उदाहरणों से व्यक्त है कि उपर्युक्त उदाहरणों मे 'ख़स्म' शब्द शत्रु के लिए नहीं, स्वामी के लिए व्यवहृत हुआ है। यही शब्द भारतीय भाषाओं में 'खसम' बन गया। इस प्रकार जो शब्द अपने मूल अरबी रूप में शत्रु, अशक्त, हीन, नीच, कुजाति, गुणहीन, असम, विपक्षी एवं विरोधी का बोधक था वही भारत में फारसी के माध्यम से स्वामी का अर्थ-बोध कराने लगा। स्वामी के साथ इसने पति का अर्थ भी धारण कर लिया। भारतीय भाषाओं में ऐसे और भी कई शब्द हैं जो एक ही साथ स्वामी और पति, दोनों का बोध कराते हैं। धनी[२] शब्द उनमें से एक है। धनी शब्द स्वामी या मालिक के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार नाथ शब्द भी धनी के दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार कबीर-वाणी में 'खसम' शब्द का प्रयोग प्रमुखतया तीन अर्थों में हुआ है—(१) पति के अर्थ में, (२) स्वामी या मालिक के अर्थ में तथा (३) परमात्मा या ब्रह्म के अर्थ में। नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से इस उक्ति की पुष्टि हो सकती है—

१. 'पति' के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

(क) "भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुरु गुरू बताइया, पूरि बला भरतार[३] ॥"

---

१. देखिये, बहारे अजम—मुन्शी टेकचन्द बहार, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ पृष्ठ ३७१

२. गोरख-वाणी, पृष्ठ २५५-१६

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६०-३

(ख) "एक सुहागनि जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
सम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै[1] ॥"

(ग) "खसम मरै तौ नारि न रोवै, उस रखवारा औरो होवै[2] ॥"

(घ) "गई बुनावन माहौ। घर छोड़यो जाइ जुलाहो।"

× × ×

दिन की बैठ खसम की बरकस इह बेला कत आई।
छूटे कूंडे भीगै पुरिया चल्यो जुलाहो रिसाई[3] ॥"

(ङ) "जोइ खसम है जाया।
पूत बाप खेलाया। बिन रसना खीर पिलाया[4] ॥"

२. 'स्वामी' के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

(क) "गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै,
'खसम' लियै कर डोरी डोलै[5] ॥"

(ख) "अढ़ाई में जे पाव घटै तौ, करकस करै बजहाई।
दिन की बैठि खसम सूं कीजै, अरज लगी तहांही[6] ॥"

(ग) "उपजै सहज ग्यान मति जागै, गुर प्रसादि अंतर लव लागै।
इहु संगति नाहीं मरणा, हुकम पिछाणि ता खसमै मिलणा[7] ॥"

३. 'परमात्मा के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

(क) "आपै पावक आपै पवना। जारै 'खसम' त राखै कवना[8]।"

(ख) "कहु कबीर अक्खर दुई भाखि।
होइगा खसम त लेइगा राखी[9] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २११-३७०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८०, पंक्ति १२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८१-१६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९३, पंक्ति ३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७-९१
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५३-१९३
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७४-३२
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१, पंक्ति २०
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६९, पंक्ति २३

(ग) **"जो जन लेहि खसम का नाऊ,**
तिनकै सब बलिहारै जाऊं।"

उपर्युक्त तीन अर्थों में दो अर्थ ही ध्यानपूर्वक देखने योग्य हैं—एक 'पति' और दूसरा 'नाथ' प्रभु या परमात्मा। 'पति' अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग किसी नारी-वाचक शब्द के साथ हुआ है। जैसे—

"खसम मरै तौ नारि न रोवै[1]।"

पति-वाचक 'खसम' के साथ नारी-वाचक शब्द न होने पर भी कभी-कभी अर्थ वही रहा है किन्तु क्रिया नारी-वाचक अर्थात् स्त्रीलिंग बोधक अवश्य रही है, जैसे—

"भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।"

यहाँ 'भूली' क्रिया से 'खसम' शब्द का अर्थ पति के सिवा कोई दूसरा नहीं हो सकता।

दूसरा अर्थ नाथ या स्वामी है जो परमात्मा का भी बोध कराता है; जिस प्रकार 'नाथ', 'स्वामी', 'मालिक' आदि शब्द 'पति' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। अतएव 'खसम' शब्द के कहीं-कहीं ये दोनों अर्थ भी एक ही साथ लग सकते हैं, जैसे—

"धीरौ मेरे मनवा तोहि धरि टांगौं,
तैं तौ कीयौ मेरे खसम सूं षांगौं[2]॥"

इस प्रकार कबीर द्वारा प्रयुक्त 'खसम' शब्द पति और नाथ या स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त होकर तीन अर्थों का बोधक बन गया है। 'नाथ' अर्थ में 'खसम' ने 'स्वामी' और 'परमात्मा' दोनों में प्रवेश कर रखा है।

कुछ विद्वानों ने 'खसम' शब्द को 'जीव' और 'मन' के अर्थ में भी प्रयुक्त माना है। मैं समझता हूँ कबीर ने इन अर्थों में 'खसम' का प्रयोग शायद ही कहीं किया हो, यों तो 'खसम' शब्द प्रतीक-रूप में हमारी बुद्धि के चंगुल में फँसा कर कोई भी अर्थ-ध्वनि उत्पन्न कर सकता है, किन्तु उसका बेसुरापन छिप नहीं सकता।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८०, पंक्ति १२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६०-२१३

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कह देना समीचीन ही होगा कि कबीर का 'खसम' शब्द संस्कृत का खसम (ख+सम) नहीं है वरन् अरबी भाषा का खसम है जिसने फारसी में अपने अर्थ का विकास कर लिया था और जिसको भारतीय भाषाओं ने फारसी से 'पति' या स्वामी के अर्थ में ग्रहण कर लिया। स्वामी के अर्थ का द्योतन करता हुआ 'खसम' शब्द परमात्मा का बोध कराने में भी समर्थ सिद्ध हुआ है।

४. **उनमन : उनमनी**—कबीर की बाणी में उनमन या उनमनि (उनमनी) शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है और इस शब्द को, ऐसा दीख पड़ता है, कबीर ने बहुत महत्त्व दिया है। कभी उनका मन 'उनमन' से लग जाता है, कभी 'उनमन' और मन अभिन्न हो जाते हैं और कभी 'अंडे'[1] के समान मन को 'उनमन' कर देते हैं। कभी-कभी कबीर का मन 'उनमनि' में चढ़कर एवं मग्न होकर रसपान करता है और कभी 'घट-भीतर' 'उनमनी' ध्यान प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार कबीर की बाणी में 'उनमन' या 'उनमनी' के विविध प्रयोग पाठक के मन को अपनी भूल-भुलैयों में डाल कर खींच ले जाते हैं और कुछ क्षण तक पाठक सोचता रह जाता है कि यह 'संज्ञा' विशेषण कैसे बन गयी अथवा 'उनमन' में मन कैसे विलीन हो गया। कभी इस सोच में पड़ जाता है कि 'उनमनी' ऐसी क्या चीज है जिसपर मन चढ़ जाता है। सच तो यह है कि कबीर की माया विचित्र है और उनकी अशिक्षितता ने उसे और भी विचित्र बना दिया है। इसीलिये व्याकरण के घाट से हम कबीर के रहस्यों को नहीं देख सकते। भाषा उनके लिए गौण वस्तु थी और अनुभूति-प्रकाशन प्रधान। अनुभूति किस माध्यम से कैसे प्रकाशित हो रहा है, कबीर को इसकी चिन्ता नहीं है। इसकी चिन्ता उनकी भाषा को स्वयं रही होगी, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कबीर की भाषा बड़ी मस्त है, वह उन्मुक्त है। उसपर किसी प्रकार का भार या बन्धन नहीं है। इसीलिए मात्राएं एक दूसरी के साथ समझौता कर लेती हैं, संज्ञा और विशेषण भी मिलकर अपनी स्थिति समझ-समझा लेते हैं। उक्त प्रयोगों में भी इसी तथ्य का दर्शन होता है।

---

१. कहते हैं कि एक पक्षी विशेष उड़ते-उड़ते आकाश में अंडा देता है जो शीघ्र ही फूट जाता है और बच्चा ऊपर को उड़ जाता है।

जिस प्रकार और भी कई पारिभाषिक शब्दों का स्रोत नाथों की शब्दावली में खोजा जाता है उसी प्रकार 'उनमन' और 'उनमनी' या उन्मनि का स्रोत भी नाथ-वाणी में ही खोजा जा सकता है। यदि 'गोरख-बानी' में नाथ परम्परा निहित है तो उसीमें इस शब्द का स्रोत दिखायी दे जाता है। 'गोरख-बानी' में पृष्ठ १५६ पर 'सिष्या दरसन' शीर्षक के अन्तर्गत 'उनमनी अवस्था' शब्द आया है जहाँ 'उनमनी' अवस्था का विशेषण है। हठयोग प्रदीपिका में इस अवस्था के लिऐ 'उन्मनी' एवं 'मनोन्मनी' शब्द का प्रयोग किया है। 'उन्मनी' शब्द का प्रयोग देखिये :—

"तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्व योगं मनोयुजन्नुन्मनीकारकः क्षणात्[1]॥"

तथा मनोन्मनी शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

"मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्य प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी[2]॥"

गोरखबानी में एक स्थान पर 'उनमनी जोग' कह कर उस 'उन्मनी' या मनोन्मनी अवस्था की ओर ही सकेत किया गया है :—

"छठैं छमासि काया पलटिबा,
तब उनमनी जोग अपारं[3]॥"

एक स्थान पर गोरखबानी में ही 'उनमनी लागंत ताली[4]' कह कर उसमें 'लय' का खोज की गयी है। वह साधक जो 'उनमनी' को धारण करता है 'उन्मन' कहलाता है, जैसे—

"अनहद सूं मन उनमन रहै,
सो संन्यासी अगम की कहै[5]।"

उक्त वाणी से यह भी स्पष्ट है कि 'उनमनी' अवस्था का सम्बन्ध 'मन' और 'अनहद' से है। जब अनाहत नाद मन को खींच कर अपने में लीन कर लेता है तभी उनमनी अवस्था की अनुभूति होती है—

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-३६
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-४०
३. गोरखबानी, पृष्ठ १६-५२
४. गोरखबानी, पृष्ठ ३२-६०
५. गोरखबानी, पृष्ठ ३६-१०३

"दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा,
सबदें उलटि समांनां ।"

उनमन साधक ही निरंजनत्व को प्राप्त करता है। इसी तथ्य को गोरख-बाणी में पुष्ट करते हुए कहा गया है—

"यहु मन ले जै उनमन रहै।
तौ तीनि लोक की बातां कहै ॥"

एक और स्थान पर गोरखबानी में मन, उनमनी, और पवन का सम्बन्ध एक रूपक द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"उनमनी डांडी मन तराजू, पवन किया गदियांना ।
आपै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोनां सहज समांनां[२] ॥"

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उनमन' और 'उनमनी' शब्द नाथों की टकसाल के सिक्के हैं। कबीर ने नाथों के उक्त दोनों शब्दों को उन्हीं के अर्थ में प्राय: प्रयुक्त किया है। गोरखबानी में 'उनमनी तालो' या 'उनमनी जोग' की बात कही गयी है उसी प्रकार कबीर ग्रन्थावली में 'उनमनी ध्यान[३]' का उल्लेख किया गया है। गोरखबानी में 'उनमन' शब्द साधक के साथ प्रयुक्त हुआ है और कबीर ने उसको 'मन' या 'मनुवा' के साथ लगा दिया है। साधक मन से अभिन्न होने के कारण अर्थ में विशेष अन्तर आने की बात प्रस्तुत नहीं होती। कबीर का 'उनमन' का प्रयोग देखिये—

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देखा, रांम नांम लिव लागी[४] ॥"

यहाँ 'उनमन मनुवा' का तात्पर्य 'ध्यान-मग्न मन' से है और यह अर्थ परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। 'उनमनी' शब्द भी अपने साथ एक परम्परा लाया है और अवस्था का ही द्योतन करता है, जैसे—

"उनमनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा[५] ॥"

---

१. गोरख-बाणी पृष्ठ ६२-८
२. गोरख-बाणी, पृष्ठ ६२-५
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६४, पंक्ति ७-८
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१-६१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०-७२

'उनमन' साधक का मन उसके वश में होकर उससे अभिन्न हो जाता है और साधक की स्थिति 'निरालंब' मन में हो जाती है। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'स्थिर मन', 'सहज भाव' और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव को कबीर इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूण बिलगा पांणियां, पाणीं लूंण बिलग[1] ॥"

हठयोग प्रदीपिका में भी इस स्थिति का वर्णन समान रूप से किया गया है। तत्त्व में विलीन मन अथवा मन में समाये हुए तत्त्व की स्थिति को हठयोग-प्रदीपिका में इस प्रकार दिया गया है—

"कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते[2] ॥"

'मन लागा उनमन सौं' को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कबीर का 'उनमन' कोई मन से भिन्न वस्तु या अवस्था है। वास्तव में 'उनमन' मन से अलग कोई वस्तु या अवस्था नहीं है, अपितु मन की ही एक अवस्था है। मन की 'निर्वाण दशा' ही 'उनमनी' अवस्था है। मन के माध्यम से कबीर ने 'उनमनी' को इस प्रकार समझाया है—

"कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निबांणां चालि[3] ॥"

पहली पंक्ति में उनमनी अवस्था में मन की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न है और दूसरी पंक्ति में उसका उत्तर है। जो दशा प्रलय जल में 'डूंगर' की हो सकती है वही उनमनी अवस्था में मन की होती है। जल में डूंगर की सत्ता रह सकती है किन्तु 'उनमनी में मन विलीन हो जाता है और उसके विलीन होते ही अपना सहज स्वरूप प्रकट हो जाता है—

"इस मन कौं बिसमिल करौं, दीठा करौं अदीठ[4] ।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१६
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-५६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८-६

जब यह मन 'उनमन' हो जाता है तब रूप-रेखा एवं वेश का विगलन हो जाता है—

"जब थें इन मन उनमन जांनां,
तब रूप न रेख तहां ले बांनां[1] ॥"

तन-मन का भेद विगलित होकर अकथनीय अनुभवावस्था का आविर्भाव ही उनमनी अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा का विलय हो जाता है। इस अवस्था का संकेत कबीर इन शब्दों में करते हैं—

"तन मन मन तन एक समांनां,इन अनभै मांहिं मन मांनां।
आतमलीन अषंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांहि समांनां[2] ॥"

कबीर 'उनमनी' को मन की 'उलटी' चाल मानते हैं और इसी कारण 'उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं[3]' का निर्देश करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर के 'उनमन' एवं 'उनमनी' शब्द नाथों के प्रयोग हैं और उनको कबीर ने प्रायः उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। मन अपनी उलटी चाल से 'उनमन' होता है। जो मन अपनी सामान्य गति से नामरूपात्मक प्रपंच की सृष्टि करता है वही उलटी चाल चलकर सबको अपने में विलीन कर लेता है।

इस शब्द को फारसी के 'ऊमनम्' शब्द का रूपान्तरण मान लेने से कबीर के पहले की परंपरा की उपेक्षा हो जाती है। उत्+मन से बना हुआ 'उन्मन' शब्द जिसको नाथों ने 'उनमन' के रूप में प्रयुक्त किया, कबीर की वाणी में भी वही अर्थ दे रहा है। संस्कृत शब्द 'उन्मनी' मनोविलय की उसी अवस्था की सूचना देता है जिसको 'मन का उलटना' सूचित करता है। नाथों का कहना है कि मन-पवन को 'उनमनी' में धारण करने से ही योगी तत्त्वसार प्राप्त कर सकता है—

"मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी ततसार[4]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५८-२०३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५-१७०
४. गोरखबानी, पृष्ठ १३-३४

यह ठीक है कि कबीर की 'उनमनी' अवस्था आनन्दप्रधान है किन्तु इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने यह शब्द फारसी भाषा से लिया है, अपितु यही कहना उचित है कि उनके भक्ति-रस की प्रधानता ने योग और ज्ञान को प्रधान नहीं बनने दिया।

'उनमन' को 'ऊमनम्' से व्युत्पन्न मान लेने पर 'उनमनी' अवस्था में 'सोऽहमस्मि, का समावेश तो हो जाता है किन्तु इसमें निरति अवस्था को समाविष्ठ करने की क्षमता नहीं दिखायी पड़ती। कबीर की उन्मनी अवस्था में सोऽहमस्मि से लेकर निरति तक की स्थिति का समावेश हो सकता है। इस दृष्टि से योगी की अन्तिम स्थिति 'सर्वावस्थाविनिर्मुक्त'[1] होती है। 'सोऽहमस्मि' वृत्ति का क्षेत्र सुरति की सीमा से बाहर नहीं है किन्तु कबीर की 'उनमनी' का क्षेत्र निरति में भी दिखायी देता है जैसाकि उन्होंने 'उनमन मनुवा सुंन्नि समाना' कह कर अपने ही शब्दों में स्पष्ट कर दिया है।

५. निरंजन—'निरंजन' शब्द का तात्पर्य अंजनरहित है। अंजन का अर्थ विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है। कोई अंजन का अर्थ माया करता है और कोई 'विकार' या 'कलुष' करता है किन्तु इन अर्थों से 'निरंजन' शब्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक दशा में उसका अर्थ 'निर्लेप' एवं 'निर्विकार' हो सकता है। भारतीय दर्शन इस शब्द से भली भांति परिचित है और प्राय: यह निर्गुण ब्रह्म का वाचक है। निरंजन सम्प्रदाय, जिसका प्रचलन उड़ीसा और राजस्थान में अबतक है, 'निरंजन' की उपासना करता है।

योग के ग्रन्थों में भी निरंजन का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। नाथ पन्थ 'निरंजन' से अच्छी तरह परिचित है। हठयोग प्रदीपिका ने इस शब्द का प्रयोग शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त ब्रह्म के लिये किया है। नाथपन्थी निरंजन में 'ल्यौ'[2] लगाने की बात कहते हैं। बंगाल में यह शब्द किसी समय धर्म सम्प्रदाय में 'धर्मराज' का ही वाचक-सा लगता था[3]। सिद्ध-साहित्य तक में निरंजन के प्रयोग मिलते हैं किन्तु उनके शून्य ने इसको बहुत प्रभावित किया है और वह प्रभाव निरंजन के साथ नाथ-वाणी में भी चला आया है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१-९१
३. देखिये, गोरखबानी, पृष्ठ ९८-२०७
४. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २४४

कबीर का निरंजन 'सत्य स्वरूप' है जिसकी परम्परा उनको नाथों से मिली है। अंजन में निरंजन की भेंट निरंजन की सत्ता की स्पष्ट घोषणा है—

"अंजन माँहि निरंजन भेटया, तिल मध भेटया तेलं।
मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरंतरि खेलं[1] ॥"

कबीर इस 'निरंजन' को अखंड एवं व्यापक मानते हैं। इसकी गति शरीर और मन दोनों में है—

"अकल निरंजन सकल सरीरा।
तन मन सौं मिल रह्या कबीरा[2] ॥"

वह जन्म-मरण से मुक्त है और किसी भी विकार को प्राप्त नहीं होता[3]। कबीर का 'निरंजन' शब्द स्वरूप भी है और 'राम' को वे उसी का प्रतीक मानते हैं। स्पष्ट है कि कबीर का 'राम' किसी सगुण, साकार एवं असीम की ओर इंगित नहीं करता। कबीर निरंजन की सत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु उसके साथ किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उसके सिवा और कुछ नहीं है। वह निराधार एवं निरालंब है। इसीलिये उनकी ओर से 'तहां कुछ आहि कि सुन्यं[4]' प्रश्न है जो केवल निरंजन की अद्वैतता की सूचना देता है। निराकार, निर्विकार एवं निर्लेप निरंजन का एक निश्चयात्मक शब्द-चित्र कबीर के ही शब्दों में देखिये—

"गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं, मुद्रा नहीं माया[5] ॥"

निरंजन या रांम की सत्ता और व्याप्ति का उल्लेख करते हुए कबीर ने उसकी विलक्षणता का परिचय बड़ी सावधानी से दिया है। "वह न वेद में है न भेद में, न पाप में है न पुण्य में, न ज्ञान में है न ध्यान में, न स्थूल में है न सूक्ष्म में, न वेष में है न याचना में, और वह न बाल है न अबाल। वह लोक-

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ २१७-४१

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४-४६

३. **"जामै मरै न संकुटि आवै।"**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४८

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३-१६४

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२१६

प्राप्य नहीं है। वह एक अनुपम तत्त्व है[1]।" कबीर ने प्रेम की धरा पर भी निरंजन का मूल्य आँकने का प्रयत्न किया है। अंजन निरंजन को प्राप्त नहीं कर सकता। असत् एवं स्थूल अंजन सत्य और सूक्ष्म निरंजन से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। निरंजनाभिमुख मन ही निरंजन को प्राप्त कर सकता है। जबतक मन का अंजन से कोई सम्बन्ध रहता है वह निरंजनरूप प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता। सच तो यह है कि अंजनमुक्त मन ही तद्रूप हो जाता है। इस तद्रूपता को प्राप्त करने के लिए कबीर मन का प्रेम-सिंचित होना आवश्यक समझते हैं। माया उस प्रेम की पावनता को ही नष्ट नहीं करती अपितु प्रेम को रसित भी नहीं होने देती। इसीलिए कबीर माया का दृष्टि-स्पर्श भी विष-तुल्य समझते हैं—

"तुम घरि जाहु हमारी बहनां, बिष लागैं तुम्हारे नैंनां।
अंजन छांड़ि निरंजन रात, नां किसही का दैनां[2]॥"

निरंजन का निवास मन की स्थिरता में होता है। उसको कबीर आनंद-स्वरूप मानते हैं और उसको प्राप्त करने वाला मन भी तद्रूपता के कारण आनंद-स्वरूप ही हो जाता है।

लोग माया के इस प्रपंच-प्रसार को ही निरंजन रूप में देखने लगते हैं। यह भूल है। निरंजन इससे भिन्न एवं विलग है। यह सब विस्तार अंजन का है जिसकी उत्पत्ति ओंकार से हुई है। अंजन को छोड़ कर निरंजन को प्रेम करने वाले बिरले लोग ही होते हैं[3]। और तो और कबीर तो योग, ध्यान, तप आदि को भी विकार बतलाते हैं अतएव उनका समावेश भी अंजन के अन्तर्गत ही होता है। अंजन की कसौटी उत्पत्ति और विनाश है और जो उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता वह निरंजन है। निरंजन सर्वव्यापक सत्य है[4]। वह अकल एवं पूर्ण है जिस प्रकार अंजन बन्धन है उसी प्रकार निरंजन मुक्ति है—

"अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु बिचार।
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई[5]॥"

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६२-१६३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३८
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३७

निरंजन का कोई स्वरूप नहीं है। वह निराकार और असीम अपने ही स्वरूप का है। किसी भी अन्य स्वरूप की कल्पना उसके रूप के सम्बन्ध में करना केवल भ्रम को जन्म देना है। इसलिए कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं—

"निज सरूप निरंजनां, निराकार अपरंपार अपार।
रांम नांम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार[1] ॥"

'झूठे' में उलझ कर 'सच्चे' को देखना असंभव है[2]। वह अनुभव ही से प्राप्त हो सकता है और अनुभव के लिये कबीर परिचय और प्रेम[3], दोनों की आवश्यकता समझते हैं।

जीवितावस्था में इस जगत् में कैसे रहना चाहिये, यह भी एक प्रश्न है? इस सम्बन्ध में कबीर मानों उत्तर देते हैं, 'जीवन्मृत होकर रहना चाहिये।' इसीको वे अंजन में निरंजन होकर रहना कहते हैं। जो इस प्रकार रहता है वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

"जीवत मरै मरै फुनि जीवै, ऐसे सुन्नि समाया।
अंजन माँहि निरंजन रहियै बहुरि न भवजल पाया[4] ॥"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर का 'निरंजन' निर्विकार, निराकार, असीम आदि का बोधक होता हुआ एक ही साथ सत्य, शब्द, प्रेमोपास्य, मुक्ति, शक्ति, विलक्षणता आदि का भी बोध कराता है। धर्म-भेद मिटाने के लिए 'अल्लह' और 'राम' दोनों को कबीर ने 'निरंजन' शब्द से अभिहित करके धर्म को कृत्रिम एवं अंजन ही माना है। निरंजन का प्रयोग कबीर ने प्रायः संज्ञा के रूप में ही किया है। कुछ स्थानों पर उन्होंने निरंजन का प्रयोग 'राम' और 'अल्लह' के साथ भी किया है जैसे:—

"राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे[5] ॥"

किन्तु 'निरंजन' का प्रयोग विशेषण के रूप में भी हुआ है। विशेषण

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२७ पंक्ति ८-९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३५, पंक्ति २३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८१, पंक्ति १९
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१, पंक्ति ११-१२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३६

केवल 'अल्लह'[1] का ही नहीं है, मन का भी है और इस अवस्था में वह बहुत रोचक हो गया है—"वह मन निर्मल होकर निरंजन बन गया है जिसको सनक सनन्दन, जयदेव, नामदेव आदि भक्त तक नहीं जान पाये। जिसकी गति का परिचय शिव, ब्रह्मा, नारद आदि को भी प्राप्त नहीं हो सका और न ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शेष आदि ही शरीर के भीतर जिसका अनुभव कर सके और जिसका थोड़ा-सा भेद यदि किसी को मिल सका तो केवल गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द को जो उसके साथ आनन्दित रहा करते थे। वह मन शरीर में पूर्णतः व्याप्त है। उस निरंजन मन में कबीर लीन हो गया है[2]।" इस प्रकार जो मन अंजनरूप में बन्धन बना हुआ था वही निरंजन रूप में मुक्ति स्वरूप हो जाता है।

जो निरंजन है वह अलख भी है। यह शब्द 'अलक्ष्य' से व्युत्पन्न माना जाता है। इसका अर्थ 'अदृश्य' है। अगोचर[3] होने से निरंजन को ही कबीर ने 'अलख' कहा है। अलख को देखने के लिये अनुभव की दृष्टि चाहिये और इस दृष्टि को प्रदान करने में 'सतगुर' का प्रमुख स्थान है—

"माटी खोजत सतगुर भेटया, तिन कछू अलख लखाया[4]।"

कबीर का 'अलख' निरंजन ही नहीं है, अपितु अभेद, अविगत, आनंद-दाता तथा विधाता भी है[5]। विलक्षण बात तो यह है कि जिसको 'अलख निरंजन' कहते हैं वह 'दाता' और विधाता भी है और यहीं उनका प्रेम-सरोवर हिलोरें लेता दिखायी दे रहा है। उनके 'राम' और 'अल्लाह' अलख भी है और सेव्य भी हैं, निरंजन भी हैं और देव भी हैं। विचित्र बात तो यह है कि 'अंजन'

---

१. **'एक निरंजन अलह मेरा।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३८

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६६-३३

३. **'अलख निरंजन लखै न कोई।'**

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३०, पंक्ति १३

४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७२-२४६

५. **'कहै कबीर सरबस सुखदाता, अविगत अलख अभेद विधाता॥'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८६-२६७

में व्याप्त होकर भी वह 'निरंजन' है। उस अलख का स्वरूप आनन्दमय[1] है, उसका आनन्द पराश्रित नहीं है क्योंकि उसके अस्तित्व से पृथक् किसी की सत्ता ही नहीं है :—

६. **सबद (शब्द)**—इस शब्द का प्रयोग कबीर ने कई अर्थों में किया है। ध्वनि या आवाज इस शब्द का सामान्य अर्थ है। कबीर ने शब्द को दो प्रकार का माना है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका संकेत नीचे की वाणी में मिलता है—

"बिनहीं सबद अनाहद बाजै[2]।"

इससे स्पष्ट है कि अनाहत शब्द सामान्य शब्द से भिन्न है। उन्होंने अनाहत शब्द का प्रयोग पारिभाषिक एवं सीमित अर्थ में ही किया है। यह शब्द अन्तर्ध्वनि है जिसके लिए एक विशेष साधना की अपेक्षा होती है। उसका परिचय कबीर इस प्रकार देते हैं—

"कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति[3]।"

इस शब्द का सम्बन्ध अन्तर्गत पवन और गगन से है। 'सबद गगन के पवना' से शब्द, पवन और गगन का सम्बन्ध प्रकट होता है। जब पवन और शब्द शून्य में स्थित हो जाते हैं तब समाधि लग जाती है। इसलिए कबीर 'पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे[4]" की बात करते हैं। 'रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थिति मांहीं' कहकर भी कबीर ने उसी अवस्था की ओर संकेत किया है। यह अनाहत शब्द परमात्मा की स्थिति का सूचक है—

"बाजै जंत्र नाद धुनि होई,
जे बजावै सो औरै कोई[5]।"

---

१. **'तहां न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनन्द।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९, पंक्ति २२

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४०-१५९

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-६१३

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७, पंक्ति १

५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३०, अंतिम पंक्ति

कबीर ने 'अनाहत' के साथ 'शब्द' और 'नाद' दोनों का प्रयोग किया है किन्तु 'नाद' का प्रयोग उन्होंने अनाहत के सम्बन्ध से ही किया है जबकि शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।

शब्द के पुनः दो भेद वार्णिक एवं अवार्णिक होते हैं। कबीर का राम शब्द वार्णिक है क्योंकि वह 'ढाई अक्षरों' से बना है। 'सतगुर' से प्राप्त शब्द वार्णिक ही है। कबीर शब्द में अमोघ शक्ति मानते हैं। मानसिक परिष्कार भी शब्द-शक्ति का ही एक रूप है। गुरु के शब्द में ऐसी शक्ति स्पष्टतः दिखायी देती है—

"सतगुर ऐसा चाहिये जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोई[1] ॥"

गुरु के शब्द में एक वाण की शक्ति भी निहित है जिसके लगते ही कलेजे में छेद हो जाता है—

"सतगुर सांचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक[2] ॥"

इस शब्द-वाण की विशेषता यह है कि वह शरीर में लगता है और कलेजे में 'कड़क' (दर्द) पैदा करता है। यह शब्द सुनायी पड़ता है कान से और असर करता है हृदय पर। इस शब्द-वाण की एक और भी विशेषता है और यह कि हरि-गुणों के स्मरण के साथ उससे उत्पन्न हुई वेदना गहन होती जाती है—

"ज्यूं ज्यूं हरिगुण साँभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर[3]।"

सत्गुरु के शब्द का प्रभाव पात्र पर होता है, कुपात्र पर नहीं। कुपात्र का जन्म व्यर्थ है क्योंकि उस पर गुरु-शब्द का कोई प्रभाव नहीं होता—

"सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि[4]।"

शब्द को कबीर जीवन भी मानते हैं। इसका सम्बन्ध श्वासों से है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६३-६१३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-६१४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९-१८

श्वासों के 'इक्कीस हजार छै सौ धागे'[1] जीवन की सूचना देते हैं। प्रत्येक धागे के साथ शब्द की स्थिति है। श्वासों के धागे टूट जाते हैं किन्तु शब्द नष्ट नहीं होता। शब्द अतीत है[2]। शरीरगत शब्द शरीर के विगलित होने पर अनन्त शब्द में मिल जाता है।

ओंकार को भी कबीर शब्द कहते हैं और उसे वे सृष्टि का मूल[3] मानते हैं। जीवन और मृत्यु का संबंध भी शब्द से है। जब शरीर शब्द को छोड़ देता है तब दुनिया के लोग 'मृतक' कहने लगते हैं।

शब्द दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शब्द इन्द्रिय-गोचर होता है और सूक्ष्म अतीन्द्रिय होता है। इसीलिए कबीर 'अतीत शब्द'[4] को रहस्यमय बतलाते हैं। 'शब्द' ब्रह्म का व्यक्त रूप है साधक साधना के अनु-रूप उस शब्द से आनन्द की प्राप्ति करता है—

"जिहि बिरियां सांई मिलै, तास न जांणै और।
सबकूं सुखदे सबद करि, अपणीं अपणीं ठौर[5]॥"

'सबद' का प्रयोग नाथों ने भी किया है किन्तु उसमें इतनी व्यापकता दृष्टिगत नहीं होती जितनी कबीर के 'सबद' में है। गुरु के शब्द एवं 'अनाहत शब्द' पर कबीर का विशेष ध्यान रहा है।

अतएव स्थिति यह प्रकट होती है कि कबीर ने नाद की स्थिति शब्द को और शब्द की स्थिति नाद को प्रदान करदी है।

७. अजपा जाप—अजपा जाप, जाप का ही एक उच्च स्वरूप है। कभी-कभी इसे सहज जाप भी कह दिया जाता है। इसके मूल में नाम-स्मरण रहता है किन्तु जैसाकि नामस्मरण में प्रत्यक्षतः कायांगों का उपयोग किया

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०९-६९
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १००-३६
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४३, पंक्ति २३
४. **'सबद अतीत का मरम न जानैं भमि भूली दुनियाई।'**

× × × ×

'प्यंडे मुकति कहत हैं मुनिजन सबद अतीत था सोई।'

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १००-३६

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५-२

जाता है उसी प्रकार 'अजपा जाप' में उनका उपयोग नहीं किया जाता। इसमें न तो नाम का उच्चारण किया जाता है और न होंट हिलते हैं। इसमें न अँगुलियाँ हिलती हैं और न माला का उपयोग ही होता है। केवल अन्तः क्रिया होती रहती है। 'बौद्ध सिद्धों की साधना-पद्धति में श्वासों का निरोध करके चंडाग्नि प्रज्वलित की जाती थी और 'एवं' बीजाक्षर को ध्यान में लाकर इस प्रकार साधना की जाती थी जिससे यह शब्द प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में स्वतः निकलने लग जाये। इसे वज्रजाप का नाम दिया जाता था। इसमें तांत्रिक बीजार्थ तथा हठयोग दोनों का समन्वय हो जाता था और नाम-स्मरण का परंपरागत विधान भी आ जाता था[१]।" कहा जाता है कि नाथपंथ में इसी साधना ने पीछे 'अजपा जाप' का नाम प्राप्त किया। इसमें मन को शून्य में निहित कर दिया जाता है और 'एवं' के स्थान पर 'सोऽहम्' का ध्यान किया जाता है। इसी 'सोऽहम्' से शब्द-ज्योति प्रकट होती है और अन्तर एवं बाहर प्रकाश हो जाता है।

कबीर ने 'सोऽहम्' का परित्याग तो नहीं किया किन्तु उनके ध्यान का केन्द्रबिन्दु प्रायः 'राम' ही रहा है। कबीर के 'अजपा जाप' की चरम परिणति 'आपा माहें आप' में होती है। 'अजपा जाप' ध्यान-रूप है। स्मरण के द्वारा ध्यान को नाम में लगा देना अजपाजाप की वह स्थिति है जो 'सुरति' की समकक्ष है। उसकी एक स्थिति वह है जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता निरालंब दशा में विलीन हो जाते हैं। अजपा जाप अभ्यास से बनता है और आत्मस्वरूप में डूब जाता है। यही सहज जाप भी है।

८. नाद बिन्दु—शास्त्रों में कहा गया है कि 'सकल शिव' (सच्चिदानन्द स्वरूप शिवतत्त्व) से शक्ति तत्त्व प्रकट हुआ और शक्ति तत्त्व से 'नाद तत्त्व' का आविर्भाव हुआ। नाद तत्त्व को सदाख्य तत्त्व भी कहते हैं। नाद से बिन्दु (ईश्वर तत्त्व) का विकास हुआ जिसे परबिन्दु भी कहते हैं। इसी से बिन्दु विकसित हुआ। नाद और बिन्दु शक्ति के अन्य रूपों की भाँति दो रूप हैं जिनमें शक्ति की उपयोगावस्था तथा उच्छानावस्था प्रमुखता से आविर्भूत होती है। शारदा तिलक में शक्ति से नाद-बिन्दु का सम्बन्ध विशद रूप से व्यक्त किया गया है—

---

१. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३१

"सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो, नादाद्बिन्दुसमुद्भवः[1] ॥"

तन्त्रों में, जिनको मन्त्रशास्त्र भी कहते हैं, शब्द की विशद् विवेचना की गयी है, मन्त्र ही व्यक्त शब्द है। वैसे तो नाद का अर्थ भी शब्द ही होता है, किन्तु वह 'शब्द' का आदि 'लिंगशरीर' है। बिन्दु उस व्यक्त सृष्टि के पूर्व की अवस्था का द्योतन करता है जो मायावृत शिव-शक्ति-तत्त्व से विनिर्मित है। ध्यान रखने की बात है कि माया को 'परम कुण्डली' भी कहते हैं। इसमें ब्रह्म-पद एवं गुणों का समावेश रहता है।

'शब्द' आकाश का गुण है और श्रुतिगम्य होता है। यह दो प्रकार का होता है—वर्णात्मक एवं अवर्णात्मक अथवा ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द दो चीजों के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होता है और वह निरर्थक होता है। इसके विपरीत अनाहत शब्द जिसको ब्रह्मनाद या ब्रह्म शब्द भी कहते हैं किन्ही दो वस्तुओं के संघर्ष या सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होता, वरन् अपने आप पैदा होता है। वर्ण-ध्वनि (वर्ण-शब्द) वाक्यो, पदों एवं वर्णों से निर्मित होती है।

वर्ण-ध्वनियों का अर्थ से गहन सम्बन्ध होता है। शब्द और अर्थ दोनों मस्तिष्क से भी सम्बन्धित हैं। मस्तिष्क का ज्ञातारूप शब्द कहलाता है और वह स्वरूप जिसमें वह स्वयं ज्ञात होता है अर्थ (Form) कहलाता है। बाह्य पदार्थ का व्यक्ति-मानस पर अंकन भी अर्थ या रूप कहलाता है और उच्चरित वाणी शब्द कहलाती है अतएव मंत्र दृष्टि से द्रष्टा और दृश्य भी शब्द और अर्थ ही हैं जो वेदान्त के नाम और रूप के समानान्तर हैं।

जिस प्रकार शरीर लिंग, सूक्ष्म और स्थूल होते हैं उसी प्रकार शब्द भी होते हैं। शब्द के चार भाव (States) होते हैं—परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी। परा शब्द लिंगशब्द होता है और शरीर के मूलाधार केन्द्र में गतिहीन रहता है। पश्यन्ति वह शब्द है जिसमें सामान्य स्पन्दन (General-motion) होता है। इसकी गति मूलाधार से मणिपूर चक्र तक है। यह मन से सम्बन्धित होता है। मध्यमा शब्द बुद्धि से सम्बन्धित होता है और हिरण्य-गर्भ रूप होता है जो पश्यन्ति से हृदय तक फैलता है। मस्तिष्क का यह अंग

---

१. शारदा तिलक, अ० १

जो पहिचानता है सूक्ष्म शब्द कहलाता है और वह अङ्ग जो पदार्थ का रूप धारण करता है (जो बाह्य पदार्थ के अनुरूप होता है) सूक्ष्म अर्थ कहलाता है।

इस प्रकार मस्तिष्क की क्रिया एक ही साथ दो रूपों में होती है—शब्द रूप में और अर्थ रूप में, जो ग्राहक-ग्राह्य रूप में अभिन्न होते हैं। दोनों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है।

सृष्टि में सबसे पहले मध्यमा शब्द का आविर्भाव हुआ। उस सयम कोई अन्य अर्थ (Object) नहीं था। फिर विश्व मन ने आभ्यन्तरिक मध्यमा अर्थ का गोचर जगत् के रूप में विकास किया और वैखरी शब्द में उसको अभिहित किया। वैखरी शब्द उच्चरित वाणी है जो कंठ में विकसित होकर मुख से प्रकट होती है। इसको विराट् शब्द भी कहते हैं। इस कारण वैखरी शब्द भाषा या स्थूल वर्ण-ध्वनि है। इसके अनुरूप अर्थ को भौतिक या स्थूल विषय भी कहते हैं जिसे भाषा व्यक्त करती है। इस शब्द का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाद-विन्दु की कल्पना मनीषियों की बहुत पुरानी कल्पना है। सृष्टि की उत्पत्ति की गवेषणा करते समय इन दोनों तत्त्वों को नहीं भुलाया जा सकता। अनाहत नाद के विवेचन में यह पहले ही बता दिया गया है कि नाद बाहर भी है और शरीर के भीतर भी। उसी के द्वारा अव्यक्त व्यक्त के रूप में आया और उसीसे सृष्टि प्रेरित हुई। उसीको योगी अपने भीतर साधना और अभ्यास से सुनते हैं। कहा जा चुका है कि यही नाद उस अन्तर्ज्योति का स्रोत है जो अज्ञान-तिमिर का विनाश करती है। नाद शिव तत्त्व का प्रतीक है और विन्दु उस शक्ति का बोधक है, शिव के साथ जिसके मिलन को प्रत्येक साधक, प्रत्येक योगी अपना अभीष्ट समझा करता है। इसी विन्दु को योगियों ने कभी-कभी वीर्य का पर्याय भी माना है। अतएव विन्दु-साधना का अभिप्राय ब्रह्मचर्य भी होता है। योग-साधकों ने इसकी रक्षा[1] पर बहुत जोर दिया है। 'पानी की बूंद थैं जिनि प्यंड साज्या'[2] कहकर कबीर ने वीर्य-विन्दु की ओर ही संकेत किया है।

शिव-शक्ति का मिलन नाद-विन्दु के मिलन का प्रतीक है। शक्ति-संचालन विन्दु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक है। जो विन्दु-नाद से मिल कर परमपद की

१. 'सपने बिन्दु न देई झरना।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००-२३०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९१-३०४

प्राप्ति[1] में सहायक बनता है वही अपनी विकल स्थिति में जीव को व्याकुल एवं अशान्त कर देता है। उसकी व्याकुलता ही काम है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

"उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थै,
कबहूं सच नहीं पायौ[2] ॥"

कबीर ने ध्वनि या शब्द के सामान्य अर्थ में भी नाद का प्रयोग किया है; जैसे—

"ज्यूं मृग नादें बेध्यौ जाइ,
प्यंड परै वाकौ ध्यान न जाइ[3] ।"

और 'अनाहत' नाद के विशेष अर्थ में भी नाद का प्रयोग किया है, जैसे—

"बाजै जन्त्र नाद धुनि होई,
जे बजावै सो और कोई[4] ॥"

कबीर नाद और विन्दु के मिलन की साधना की चर्चा करते हुए कहते हैं कि चाहे नाद में विन्दु का विलय हो और चाहे विन्दु में नाद का, किन्तु इतना तो सत्य है कि परमात्म-तत्त्व की अनुभूति में इन दोनों का मिलन बहुत सहायक होता है। 'नाद व्यंद की नावरी'[5] कह कर कबीर इसी उक्ति का समर्थन करते हैं। नाद विन्दु का मिलन गोविंद के मिलन का द्योतक है। वे इस बहस से बचना चाहते हैं कि कौन किसमें मिलता है। इसीलिए वे कहते हैं—

"नादहि ब्यद ब्यंदहि नाद,
नादहि ब्यंद मिलै गोबिन्द[6] ॥"

नाद और बिन्दु के सम्बन्ध में कबीर और नाथों के दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं है। यदि कुछ विशेषता है तो यह कि कबीर के 'नाद-बिन्दु' में प्रेम का पुट लगा हुआ है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९८-३२६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९२-३०८
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१८-३९३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, अन्तिम पंक्ति
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४-१८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८-३२६

९. **सहज**—कबीर की वाणी में कुछ रामबाण शब्द हैं। उनका प्रयोग अनेक प्रकार से होता देखा जाता है। सहज भी उनमें से एक है। विद्वानों ने 'सहज' शब्द के अनेक स्रोत देखने का प्रयत्न किया है। कोई इसे चीनी शब्द 'ताओ' से संबंधित करते हैं, कोई विष्णु पुराण से जोड़ते हैं और कोई इसे खोजने के लिए अथर्व वेद तक जा पहुँचे हैं। इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि 'सहज' शब्द प्राचीन है और कबीर को परंपरा से प्राप्त हुआ है। कबीर के पहले 'सहज' की परंपरा स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में और नाथों की बानियों में भी रही है।

"बौद्ध सिद्धों एवं शैव योगियों ने इसका प्रयोग न केवल किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अर्थ में किया, अपितु उन्होंने इसका आशय एक ऐसी साधना से भी संबंधित किया जिसमें क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय तथा शिव एवं शक्ति के सम्मिलन की कल्पना की जाती है। इसके सिवा सिद्धों ने जहाँ 'सहज तत्त्व' में शून्य की धारणा को भी प्रश्रय दिया वहाँ नाथ-पंथी योगियों ने उसमें सहज ज्ञान का भी अस्तित्व माना। सिद्धों के लिए 'सहज तत्त्व' भाव तथा अभाव, दोनों से परे है और सरहपा के अनुसार उसकी स्थिति का महत्त्व निर्वाण से भी अधिक है—

"सहज छड्डि जे णिव्वाण भाविउ।
णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ[1]।"

नाथों ने सहज की स्थिति में मस्ती की कल्पना भी की है। इसीलिए गोरखनाथ कहते हुए दिखायी पड़ते हैं :—

"जिहि घरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहिं घरि होसि उजियारा।
तिहां जे आसण पूरौ तौ, सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनी[2]॥"

कबीर का सहज नाथों से भी अधिक व्यापक है। सहज के योग से उन्होंने अनेक शब्द बना लिये हैं। सहज रूप, सहज सुख, सहज शून्य, सहज धुनि, सहज भाव, आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों के साथ सहज ने जो मूल्य प्राप्त किये हैं उनसे सहज की व्यापकता सिद्ध होती है। सहज का उपयोग कहीं भी कर लिया गया है। विषय-त्याग, आसक्ति-निवारण, मोह-विसर्जन,

---

१. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २४८
२. गोरख-बाणी, पृष्ठ ६०

आचरण, समाधि आदि सब कार्यों में कबीर ने सहज से काम लिया है। आत्मा या परमात्मा का असली रूप भी सहज रूप है। इस प्रकार कबीर ने सहज की परंपरा का सहज विकास किया है। वे सहज की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "सहज सहज कह तो सभी लेते हैं किन्तु समझते बिरले लोग ही हैं। जहाँ विषयों का परित्याग सहज भाव से हो जाये वहीं सहज की स्थिति समझनी चाहिये। सहज की स्थिति इन्द्रिय-दमन में कदापि नहीं है, उनके शमन में है" :—

"सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ[1] ॥"
"सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोई।
पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोई[2] ॥'

जहाँ सहज भाव से वित्त, पुत्र, कलत्र एवं काम का निपात हो जाता है और सहज रूप से ही एकत्व प्राप्त हो जाता है, वहीं सहज की स्थिति होती है। जहाँ परमात्मा की प्राप्ति सहजरूप से हो जाती है वहीं सहज का साक्षात्कार हो जाता है।

"सहजैं सहजैं सब गये, सुत बित कांमणि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा रांम[3] ॥"
"सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ[4] ॥"

कबीर की समाधि भी सहज समाधि है जो सिद्धों की शून्यस्थितिमात्र नहीं है, अपितु उसमें सुख और शान्ति का निवास भी है।

"सहज समाधै सुख में रहिबो, कोटि कलप विश्राम[5]।"

कबीर की सहज समाधि योगियों की निरालंब दशा मात्र नहीं है, अपितु कायिक उपाधियों की आनन्दस्वरूप परिणति है :—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४१-४०५
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०६
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०७
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०८
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९-६

तन में होती कोटि उपाधि,
उलटि भई सुख सहज समाधि[1] ॥"

उनका सहज सुख स्वार्थ एवं हिंसा से पूर्ण नहीं हैं। उसमें त्यागमय अहिंसा की भावना निहित है। उसमें निर्भयता के भाव के साथ-साथ दूसरों को निर्भयता का आश्वासन भी हैं :—

"कहै कबीर सुख सहज समाऊँ,
आप न डरौं न और डराऊँ[2] ॥"

कबीर के अनुसार सहज रूप में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। आत्मा का रूप भी सहजरूप है। पंचतत्त्व की विकृति उस सहजरूप को आवृत कर लेती है किन्तु तत्त्वों के वियुक्त हो जाने पर आत्मा का समावेश भी सहजरूप में हो जाता है :—

"पंच तत्त अबिगत थैं उतपना, एकैं किया निवासा,
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा[3] ॥"

कबीर का शून्य सहजनामधारी होते हुए भी सिद्धों के शून्य का द्योतक नहीं है। दोनों विलक्षण हैं, किन्तु दोनों की विलक्षणता भी भिन्न है। सिद्धों का मून्य अस्ति-नास्ति-विलक्षण है किन्तु कबीर का सहज निरालंब स्थिति व्यक्त करता हुआ भी रसमय है, उसमें कबीर विभोर हो जाते हैं और उछक नहीं सकते :—

"सहज सुंनि में जिनि रस चाष्या,
सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूँ उछकि न जाई[4] ॥"

कबीर उन संतों को चुनौती देते है जो जप-तप से आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। उनका कहना है कि सहजानन्द जप-तप से प्राप्त नहीं होता। वह

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६३-१५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-१५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-४४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११-७४

तो आत्म-भाव है, स्वभाव से ही उत्पन्न होता है[1]। परमात्मा का रूप भी सहजरूप है जो भ्रान्त मन में छिपा हुआ है। जैसे ही मन का भ्रम दूर हो जाता है कि सहजरूप परमात्मा का आविर्भाव हो जाता है[2]।

'सहज' का प्रयोग कबीर ने स्वतन्त्र रूप से भी किया है। यहाँ सहज का अभिप्राय मन की स्वस्थावस्था है :—

"मिल्या रांम रह्या सहजि समाई,
खिन बिछुरयां जीव उरझै जाई[3]।"

कबीर का 'सहज' 'स्वभाव' या 'परमात्म-भाव' का संकेत भी करता है किन्तु उसमें भी प्रेमतत्त्व का विनिवेश करके उसके साथ सम्बन्ध-भावना बना लेते हैं :—

"कहै कबीर यहु सहज हमारा,
बिरली सुहागनि कंत पिआरा[4]॥"

संक्षेप में यह कह देना उचित ही होगा कि कबीर का सहज मौलिक एवं परंपरागत उद्भावनाओं से परिपुष्ट एक ऐसी सत्ता है जिसे आत्मा, परमात्मा, मन, भाव, स्वभाव, आनन्द, गगन, ब्रह्मरन्ध्र आदि में से किसी में देख सकते हैं। उसका परिचय यही है कि वह किसी विशेष परिभाषा में आबद्ध नहीं है। हाँ, अनुभवगम्य प्रसंग में वह अपना संकेत दे बैठता है।

कबीर के कुछ प्रश्न

मनुष्य के जीवन में अनेक प्रश्न उठते रहते हैं और वह उनका उत्तर देने का प्रयत्न भी करता है। कभी-कभी उसके उत्तर में कोई जीवन-व्यापार भी निहित रहता है। सच तो यह है कि प्रश्न और उत्तर या व्यापार का समन्वित रूप ही जीवन है। प्रश्नोत्तर में कभी-कभी तो बहुत भारी संघर्ष निहित रहता है जिसको दो रूपों में विभक्त करके देखा जाता है—एक अन्तःसंघर्ष और दूसरा

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५७-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३७, पंक्ति ८
४. कबीर ग्रन्थावली' पृष्ठ २१२-३७१

बाह्य संघर्ष। ऐसे संघर्ष के विकास के लिए प्रबन्ध-रचनाओं में अधिक अवकाश होता है किन्तु मुक्तकों मे भी संघर्ष का चित्रण होता देखा जाता है।

कबीर के जीवन में भी कुछ प्रश्न उठे हैं जिनका उत्तर उन्होंने या तो प्रश्न के साथ ही देने का प्रयत्न किया है अन्यथा किसी अन्य स्थल पर उत्तर अवश्य आगया है।

कबीर के प्रश्नों मं प्रमुखत: दो प्रकार के प्रश्न दृष्टिगोचर होते हैं—एक तो समाज से सम्बन्धित और दूसरे दर्शन से सम्बन्धित। इन प्रश्नों का जीवन से गहन सम्बन्ध है। समाज सम्बन्धी प्रश्न सामाजिक उलझनो का रूप प्रस्तुत करते हैं और दर्शन-सम्वन्धी प्रश्न जीवन, मरण, शरीर, प्राण आदि पर विचार प्रेरित करते हैं। प्रस्तुत रचना में इन प्रश्नो का उत्तर कहीं न कहीं अवश्य मिल सकता है और कुछ प्रश्न तो ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं जिन पर सोचने के लिये कोई भी व्यक्ति उत्सुक हो उठता है। इन प्रश्नों के बिना यह विवेचन अधूरा ही रहता। अतएव इनको एकत्र करके नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

क—समाज-संबंधी प्रश्न—

(१) जीव का वध करके धर्म की बात करते हो तो फिर अधर्म किस का नाम है? यदि आप ही मुनिजन बन बैठे हो तो कसाई किसे कहोगे?

(२) एक जन्म के लिए सहस्रों देवों की पूजा क्यों करते हो जिसके भक्त महेश तक हैं उस रामदेव की पूजा क्यों नहीं करते?

(३) अरे भाई! बोलना किसे कहते हैं?

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०१-३९

२. **'एक जनम कै कारणें, कत पूजौ देव सहंसौ रे।
काहे न पूजौ रांमजी, जाको भगत महेसौ रे॥'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२७

३. **'बोलनां का कहिये रे भाई।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०९-६७

(४) हे ब्राह्मण ! तू अपने को ब्राह्मण कहता है और कहता है कि तेरी माता ब्राह्मणी है। यदि ऐसा है तो तू औरों की तरह गंदे मार्ग से उत्पन्न क्यों हुआ है ? किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? और हे तुर्क ! यदि तुझे तुर्कनी ने पैदा किया है तो ख़तना भीतर ही क्यों नहीं हो गया ?

(५) एक ही विन्दु, एक ही मल-मूत्र, एक ही चर्म, एक ही मांस—सब कुछ समान है। एक ही ज्योति से उनकी उत्पत्ति हुई है। फिर किसको ब्राह्मण और किसको शूद्र कहा जाये और क्यों ?

ख—दर्शन-सम्बन्धी प्रश्न—

(६) पुरुष कौन है, नारी कौन है, कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है ? कौन मरता है और संताप कौन करता है ?

(७) वे बोलने वाले साकार बाबा कहाँ गये जो कथा-वार्ता कहा करते थे जो निरति में सुरति को विलीन कर देते थे, जो इस शरीर रूपी मन्दिर में रहते थे और अनाहत नाद करते थे ?

---

४. **'जें तूं बांभन बभनी जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।**
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया ॥'
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२-४१

५. **एक बूंद एकै मलमूतर, एक चांम एक गूदा।**
एक जोति थैं सब उतपनां, कौंन बांह्मन कौंन सूदा ॥'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-५७

६. **'कौंन पुरिष को काकी नारी, + + + ।**
कौंन पूत को काकौ बाप, कौंन मरै कौंन करै संताप ॥'
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११६-८९

७. **'बाबा बोलते ते कहां गये, देही के संगि रहते।**
सुरति मांहि जो निरते करते, कथा-वार्ता करते।
बजावन हारो कहां गयो, जिन इहु मंदिर कीना ॥'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८१-५७

(८) जीव किस देश से कहाँ आया है, इसके जानने का क्या साधन है ?

(९) शरीर के उत्पन्न होने पर यह प्राण कहाँ से आता है और मरने पर यह जीव कहाँ समा जाता है ? इन्द्रियाँ कहाँ विश्राम करती हैं और जो बोलता-पुरुष है वह कहाँ चला जाता है ?

(१०) वह उत्पत्ति विन्दु जो ज्योति धारण करके माया में लिप्त होता है, कहाँ से आया है ?

(११) कौन मरता है और कौन जन्म लेता है ? स्वर्ग, नरक और मुक्ति की प्राप्ति किसे होती है ?

(१२) श्वास रूपी धागे के टूटने पर एवं कायिक गगन के नष्ट होने पर (अथवा आकाश के नष्ट होने पर) शब्द कहाँ समा जाता है ?

(१३) यह शब्द कहाँ से आता है और किसमें विलीन होता है ?

(१४) पदमुक्ति के अभाव में पिंड-मुक्ति का क्या अभिप्राय है ?

---

८. **'कौंण देस कहां आइया, कहु क्यूँ जांण्यां जाइ ।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-१

९. **'उपजै प्यंड प्रांन कहां थैं आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै ।
इन्द्री कहां करहिं विश्रांमां, सो कत गया जो कहता रांमां ।।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १००-३७

१०. **'उत्पति ब्यंद कहां थैं आया, जोति धरी अरु लागी माया ।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०१-४१

११. **'कौंन मरै कौंन जनमै आई, सरग नरक कौंनै गति पाई ।।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-४४

१२. **'संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई ।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९८-३२

१३. **'कहौ धौं सबद कहां थै आवै, अरु फिर कहां समाई ।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १००-३६

१४. **'प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जौ पद मुकति न होई ।'**
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १००-३६

(१५) यदि इस जीव के आदि, मध्य और अन्त में गगन के सिवा और किसी की सत्ता ही नहीं है तो कर्म से कौन संपृक्त होता है ?

(१६) पवन को उलट कर कहाँ रखते हैं ?

(१७) कांसे को बजाने से उससे कुछ समय तक ध्वनि सुनायी देती रहती है किन्तु उसके फूटने पर ध्वनि कहाँ निवास करती है ?

(१८) शरीर पात के पश्चात् जीव कहाँ रहता है ?

(१९) हे राम !

(क) मुझे तार कर कहाँ ले जाओगे ?

(ख) मेरी मुक्ति कहाँ है ?

(ग) मुक्ति कैसे दोगे ?

(२०) क्या दो शरीरों से एकत्व की सिद्धि हो सकती है ?

---

१५. **'आदै गगनां अंतै गगनां, मधं गगनां भाई।**
कहै कबीर करम किस लागै, + + ॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४४

१६. **उलटि पवन कहां राखिये ?**

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३८-१५४

१७. **'कंसा नाद बजाव ले, धुनि निमसि ले कंसा।**
कंसा फूटा पंडिता, धुनि कहां निवासा॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८-१५४

१८. **'प्यंड परे जीव कहां रहै ?**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८-१५४

१९. **(क) 'रांम मोकौ तारि कहां लै जैहै।'**

(ख) 'सो धौं मुक्ति कहां देउ।'

(ग) 'कैसी करि प्रसाद मोहि पाइ है।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९४-१०१

२०. **'अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर।**
कहै कबीर ते क्यूँ मिलै, जब लग दोइ सरीर॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२५

(२१) अनुभव की कथा क्या किसी से कही जा सकती है ? क्या कोई ऐसा चतुर और विवेकी है जो उसको समझ ले ?

(२२) माया का संचय किस काम का है ?

(२३) ठीक है कि सुन्नत के कारण तुम किसी पुरुष को तुर्क कह दोगे किन्तु तुर्क नारी के पहचानने के लिए तुम्हारे पास क्या साधन हैं ?

(२४) अरे लोगो ! तुम जो कहते हो कि भगवान ने नंद के पुत्र के रूप में अवतार लिया तो बतलाओ कि नन्द किसका पुत्र था ? जब पृथ्वी और आकाश, दोनों नहीं थे तब वह नन्द कहां था ?

(२५) स्वानुभूति के अभाव में क्या परानुभूति को आप स्वीकार कर सकते हैं ? यदि कर सकते हैं तो कैसे ?

(२६) कौन बड़ा है ?

(क) ब्रह्मा कि जीव को पैदा करने वाला ?

---

२१. **'अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर विवेकी ।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९१-८

२२. **'काहे कूं माया दुख करि जोरी ।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०-१००

२३. **हौं तौ तुरक किया करि सुंनति, औरति सौं का कहिये ।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०७-५९

२४. **'लोका तुम्ह ज कहत नंद कौ नंदन, नंद करौ धूं काकौ रे ।**
धरनि अकास दोऊ नहिं होते, तब यहु नंद कहां थौ रे ।।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४८

२५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४-२४

२६. **'ब्रह्मा बड़ा कि जिन रू उपाया, बेद बड़ा कि जहा थैं आया ।**
यहु मन बड़ा कि जहां मन मानैं, रांम बड़ा कि रांमहिं जानैं ।
कहै कबीर हूं खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ।।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९७-२७

(ख) ज्ञान बड़ा है कि ज्ञानदाता ?

(ग) यह मन बड़ा है कि वह जहाँ मन लीन हो जाता है ?

(घ) राम बड़ा है कि राम को जानने वाला ?

(ङ) तीर्थ बड़ा है कि हरि का दास ?

(२७) बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है ?

(२८) अम्बर का अवलंब क्या है ?

(२९) देहधारी कंचन और कामिनी के बीच मे रह कर उनसे असंपृक्त कैसे रह सकता है ?

(३०) इस जगत् में मेरे जन्म का कारण क्या है ?

(३१) इस जगत् से कौन-कौन चला गया और कौन-कौन रहेगा ?

(३२) तुम कहाँ थे और तुमको किसने बनाया ?

---

२७. **'कहि धू छूट कवन उरझाना ?'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १००-३८

२८. **'कहौ भइया अंबर कासूं लागा ?'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३३-१४१

२९. **'एक कनक अरु कामनीं, जग मैं दोई फंदा।'**

× × ×

'देह धरै इन मांहि बास, कहु कैसै छूटै ॥'

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८८

३०. **'कारनि कवन आइ जग जनम्यां ?'**

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५२-१९१

३१. **'कौंण कौंण गया रांम कौंण कौंण न जासी।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२-२४७

३२. **'कहां थे तुम किन कीये।'**

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७

(३३) आपमें परमात्मा का निवास होते हुए भी वह पवित्र और आप अपवित्र क्यों हैं ?

(३४) हे निरंजन जहाँ तुम रहते हो वहाँ कुछ है या कुछ भी नहीं है ?

---

३३. 'अलह पाक तूं नापाक क्यूं ?'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७

३४. 'कहै कबीर जहां बसहु निरंजन तहां कछु आहि कि सुन्यं ।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३-१६४

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

	ग्रन्थ	लेखक
१.	अध्यात्म रामायण	अनुवादक—श्री मुनिलाल
२.	अनन्तदास की परिचई	अनन्तदास
३.	कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४.	कबीर-ग्रन्थावली	श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित
५.	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
६.	कबीर-बीजक	हंसराज शास्त्री
७.	कबीर का जीवन-वृत	चन्द्रबली पाण्डेय
८.	कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी
९.	कबीर साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा
१०.	कबीर वचनावली	हरिऔध
११.	कबीर मंसूर	परमानन्द
१२.	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
१३.	कबीर एक अध्ययन	डा० रामरतन भटनागर
१४.	कबीर और जायसी का रहस्यवाद	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
१५.	कबीर और जायसी का मूल्यांकन	पुरुषोत्तमचन्द्र वाजपेयी
१६.	कबीर साहित्य समीक्षा	शिवस्वरूप गुप्त
१७.	कबीर पंथ	शिवव्रतलाल
१८.	गीता-रहस्य	तिलक
१९.	गोरखवाणी	डा० बड़थ्वाल
२०.	जायसी और उनका पद्मावत	जीवनप्रकाश जोशी द्वारा संपादित
२१.	तसव्वुफ और सूफीमत	चन्द्रबली पाण्डेय

२२. तुलसी-दर्शन	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
२३. भक्तमाल	नाभादास
२४. भक्तिकाव्य के मूल स्रोत	दुर्गाशंकर मिश्र
२५. भक्ति-दर्शन	डा० सरनामसिंह शर्मा
२६. दीपशिखा	महादेवी वर्मा
२७. रामचरितमानस	गीता प्रेस
२८. सन्त कबीर	डा० रामकुमार वर्मा
२९. सन्त वाणी संग्रह	
३०. सन्त दर्शन	डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
३१. सन्त कबीर-दर्शन	राजेन्द्रसिंह गौड़
३२. सूरसागर	नागरी प्रचारिणी सभा
३३. सांध्यगीत	महादेवी वर्मा
३४. स्कन्दगुप्त	जयशंकर प्रसाद
३५. सूरदास	रामचन्द्र शुक्ल
३६. हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
३७. हिन्दी सा० का विवेचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
३८. हिन्दी विश्व-कोष	वसु
३९. हिन्दुत्व	श्री रामदास गौड़
४०. विद्यापति की काव्य-साधना	देशराजसिंह भाटी
४१. विद्यापति की पदावली	जीवनप्रकाश जोशी द्वारा सम्पादित
४२. त्रिवेणी	रामचन्द्र शुक्ल
४३. रहस्यवाद	जयशंकर प्रसाद
४४. रहस्यवाद	रामरतन भटनागर
४५. दोहा-कोष	पी० सी० बागची
४६. बहारे अजम	मुन्शी टेकचन्द बहार

संस्कृत

१. कठोपनिषद्
२. मुण्डकोपनिषद्
३. शिव-संहिता

४. ऋग्वेद-संहिता
५. अथर्ववेद संहिता
६. ईशोपनिषद्
७. श्वेताश्वर
८. चर्यापद
९. शांडल्य सूत्र
१०. छन्दोग्य उपनिषद्
११. हठयोग प्रदीपिका
१२. गोरक्ष पद्धति
१३. लययोग सहिता तंत्र
१४. शारदा तिलक, अध्याय १

अंग्रेजी

१. एन आउटलाइन आफ दी रिलीजियस लिटरेचर आफ इंडिया	फर्कुहर
२. एन इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासफी	दत्त एण्ड चटर्जी
३. अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट	राय चौधरी
४. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया	
५. इंडियन फिलासफी	डा० राधाकृष्णन
६. हिन्दू ट्राइब्ज एण्ड कास्टस एज़ रिप्रेजन्टेड एट बनारस	एम० ए० शेरिंग
७. दीन-इलाही	राय चौधरी
८. कबीर एण्ड हिज़ फालोअर्स	डा० की
९. कबीर एण्ड हिज़ बायोग्राफी	डा० मोहनसिंह
१०. कबीर एण्ड दी कबीर पंथ	वेस्कट
११. मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया	क्षितिमोहन सेन
१२. मिस्टिसिज्म इन दी उपनिषद्स	निकलसन
१३. मिस्टीसिज्म इन मरहटा सेन्ट्स	प्रो० रानाडे
१४ मिस्टिक्स आफ इस्लाम	निकलसन

१५.	मिस्टिसिज्म इन दी ईस्ट एण्ड वेस्ट	रूडोल्फ़
१६.	निर्गुण स्कूल ग्राफ हिन्दी पोएट्री	डा० बड़थ्वाल
१७.	सर्पेन्ट पावर	ग्रार्थर एवेलन
१८.	सिक्ख रिलीज़न	मैकलिफ़
१९.	थीइज्म इन मेडिवल इंडिया	कारपेन्टर
२०.	दी बीजक ग्राफ कबीर	ग्रहमदशाह
२१.	दी रिलीजन्स ग्राफ इंडिया	ए० बर्थ

पत्र-पत्रिकाएँ

१.	ग्रालोचना	दिल्ली
२.	विश्वभारती पत्रिका	शान्ति निकेतन
३.	कल्याण (शिवांक)	गोरखपुर
४.	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	वाराणसी
५.	साहित्य सन्देश	ग्रागरा
६.	खोज-रिपोर्ट	
७.	सरस्वती	प्रयाग
८.	गजेटियर	वाराणसी ग्रौर ग्राजमगढ़

९. हिन्दुस्तानी भाग १९, ग्रंक ४, ग्रक्तूबर-दिसम्बर १९५८